जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १५ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol XIV No 1

Edited by

Prof A N. Upadhya, M A D Litt
Prof G. Khushal Jain, M A Sahityacharya.
B Kamata Prasad Jain, M R A S, D L.
Pt Nemi Chandra Jain Shastri Jyotishacharya.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA

Inland Rs 3 Foreign 4s 8d Single Copy Rs 1/8.

JULY, 1948

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १५ १९४९

सम्पादक

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.
प्रोफेसर गो० खुशाल जैन एम. ए., साहित्याचार्य
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.
पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३)   विदेश में ३।)   एक प्रति का १॥)

वार्षिक विषय सूची—भाग १५

(किरण १)

(किरण २)

THE JAINA ANTIQUARY

VOL XIV, 1949

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. G. Khushal Jain, M. A., Sahityacharya
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR INDIA

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1/8

CONTENTS. Vol XIV.

Pages

No I.

No II

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १५ जुलाई १९४८ किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट.

प्रोफेसर गो० खुशाल जैन एम. ए., साहित्याचार्य

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३।) एक प्रति का १।)

विषय सूची

पृष्ठ

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १५ | जुलाई १९४८ । श्रावण, वीर नि० सं० २४७४ | किरण १

कदम्ब नरेश रविवर्मा और उनका एक शिलालेख

[ले०—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन बी० एल०, एम० आर० ए० एस०, अलीगंज]

कदम्बवंश के राजा लोग कर्णाटक देश के अधिवासी थे। उनका कुल वृक्ष 'कदम्ब' था। उसके कारण वह 'कदम्ब' कहलाये थे। तामिल साहित्य में कदम्बों का उल्लेख कोंगाकानम् देश के 'नन्नन' नामक राज्याधिकारी के रूप में हुआ है। तामिल ग्रन्थकार 'कडम्बु' नाम से भी उनका उल्लेख करते हैं। इनकी राजधानी बनवासी या वैजयन्ती थी। श्री जिनसेनाचार्य जी ने 'हरिवंश पुराण' के सर्ग १७ में लिखा है कि हरिवंश में राजा ऐलेय प्रसिद्ध हुए। उनके वंशज चरम नृप ने बनवासी को बसाया था। कदम्बों का राज्यशासन वर्तमान मैसूर स्टेट के शिमोगा और चितलदुर्ग जिलों एवं उत्तर कनारा, धारवाड़ तथा बेलगाव जिलों पर था। प्रारंभ में कदम्ब वंश के राजा वैदिकधर्मानुयायी थे, परन्तु उपरान्त वे जैनधर्म के श्रद्धालु हुए थे। इन्होंने सन् २५० ई० से ६०० ई० तक राज्य किया था।

बनवासी के इन कदम्ब वंशी राजाओं में रविवर्मा एक प्रसिद्ध नरेश थे। इनके पिता मृगेशवर्मा का स्वर्गवास इनके बाल्यकाल में हो गया था। अतएव इनके चाचा मानधातावर्मा ने राजकाज को संभाला था। युवा होकर रविवर्मा ने राज्यभार संभाला था और पूरी अर्द्ध शताब्दि तक (४५०-५०० ई०) शानदार शासन किया था। बनवासी के कदम्ब राजाओंमें वही अन्तिम प्रभावशाली शासक थे। उन्होंने कई संग्राम लड़कर अपने राज्य को समृद्धिशाली बनाया था। उनके चाचा विष्णुवर्मा ने विद्रोह खड़ा किया था, किन्तु रविवर्मा ने बड़ी सफलता से उसका शासन किया था। विद्रोही नष्ट हुए थे। शासन

प्रबंध में उनके छोटे भाई भानुवर्मा ने उनका खूब ही हाथ बटाया था। उनका पुत्र हरिवर्मा उनके पश्चात् शासनाधिकारी हुआ था।

सम्राट् रविवर्मा भी अपने पिता मृगेशवर्मा के समान जैनधर्मानुयायी थे। हल्सी (बेलगाँव) से प्राप्त हुये उनके दानपत्र से उनकी जैनधर्म में दृढ़ श्रद्धा प्रकट होती है। उसमें लिखा है :—

"महाराज रवि ने यह अनुशासन पत्र महानगर पालासिक में स्थापित किया कि श्रीजिनेन्द्र की प्रभावना के लिये उस ग्राम की आमदनी में से प्रति वर्ष कार्तिकी पूर्णिमा को श्री अष्टान्हिकोत्सव, जो लगातार आठ दिनों तक होता है, मनाया जाया करे; चातुर्मास के दिनों में साधुओं की वैयावृत्य की जाया करे; और विद्वज्जन इस महानता का उपभोग न्यायानुमोदित रूप में किया करें। विद्वत्मंडल में श्री कुमारदत्त प्रधान हैं; जो अनेक शास्त्रों और सुभाषितों के पारगामी हैं, लोक में प्रख्यात हैं, सच्चरित्र के आगार हैं और जिनकी संप्रदाय सम्मान्य है। धर्मात्मा ग्रामवासियों और नागरिकों को निरन्तर जिनेन्द्र भगवान की पूजा करना चाहिये। जहाँ जिनेन्द्र की पूजा सदैव की जाती है वहाँ उस देश की अभिवृद्धि होती है, नगर आधि व्याधि के भय से मुक्त रहते हैं और शासक गण शक्तिशाली होते हैं"।

रविवर्मा स्वयं श्रावक के दैनिक कर्म—दान देना और जिनपूजा करना, करते थे और अपनी प्रजा को भी उनको पालने के लिये प्रोत्साहित करते थे। उनका भाई भानुवर्मा भी जिनेन्द्रभक्त था और निरन्तर दान दिया करता था। रविवर्मा सदैव धर्मकर्म का ध्यान रखते थे। कोरमंग नामक स्थान से प्राप्त उनका दानपत्र भी उनकी महानता को बताता है। 'आर्केलाजिकल सर्वे ऑव मैसूर' से हम उसे यहाँ सधन्यवाद उपस्थित करते हैं :—

कदम्ब नरेश रविवर्मा का कोरमंग दान-पत्र

१ सूर्यांशुद्युति परिषिक्त पङ्कजानां शोभां यद्वहति सदास्य पादपद्मम्।

सिद्धम् २ देवानाम्मकुटमणिप्रभाभिषिक्तं सर्वज्ञस्स जयति सर्वलोकनाथः॥

३ कीर्त्या दिगन्तरव्यापी रघुरासीन्नराधिपः

काकुस्थतुल्यक्काकुस्थो यवीयांस्तस्य भूपतिः।

४ तस्याभूत्तनयश्श्रीमाञ्शान्तिवर्म्मा महीपतिः

मृगेशस्तस्य तनयो मृगेश्वर पराक्रमः॥

५ कदम्बामल वंशाद्रेः मौलिता मागतो रविः
उदयाद्रि मकुटटेय दीप्तांशुरिवांशुमान् ॥

६ नृपरत्नलनकी विष्णुर्दैत्यजिष्णुरयं स्वयं
हिरण्मयचलन्मालंत्यस्वाचक्रंविभावितः ॥

७ साम्राज्ये नन्दमानोपि न माद्यति परंतपः
श्रीरेषा मदयस्यन्यानतिपीतेव वारुणी ॥

८ नर्म्मदं तम् मही प्रीत्या यमाश्रित्याभिनन्दति
कौस्तुभाभारुणच्छायं वक्षो लक्ष्मीर्हरेरिव ॥

९ रवावधि जयन्तीयं सुरेन्द्रनगरीं श्रिया
वैजयन्ती चलश्चित्र वैजयंती विराजते ॥

१० श्वेभृंजाङ्गदामीव चंदनप्रातमानया
तथा श्रीन्नमिवन्धीता मुरारेरपि नक्षसि ॥

११ विरयावयुमति नाथन्नाथनं नय चिदम्
श्रोणिवेन्द्रं ज्वलद्रत्नदीमर्काग्किनाङ्गदम् ॥

१२ यस्य मूर्ध्नि स्वयं लक्ष्मीहेमकुम्भोदर च्युतैः
राज्याभिषेकमकरो दम्भोजशरलज्जलैः ॥

१३ रघुणालम्बितामौर्ली कुण्डो गिरिरधारयत्
रवेगङ्गां वहत्यद्य मालामिव महीधरः ।

१४ धर्म्मार्थं हरिदत्तेन मोयं निज्ञापितो नृपः ॥
रिमतज्योत्स्नाभिषिक्तेन वचसा प्रत्यभापत ॥

१५ चतुस्त्रिंशत्तमे श्रीमद्राज्यवृद्धिसमासमा
मधुर्म्मासस्तिथिः पुण्या शुक्लपक्षश्च रोहिणी ॥

१६ यदा तदा महाबाहुरासंग्रामपराजितः
सिद्धायतन पूजार्थं संघस्य परिवृद्धये ॥

१७ सेतोरुपलकस्यापि कोरमंगश्रितां महीम्
अधिकान्निवर्त्तनान्येन दत्तवा स्वामरिन्दमः ॥

१८ आमन्द्रो दक्षिणस्याथ सेतोः केदारमाश्रितम्
राजमानेन मानेन क्षेत्रमेक निवर्त्तनम् ॥

१९ समणे सेतुबंधस्य क्षेत्रमेक निवर्त्तनम् ।
तच्चापि राजमानेन वेटिकौटे त्रिनिवर्त्तनम् ॥

२० उञ्छादिपरिहर्त्तव्ये समाधिसहितं हितम् ।
दत्तवां श्श्री महाराजस्सर्व्वसामंतसंनिधौ ॥

२१ ज्ञात्वा च पुण्यमभिपालयितुर्व्विशालं
तद्भंगकारणमितस्य च दोषवत्ताम् ॥

२२ ... श्रमस्खलित संयमनैकचित्ताः ।
संरक्षणेस्यजगतो पतयः प्रमाणम् ॥

२३ बहुभिर्व्वसुधाभुक्ताराजभिस्सगरादिभिः
यस्ययस्य यदाभूमि स्तस्यतस्य तदाफलं ॥

२४ अद्भिर्द्दत्तंत्रिभि र्भुक्तंसद्भिश्चपरिपालितम् ।
एतानि न निवर्त्तंते पूर्व्वराजकृतानि च ॥

२५ स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुधरां ।
षष्टिवर्षसहस्राणि नरके पच्यते तुसः ॥

भावार्थ— सिद्धम् । सर्वलोकनाथ सर्वज्ञ भगवान् की जय हो, जिनके पाद पद्म देवों की मुकुट मणि-प्रभा से अभिषिक्त हुए ऐसे शोभते है, जैसे पकज सूर्य किरणों से आच्छादित शोभते है। रघुराज की कीर्ति दिगन्तों में व्याप्त थी। उनका छोटा भाई काकुस्थ राम के तुल्य था। उनका पुत्र श्रीमान् शान्तिवर्मा नामक नरेश था। मृगेश उनका पुत्र मृगेश सदृश पराक्रमवाला था। अगल कदम्बवंश रूपी पर्वत की उच्चतम शिखिरवत् रवि नरेश हुए, जो मानो उदयाद्रि की शिखिर पर सूर्य ही चमक रहे हों। यह राजन् साक्षात् दैत्य विजयी चक्रविभा युत विष्णु ही थे। अपने साम्राज्ययोग में आनंद मानते हुए भी वह मानकषाय में नहीं बड़े थे। उनका वैभव दूसरों को मदमत्त बनाता था। पृथ्वी ने हर्षयुत हो इस चतुर नरेश का आश्रय लक्ष्मी-वत् प्रसन्नचित हो लिया था। रविनरेश की राजनगरी वैजयन्ती सुरेन्द्रनगरी—अमरावती को भी अपने सौन्दर्य से मात करती थी। विष्णु के वक्षस्थल पर विराजती हुई लक्ष्मी उतनी प्रसन्न नहीं हुई जितनी वह रवि नरेश के बाहुपाश से बंदी रह कर हुई। लोक ने इस राजनीतिज्ञ राजा को वैसे ही अपना स्वामी

माना जैसे स्वर्ग में इन्द्र माना जाता है। स्वयं लक्ष्मी ने ही उनका अभिषेक किया था। मीलीकुण्ड पर्वत ने रघु को धारण किया था। अब वही पर्वत रवि नरेश के आदेशों को मालावत धारण करता है। हरिदत्त ने जब उस नरेश से दान करने की विनती की तो मुस्कुराहट की ज्योत्स्ना बिखेरते हुए उन्होंने समुचित उत्तर दिया था। उनके वर्द्धमान शासनकाल के ३५ वें वर्ष में मधु (चैत्र) शुक्लपक्ष की एक शुभ तिथि को जब रोहिणी नक्षत्र था, तब इन महाबाहु अपराजित नरेश ने आसन्दि नामक ग्राम सिद्धायतन पूजा के अर्थ और संघ की परिवृद्धि के लिये भेंट किया। उसके अतिरिक्त कोरमंगादि प्रदेश की कुछ भूमि भी प्रदान की, जिसका नाप तोल दिया है। रविनरेश ने यह दान अपने सामन्तों के समस्त उंछादी राजकर से मुक्त करके दिया था। लोक के वे शासकगण, जिनके मन कषायवासनों को जीतने में लगे है, इस दान की रक्षा करने के लिये उत्तरदायी होंगे, क्योंकि दान की रक्षा करने से महान् पुण्यफल एवं उसके नाश के पाप-फल से वे अवगत होंगे। सगर आदि नरेशों द्वारा यह पृथ्वी भोगी जा चुकी है। जो कोई इसका शासक होगा उसे ही इस दान का फल मिलेगा। जो संकल्प कर के दिया गया अथवा तीन पीढ़ियों से जो भुक्तमान है या पूर्व राजाओं द्वारा प्रदत्त है वह दान कभी भी नहीं मिटाया जायगा। जो कोई दान की हुई भूमि जो जब्त करेगा वह साठ हजार वर्षों तक नर्क में उबाला जायगा। आजकल आसन्दि ग्राम कडुर जिले के कडुर तालुके में अजमपुर के पास अवस्थित है। यही ग्राम रविवर्मा नरेश ने जैनसंघ और सिद्धायतन को पूजा के लिये प्रदान किया था। 'सिद्धायतन' सम्भवतः सिद्ध भगवान् का बोधक है।

एक साम्प्रदायिक चित्रण

[लेखक—श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री]

२-३ वर्ष हुए, भारतीय विद्या-भवन से प्रकाशित होनेवाली 'भारतीय विद्या' नामक पत्रिका का एक अंक स्व० बाबू श्री बहादुर सिंह जी सिंघी स्मृति ग्रन्थ के नाम से प्रकाशित हुआ था। उसके सम्पादक मुनि श्री जिनविजय जी हैं। उसमें मुनि जी ने जयसलमेर के शास्त्र भण्डारों के कतिपय ग्रन्थों की काष्ठ की पट्टियों पर चित्रित कुछ चित्रों के ब्लाक भी मुद्रित कराये हैं। उनमें तीन चित्र (ह ३) ऐसे हैं जो दिगम्बर श्वेताम्बर विषयक एक शास्त्रार्थ से सम्बन्ध रखते हैं।

कहा जाता है कि गुर्जरेश्वर सिद्धराज की सभा में श्वेताम्बराचार्य देवसूरि और दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र का शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें कुमुदचन्द्र को ८४ वादियों का विजेता बतलाया जाता है। किन्तु दिगम्बर परम्परा में इस घटना का न कोई उल्लेख है ही नहीं, इस तरह के किसी कुमुदचन्द्र नाम के दिगम्बराचार्य का भी पता नहीं चलता। प्रत्युत श्रवण बेलगोला के शिलालेख नं० ४० में आचार्य श्रुतकीर्ति का वर्णन करते हुए उन्हें विपक्षी देवेन्द्र का विजेता बतलाया है। प्रोफेसर हीरालाल जी का कहना है कि [illegible] विपक्ष सैद्धान्तिक देवेन्द्र का यहां उल्लेख है वे सम्भवतः प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार के कर्ता वादिप्रवर श्वेताम्बराचार्य देवेन्द्र या देवसूरि हैं, जिनके विषय में कहा गया है कि उन्होंने वि० सं० ११८१ में दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र को वाद में पराजित किया था। [illegible]

इन चित्रों का परिचय मुनि जिनविजय जी ने उक्त स्मृति ग्रन्थ में गुजराती भाषा में कराया है। मुनि जी लिखते हैं

'इन पट्टिकाओं की चित्रावली का विषय ऐतिहासिक है, जो श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में अति प्रसिद्ध है। वादी देवसूरि नाम के एक प्रख्यात आचार्य सिद्धराज के समकालीन थे। वि० सं० ११८१ में, पाटन में सिद्धराज की सभा में, उन्हीं की अध्यक्षता में, आचार्य देवसूरि का दिगम्बर सम्प्रदाय के एक अति प्रसिद्ध विद्वान आचार्य कुमुदचन्द्र के साथ, श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदाय के बीच के मतभेदों की अमुक मान्यता के विषय में एक निर्णायक वादविवाद हुआ था। उसमें वादी देवसेन सूरि की विजय हुई थी। 'प्रभावक चरित्र' 'प्रबन्ध चिन्तामणि', 'चतुरशीति प्रबन्ध संग्रह' आदि श्वे० जैन ऐतिहासिक प्रबन्ध ग्रन्थों में देवसूरि का विस्तृत इतिहास पाया जाता है और इस वाद-विवाद का भी खूब विस्तार से लिखा है। साथ ही, इस प्रसंग को लेकर यशश्चन्द्र नाम के एक समकालीन

---

(१) देखो, जैन-शिला संग्रह पृ० २९ की पाद टिप्पणी।

कवि ने मुद्रित 'कुमुदचन्द्र' नाम के एक सुन्दर नाटक की भी रचना की है, जिसमें घटनाओं का बहुत कर के वर्णन किया गया है।'

मुनि जी का मत है कि ये चित्र उक्त घटना के ५-७ वर्ष के अन्दर ही सिद्धराज के समय में ही चित्रित किये गये हैं। आगे मुनि जी चित्रप्लेट (ड) का परिचय देते हुए कहते हैं :—

'इस चित्र में दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र और श्वेताम्बर वादी देवसूरि की व्याख्यान सभा का दृश्य अंकित किया गया है। गुजरात के आशापल्ली स्थान पर, जिसे पीछे से कर्णावती भी कहते थे, जुदे जुदे धर्मस्थानों में ये दोनों आचार्य एक साथ आकर ठहरे थे। उन दोनों में प्रसंगवश विद्या विषयक स्पर्धा शुरू हुई। और वे दोनों अपने २ शिष्यों और भक्तों के आगे एक दूसरे के साम्प्रदायिक मन्तव्यों का खण्डन मण्डन करने लगे। इस चित्रखण्ड में प्रथम दृश्य दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र की सभा का है। इसमें एक ऊँचे लकड़ी के आसन पर नग्न रूप के दिगम्बराचार्य बैठे हैं। उनके सामने उनके कोई मुख्य शिष्य तथा पीछे भक्त गृहस्थ बैठे हैं। आचार्य के पीछे उनके कोई क्षुल्लक शिष्य खड़े हैं। उनकी कांख में मोरपीछी है और हाथ में एक वस्त्र का टुकड़ा है। उसके द्वारा वह आचार्य को हवा कर रहे हैं। आचार्य की मुद्रा उपदेश प्रवण है। और उसका भाव खूब उत्तेजक है। श्रोतागण भी आचार्य के कथन को उत्साह और आवेग पूर्वक सुन रहे हैं।'

'इसके बाद देवसूरि की व्याख्यान सभा का दृश्य है। यह भी ऊँचे लकड़ी के आसन पर श्वेताम्बराचार्य बैठे हैं। उनके सामने एक कोई प्रौढ़ शिष्य बैठा है। उसके पास दो श्रावक बैठे हैं, एक लघु शिष्य पीछे खड़ा हुआ वस्त्र से आचार्य को हवा कर रहा है। इस आचार्य की मुद्रा भी वैसी ही उपदेश प्रवण और आवेशजनक है किन्तु उनके हस्तसंचालन में जरा अधिक मृदुता और मुख पर अधिक सौम्य भाव बतलाया है। इतना दृश्य तो दोनों आचार्यों का समान है। किन्तु देवसूरि की सभा में एक व्यक्ति खड़ा है जो उत्तेजनात्मक भाषण कर रहा है ऐसा प्रतीत होता है। इसमें लिखे हुए वाक्य से यह प्रकट होता है कि जो व्यक्ति खड़ा है वह कुमुदचन्द्राचार्य का आदमी है। और वह देवसूरि के आगे कोई वाद विवादात्मक विषय से लगता हुआ सम्भाषण कर रहा है। यह आदमी क्या कहता है इसका स्पष्ट शाब्दिक चित्र मुद्रित कुमुदचन्द्र नाटक के प्रथम अंक में दिया है, जिज्ञासुओं को वहाँ से जान लेना चाहिये, यहाँ देने का अवकाश नहीं है।

'चित्रप्लेट (ई)—दोनों आचार्यों में यह ठहराव हुआ कि उन्हें पाटन में सिद्धराज की राजसभा में शास्त्रार्थ करना चाहिये और अपनी अपनी विद्याशक्ति का परिचय देकर राजा से जय पराजय का प्रमाणपत्र लेना चाहिये। इस निर्णय के अनुसार दोनों आचार्य जब

अपने अपने परिवार के साथ आशापल्ली स्थान से पाटन जाने के लिये प्रस्थान करते हैं, उस समय का दृश्य इस चित्र में अंकित किया गया है। इसमें ऊपर के चित्र में देवसूरि के प्रस्थान का दृश्य बतलाया है। पाटन में सिद्धराज की सभा में, कुमुदचन्द्र के साथ जो वाद-विवाद होगा उसमें उनकी विजय हो, इस लिये आशापल्ली के जैन संघ ने शुभ शकुनों का प्रबन्ध कर रखा था। देवसूरि जब मकान से बाहर निकले तब उनके सामने भव्य जैन रथयात्रा निकल रही है, जिसमें एक सुन्दर रथ में जिनमूर्ति को बैठाकर उसके आगे नृत्य गीत आदि का सुन्दर प्रबन्ध किया गया है। देवसूरि उत्साह पूर्वक आगे पैर रख रहे है। उनका शरीर खूब कद्दावर और हृष्टपुष्ट है। आँखों में गाम्भीर्य और मुख पर प्रसन्नता छाई हुई है। दो भक्त विकसित मुख और आदर सूचक मुखमुद्रा से अभिनन्दन कर रहे हैं। आचार्य और श्रावकों के आगे एक नर्तक मण्डली चल रही है। जिसमें एक नर्तकी भावभंगी पूर्ण नृत्य कर रही है।...... नर्तकमण्डली के पीछे जिनमूर्ति-वाला सुन्दर काष्ठ रथ है। जिसे पुरुष और युवक खूब उत्साह से खैंच रहे हैं। इन शुभ शकुनो के साथ होने वाले प्रस्थान से देवसूरि का संघ अपने पक्ष की भावी विजय के विश्वास के साथ उत्साह पूर्वक पाटन की तरफ जा रहा है।'

'इसके नीचे के दूसरे चित्र में आचार्य कुमुदचन्द्र के प्रयाण का दृश्य बतलाया है। दिगम्बराचार्य पालकी में बैठ कर पाटन तरफ जाने के लिये निकले हैं। इनके अनुचरों में ३ ४ जने पालकी उठाने वाले है। ३-४ जने छत्र लिये हुए हैं। आगे दो सुभट चल रहे हैं जिनके हाथ में ढाल और तलवार है। सब से आगे एक अनुचर बिगुल देता हुआ चल रहा है, जिसके सुनने से लोग यह समझ सकें कि किसी बड़े धर्माचार्य की सवारी आ रही है। ''दिगम्बराचार्य की सवारी गाँव द्वार से बाहर निकल कर जैसे ही एक स्थान पर पहुचती है उसके आगे ऊँचा फण किये बैठा एक बडा काला सर्प दिखाई देता है। आचार्य के अनुचर इस अपशकुन को देख कर मन में खिन्न होते है और एक दूसरे का मुख देखने लगते है। आचार्य भी इस अपशकुन को देख कर मन में जरा उद्विग्न हो जाते है। चित्रकार ने उनके मुख के ऊपर इस उद्वेग का अच्छा भाव मार्मिकता के साथ दिखाया है।'

'इसके बाद के चित्र में, दिगम्बराचार्य पाटन के राजा के अन्तःपुर में, बहुत करके राजमाता से मिलने जाना चाहते है, किन्तु द्वारपाल उन्हे रोक देता है। इस चित्र का भाव यह है कि सिद्धराज की माता मयणल्ला देवी दक्षिण की राजकुमारी थी और उनका पितृपक्ष दिगम्बर सम्प्रदाय की तरफ पक्षपात रखता था। कुमुदचन्द्राचार्य भी दक्षिण देश के वासी थे। इससे उनकी ओर राजमाता का भक्तिभाव था। इससे दिगम्बराचार्य राजमाता से व्यक्तिगत रूप से मिलने के लिये और उनके पक्ष की जिससे विजय हो ऐसा

कोई उपाय करने की सूचना प्राप्त करने के लिये, पीछे के दरवाजे से अन्तःपुर में जाना चाहते हैं। किन्तु शस्त्रधारी द्वारपाल उन्हें पीछे हटा देता है। द्वारपाल की मुखमुद्रा खूब उत्तेजित है और कड़ाई के साथ निषेध करता हुआ उसका हाथ कठोर दिखाई देता है। पीछे हटते हुए नग्नाचार्य को उसके सामने अजीब दृष्टि से विनम्रता पूर्वक कुछ कहते हुए, तथा उतावले ढंगों से चले जाते हुए बताया है'।

इस चित्र परिचय को समाप्त करते हुये मुनि जी ने लिखा है कि पश्चिम भारत की चित्रकला के इतिहास में इन पट्टिकाओं के चित्र अपने को एक महत्त्व के प्रकरण की मूल्यवान सामग्री देते हैं।

जिस 'मुद्रित कुमुदचन्द्र प्रकरण' का मुनि जी ने उल्लेख किया है उसे भी हमने देखा है। इन चित्रों और उक्त प्रकरण को देखने से हमें तो उनमें ऐतिहासिकता से अधिक साम्प्रदायिकता का ही चित्रण किया प्रतीत होता है। यह तो हम नहीं कह सकते कि ऐसी कोई घटना घटी ही नहीं होगी, किन्तु उक्त घटना को आवश्यकता से अधिक तूल अवश्य दिया गया है। और लेखनी तथा कूचिका चलाने वालों ने, बराबर इस बात का प्रयत्न किया है कि जिससे दिगम्बर और उनके आचार्य लोगों की दृष्टि में गिरें और श्वेताम्बर तथा उनके आचार्य लोगों की दृष्टि में उठें। इसीसे चित्र तथा प्रकरण में की अनेक बातें ऐसी निबद्ध कर दी गई हैं जो दिगम्बर परम्परा के तथा एक साधु के प्रतिकूल हैं।

लोगों की दृष्टि में गिरानेवाली बातें

इस झगड़े का प्रारम्भ दिगम्बराचार्य की ओर से हुआ बतलाया गया है। दिगम्बराचार्य का एक शिष्य देवसूरि की सभा में जाकर अट सट बकता है और देवसूरि अपने पद के योग्य क्षमा भाव प्रदर्शित करते हैं। फिर कुमुदचन्द्र पर तत्पर (भुजग) लोगों की गोष्ठी में एक वृद्धा आर्यिका को नचाने का अभियोग लगाया गया है। वह आर्यिका देवसूरि की सभा में जाकर कहती है कि कुमुदचन्द्र ने मेरा अपमान किया है। इसी पर शास्त्रार्थ की चर्चा चलती है। देवसूरि की ओर से एक दूत कुमुदचन्द्र की सभा में जाता है और वहा दोनों में खूब झड़प होती हुई बतलाई गई है। आगे दिगम्बराचार्य को घूस देने में चतुर बतलाते हुए कहा है उसने घूस देकर सभासदों को और राजा के आदमियों को वश में कर लिया। शास्त्रार्थ में भी इसी तरह की बिडम्बना प्रदर्शित की गई है।

दिगम्बराचार्य का पालकी पर बैठकर चलना, आगे शस्त्रधारी भटों का चलना, शिष्यों से हवा करवाना, विटों के साथ सहवास करना और आर्यिका वृद्धा को सभा में नचाना

आदि ऐसी बातें हैं जो साम्प्रदायिकता से अधिक सम्बन्ध रखती हैं। इसी तरह दिगम्बराचार्य का अपनी विजय के लिये छिपकर राज-माता के पास जाना और वहां द्वारपाल के द्वारा तिरस्कृत होना भी है। यदि कुमुदचन्द्र वास्तव में इतने बड़े विद्वान् थे जितना उन्हें बतलाया गया है तो वे इस तरह के गर्ह्य उपाय काम में नहीं ला सकते थे। और यदि उन्होंने ऐसे उपाय काम में लिये तो कहना पड़ेगा कि देवसूरि के प्रतिद्वन्दी कोई विद्वान् नहीं थे। अस्तु,

जो हो, हमें तो खेद इसी बात का है कि इतिहासज्ञ जन भी साम्प्रदायिकता पूर्ण चित्रणों को इतिहास कहकर उसका प्रचार करते हैं।

——:०:——

भ० महावीर के समकालीन नृपतिगण

[ले०—श्रीयुत अगरचंद नाहटा]

"वीर" के गत महावीर जयन्ती विशेषांक में प्रज्ञाचक्षु पं० गोविन्दरायजी का "महावीर के समय का भारत" शीर्षक लेख प्रकशित हुआ है। लेख के शीर्षक एवं श्री फागुल्लजी की टिप्पणी के अनुसार प्रस्तुत लेख भ० महावीर के समय के भारत की स्थिति का दिग्दर्शन करानेवाला होने से बड़ा होना चाहिये। पता नहीं इसके अप्रकाशित अंश मे क्या प्रकाश डाला गया है ? पर यदि "वीर" मे प्रकाशित लेखांश ही पूर्ण है तो इसका नामकरण "महावीर के समकालीन भक्त नृपतिगण" होना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि तत्कालीन भारत की स्थिति का इस लेख से परिज्ञान नहीं होता। अस्तु।

जैसा कि सम्पादकीय टिप्पणी मे कहा गया है लेख गवेषणापूर्ण है पर वह पूर्ण एवं अभ्रान्त नहीं प्रतीत होता, अतः उसके सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश डालना आवश्यक होने से प्रस्तुत लेख लिखा जा रहा है। आशा है शीघ्र ही गोविन्दरायजी या डा० जगदीशचंद्रजी आदि अन्य अधिकारी विद्वान् महावीर कालीन भारत पर सुन्दर प्रकाश डालकर हमारी जानकारी बढ़ायेंगे। आलोच्य लेख की अपूर्णता एवं विचारणीय बातोंपर प्रकाश डालने से पूर्व उसके ऐसे होने के कारण पर अपने विचार प्रकट कर देना भी आवश्यक समझता हूं ताकि भविष्य मे उनकी ओर ध्यान रखा जाय।

हमारे विद्वानो के लेखन मे मुझे एक बड़ी कमी यह अनुभव हो रही है कि हमारा ज्ञान बहुत कुछ एकाङ्गी है। जैन कहलाने पर भी हम पूरे जैन नहीं, पर अधिकतर दि० या श्वे० ही प्रतीत होते है। हमारा पठन पाठन एक सम्प्रदाय के ग्रन्थो तक ही सीमित होने से सम्पूर्ण जैन इतिहास, साहित्य, कला, तत्वज्ञान आदि का हमें प्राय परिचय नहीं होता। अतः सबसे पहले हमें इस कमी को हटाना आवश्यक है। किसी भी विषयपर लिखने से पूर्व दोनो सम्प्रदायों के प्राप्त साहित्य का समभाव पूर्वक अध्ययन बढ़ाना होगा, तभी हमारा लेखन जैन सम्बन्धित कहलाने योग्य होगा।

पं० गोविन्दरायजी के लेख मे ध्वनित होता है कि उन्होंने जो कुछ लिखा है वह दि० ग्रन्थो के आधार से लिखा है जब कि मेरे नम्र मतानुसार इस विषयपर श्वे० जैनागमों के अध्ययन के बिना ठीक से लिखा ही नहीं जा सकता। तत्कालीन इतिहास का जैसा विशद एवं प्रामाणिक वर्णन जैनागमो एवं उनकी निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि आदि में सुरक्षित है, अन्यत्र-अप्राप्य है। महावीर कालीन भारत पर लिखने के दूसरे साधन हैं, बौद्ध पिटक ग्रन्थ। जैनागमो के भलीभाँति अध्ययन करनेका सुयोग न भी मिले तो उनके आधार से लिखित मुनि कल्याणविजयजी का "श्रमण भ० महावीर" एवं गोपालदास पटेल लिखित "महावीर कथा" इन दो ग्रन्थों का अध्ययन कर लेनेपर काम चलाऊ

ज्ञान हो सकता है। मान्यवर डा० जगदीशचन्द्रजी का "वर्द्धमान महावीर" एवं उनकी थीसिस भी जो अभी प्रकाशित भी हो चुकी है, उपयोगी साधन है।

दूसरी सावधानी साधनों के उपयोग करने में विवेक की आवश्यकता है। घटनाओं से बहुत पीछे के लिखे ग्रन्थों को पौराणिक-सा मानकर उनके मूल तत्त्व को अन्य प्राचीन साधनों से खोज निकालना आवश्यक होता है। ग्रन्थान्तरों में एक ही घटना कई प्रकार से लिखी मिलती है एवं ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं स्थानों के नामादि में अन्तर पाया जाता है वहाँ प्राचीन ग्रन्थ को ही अधिक महत्त्व देना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार पद-पद पर साधनों के उपयोग करने में विवेक, समभाव (निष्पक्षपात), टिप्पणी में अन्य साधनो का निर्देश व स्पष्टीकरण आदि बाते विशेषरूप से ध्यान में रखनी चाहिये।

तीसरी सावधानी प्रमाणों के उचित मूल्याङ्कन के सम्बन्ध में रखने की होती है। हम जैन या दि० या श्वे० है इसलिये यदि जैन या दि०, श्वे० की प्रत्येक बातको बढ़ा चढ़ा कर लिखने या अनुचित महत्व देने लगेंगे तो वह लेखन सर्वमान्य व प्रामाणिक नही हो सकेगा। बहुत-सी बार ऐसा अनुभव होता है कि कोई ग्रन्थ या कवि साधारण होता है पर हम उसकी बहुत प्रशंसा कर देते हैं और कहीं कहीं महत्वपूर्ण ग्रन्थ को निष्पक्षपात से नहीं पढने के कारण उसको साधारण बतला देते हैं, यह उचित नहीं कहा जा सकता। अत जहाँतक हो सके तटस्थता के साथ अध्ययन करने की ओर ध्यान रखना आवश्यक है। साम्प्रदायिक दृष्टि व बहावे मे न लिखकर घटना, एक वस्तु को उचित महत्व देना ही उपयुक्त है।

उपर्युक्त बाते किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य करके नही लिखी गयी है पर प्रसंगवश साधारणतया ध्यान मे रखने के लिये ही लिखी गयी है। आशा है पाठक इसे उचित अर्थ मे ग्रहण करनेका ध्यान रखेंगे। इस प्रासङ्गिक भूमिका के बाद मूल विषय पर आता हू।

जैसा कि मै पूर्व कह चुका हूँ कि पं० गोविन्दरायजी के लेखका आधार दि० साहित्य है पर उसके आधार ग्रन्थ कितने प्राचीन है? लेख मे निर्देश नहीं होने से प्राचीनता व प्रामाणिकता के विषय में कुछ कह नही सकता पर उसमे प्रकाशित कई बाते प्राचीन श्वे० साहित्य मे भिन्न प्रकार से वर्णित देखने मे आई है उन्हीं की यहाँ सूचना कर देता हूँ।

१ आपके लेख में वैशाली के राजा चेटक की पहिली कन्या प्रियकारिणी का विवाह सिद्धार्थ से हुआ और उसी से महावीर का जन्म हुआ बतलाया गया है, पर श्वे० आवश्यक चूर्णि आदि के अनुसार महावीर की माता चेटक की कन्या नहीं, पर बहिन थी। चेटक की पुत्री ज्येष्ठा का भ० महावीर के बड़े भाई नंदीवर्द्धन से विवाह होनेका उल्लेख उसी ग्रन्थ में अवश्य आता है।

२ चेटक की सात कन्याएँ थीं, यह तो ठीक है पर उनके क्रम, नाम, एवं पतियों के नाम, व स्थान के सम्बन्ध मे आवश्यक चूर्णि से गोविन्दरायजी के लिखित क्रमादि भिन्न हैं यथा—

आवश्यक चूर्णि के अनुसार—		
पुत्रीनाम—	पति—	स्थान नगर—
१ प्रभावती	उदयन	वीतिभय
२ पद्मावती	दधिवाहन	चंपा
३ मृगावती	शतानीक	कौशाम्बी
४ शिवा	प्रद्योत	उज्जयिनी
५ ज्येष्ठा	नंदीवर्द्धन	कुंडग्राम
६ सुज्येष्ठा—कुमारिकावस्था में दीक्षा		
७ चेल्लणा	श्रेणिक	राजगृह

पं० गोविन्दरायजी के लेख के अनुसार—		
पुत्रीनाम—	पति—	स्थान नगर—
१ प्रियकारिणी	सिद्धार्थ	कुंडलपुर
२ मृगावती	शतानीक	कौशाम्बी
३ सुप्रभा	दशरथ	हेरकच्छ
४ प्रभावती	उदयन	रोरुक
५ ज्येष्ठा	सात्यक	गंधार—
(विवाह से पूर्व दीक्षित)		

इनमें से चूर्णि का समर्थन मूल आगमों से भी होता है अत. विशेषरूप से मान्य किये जाने योग्य है। जैसे प्रभावती के पति उदायन की राजधानी सिंधु—सौवीर देश के वीतिभय नगर में होने व उनके उत्तराधिकारी अभीचि कुमार (भानजा) आदि का उल्लेख भगवतीसूत्र में विस्तार से आया है अतः उनकी राजधानी कच्छ काठियावाडका रोरुक बतलाना सही नहीं प्रतीत होता। विशेष जानने के लिये मुनि जिन विजयजी का "वैशालिना गण सत्ताक राज्य नो नायक राजा चेटक" लेख देखना चाहिये जो कि जैन सा० संशोधक वर्ष २ अङ्क ४ में प्रकाशित है। चेटक के सम्बन्ध में एक अन्य लेख विश्ववाणी के गत अगस्त के अङ्क में भी प्रकाशित है।

३ दशार्ण देशकी राजधानी हेरकच्छ व राजा दशरथ बतलाया गया है तब श्वे० आगमानुसार राजधानी दशार्णपुर-मृतिकावति का राजा दशार्णभद्र था जो कि भ० महावीर के पास दीक्षित हुआ था।

४ कौशाम्बी नरेश शतानीक के दीक्षित होने एवं उनके तीन अन्य उत्तराधिकारी होने के पश्चात उदयन का राजा होना लिखा गया है पर जैनागमों के अनुसार शतानीक ने दीक्षा ग्रहण नहीं की वह वैसे ही कालधर्म को प्राप्त हुआ। मृगावती भ० महावीर के पास दीक्षित अवश्य हुई थी। भागवत पुराण में ३ राजाओं का होना व सहस्रानीक का शतानीक के पद पर आसीन होना कहा गया है पर वह सही नहीं प्रतीत होता। जैनागमों के अनुसार सहस्रानीक शतानीक का पिता था और शतानीक के समय उदयन छोटा अवश्य था पर राजकार्य मन्त्रियों की सहायता से मृगावती संभालती थी। मृगावती के दीक्षा लेनेपर उदयन का राज्याभिषेक हुआ था। अत. शतानीक का उत्तराधिकारी उदयन हुआ न कि बीचमें अन्य तीन व्यक्ति।

५ जीवन्धर की कथा का आधार कितना प्राचीन है? कहा नहीं जा सकता अतः उस कथा में जितने राजादि के नाम आये है वे महावीर के समकालीन थे यह संदिग्ध है? उक्त कथानुसार मिथिलाका

राजा गोविन्दराज था तब जैनागमों के अनुसार तत्कालीन मिथिला के राजा का नाम जितशत्रु या जनक था। जितशत्रु के धारिणी नामक रानी थी।

६ वैशाली को आजकल की तिरहुत नगरी होने की संभावना की गई है पर उसका वर्तमान नाम बसाढ़पट्टी प्रसिद्ध ही है। वह आज भी मुजफ्फरपुर एवं हाजीपुर से २३ मील पर अवस्थित है।

७ श्रावस्ति के राजा प्रसेनजित का नाम जैन साहित्य में जयरोत होना बतलाया गया है पर वह उल्लेख दि० ग्रन्थो मे होगा। श्वे० आगमानुसार श्रावस्ति का राजा जितशत्रु था एवं श्वेताम्बिका का राजा प्रदेशी था।

८ आराधना कथाकोश के उल्लेखानुसार अवन्ति सुकुमार को महावीर कालीन (प्रद्योत के राज्य में) बतलाया है पर श्वे० आवश्यक चूर्णि आदि प्राचीन ग्रन्थो के अनुसार वह आचार्य आर्य सुहस्ती के समय मे हुआ है जिनका समय वी०नि० २४६ से २९१ है। विशेष जानने के लिये विक्रम स्मृति ग्रन्थ में डा० शार्लोट क्राउझे (सुभद्रा देवी) का "जैन साहित्य में महाकालमंदिर" शीर्षक लेख देखना चाहिये।

अर्थात् गोविन्दरायजी के उक्त छोटे से लेख मे ८ बातो में श्वे० प्राचीन साहित्य से मतभेद प्रतीत होता है। अब श्वेताम्बर जैनागमों एवं चरित्र ग्रन्थो मे से उक्त लेख में वर्णित राजाओं के अतिरिक्त जिन राजाओं का उल्लेख श्रमण भ० महावीरादि में मिलता है उनका यहां निर्देश कर दिया जाता है।

१ आलभिया, बनारस, लोहार्गल, काकन्दी कपिल्ला के तत्कालीन राजा का नाम जितशत्रु था। सभव है जितशत्रु असू राजाओंका एक विशेषण भी हो।

२ कनकपुर के राजा का नाम प्रियचन्द और रानीका नाम सुभद्रा था। उनके युवराजकुमार वैश्रमणकुमार और युवराज के पुत्रका नाम धनपति था। इनमे से धनपति भ० महावीर से दीक्षित हुए थे।

३ पृष्ठ चंपा के राजा शाल और छोटे भाई युवराज महाशाल महावीर से दीक्षित हुए। इनके राज्यका उत्तराधिकारी इनका भानजा गागलि हुआ, उसने भी दीक्षा ली थी।

४ कोटिवर्ष के राजा किरातराजने साकेत नगर मे भ० महावीर से दीक्षा ली।

५ चम्पा के राजा का नाम जितशत्रु और दत्त लिखा मिलता है। दत्त के रक्तवती रानी व महचंद्रकुमार पुत्र था। कुमारने भ० महावीर से दीक्षा ग्रहण की। पीछे कोणिक ने चंपा अपनी राजधानी बनाई।

६ पुरिमताल का राजा महाबल था।

७ पोतनपुर के राजा प्रसन्नचंद्रने भ० महावीर के पास दीक्षा ली थी। आवश्यक चूर्णिके अनुसार ये क्षितिप्रतिष्ठित एवं गुणचन्द्र गणि के अनुसार ताम्रलिपि के राजा थे।

८. पोलासपुर के राजा विजय थे, जिनकी रानी श्रीदेवी के पुत्र अतिमुक्तक कुमार ने बाल्यावस्था में भ० महावीर से दीक्षा ली।

९ बनारस के राजा अलक्ष को भ० महावीर ने दीक्षित किया था।

१० महापुर के राजा का नाम बल, रानी का नाम सुभद्रा, राजकुमार का नाम महाबल था। महाबल भ० महावीर के पास दीक्षित हुए थे।

११ मृगगाम का राजा विजय क्षत्रिय एवं रानी मृगावती थी।

१२ रोहीतक नगर का राजा वैश्रमणदत्त एवं रानी श्रीदेवी थी।

१३ वर्धमानपुर का राजा विजय मित्र था।

१४ विजयपुर का राजा वासवदत्त व रानी कृष्णा थी। राजकुमार सुवास ने भ० महावीर से दीक्षा ग्रहण की।

१५ वीरपुर के राजा का नाम वीरकृष्ण मित्र एव रानीका नाम श्रीदेवी था। राजकुमार सुजात भ० महावीर के शिष्य बने थे।

१६ साकेत के राजा मित्रनंदि और रानी श्रीकान्ता थी।

१७ सुघोष नगर का राजा अर्जुन, रानी तत्त्ववती थी। राजकुमार भद्रनंदी भ० महावीर के उपदेश से पहले श्रावक फिर साधु होगये थे।

१८ सौगन्धिका नगरी क राजा अप्रतिहत एवं रानी सुकृष्णा थी।

१९ हस्तिशीर्ष नगर का राजा अदीनशत्रु व रानी का नाम धारिणी था।

२० स्थानाङ्ग सूत्र के ८ वे स्थानक मे भ० महावीर के दीक्षित ८ राजाओं के नाम है—

(१) वीरांगक (२) वीरजस (३) सजय (४) एणेयक (५) श्वेत (सेय) (का पुत्र शिवभद्र था) (६) शिव (७) उदायन और 'सख इनमें शिव राजपुर (हस्तिनापुर) एवं उदायन, वीतभय के राजा थे। अवशेष नरेश कहाँ के थे? अन्वेषणीय है। न० १ से १९ तक राजाओंका उल्लेख "श्रमण भ० महावीर" नामक ग्रन्थ में है।

प्रसंगवश यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण और भी कर देना आवश्यक समझता हूं कि भ० महावीर-कालीन सामाजिक एव धार्मिक स्थिति के बारे मे आजकल जो कुछ लिखा जाता है वह भी एकांगी एव त्रुटिपूर्ण है। उस समय मे सब धर्मों के धर्माचार्यों के प्रति बहुमान एव धार्मिक जिज्ञासा आदि अनेक अनुकरणीय एवं उपयोगी बाते बड़ी ही सुन्दर थी उन पर कोई विद्वान् प्रकाश तक नही डालता। मैंने अपने "भ० महावीर के समय की सामाजिक एव सांस्कृतिक स्थिति" लेख द्वारा विद्वानोंका ध्यान इस ओर आकर्षित भी किया था जो कि महावीर संदेश व १ अं १४ में प्रकाशित है, खेद है कि अभीतक किसीने ध्यान नहीं दिया। आशा है भविष्य में उस ओर भी ध्यान दिया जायगा।

२१ "श्रीमहावीर" कथा के अनुसार कुछ अन्य राजाओंके नाम इस प्रकार :—

स्थान—	राजा—
१ वाणिज्य ग्राम	मित्र
२ सामांजनी	महाचंद्र
३ मथुरा	श्रीदाम
४ पाटलिखण्ड	सिद्धार्थ
५ शौरिकपुर	शौरिकदत्त
६ वृषभपुर	धनावर
७ आमल कप्पा (रायपसेणी सूत्र)	सेय

इनमें स सेय संभवत स्थानाङ्ग सूत्रोक्त भ० महावीर के दीक्षित से यही होंगे।

इस लेखमें वर्णित सभी नृपतियों के नाम ऐतिहासिक दृष्टि से सही है यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आगमादि ग्रन्थ एक हजार वर्ष तक मौखिक रहे हैं अतः विस्मृति से नामों में रद्दोबदल भी हो सकता है। कई नाम पीछले महावीर चरित्र ग्रन्थों के आधार से भी लिख गये हैं जिनका प्राचीन आधार अज्ञात है अतः बौद्ध साहित्य के आधार से जाँच कर के उपयोग करना आवश्यक है।

इनके अतिरिक्त पावापुरी के राजा हस्तिपाल एवं ९ मल्लकी ९ लिच्छवि १८ गण राजाओं का उल्लेख कल्पसूत्र में मिलता है। १८ गण राजाओं के नाम अन्वेषणीय हैं।

मुनि ज्ञानसुन्दर जी ने प्राचीन इतिहास संग्रह भा० २ में अन्य कई राजाओं का उल्लेख किया है पर उनका निर्णय करना आवश्यक है।

चन्द्रगुप्त-चाणक्य इतिवृत्त के जैन आधार

[ले० श्रीयुत बा० ज्योति प्रसाद जैन एम० ए०, एल-एल० बी०]

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य तथा राजनीति के महान पण्डित आचार्य चाणक्य भारतीय इतिहास क्षितिज के प्रारंभिक प्रकाशमान नक्षत्रों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं। यदि मौर्य चन्द्रगुप्तको प्रथम ऐतिहासिक भारतीय साम्राज्य स्थापित करने का श्रेय प्राप्त है, तो आचार्य चाणक्य केवल उक्त साम्राज्य के कर्णधार एवं कुशल व्यवस्थापक थे वरन् अधुना भारतीय राजनीतिविज्ञान के प्रख्यात आदि नियामक एव प्रणेता भी थे।

इतिहास के विद्यार्थी को उक्त दोनों व्यक्तियों के विषय में आज बहुत कुछ सामग्री उपलब्ध है, अनेक आधुनिक इतिहासान्वेषकों एवं इतिहास लेखकोंने उनके सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा है। किन्तु जब हम तत्सम्बन्धी ऐतिह्य मूलाधारोंपर दृष्टिपात करते हैं तो उन्हें चार प्रकार का पाते हैं - (१) प्रथम उन विदेशी (यूनानी) लेखकों के वर्णन हैं जो ४ थी शताब्दी ईस्वी पूर्व के उत्तरार्ध में तथा तदुपरान्त भारत के सम्पर्क में आये। विशेषकर, सिकन्दर महान् की आक्रमणकारी सेना से सम्बद्ध (३२६-३२३ ई० पू०) यवन लेखकों तथा यवनराज सेल्यूकस द्वारा मगधराज्य दरबार में भेजे गये यूनानी राजदूत मेगस्थनीज तथा उसके आधारपर स्ट्रेबो, जस्टिन, कर्टियस आदि[१] यूनानी इतिहासकारों द्वारा लिखित भारत सम्बन्धी वृत्तान्तों से भारतवर्ष की तत्कालीन राज्यशक्ति, राज्य व्यवस्था, एवं देश तथा समाज की दशा के ऊपर अच्छा प्रकाश पड़ा है। परन्तु इन लेखकों ने मन्त्रीश्वर चाणक्य अथवा सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का कोई स्पष्ट नामोल्लेख भी नहीं किया और न उनके व्यक्तित्व अथवा जीवन सम्बन्धी विशिष्ट घटनाओं के विषय में ही कुछ लिखा। तत्कालीन भारतस्थ प्राचीन नरेश का नाम उन्होंने सैन्ड्रोकस, सैन्ड्रोकोटस, सैन्ड्रोक्रिप्टस, सैन्ड्रोकुटस आदि रूपों में, थोड़े-थोड़े अन्तर को लिये हुए दिया है, जिसका कि १८ वीं शताब्दी के अन्त में सर विलियमजोन्स की कल्पना के आधारपर आधुनिक इतिहासज्ञ विद्वानोंने सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ प्रायः सुनिश्चितरूप से समीकरण मान लिया है, यद्यपि उक्त समीकरण में मतभेद की पर्याप्त गुञ्जायश है और कितने ही विद्वान् प्रबल प्रमाणाधार से उसे भ्रमपूर्ण समझते भी रहे हैं[२]।

(२) दूसरा आधार ब्राह्मण अनुश्रुति एवं साहित्य है। विष्णु आदि हिन्दू पुराणों में तो भविष्यवाणी के रूप में प्रायः केवल इतना उल्लेख ही प्राप्त होता है कि 'नवनन्दों का

---

१ See Mccriudel's Translations

२ Viz. T L. Shah—Ancient India Pt II.

चाणक्य ब्राह्मण नाश करेगा और वही मौर्य चन्द्रगुप्त को राज्य देगा।[?] विशाखदत्त के प्रसिद्ध 'मुद्राराक्षस नाटक' में चन्द्रगुप्त मौर्य की राज्य प्राप्ति के उपरान्त नन्दों के भूतपूर्व मन्त्री राक्षस तथा चाणक्य के बीच राजनैतिक संघर्षों एवं कूट द्वन्दों का दिलचस्प चित्रण है। उक्त नाटक के टीकाकार ढुंढीराजने चाणक्य अपर नाम विष्णुगुप्त ब्राह्मण को दण्डनीति का पण्डित, सर्वविद्या पारगत एव नीतिशास्त्र का आचार्य करके लिखा है; और चन्द्रगुप्त को नन्द की मुरा नामक शूद्रा दासी का पुत्र कथन किया है। 'कथा सरित्सागर' में चाणक्य द्वारा नन्द के श्राद्ध का निमन्त्रण स्वीकार करने और शकटार के षड्यन्त्र से सुबन्धु के होता बनाये जाने पर अपना अपमान मान क्रोधावेश में नन्द के नाश की प्रतिज्ञा करने का वर्णन है। अस्तु इन आधारों से चाणक्य के मगध राजनीति में पदार्पण करने से पूर्व के इतिवृत्त के सम्बन्ध में, उसको पितृकुल, व्यक्तिगत जीवन तथा उसकी अन्तिम अवस्था के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं होता। साथ ही ये आधार चन्द्रगुप्त चाणक्य से लगभग एक हजार वर्ष से भी अधिक पीछे के है।

चाणक्य का स्वरचित प्रख्यात 'अर्थशास्त्र' अपने शुद्ध मौलिक रूप में आज उपलब्ध नहीं है। किन्तु विष्णुगुप्त नामक विद्वान् की टीका के रूप में जैसा कुछ भी वह मिलता है वह मूलकर्ता अथवा उसके स्वामी सम्राट् चन्द्रगुप्त के इतिहासपर कुछ भी प्रकाश नहीं डालता। यह ग्रन्थ वास्तव में नितान्त असाम्प्रदायिक एवं अनात्मवैज्ञानिक दृष्टि से लिखा गया है, और अपने वर्तमान रूप में पर्याप्त त्रुटित एवं क्षेपकपूर्ण है।

(३) तीसरा आधार बौद्ध अनुश्रुति है। मोग्गलान के बौद्ध इतिहास ग्रन्थ 'महावंश' में चाणक्य ब्राह्मण द्वारा क्रोधावेश में धनानन्द का नाश करके मौर्यों के वंशज चन्द्रगुप्त को सकल जम्बूद्वीप का राजा बनाने का उल्लेख करते हुए चाणक्य को तक्षशिला के एक ब्राह्मण का पुत्र, तीनों वेदों का ज्ञाता, शास्त्रों में पारंगत, मन्त्र विद्या में निपुण और नीति शास्त्र का आचार्य बताया है। महावंश के अतिरिक्त 'वसत्थप्पकासिनी' (सिंहली संस्करण) जिसके कि आधार थेरवादियों की 'सीहलट्ठ कथा' तथा धम्मरुचिकों की 'उत्तर विहारट्ठ कथा' हैं, और 'महाबोधिवंस' 'महापरिनिर्वाणसुत्त' 'नन्दपेतवत्थु' आदि ग्रन्थों में भी चन्द्रगुप्त, चाणक्य, नन्दों, मौर्यों आदि के सम्बन्ध में कुछ सामान्य संक्षिप्त उल्लेख हैं। वंसत्थप्प-कासिनी के अनुसार राजा धनानन्द बड़ा दानशील था, उसकी दानशाला में नित्यप्रति दान वितरण होता था और लगभग एक करोड़ मुद्रा प्रतिवर्ष इस प्रकार दान की जाती थीं। इस कार्य के लिये राजाने एक दाणग्ग (दान विभाग) स्थापित किया था जिसकी व्यवस्था एक संघ (समिति) द्वारा होती थी और उसका अध्यक्ष शास्त्रार्थ में विजयी सर्वाधिक विद्वान् होता था जो कि 'संघब्राह्मण' कहलाता था। संयोगवश अपनी योग्यता के बल से चाणक्य को यह पद प्राप्त हुआ किन्तु उसकी असह्य कुरूपता के कारण राजा ने उसे बलपूर्वक दानशाला से निकलवा दिया। अतः नन्द, क्रोधी चाणक्य का कोप भाजन हुआ और

चन्द्रगुप्त की सहायता से नाश को प्राप्त हुआ। इस प्रकार बौद्ध अनुश्रुति से भी चन्द्रगुप्त-चाणक्य की जीवन सम्बन्धी घटनाओंपर विशेष अधिक प्रकाश नहीं पड़ता, और फिर ये ग्रन्थ भी सुदूर सिंहल में उक्त घटनाओं से एक सहस्राब्दके उपरान्त ही लिखे गये हैं।

(४) चौथा आधार जैन साहित्य और अनुश्रुति है। इस आधार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह चन्द्रगुप्त मौर्य एवं मन्त्रीश्वर चाणक्य दोनों ही विविच्छिन्न व्यक्तियों के जीवनपर आदि से अन्ततक—दोनों के ही जन्म से उनकी मृत्युतक अच्छा विशद प्रकाश डालता है, साथ ही इस आधार का प्रामाणिक सिलसिला प्रायः उक्त व्यक्तियों के समय से ही प्रारम्भ हो जाता है और शनैः शनैः विकास को प्राप्त होता हुआ मध्यकाल तक चला आता है। विपुल, विविध, विशद, व्यापी, प्रायः परस्पर एवं पूर्वापर अविरुद्ध, प्रामाणिक एवं प्राचीनतम होते हुए भी, खेद इसी बात का है कि इतिहासकारों के हाथों इसकी बहुधा उपेक्षा ही हुई है, और इसका जैसा चाहिये था वैसा उपयोग नहीं हो पाया।

इस आधार को निम्नलिखित पाँच श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) दिगम्बर कथा साहित्य—शिवार्य की भगवती आराधना (१ ली शताब्दी ई० पू०), उसकी टीकाएँ (४ थी से १२ श०), हरिषेण का बृहत्कथाकोष (९३१ ई०), प्रभाचन्द्र की आराधना सत्कथा प्रबन्ध (१०५० ई० लगभग), श्रीचन्द्र का कथाकोष (१२वीं १३ वीं श०); ब्रह्मनेमिदत्त का आराधना कथाकोष (१५३० ई० लगभग) आराधनासार कथा-कोष, पुण्यास्रवकथाकोष इत्यादि

(ब) श्वेताम्बर आगम साहित्य—विशेषकर उत्तराध्ययन एवं आवश्यक सूत्रोंपर रची गयी निर्युक्तियाँ एव चूर्णियाँ, हरिभद्रीय आवश्यक वृत्ति देवेन्द्रगणि कृत सुखबोध आदि।

(स) ऐतिहासिक ग्रन्थ—हेमचंद्राचार्य कृत स्थविरावलि चरित्र अर्थात् परिशिष्टपर्व, रत्ननंदि आचार्यकृत भद्रबाहु चरित्र, देवचंद्रकृत राजावलिकथे आदि।

(द) फुटकर ग्रन्थ—यथा प्राकृत मरणसमाहि आदि।

(य) जैन शिलालेख—दक्षिण भारतस्थ मूडबद्री आदि स्थानों में उपलब्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त सम्बंधी अनेक प्राचीन शिलालेख, सम्राट् प्रियदर्शी के शिलालेख, कलिङ्ग सम्राट् खारवेल के अभिलेख, सुदर्शन झील के लेख आदि।

और इन सब जैनाधारों का मूलस्रोत दिगम्बर आम्नाय का 'अङ्गबाह्य-श्रुत' था जिसके कतिपय अवशेष, दिगम्बर, श्वेताम्बर संघभेद के पश्चात् श्वेताम्बर 'पयन्नासंग्रह' के रूप में प्रसिद्ध हुए। उक्त अङ्गबाह्यश्रुत अथवा पयन्नों की विषय सामग्री संक्षिप्त गाथाबद्ध सूत्र रूप में गुरु परम्परा द्वारा मौखिक द्वार से चन्द्रगुप्त चाणक्य के स्वसमय से लगभग १०० ई० पू० तक अस्खलित, अविकृत रूप में ही चली आयी थी; तत्पश्चात् वह परम्परागत अनुश्रुति भी अन्यों के साथ-साथ लिपिबद्ध भी होनी प्रारम्भ हो गयी और मौखिक द्वार से

भी वाचक गुरुओं की परम्परा द्वारा सुरक्षित रहती चली गयी। अवश्य ही कालदोष तथा नित्यप्रति वृद्धिगत एवं विस्तार को प्राप्त होते हुए सम्प्रदायों, संघों, गणों, गच्छों आदि के कारण वास्तविक घटनाओं की एक मूल अनुश्रुति भी कई विभिन्न धाराओं में बँटकर कुछ सामान्य अन्तरों को लिये हुए कुछ विविध, विकसित एवं सदोष भी होती चली गयी। तथापि विवक्षित घटनाओं के सम्बन्ध में अन्य सर्व अनुश्रुतियों और आधारों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है।

उपर्युक्त जैन आधारों का—आधार (अ) को छोड़कर और विशेषरूप से (ब) अर्थात् श्वेताम्बर साहित्यका मुनि श्री न्याय विजयजीने अपने लेख 'चाणक्य और उसका धर्म'[1] में आर्य चाणक्य को जैन धर्मानुयायी सिद्ध करने में सफलतापूर्वक उपयोग किया था। आधार स ग, का और कुछ अंश में अ, का उपयोग भी अनेक पाश्चात्य, पौर्वात्य विद्वान् सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य और अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का गुरु-शिष्य सम्बन्ध, चन्द्रगुप्त का जैनत्व तथा जैन-मुनि के रूप में सघ सहित दक्षिण को विहार करना, वहां श्रवणबेलगोल के निकट चन्द्रगिरि पर्वत पर निवास करना और समाधिमरण को प्राप्त होना आदि के सिद्ध करने में सफलता के साथ कर चुके है। फलस्वरूप सम्राट् चन्द्रगुप्त के जैनधर्मानुयायी होने में अब प्रायः किसी इतिहासज्ञ विद्वान को सन्देह नहीं है। अभी कुछ दिन हुए, लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभागाध्यक्ष प्रो० सी० डी० चटर्जी महोदय ने डा० विमल चरण ला अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित अपने एक विद्वत्तापूर्ण विस्तृत लेख में जैनाधार ग च, स का कुशल उपयोग करते हुए चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रारंभिक जीवन और प्रसंगतः मन्त्रीराज चाणक्य के भी प्रारंभिक जीवन सम्बंधी घटनाओं पर अभूतपूर्व प्रकाश डाला है।

किन्तु आपके लेख का जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है वह उक्त जैनाधारों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन है, यद्यपि उसमें कई स्थलों पर पर्याप्त मतभेद की गुञ्जायश है और कोई कोई विचार भ्रमपूर्ण भी प्रतीत होता है, फिर भी उक्त विवेचन अतीव उपयोगी एवं उद्धृत करने योग्य है। अतः आपके शब्दों में 'जैनियों का प्राकृत एवं संस्कृत लौकिक साहित्य चन्द्रगुप्त एवं चाणक्य सम्बंधी अनुश्रुति की कमसे कम दो धाराएँ प्रस्तुत करता है, जिनमें से एक (श्वे०) आवश्यक एवं उत्तराध्ययन (आगम सूत्रों) की व्याख्याओं में उपलब्ध होती है और दूसरी विशेषरूप से (दिग०) जैन कथासाहित्य में। 'आवश्यक' की परम्परा मूलतः वही है जो 'उत्तराध्ययन' की, यद्यपि इन दोनों के बीच कतिपय तत्सम्बंधी गौण बातों में कुछ अन्तर है। इन दोनों ही (श्वे०) अनुश्रुत धाराओं के बीज उक्त दोनों आगम सूत्रों पर निर्युक्तियों अर्थात् संक्षिप्त पद्य व्याख्याओं में उपलब्ध होते है।

१ अनेकान्त [illegible] किरण [illegible] पृ० [illegible]

कालान्तर में, प्राचीन जैन विद्वानों ने, जिन्होंने निश्चय ही जैन आम्नाय में गुरु परम्परा से चले आये उक्त कथानकों को विश्वस्त रूप से सुरक्षित रक्खा था, उन्हें विविध उपाख्यानों के संवर्धन से विकसित किया, ये कथानक अथवा उपाख्यान इस प्रकार अनेक शताब्दियों तक वाचक गुरुओं की परम्परा में मौखिक द्वार से स्मृति में सुरक्षित रहते चले आये। कितने काल तक चन्द्रगुप्त-चाणक्य सम्बंधी अनुश्रुतियाँ केवल स्मृति में ही सुरक्षित रहती रहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि ऐसा देवर्द्धि क्षमा श्रमण की प्रसिद्ध वल्लभी वाचनाके—जो वीर निर्वाण (लगभग ४८६ ई० पू०)[1] से ९८० अथवा ९९३ वर्ष पश्चात् हुई थी—उपरान्त रहा हो। यह वाचना श्वेताम्बर सिद्धान्त और उसकी व्याख्याओं के संकलन एवं लिपिबद्ध करने के लिये हुई थी।

चन्द्रगुप्त सम्बन्धी अनुश्रुति का सर्व प्रथम लिखित रूप सम्भवतया आवश्यक निर्युक्ति की चूर्णि[2] में उपलब्ध होता है। उसके आधार पर सन् ७४० ७७० ई० के बीच किसी समय विद्याधर कुल (गच्छ) के प्रसिद्ध जैन टीकाकार हरिभद्रसूरि ने चन्द्रगुप्त चाणक्य की कथा को बड़े विशद रूप में वर्णन किया और उसमें बहुत-सी प्रसंग की बातें भी सम्मिलित कीं, किन्तु ऐसा जो कि विश्वास किया जाता है, उन्हें उस सम्बन्ध में मौखिक परम्परा से प्राप्त हुई थी। यह कथा श्वेताम्बर आगम के द्वितीय मूलसूत्र 'आवश्यक' पर उनके द्वारा संस्कृत में रची गई 'आवश्यक सूत्रवृत्ति' में उपलब्ध होती है। उसके लगभग तीन शताब्दी पश्चात् श्वेताम्बरों के प्रथम मूलसूत्र 'उत्तराध्ययन' पर अपनी व्याख्या में देवेन्द्रगणि ने यह कथा प्राकृत भाषा में नये सिरे से लिखी, जिसके बीच बीच में उन्होंने प्राकृत पद्य संस्कृत पद्यों का भी समावेश किया। उनकी यह टीका 'सुखबोध' नाम से प्रसिद्ध है और सन् १०८३ ई० में समाप्त हुई प्रतीत होती है। यह बात सुस्पष्ट है कि देवेन्द्रगणि ने 'आवश्यक वृत्ति' में वर्णित चन्द्रगुप्त-चाणक्य की कथा की उपेक्षा की, किन्तु साथ ही साथ यह बात भी उतनी ही सत्य है कि उन्होंने अपने कथानक को मूलतः 'आवश्यक चूर्णि' पर आधारित किया, जिसमें से उन्होंने अपनी कथा का प्रकृत पाठ बहुलता

---

१ इस विद्वान् लेखक के मतानुसार महावीर निर्वाण सन् ४८६ ई० पूर्व में हुआ था। किन्तु प्रबल प्रमाणाधारों से यह बात भली प्रकार सुनिश्चित हो चुकी है कि महावीर निर्वाण ५२७ ई० पूर्व में हुआ था।

(ज्यो० प्र० जै०)

२ आवश्यक निर्युक्ति चूर्णि—पृ० ५६३-५६५ (जैन बंधु प्रिंटिंग प्रेस इन्दौर १९२८ ई०)

नोट—यह बात केवल श्वेताम्बर अनुश्रुति के लिये कही जा सकती है, क्योंकि दिगम्बर अनुश्रुति (कथासाहित्य) एवं आगमों का लिपि बद्ध होना तो पहली शताब्दी ई० पूर्व से ही आरंभ होगया था। श्वे० आगमो पर निर्युक्तियाँ वराहमिहिर ज्योतिषी के भाई श्वे० आचार्य भद्रबाहु द्वारा ६ ठी शताब्दी ईस्वी में रची गई, तदनन्तर चूर्णियाँ बनी।

(ज्यो० प्र० जै०)

के साथ उद्धृत किया है; संभवतः उनका उद्देश्य मूल कथा को उन कतिपय संशोधनों एवं परिवर्तनों के साथ पुनः निर्मित करने का था जो कि उनकी स्वगुरुपरम्परा द्वारा सम्मत थे अथवा उस आम्नाय में, जिससे उनका स्वय का सम्बंध था, स्वीकृत थे। विविक्षित कथानक का एक अन्यरूप 'स्थविरावलि चरित्र' अर्थात् 'परिशिष्ट पर्व' में उपलब्ध होता है, जिसे कि हेमचन्द्रसूरि ने अपने 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र' नामक ग्रन्थ के परिशिष्ट रूप में लगभग सन् ११६५ ई० में संस्कृत पद्य में रचा था। यह कथानक प्रधानतः हरिभद्रीय आवश्यक वृत्ति में वर्णित कथा पर आधारित है और २७६२ श्लोक प्रमाण है। इस सम्बंधमें यह कहा जा सकता है कि अनुश्रुति का वह अंश जो चन्द्रगुप्त के राज्याभिषक के पश्चाद्वर्ती समय से सम्बंधित है, चाहे हरिभद्र द्वारा अथवा देवेन्द्रगणि द्वारा वर्णित हुआ हो, इतिहास में अधिक महत्व नहीं रखता।'

इस अनुश्रुति की दूसरी धारा का, जो कि विशेषरूप से जैन कथा साहित्य (दिगम्बर) में उपलब्ध होती है, सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधित्व हरिषेण के 'बृहत्कथाकोष'[२], प्रभाचन्द्र के 'आराधनासत्कथाप्रबंध', ब्रह्मनेमिदत्त के आराधनाकथाकोष, तथा श्रीचन्द्र के 'कथाकोष'[३] में प्राप्त होता है। जहाँ तक इन ग्रन्थों के साहित्यिकरूप का सम्बंध है, हरिषेण और नेमिदत्त के कथाकोष संस्कृतपद्य में हैं और श्रीचन्द्र का प्राकृत पद्य में। उक्त कथानक सहित प्राकृतगद्य में कोई कथा कोष अधुना ज्ञात नहीं हुआ है, जबकि प्रभाचन्द्र का ग्रन्थ संस्कृत गद्य में है। इन चारो कथा कोषों में सर्व प्राचीन और संभवतया सर्वाधिक महत्व पूर्ण हरिषेण (९३१ ई०) का कथाकोष है और सबसे अन्तिम नेमिदत्त (लगभग १५३० ई०) का, जबकि शेष दोनों बीच के काल में रचे गये।[४] उक्त चारों ही ग्रन्थकारों ने अपनी अनुश्रुत कथाएं जैनो (दिग०) के एक प्राचीनतर आराधनाग्रन्थ-अर्थात् शिवार्य, शिवकोटि अथवा शिवकोट्याचार्य के 'भगवती आराधना'[५] से प्राप्त की प्रतीत होती है।

* लेखक के इस कथन का कारण यह प्रतीत होता है कि चूंकि चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के उपरान्त का इतिहास आधुनिक विद्वानो ने अन्य जैनेतर आधारों से भली प्रकार सुनिश्चित कर लिया है, अतः उसमें जैनाधारों में वर्णित अनुश्रुति के साथ कहीं २ विरोध होने के कारण उस सम्बंध में जैन अनुश्रुति को महत्व नहीं देना चाहिये !

२ बृहत्कथाकोष—डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा संपादित, पृ० ३३९-३३८, बम्बई १९४३

३ वहीं, भूमिका पृ ५७ फ

४ वही—प्रशस्ति श्लो० ११-१२ (=९३१ ९३२ ई०); winternity—Hist of Ind lit II p 514.

५ यह आराधना अथवा मूलाराधना भी कहलाता है (मूलाराधना—सं० टीका तथा हि० अनुवाद पद्य १५५६—शोलापुर १९३५), डा० उपाध्ये का यह कहना कि इस ग्रन्थ की भाषा शौरसेनी प्राकृत है, ठीक ही है (बृहत्का भू० पृ० ५०). किन्तु वह अमिश्रित नहीं है, क्योंकि उसमें अर्धमागधी शब्द भी पर्याप्त संख्या मे प्रयुक्त हुए है।

और यह ग्रन्थ अपनी भाषा संबंधी तथा पाठगत विशेषताओं की दृष्टि से प्रथम शताब्दी ईस्वी का हो सकता है।[6] किन्तु 'भगवती आराधना' स्वयं उक्त अनुश्रुति का मूल स्रोत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उक्त उपाख्यान संग्रह के द्वारा इस अनुश्रुति को और अधिक प्राचीनतर काल तक लक्षित किया जा सकता है। वस्तुतः, चाणक्य-चन्द्रगुप्त अनुश्रुति के पाषाणावशेष 'पयन्नों' के साहित्यिक स्तर में जड़े प्राप्त होते हैं. (अर्थात् पयन्ने) जैसा कि ज्ञात है, श्वेताम्बरों के आगम साहित्य और दिगम्बरों के 'अङ्गबाह्यश्रुत'[7] का अङ्ग हैं।

दश पयन्नों में से वे दो जिनमें उक्त अनुश्रुति का बीजभूतरूप उपलब्ध होता है, 'भट्ट परिन्ना' और 'सथार'। इन दोनों में ही जैनमुनि के रूप में चाणक्य की मूलकथा वर्तमान जैनधर्म के प्रस्थापक भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित एवं स्वीकृत धार्मिक आचरण के समर्थन एवं दृष्टान्त रूप में, सर्व प्रथम उपलब्ध होती है।[8] पयन्नों की तिथि सुनिश्चित रूप से ज्ञात नहीं है, किन्तु इस बात को ध्यान में रखते हुए कि सुविख्यात् दिगम्बराचार्य, निर्ग्रन्थ दार्शनिक कुन्दकुन्द और उनके सुयोग्य शिष्य उमास्वामि ने—जो कि दोनों ही प्रथम शताब्दी ईस्वी के प्रारंभिक भाग में हुए थे[9] —अपने अपने ग्रन्थों में दिगम्बर अङ्ग एव

---

६ हमने यह तिथि अनुमानतः प्रस्तुत की है क्योंकि यह प्राय ठीक ही मालूम होती है। तथापि इस सम्बध में और अधिक खोज वाञ्छनीय है। हाँ ग्रन्थ में ऐसा सुनिश्चित सकेत नही मिलता कि शिवार्य कुन्दकुन्द और उमास्वामि के पूर्ववर्ती थे—जैसा कि डा० उपाध्ये मानते हैं—
(बृहत्कथा० भू० पृ० ५५; V. Indra)

(नोट—शिवार्य के समय के सम्बंध मे देखिये हमारा लेख—'भगवती आराधना और उसके कर्ता'—प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ।— (ज्यो० प्र० जै०)

७ दिगम्बर द्वादशाङ्ग श्रुत से इतर एव गौण साहित्य का समावेश उनके अङ्गबाह्यश्रुत में है।

८ देखिये—चतु. शरणादिमरणसमाध्यन्तम् प्रकीर्णकदशकम् (आगमोदय समिति संस्करण नं० ४६), भट्टपरिन्ना पद्य १६२, संथार प० ७३-७५

९ यदि दिगम्बर पट्टावलि को विश्वस्त माना जाय तो हमें उमास्वामी को प्रथम शताब्दी ई० (वि० सं० १०१ = ४४ ई०) का विद्वान मानना होगा, किन्तु ये पट्टावलियाँ, चाहे श्वेताम्बरों की हों अथवा दिगम्बरों की, परस्पर इतनी विरुद्ध हैं कि उनके द्वारा प्रस्तुत तिथिक्रमों पर पूरा भरोसा करना कठिन है। सरस्वती गच्छ की दिगम्बर पट्टावलि के उमास्वामी भद्रबाहु द्वि० से जो कि भ० महावीर के पश्चात् ७वें गुरु थे (यहा लेखक को भ्रम हुआ है, विवक्षित भद्रबाहु द्वि० ७ वें नही २७ वें गुरु थे, भद्रबाहु प्रथम ८वे थे) और ५३ ई० पू० (वि० सं० ४) मे मृत्यु को प्राप्त हुए छठे गुरु थे। और श्वे० तपागच्छ पट्टावलि के अनुसार आर्य महागिरि (मृत्यु वी० नि० २९१, तथा खरतरग० पट्ट० के अनुसार वी० नि० २४९) से, जो महावीर स्वामी के पश्चात् ८ वें गुरु थे, द्वितीय गुरु थे। अतः हमें उनको २ री० शत० ई० जितना पीछे का विद्वान मानना किसी प्रकार उचित नहीं है (Ind Aut XI—p. 246 and 251, XX p 351) पूर्ण सम्भावना इसी बात की है कि कुन्दकुन्द और उमास्वामी दोनों ही ७५ ई० पू० से ५० ई० के बीच हुए। (नोट—यद्यपि लेखक की अन्तिम अनुमानित तिथि प्रायः ठीक है, तथापि गुरु परम्पराके समयादि त्रुटि पूर्ण हैं)

अङ्गबाह्यश्रुत (उपलब्ध) का पूरा पूरा उपयोग किया था'°, पयन्नों के काल की अन्तिम उत्तरावधि अधिक से अधिक १०० ई० पूर्व मानी जा सकती है।'' अतः यह असंभव है कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त कथानक का जो प्राचीन रूप पयन्नों में निहित है वह ईस्वी सन् के प्रारंभ के पश्चात् का हो। चूंकि दिगम्बरों ने आवश्यक, उत्तराध्ययन तथा पयन्नों को अप्रमाणिक एवं अप्रासंगिक मान कर अपने आगम से बहिष्कृत कर दिया अतः संभव है चाणक्य को जैनमुनि का रूप देना श्वेताम्बरों की ही कृति हो।* यदि यह बात ठीक भी हो तो भी हमें इस बात का समाधान करना फिर भी शेष रह जाता है कि तब चाणक्य सम्बंधी-अनुश्रुति की वे दो धाराएँ क्यों कर हुईं, जिनमे से एक आवश्यक और उत्तराध्ययन से संबंधित है और दूसरी पयन्नां मे, और इन दोनों के बीच इतने अन्तर क्यों लक्षित होते है।

---

१० कुन्दकुन्द, और उमास्वामी की रचनाओं का समावेश दिगम्बरों के २ रे वेद-द्रव्यानुयोग में होता है।

११ यह विश्वास करना कठिन है कि उमास्वामी के तत्त्वार्थाधिगम सूत्र जैसा जैन सिद्धान्त एवं आचार का सारसंकलन, जो जैनधर्म में वही स्थान रखता है जैसा कि बौद्धधर्म में विशुद्धिमग्ग, दिगम्बर साम्प्रदायिक द्वारा अपने अङ्ग एवं अङ्गबाह्य साहित्य का स्वरूप एवं आकार [illegible] प्रकार सुनिश्चित कर लेने [illegible] भी पूर्व रचा जा सका हो।

* यह कथन [illegible] नहीं मालूम होता। जैन अनुश्रुति में सर्वत्र चाणक्य अपने अन्तिम जीवन में जैन मुनि के रूप में मिलते हैं। श्वे० ने उन्हें जैन मुनि का रूप नहीं दिया बल्कि श्वे० धारा के लिपिबद्ध होने से लगभग ५०० वर्ष पूर्व लिपिबद्ध हुई जैनधारा के कथा ग्रन्थों में जैसा कि ऊपर देखा, पाते हैं—वे समाधिमरण द्वारा सद्गति को प्राप्त होने वाले आदर्श जैन मुनि के रूप में ही चित्रित हुए हैं। (ज्यो० प्र० जै०

कतिपय प्राचीन पट्टे परवाने

[ले० श्रीयुत भँवरलाल नाहटा]

प्राचीन काल मे राजाओं का प्रभाव जन-साधारण पर बहुत अधिक रहा है। इसीके परिचायक "यथा राजा तथा प्रजा" नामक लोकोक्ति सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसके दो प्रधान कारण हैं, पहला तो राजा को लोग ईश्वर मानकर उनके वचन एव अनुशासन को मान्य करते थे और राजा के प्रसन्न होनेपर सम्मान, धनादिका लाभ होने की भी आशा रहती है। अतः स्वार्थ एवं दबाव के कारण राजा लोग जिस कार्य से प्रसन्न रहें वही कार्य करने की जनता की प्रवृत्ति होती है। दूसरा है "महाजन येन गतः स पन्थाः" "एवं गतानुगतिको लोकः" वाला जन मानस। वास्तव में हरेक व्यक्ति विचारक सुशिक्षित एव विवेकी नहीं हो सकता। सभी समय में यही देखने में आता है कि कुछ इने गिने व्यक्ति ऊँचे उठते है अधिकांश व्यक्तियों के विचारों एव प्रवृत्तियों का स्तर साधारण ही रहा करता है। अत: जन-साधारण को जो जिस तरफ झुकाना चाहता है प्रभावशाली व्यक्ति उसी ओर झुका सकता है। राजाओं के पास तो अनेक प्रकार के साधन एव सत्ता रहती है अतः उनका प्रभाव सर्वाधिक होना स्वाभाविक ही है। इसी बात को ध्यान में रखकर समय समय पर धर्म प्रचारकों ने अपने धर्म के प्रति राजाओं एव विशिष्ट अधिकारियों को आकर्षित करने का लक्ष्य रखा व प्रयत्न किया है।

भारतवर्ष के इतिहास का सिंहावलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि राजाओं से अधिक प्रभावशाली व्यक्ति यदि कोई होता था तो वह धर्मप्रचारक। क्योंकि भारत अध्यात्म प्रधान देश है यहाँ त्याग, तपश्चर्या एव धर्म के प्रति सब समय अत्यधिक आदर रहा है। अतः राजा महाराजा भी धर्मप्रचारक महापुरुष ऋषि मुनियों के पैरो में अपना मस्तक झुकाते थे। भ० महावीर के समय पर ही विचार करें तो कितने राजा महाराजा आदि उनका जहाँ कहीं उपदेश होता बड़े भक्ति भाव से आते एव उसमे प्रभावित होकर त्याग मार्ग स्वीकार कर लेते थे। इसी प्रकार महात्मा बुद्ध का प्रभाव बौद्ध ग्रन्थों से भलीभाँति विदित होता है। उसके पश्चात् सम्राट् अशोकने बौद्ध धर्मका कितना जबरदस्त प्रचार किया व सम्राट् सम्प्रति ने जैन धर्मका, यह जैन एवं बौद्ध साहित्य से स्पष्ट है। दक्षिण में दि० सम्प्रदाय को जहाँतक आश्रय मिला वहाँ तक उसकी बढ़ती होती ही गयी। मारवाड़ एवं गुजरात में श्वे० सम्प्रदाय को राजाश्रय मिला तो उसका सितारा चमक उठा। जैन इतिहास के विद्यार्थी से भी ये बातें अपरिचित नहीं हैं।

मध्यकालीन भारतीय इतिहास से यह भी ज्ञात होता है कि अपने अपने धर्म एवं सम्प्रदाय का प्रभाव बढाने के लिये राजाओं को आकर्षित करने के लिये धार्मिक विषयों पर

राजसभाओं में बड़े-बड़े शास्त्रार्थ किये जाते थे। कहीं कहीं उनमें यह शर्त भी तय हो जाती थी कि जिस धर्मका आचार्य शास्त्रार्थ में निरुत्तर व परास्त हो जाय उसे उस राज्य में प्रवेश करने का अधिकार नहीं रहेगा; अतः राजाश्रय नष्ट होनेपर अन्य सम्प्रदायवालों को बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ता था। राज्याश्रय प्राप्त करना धर्म प्रचार का प्रमुख साधन बन चुका था। इस बात को ध्यान में रखकर जैनाचार्यों ने भी अनेक राजा महाराजाओं पर प्रभाव डालकर समय पर धर्मोन्नति की है। श्वे० आचार्य वप्पभट्टि सूरि के आम राजा एव आचार्य हेमचन्द्र के कुमारपालको जैन धर्म का प्रतिबोध देकर शासन प्रभावना करने का वर्णन अनेक ग्रन्थों में विस्तार से किया है और वे शासन प्रभावक महापुरुष माने गये है।

भारतीय नरेशों की विलासिता एव पारस्परिक फूट के कारण बाहर से आकर मुसलमानों ने अपना शासन जमा लिया। पहले-पहल उनका आक्रमण अपना राज्य स्थापित करने के लिये नहीं हुआ। पर भारत धन धान्यादिमे बहुत समृद्ध था उसी पर उनकी आँखें लगी हुई थीं। किन्तु जब उन्होंने देखा कि यहीं-वालोंसे हमें सहायता मिल रही है तो वे कब चूकनेवाले थे। मुसलमानी शासन से भारत को सबसे अधिक महत्व का यदि कोई नुकसान हुआ तो धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से हुआ। मतान्ध मुसलमानों ने अपने धर्म का प्रचार बड़े अन्याय एव क्रूरता के साथ किया। भारतीय धर्मोंके प्राचीन स्मारक कलापूर्ण मन्दिर-मूर्तियों आदिका जिस हृदयहीनता से विनाश किया गया वह कभी भी भूला नहीं जा सकता। स्थानीय जनता के साथ जिस बर्बरता-अमानुषिक ढंग से वे पेश आये उसका वर्णन पढ़ने से ही रोमाञ्च होने लगता है। अत. कुशल जैनाचार्योंने स्वधर्म रक्षा के लिये उन मुसलमान शासकों को प्रभावित करना उचित समझा। कुछ जैन व्यापारियों का मुसलमान ग्राहकों से अच्छा सम्बन्ध था कई जैन व्यक्ति उनके शासन संचालन में अधिकारी रूप में योग देते थे। उनकी मारफत मुसलमान सम्राटो एव सूबेदार, वजीर आदि से मिलकर जैनाचार्य उन्हें प्रभावित करते और उनको अपने धर्मपर किये जानेवाले अत्याचारों से बचाते, अत्याचार का संशोधन करवाते, इसीसे विधर्मी शासकों के हाथ से जितनी क्षति अन्य हिन्दू समाज को हुई उसके शतांश में भी जैन धर्म को नहीं हुई, यह उन्हीं दूरदर्शी कुशल जैनाचार्यों की बुद्धिमत्ताका ही सुफल है। कलकत्ते में पुरातत्त्वविद् मुनि जिन विजयजीने अपने एक भाषण में इसकी प्रशंसा बड़े ही गौरव के साथ की थी। उन्होंने कहा था कि गुजरात में आज ४०० वर्ष पुराना भी कोई हिन्दू मन्दिर सुरक्षित नहीं है तब जैन मन्दिर हजार आठसौ वर्षों के बहुत बडी संख्या में सुरक्षित हैं एव प्राचीन ग्रन्थ भी ताड़ पत्रादिपर लिखित जैन भंडारों में १००० वर्षोंके सैकड़ों मिल जायँगे पर किसी भी जैनेतर संग्रहालय में एक भी प्राचीन प्रति नहीं मिलती। इस बात पर गंभीरता से विचार करने पर उस समय के जैन मुनियों एवं श्रावकों ने स्वधर्म रक्षा एवं उन्नति के लिये कितना

महान् कार्य किया। यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता। उन्होंने अपने कलापूर्ण मंदिरों एवं चमत्कारी मूर्तियों और ग्रन्थों को बचाया ही नहीं, पर उस विकट समय में जबकि चारों ओर त्राहि-त्राहि मच रही थी, साहित्य एवं धर्म की बात जाने दीजिये लोगों की जान के लाले पड़ रहे थे, हजारों नई जैन जैनमूर्तियाँ बनवायीं, सैकड़ों मन्दिर बनवाये। हजारों ग्रन्थ निर्माण किये, नये लिखवाये, बड़े-बड़े तीर्थ यात्रा के संघ उन्हीं मुसलमान सम्राटों से फरमान प्राप्त कर निर्विघ्नतापूर्वक निकाले, अपने धार्मिक उत्सवों को बढ़ाया अर्थात् बड़ी भारी उन्नति की। इसकी तुलना में आज के (सब साधनों के होते हुए भी) जैन समाज की क्या हालत हो रही है? कहने पर दो बूँद आँसू बहाये बिना नहीं रहा जाता। कहाँ हमारे पूर्वजों ने उस विकट परिस्थिति में धर्मका महान् उद्योग किया और कहाँ आज की निर्माल्य जैन जनता। आज सब प्रकार के साधन सुलभ हैं पर हम उनकी ओर कोई भी ध्यान नहीं देते। वास्तव में यह सर्वथा सत्य है कि धर्म पगु है। उसके चलानेवाले ही उसकी उन्नति एवं अवनति हैं "न धर्मो धार्मिकैः बिना"।

जैनाचार्य जिनप्रभ सूरिजीने सम्राट् मुहमद तुगलक को जैन धर्मके प्रति आकर्षित कर कैसा धर्मोद्योग किया इस पर अपने शासन प्रभावक जिनप्रभ सूरि "निबन्ध" में प्रकाश डाल चुके है एवं सम्राट कुतुबुद्दीन और सिकन्दरको चमत्कृत करनेवाले जिनचन्द्रसूरि व जिनहंससूरिका वृत्तान्त भी अपने ग्रन्थ एवं लेखमें दे चुके है। सम्राट् अकबर पर हीरविजयसूरि व भानुचन्द्रका प्रभाव प्रसिद्ध ही है एवं जिनचन्द्रसूरि, जिनसिंहसूरि, पद्मसुंदरादिके सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला जा चुका है। यह प्रभाव कितना व्यापक एवं स्थायी हुआ। इसका परिचय इस लेख में प्रकाशित कतिपय पट्टे परवानो की नकलों से पाठकों को मिल जायगा। बादशाही प्रभाव के कारण राजा लोग भी आचार्यों की संतति को बहुत ही श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। इसीलिये ये प्रकाशित सभी पट्टे परवाने जोधपुर के राजमान्य वैद्यवर उदमचन्द्रजी गुरासा के पास है उनके पास से नकल करके यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं; इससे भूतकालीन जैन धर्मके गौरव एवं यतियोंके प्रभावादिका अच्छा परिचय मिलता है। इस प्रकार के पचासो पट्टे परवाने अन्यत्र भी मिलेंगे उन्हें प्रकाश में लाने का नम्र अनुरोध है। अन्यथा वे भण्डारों में पड़े-पड़े सड़ जायँगे और दीमक के भक्ष्य बन जायँगे और जैन इतिहास के महत्वपूर्ण साधन नष्ट हो जायँगे। आशा है उनकी सुरक्षा एवं प्रकाशनकी ओर शीघ्र ध्यान दिया जायगा।

छाप महाराजा विजय सिंहजी री

१

मुताबिक र मुआफिक फरमान आलीसान तमाम हिन्दुस्थान के बादशाहों के हजरत अकबर बादशाह व जहाँगीर बादशाह, हजरत शाहजहाँ बादशाह, हजरत आलमगीर

औरंगजेब बादशाह, हजरत महमद फरुखशियर बादशाह गाजी हजरत महमदशाह बादशाह, हजरत अहमदशाह बादशाह, हजरत आलमगीर सानी बादशाह, हजरत बादशाह गाजीसाह आलम गरज इन तमाम बादशाहान के फरमान के मुताबिक दरजा और ताजीम व दाद व सनद तमाम व अलकाब व आदाब जगत् गुरु आजारज श्री पूज्य श्रीजी महाराज प्रभु व हरि (श्री ?) जिनचंद जैन बादशाह देवशरण श्रीचरण व श्री जिन चिरंजीव श्री जिनराज मोर (सूरि ?) जी श्री जिन रत्ना (रत्न ?) मोर (सूरि ?) जी श्री दे-(दे ?) म लाभ सागरजी श्री जिनसत्न जी देव व जगतगुरु गोज धरम सतगुरु श्री ज्ञानभद्रजी बनेसेजी, बनेसागरजी, वेनचजी जब बादशाही दरबार में पहुँचे तब ताजीम परणाम दण्डोत और तस्लीमात की बादशाह ने अपने तख्तपर बिठाया और इनकी ताजीम में तख्तखाश और तखत खाँ और छंवर छाया गीर वगैरा खास व पालकी व मोरछल आफता बोजरीन और सोने और चाँदी की चोब, सिंहासन, करममी जरीन भेट फरमाई और हजरत बादशाहने फरमान जारी किया कि यह मरतबा और दस्तूर हमेशे जारी रखना चाहिये और सबको चाहिये के तमाम कौम मुसलमान और हिन्दू वगैरा गुरुजी की ताजीम करें और अपना गुरु समझें और फर्श या अदान डालकर शहर में इज्जत व ताजीम से ले जावें और श्री गुरुजी के सामने दण्डोत और तस्लीमात बजा लावें और ताबेदारी के कायदों मे बाहर न होवें और हर घर मे एक रुपया और एक अदद नारियल फसल व फसल और माल व माल नजर व नयाज देते रहें और यह दस्तूर तमाम हिन्दुस्थान मे हमेशे हमेशे जारी रहे। और किसी तरह से तगय्युर व तबद्दुल न होवेगा खशूसन तमाम कौमें मुसलमानों की और हिन्दुओं की ताबेदारी से बहुत ताजीम और दण्डोत तमाम गुरुओ की बजा लावें और इन तमाम गुरुओंको मुरशिद और धरम सत्पूज्य गोस्वामीनाथ और परमेश्वररूप अपना जानें और आदाब बजा लावें और तस्लीम और आदाब बजा लाने मे कोई कसर और दकीका न रखे और अकवाम मजकूर से कोई तकसीर या लापरवाही इनके बारे में साबित होगा तो यह तमाम गुरु उनको सजा देने में जो सजा इनके मजहब मे मालूम होवें देवें या माफ कर देवे यह इनको अख्तियार है और यह मरातिब ताजीम के जो इनके लिये मुकरर है वह अगले जमाने के राजाओं में जैसे राजा वीर विक्रमादीत और राजा सालिवाहन वगैरा तमाम राजगान चक्रवर्ती और महाराजा श्रीजयचंद्रजी व इनके लश्कर व फौज रखते थे और महाराजा चौहान और कुल राजगान छोटे और बड़े भी मरातिब ताजीम के इन गुरुओंके लिये बहाल रखते थे बल्कि अपनी तरफ से दुगनी ताजीम बजा लाते थे और हिन्दुस्थान के तमाम के तमाम बादशाहों के फरमानों के मुताबिक इन गुरुओं के मरातिब और मनासिब जैन बादशाह जगतगुरु पूज्य परम सतगुरु श्री बनेसागरजी और श्रीजगतगुरु पूज्य श्रीहेमराजजी देवश्री देवचरण यह

दोनों और जो लायक चेले सागर फला के जहाँ कहीं होवें उनकी नशस्ति दरबार में निहायत ताजीम के साथ होगी और शहर में जो इस दरबार के तहत और तसरूफ में है वैसी ही मशतिक ताजीम और ताबेदारी बजा लावें। और ताजीम में कोई कसर न रखें। और यह सरकार भी सतगुरु पूज्य अपना जानते है और सामेला हिकमद भेंट बुलन्द दरजा बजा लाते रहेंगे और तमाम जैनी और जैनी महाजनान वगैरा गुरु के हुक्म के ताबेदार रहें और अताअत करते रहें और ताजीम इनकी वाजिब जानते रहें। और मुवाफिक परवाना जात इस सरकार ने भी और श्रीमहाराजा अजीतसिहजी और महाराजा श्रीअभय-सिंहजी और श्री बडा महाराजजीने परवाने और खास रुक्के लिखकर दिये हैं और मरातिब ताजीम का खयाल रखा गया है और छोटा चेला और बड़े चेलेके ताबेदार रहें और उनके हुक्म से बाहिर न जावें। हाथी और जागीर और छतर तोब नुकएई व तुलाई व आफतानीके साथ पालखी में बैठकर आवें। और उनके सामने खड़ा होकर खड़े-खड़े ताजीम बजा लाई जावे और सिरे दरबार आसन उनके लिये बिछाया जावे और रोज बरोज उनके मरातिब की ताजीम बर करार रहें अगर कोई इनकी ताजीम से इनहराफ करे तो अपने दीन में तीन लोक मे पूज्य के दीन से मरदूद हो। तलाक तलाक तलाक यह तमाम गुरु परम सतगुरु हमारे है यह दरजे हमेशा हमेशा जारी और मुकरर रहे। जो इनकी ताजीम से बाहिर जावे वो नालायक नालायक नालायक।

सीताराम जी

२

सिद्धश्री राजराजेसुर महाराजाधिराज महाराजा श्रीअजीतसिंहजी जोग्य लिखतं महाराजाधिराज महाराजा श्री सवाई जैसिंघजी केन जुहार अवधारी जो। अठै रा समाचार किरपा श्री ·· ·· · जी की स्यौ भला छै। राज्य का सदा भला चाहिजै, अपंच राज्य बड़ा छौ राठा उठै की व्योहार में कदी बात री जुदायगी न छै अठै छोडा राजपूत छै सो राज्य का काम में छै विस्वेक काम काज होवे सो लिखावता रहोला समाचार सगला अणंदराम लिख्या सो अठे नो सिवाई सत्वाई महाराज की और कोई बात न छै। अब समाचार सारा अणदराम अरज करै लौ कागद समाचार लिखावता रहोला मिती सावण सुदि १४ संवत १७७६ लिखतं जैपुर सू।

इसी पत्र के ऊपर के भाग में महाराजा के स्वहस्त से जैन पति जीके लिये निम्नलिखित विज्ञप्ति लिखी हुई है।

जगत गुरु परमसतगुर जैन पातसाह श्रीगुरुदेव महाराजा श्री पूज्यजी श्री १०८ श्री जयशीलजी भट्टारकजी श्रीनैणसिहजी देवश्री चरणो की हजूर में दंडवत प्रणाम १०८ मालूम करोला। जगतगुरु पूज्य गछनायक खतरी वंश के परमसतगुरु छै। राठौर

कछवाह मीसोदियों के तो विशेष सदैव श्री गुरु ईश्वर रूप छै श्री कलि केवली जगतगुरु पूज्य श्रीजिनचन्द्रसूरिजी गुरुदेव महाराज की क्रिपा कर अठा को राज्य छै। राज्य का श्रीगुरुदेव छै, अठारा श्री कुल गुरु छै, सदैव अठाका श्रीगुरुदेव छै, श्रीगुरु परमेश्वर रूप छै अठै दास को राज्यको प्रताप श्री गुरुदेवाँ के चरणारविन्द के प्रसाद कृपा को छै चरणारविन्दां डंडोत कर अठे कृपाकर पधारे तो अरज करोला, अठा को राजश्री गुरुदेवां को छै श्रीगुरुदेवां की शिष्य परंपरा को विशेषकर पाटधारी शिष्य को परम सतगुरु पूज्यभाव अठै सदैव रहैलो असल छत्री वंश कछवाहो सदैव परम सतगुरु पूज्यभाव राखैलो, मानैलो, मरजादन लोपै लै। मरजाद लोपैलो सो कुंभी पाक में पडैलो, अठाकी अरज करोला श्रीगुरुदेव अठा पधारै सो अरज राज करोला।

श्रीजिनराजसूरिजी

३
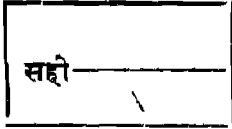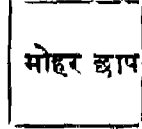
स्वस्ति श्री महाराजाधिराज महाराजा श्रीगजसिंहजी महाराज कुंवर श्रीअमरसिंहजी वचनातु जगतगुरु पूज्य परम सतगुरु श्रीगुरुदेव जैन पातसाह भट्टारक श्री पूज्य जगम युग प्रधान श्री जिनराज सूरीसरजी नुं भेंट करी लिखी दियो सरब देस में पातसाही कागदां में लिखी भाव भगती रहसी, जती महाजन वगेरह सरब जैनी श्रीगुरुदेवां का हुकम माफक चालसी, आदेश उपदेश मानसी, भेंट निजर पधरावणी पग मंडा सामेल। भाव भगती वगेरे उच्छव श्रीगुरुदेवां रे दिन दिन अधिक होसी सरब उच्छव खरतर गच्छ रा प्रथम तुसी, सरब देश में राज होसी सो उच्छव करावसी श्रीपातसाही हुकम छै। सं० १६९० वर्ष आषाढ बदी १ मु गरीदेवे श्रीमुखपर वदनी भंडारी लूण।

स्वस्ति श्री महाराजाधिराज महाराज श्रीजसवंतसिंहजी महाराज कुंवर श्रीपृथीसिंहजी वचनात् मुहणोत नैणसी दिसै सुप्रसाद वांची जो तथा जगतगुरु पूज्य परम सतगुरु जैन पातसा श्री पूज श्रीगुरुदेव भट्टारक गुरुजी ·········· ··श्रीश्रीश्री जी देव श्री चरणा री आग्या माफक चाल जो। सामेला पगमंडा पधारमणी, घाड़ा उछरंग सुं की जो। पातसाही फुरमान परवाना माफक भाव भगती कर जो। पातसाही में सरब राजथान में सरब देश में श्रीपूज परम सतगुरु ऐ श्रीगुरुदेव है। भट्टारक श्री पूज है। तिके महाजनां रा है महाजन मानसी अठे एतो पूज छै जगत आचरज भट्टारक श्रीपूज परम सतगुरुदेव है सो इणांने पातसाहजी सरब राजा, राव, नवाब, खान, उमराव वगैरह सरब जगत सरब जती महाजन

वगैरह सरब जैनी परम सतगुरु श्रीगुरुदेव करी गुरू परमेसर रूप माने हैं भेट नजर पधरामणी पूजन सेवा बंदगी इण्यांरी करे है और दूजा भट्टारक श्रीपूज है तिणने तो महाजन कितराक जती माने है सो विचार राखी जो सरब देसरा जती महाजन मथेन भट्टारक लुंकीपासु वह वा मुँह बंधा वगैरह सरब जैन इणी श्रीगुरुदेव री आगे जा में चालसी श्रीपातसाही हुकुम छै। संवत् १७१६ रा माहसुदि ५ मुकाम अहमदावादे उपर ....आप राठौर ....श्री गुरुजी की इणी शिष्य परम्परा श्री मुख्य एक पाटधारी शिष्य सीसदा मरजाद मानमी राखसी परम सतगुरु श्रीगुरुदेवजी—मरजाद लोपे सो महापापी।

गुप्तकालीन जैनधर्म

[प्रो० रमेशचंद्र चंद्रराव जैन बी० ए०, (आनर्स इन हिस्ट्री) आर० ए०]

प्राचीन भारत का इतिहास पढ़ने या लिखने समय कुछ बातों का ख्याल अच्छी तरह से रखना पड़ता है। आज धर्म और जाति को लेकर खासी धाँधली मची है। उसीके कारण अन्यान्य धर्मों, जातियों एवं प्रान्तो में स्पष्ट रूपसे विभिन्नता का निर्माण हुआ है। लोगो में असूया, द्वेष जैसे दुर्गुण परले सिरे पर पहुँच कर जो अनबन पैदा हुई है, उसकी प्रतिध्वनि या असर मनुष्यों की विचार प्रणाली पर अवश्य हो जाती है। जिसके फलस्वरूप इतिहास को पढ़ते समय उनकी दृष्टि पूर्व ही दूषित होजाती है। जिससे वे इतिहास का सच्चा स्वरूप नहीं जान पाते। प्राचीन भारत के इतिहास में परधर्म सहिष्णुता तथा परमत सहिष्णुता सब कहीं बराबर दिखाई देती है। स्वधर्म, स्वमत तथा वैचारिक स्वाधीनता को सब अनुभव करते थे तथा उसके प्रचार के लिये उनको स्वतन्त्रता थी और साथही साथ अन्य धर्मों के संबंध में वे समुचित आदर तथा प्रेम दिखा सकते थे। "यथा राजा तथा प्रजा" यह उक्ति कई बार अगत्य सिद्ध होती थी। स्वयं राजपत्नी को भी अन्य धर्मियों के बारे में पहले सिरे की सहानुभूति तथा प्रेम दिखाने में कोई रुकावट न थी। तो फिर प्रजा का तो कहना ही क्या ? और तो और प्रजा की भलमनसी के दबाव के कारण अन्य धर्मियों, मदिरो तथा संस्थाओ को राजा की ओर से पुरस्कार तथा दान देने पड़ते। यही कारण है कि विभिन्न धर्मों में कोई भेद भाव नहीं रहता था। नागरिकों के अधिकार ऊँचे ओहदे तथा सद्गुणो के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिये धर्म किनारे ही रहता था। गुप्तकाल का अध्ययन करते हुए इस बात की ओर विशेष-तौर के ध्यान देना परम आवश्यक है। यद्यपि गुप्तराजा स्वयं कट्टर वैष्णव थे फिर भी अन्य धर्मियों के साथ उदारता से तथा सहानुकंपा से पेश आते थे। ३ री, ४ थी, ५ वी तथा ६ ठी शताब्दि में वैदिक, जैन तथा बौद्ध धर्म का आपस में खूब मेलजोल या घनिष्ठता थी।

(२) हिन्दुस्तान के इतिहास में गुप्तकाल का महत्त्व:—

इस काल में शास्त्र, कला, शिल्प तथा साहित्य की दृष्टि से हिन्दुस्तान बहुत प्रगति कर चुका था, साहित्य की सभी शाखाओ, उप-शाखाओं को कवियों ने अपनी कलम का विषय बनाया था, सभी प्रकार के ग्रंथों में राष्ट्र गाथाओं, वीरगाथाओं, प्रेमगाथाओं, पुराणों, महाकाव्यों, आख्यायिकाओ नाटकों आदि की निर्मिति से साहित्य अपनी चरम सीमा को पहुँच गया था। इसी काल मे महाकवि कालिदास का प्रादुर्भाव हुआ। जिसने अपनी प्रखर प्रतिभा के बलसे भारतीय साहित्य का नाम विश्वभर में उज्वल किया था। गणित तथा ज्योतिष शास्त्र की प्रगति आचार्य भट्ट वराहमिहरने बहुत अच्छे ढंग पर की थी। [ई० स० ४७६] चित्रकला, शिल्प, स्थापत्य ये कलाएँ उन्नति के

शिखर पर पहुँची थी। गायन तथा नृत्य कला को बड़ा ही प्रोत्साहन मिला था। सभी गुप्त राजा विद्या के बड़े प्रेमी थे और उन्होंने नालंदा के विश्वविद्यालय की वृद्धि के लिये अथक परिश्रम किया। युवानत्संग का कथन है कि उक्त स्थान में १०,००० विद्यार्थी विद्या ध्ययन करते थे। उनके परिचालनार्थ बड़ी-बड़ी जागीरें लगी हुई थीं। दुनिया भरके अनेकों शाखाओं को जैसेकि ज्योतिष, तर्क, न्याय, वैद्यक, गणित, भूमिति, संगीत, विज्ञान, व्याकरण, अलंकार, साहित्य और सभी धर्मों का दर्शन शास्त्र आदि-अध्ययन तथा पठन-पाठन वहाँ पर हुआ करता था। इस प्रकार इन सभी शास्त्रों में हिन्दुस्तान औरों की अपेक्षा कहीं अधिक अग्रेसर था। विक्रमादित्य के नामसे संबधित नवरत्नों का उदय इसी काल में हुआ था। कहने का अभिप्राय यह है कि उस काल में हिन्दुस्तान सभी प्रकार से उन्नत दशा में था, सब कहीं 'रामराज्य' था। उस कालकी तुलना अथेन्स के इतिहास के पेरिक्लिज तथा रोम के इतिहास के आगस्टस के साथ करने लायक है और यही कारण है कि इतिहास लेखक इस युग को "स्वर्ण युग" कहते हैं।

गुप्तकाल के राजाः—

इत्सिंग ने लिखा है, गुप्तकाल के आदि पुरुष का नाम महाराज गुप्त था। वह पहले पटना के नजदीक के किसी छोटे गांव का सर्दार था और इसके पुत्र का नाम घटोत्कच गुप्त था। इसने कुछ कहने लायक काम नहीं किया। इसका पुत्र चंद्रगुप्त नाम से प्रसिद्ध है। इसीने अपना छोटा राज्य साम्राज्य में परिवर्तित किया।। लिच्छवी कुलकी कन्या से ब्याहने के कारण इसका जीवन भिन्न दिशा में परिणत हुआ। समुद्रगुप्त उसका लड़का था, जिसकी तुलना नेपोलियन से की जाती है। इसने बड़ा ही साम्राज्य-विस्तार किया। विद्या, कला, शास्त्र को उत्तेजन देकर भारत का 'स्वर्णभूमि' नाम सार्थक किया। समुद्रगुप्त ने अपने कार्य का बयान इलाहाबाद के शिला लेखों पर अंकित कर रक्खा है, जिसके कारण आज उपर्युक्त बातों का विश्वसनीय पता चलता है। इसके पीछे दूसरा चंद्रगुप्त उर्फ विक्रमादित्य गद्दी पर बैठा जिसके समय में गुप्तकाल वैभव के शिखर पर था! राज्य की व्यवस्था बहुत अच्छी थी, प्रजा सुखी थी और इसी कारण से कर्तृत्व की सभी शाखाओं, उपशाखाओं ने चरम सीमा पायी थी। चंद्रगुप्त के अनंतर उसके पुत्र कुमारगुप्त ने दीर्घ काल तक राज्य किया और अपनी गद्दी स्कंदगुप्त को सौंप दी। इसने समरांगण में पुष्यमित्र से लड़ते २ वीर गति पायी। इसके बाद साम्राज्य टूक टूक हुआ। तिसपर हूणों की टोलियों ने भारत में प्रवेश किया और वैभवशाली गुप्तवंश मटियामेट हो गया।

प्रमुखता से गुप्तराजाओं का झुकाव यद्यपि वैदिक धर्म की ओर था, फिर भी उन्होंने धर्म की आड़ में बौद्ध या जैन धर्मों पर अत्याचार नहीं किया। सारे धर्म साथ-साथ चल रहे थे। उनमें पक्षपात, असहिष्णुता आदि दुर्गुण नहीं के बराबर थे। इस कालका इतिहास लिखने की

साधन सामग्री में सिक्को, शिलालेखो, स्तम्भलेखों, चीनी यात्रियों के लिखे हुए चीनी भाषा के प्रवास वर्णन बड़े लाभकारी सिद्ध हुए हैं। चीनी यात्रियों ने भारत भ्रमण करके सभी धर्मानुयायियों का जिक्र किया है। उनमें जैनधर्म विषयक बातें भरी पड़ी हैं। उनके आधार पर जैन धर्म के बारे मे बहुत सी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। अलावा जिसके चार शिलालेख अन्य अन्य स्थानों पर मिले हैं, जिनसे जैन धर्म तथा उसकी संस्कृति की क्या हालत थी, इसका अंदाज़ा किया जा सकता है।

(४) जैन शिलालेख:—गुप्तकाल का सबसे पुराना शिलालेख उदयगिरि पहाड़ी के पास—जो मध्य प्रांत के भेलसा जिले मे है—मिला है यह प्रकृति में पाये गये टीलों पर अंकित किया है। तज्ञों के मत में इसका समय ई० स० ४२४ माना जाता है। इस शिलालेख से अनुमान निकलता है, कि आचार्य भद्रबाहु के संप्रदाय के शंकर नामक शिष्य ने —यह आचार्य गोशर्मा के शिष्य थे—भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की। वह इतना जमाना बीत जाने पर भी अच्छी अवस्था में ज्यों की त्यों बनी है। यहाँ भगवान पार्श्वनाथ का सदा का लांछन चिन्ह तो है ही, साथ साथ पिछली बाजू में नागका बड़ा ही विशाल फन है, उसके पार्श्व में कोई एक सेविका है। शंकर मुनि के पिता का नाम माधिला था, उन्हें अश्वपति की उपाधि थी, बड़े २ राजा महाराजाओं के ही लिये जो उपयुक्त होती थी। इससे यह बात सिद्ध हो सकती है, कि बड़े बड़े सदारों, महाराजाओं पर जैनधर्म ने अपना काफी प्रभाव छोड़ा था। दूसरी महत्त्व की बात यह है कि उदयगिरि की उन पहाड़ियों पर हिन्दुओं के भी अन्य दो शिलालेख पाये गये हैं, वह वही प्रांत है जिसपर एक समय पूरी तौरसे गुप्तराजाओं का शासन था। विहार करते हुए शंकर मुनिने वहाँ पहुँचकर तथा वहाँ अपना डेरा डालकर फिर पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की और इस प्रकार उसी स्थान को जैनों का पवित्र उपासना क्षेत्र बनाया, जिससे निश्चय यही प्रमाणित होता है कि उस काल मे जैनधर्म तथा वैदिक धर्मका आपसी मेल जोल निकट का था। यद्यपि एक को राजाश्रय था, फिर भी दूसरे पर उससे कभी आघात नहीं पहुँचाया जाता था न किसीकी ऐसी सामर्थ्य थी न किसी को ऐसा अधिकार था।

दूसरा एक शिलालेख मथुरा के पास कंकालीतिला मे मिला है। २०० वर्ष ईसा के पूर्व से लेकर ई० स० १२०० तक मथुरा जैन शास्त्र तत्त्वज्ञान का केन्द्र था। वहाँ जैनों का बड़ा स्तूप एव विहार है। इस स्थान में एक मचक पर तीर्थंकर की मूर्ति विराजमान है। इसका पता अब भी नहीं चलता कि यह कौन तीर्थंकर हैं क्योंकि वह मूर्ति भग्नावस्था में है। तज्ञों की दृष्टि में यह लगभग ई० सं० ४३२ या गुप्तशक ११३ की होगी। इसके नीचे लिखा है "आचार्य धर्तिलाचार्य कोटिय ग[illegible] तथा विद्याधर शाक्यजी की अनुज्ञा से गृहमित्र पालिता नामक शासक की पत्नी की ओर से समर्पित।"

मथुरा जैन संस्कृति का बड़ा केन्द्र था इसके प्रमाण में इस शिलालेख का उल्लेख गर्व के साथ किया जाता है। यहाँ धर्मशील विद्वान, दानशूर लोग झुँड के झुँड में आया करते थे। जैनानुयायियों की तो वहाँ बड़ी ही चहल-पहल रहा करती थी। चीनीओं ने इसका उल्लेख अपने लेखों में स्पष्टतया किया है। इस प्रकार जैन संस्कृति का मंगल ध्वज कट्टर हिन्दुसाम्राज्य के कलेजेके पास मे गर्व के साथ फहरा करता था। तीसरा शिलालेख युक्त प्रान्त के कहाऊ गाँव, जिला गोरखपुर में मिला है जो स्कन्दगुप्त के समय में खड़ा किया गया था, यह २४ फीट ४ इंच स्तंभ पर लेख खोदा गया है। इसका काल १४१ गुप्तवर्ष याने ई० स० ४६० है। यह लेख इस बात को प्रकट करता है, कि चद्र नामके व्यक्ति को दुनिया की क्षण-भंगुरता प्रतीत हुई, उसने अर्हत पदके प्रमुख पाँच तीर्थंकरों की मूर्तियाँ लाञ्छनों के सहित स्थापित कीं। वे आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर नाम से प्रसिद्ध थीं, इस तरह उसने स्वार्थ साधन के साथ २ जगतकल्याण का दरवाजा खोल दिया। मूर्तियों के नीचे शिलालेख दिखाई देता है। पार्श्वनाथ की नग्नमूर्ति ३ फीट ऊँची है उसके सिर पर छत्र के तौरपर शेषनाग फण काढ़े खड़े हैं, उसके पार्श्व में दोनों ओर दो सेवक भी खड़े हैं। इन थोड़े से शिलालेखों से ४ थी तथा ५ वीं शताब्दि की जैन धर्म संबंधी कल्पना मिल जाती है।

All these few instances prove that Jainism claimed a fairly large followers in different parts of Northern India

इसमें कोई शक नहीं कि उत्तर भारत मे असंख्य जैनानुयायी बस गये थे। वहाँ उनके अगणित मन्दिर है और उनके बनने से पहले तीर्थस्थान के लिए उन स्थानों की बड़ी प्रसिद्धि थी। शिलालेख को पढ़ते हुए इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त स्थानों पर जैन-धर्मियों की तादाद बहुत अधिक थी।

(५) चीनी यात्री:

परदेश के बहुत कम लोगोंने हिन्दुस्तान की यात्रा की। उनमें से इनेगिने यात्रियों ने परिस्थिति का निरीक्षण किया और यात्रा वर्णन लिखने वाले तो गिनती के हैं। फाहियान, सुग-युन तथा युवानुत्संग प्रमुख यात्री थे, जिन्होंने अपनी यात्रा का वर्णन चीनी मे किया है। गुप्तकालीन हिन्दुस्तान का इतिहास लिखने मे वह बड़ा सहायक हो सकता है।

फाहियान.—यह शेनस्सी प्रात का निवासी था। जिसने १४ वर्ष तक ७००० मील यात्रा की। इसने बुद्धधर्म की दीक्षा ली, जब यह ३ वर्ष का था। बीस वर्ष की उम्र में इसकी माता ने इसको गृहस्थ बनने का बहुत आग्रह किया, पर वह न माना। २५ वर्ष की उम्र में (बौद्ध-धर्म-ग्रथ) पाने की तीव्र अभिलाषायें लेकर हिन्दुस्तान की यात्रा मे अकेला रवाना हुआ। शेन प्रांत को छोड़ कश्मीर, यारकंद, पेशावर तथा तक्षशिला से होकर हिन्दुस्तान में आया। सिर्फ धर्म का

अध्ययन करने की चाह से यातायात के साधनों के अभाव के होते हुए तथा कठिनाइयों का सामना करके मातृभूमि को छोड़ धर्म भूमि देखने को चलनेवाले दुनिया के इतिहास में शायद ही मिलेंगे। पहले वह तक्षशिला गया, बादमें उसने गणधर को देखा। अफघान देखकर फिर बन्नू शहर को लौट आया। मथुरा, कन्नौज, सरस्वती, कपिलवस्तु, पटना, गया, ताम्रपाली आदि धर्म स्थानों को देखा फिर जलमार्ग से जाकर उसने सिलोन देखा और गया होकर चीनको प्रस्थान किया। पटना में तीन वर्ष रहकर संस्कृत सीखी और ताम्रपाली में दो वर्ष धर्मग्रथों की नकलें उतारने में बिताये।

उसके यात्रा वर्णन में ऐतिहासिक दृष्टि की अपेक्षा धार्मिक दृष्टि ही नजर आती है। जैसे कि:—आंधी के समय बुद्ध की प्रार्थना करने से संकट दूर हुआ। फाहियान ने उत्तर भारत के क्षेत्र देखे, समाज देखा और उक्त कालके कुछ अधूरे वर्णन लिख रखे हैं। इसमें जरा भी शक नहीं है कि उसकी लिखी सामाजिक स्थिति तीनों धर्मों पर घटित होती है। उसने लिखा है,—"लोग जीव हिंसा के विरोधी थे, सभी सुखी थे। सजाएँ बहुत ही अल्प प्रमाण में दी जाती थी। राजपुरुष न्यायी एवं ईमानदार थे। शराब का नाम तक नहीं था और लो और कदमूल तक खाने के काम में नहीं लाये जाते थे। कई राजाओं ने विहार, मठ, बनवाये थे जहाँ श्रमणों—भिक्षुओं को टिकने की बड़ी सुविधा थी। मध्य भारत के शहर विशाल एवं वैभव सपन्न थे। स्थान-स्थान पर दातव्य औषधालय और धर्मशालाएँ बनी थी। जनता इन संस्थाओं को बड़ी उदारता से, दोनों हाथों उलीच उलीच कर मदद देती थी। दूसरा चीनी यात्री युआनचांग नामका था। इसका जन्म होनान प्रान्त में ६०३ ई० में हुआ था। १३ वर्ष की उम्र में बौद्ध विहार में प्रवेश कर २० वे वर्ष बुद्ध धर्म की दीक्षा ली। हरेक प्रान्त में घूमा। फाहियान का अनुसरण करके धर्म-ग्रंथों की खोज करना, स्तूपों तथा देवस्थानों को देखना, मनको बेचैन करने वाली शङ्काओं का भारतीय पण्डितों से निरसन कराना इत्यादि इन उद्देश्यों को लेकर वह ६२९ में यात्रा के लिये हिन्दुस्तान की ओर चल पड़ा। ताशकन्द प्रान्त, गोबीका रेगिस्तान, काश्मीर के रास्ते से उसने भारत में प्रवेश किया। फिर प्रयाग, मथुरा बनारस जैसे तीर्थस्थानों में १५ महीने बिताये। सारे भारत भरमें भ्रमण कर फिर एक बार हर्षवर्धन से भेंट की और सार्वधर्म परिषद के अध्यक्ष पद को विभूषित कर सरहदी प्रांत से होकर स्वदेश लौट गया। जाते समय ६५७ धर्मग्रथ, बुद्ध की रमणीय प्रतिमाएँ, अनेकों रत्न तथा १५० बुद्ध के अवशेष अपने साथ ले गया।

(६) जैनों के उल्लेखों के आभास:—

ये बौद्ध चीनी यात्री सिर्फ बौद्ध-धर्म-ग्रथों की खोज में आये थे और ज्यादा बौद्ध क्षेत्र ही देखे। उन्होंने सामाजिक, राजकीय तथा धार्मिक हालतों का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है। बनारस शहर के आसपास घूमकर जो भी कुछ देखा, तथा सुना वह लिपिबद्ध कर दिया है:—

यथा:—

There are a hundred or so DEVA temples with about 10,000 sectories They honour principally Mahavira. Some cut there hair off, other tie their hair in a knot and go naked without clothes They practice of all sorts of austerties. They seek to escape from birth and death.

[अनुवाद.—] करीब १०० मन्दिर तथा १०,००० श्रावक, मुनि, ब्रह्मचारी आदि लोग भगवान् महावीर को मानने वाले थे। उनमें कोई केशलुंचन करते थे, कोई नंगधड़ंग घूमते थे। सभी प्रकार के व्रतों, तपों के आचरण के द्वारा जन्म मृत्यु के फेर से छुटकारा पाने की चेष्टा किया करते थे। जैन संस्कृति का आगार माना जाने वाले मथुरा नगर के लोग सज्जन और कुशल थे और धार्मिक ग्रंथों का पठन-पाठन स्मरण, करने में बड़े तत्पर थे। इसके अतिरिक्त बिंबिसार तथा अजातशत्रु के उल्लेखों में बौद्ध धर्म से कुछ-जैन सा प्रतीत होता है, जिससे इसी मत की पुष्टि हो जाती है कि वे दोनों जैनानुयायी थे।

(७) इतिहास की दृष्टि से महत्त्व —

इस लम्बे प्रवास का वर्णन चीनी भाषा में है और उसका नाम ता-त्संग-हुस्री-उची है। राबर्ट बिलने उसका भाषान्तर "The Records of the western world" नाम देकर किया है। इस अनूदित ग्रंथ में अध्ययन योग्य, विचार-प्रेरणा तथा महत्त्व की भूमिका जोड़ दी गयी है।

"These records embody the testimony of independent eye witnesses as to the facts related in them and having been faithfully preserved and alloted a place in the collection of the sacred books of the country Their evidence is entirely.

[भाषांतर —अपनी आँखों देखकर उसका " ", " . . . । उसी प्रकार मूल प्रति की हिफाजत करके धर्मग्रंथों के भण्डार में उसको प्रवेश दिया गया है। इस कारण उसका विश्वसनीय और प्रबल प्रमाण के लिये उपयोग करने में कोई हर्ज नहीं है। फिर वह ग्रंथकर्ता कहते हैं:—

"We find the ample material for the study of geography, history, manners & religions of the people of India"

[भाषांतर—भारत की, प्राकृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा धार्मिक विषयों के संबंध की जानकारी बहुत प्राप्त होती है। निरे अनुमान से या श्रद्धा से नहीं, बल्कि नीचे उद्धृत किये अनुसार जैनधर्म विषयक स्पष्ट उल्लेख मिले हैं।

Though Brahamanical Hinduism was flourishing, side by side with the Budhism or Jainism the pious pilgrim gave us scanty or nothing about Budhism or Jainism, Jainism, too was not tacking in

progress. Mathura was no doubt the centre of Jainism there were Jain temples, Vihars, images and adhevents throught Northern India but they have no place in this record. Budhism, that too, in exaggerated from has been pictured by him.

[अर्थः—यद्यपि वैदिक तथा जैन धर्म बौद्ध धर्म के साथ २ उन्नति कर रहे थे, फिर भी इस धार्मिक वृत्ति के यात्री के सिवा बौद्ध धर्म के बहुत ही कम, बल्कि नहीं के बराबर वृत्तान्त कथन किया हुआ पाया जाता है। मात्र बुद्धों की जानकारी, वह भी चढ़ाबढ़ा कर लिखी मिलती है। जैनधर्म प्रगति पथ पर ही अग्रसर था। उत्तर भारत में कई स्थानो पर जैन मन्दिर, जैन बस्तियाँ, जिन प्रतिमाओं एवं अनुयायी दृष्टिगत होते है।
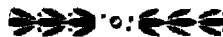
नीतिवाक्यामृत और सागारधर्मामृत

[लेखक—श्रीयुत पं० हीरालाल शास्त्री, दि० जैन संघ मथुरा]

नीतिवाक्यामृत के कर्त्ता आचार्य सोमदेव से सागारधर्मामृत के कर्त्ता पंडित प्रवर आशाधरजी लगभग ढाई-सौ वर्ष पीछे हुए हैं। पं० आशाधर जी पर आचार्य सोमदेव की रचनाओं का यथेष्ट प्रभाव है। उन्होंने जहां तहां अपनी रचनाओं में 'यदा सोमदेव पंडित:' कह कर उनके ग्रंथों से प्रचुर प्रमाण उद्धृत किये हैं। पं० आशाधर जी की सबसे बड़ी कृति अनागार धर्मामृत और सागार धर्मामृत का नाम-संस्करण भी आचार्य सोमदेव के नीति वाक्यामृत का ऋणी है।

पं० आशाधर-जी ने नीतिवाक्यामृत के अनेकों सूत्रों को पद्यरूपी सांचे में ढालकर उन्हें ज्यों का त्यों अपनाया है। यहां ऐसे कुछ अवतरण दिये जाते हैं, जिनसे उक्त बात की पुष्टि में कोई सन्देह नहीं रहेगा।

(१) आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च विशुद्धिः

करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम् ॥१२॥

(नीतिवा० पृ० ८४)

शूद्रोऽप्युपस्कराचार वपुः शुद्ध्याऽस्तु तादृशः।

जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥

(सागार ध० अ० २ श्लो० २२)

(२) प्रत्यहं किमपि नियमेन प्रयच्छतस्तपस्यतो वा

भवन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोकाः ॥२७॥

(नीतिवा० पृ० १७)

नियमेनान्वहं किञ्चिद्यच्छतो वा तपस्यतः।

सन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोका जिनश्रितः ॥

(सागारध० अ० २, ४९)

(३) निवृत्तस्त्रीसंगस्य धनपरिग्रहो मृतमंडनमिव ॥६॥

(नीतिवा० पृ० २२३)

स्त्रीतश्चित्तनिवृत्तं चेन्ननु वित्तं किमीहसे।

मृतमंडनकल्पो हि स्त्रीनिरीहे धनग्रहः ॥

(सागार० अ० ६, ३६)

(४) अवरुद्धाः स्त्रियः स्वयं नश्यन्ति स्वामिनं वा नाशयन्ति ॥२१॥

(नीतिवा० पृ० २२७)

व्युत्पादयेत्तरां धर्मे पत्नीं प्रेम परं नयन् ।
सा हि मुग्धा विरुद्धा वा धर्माद् भ्रंशयतेतराम् ॥

(सागार० ३, २६)

(५) ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थायेति कर्त्तव्यतायां समाधिमुपेयात् ॥१॥

(नीतिवा० पृ० २५१)

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय वृत्तपंचनमस्कृतिः ।
कोऽहं को मम धर्मः किं व्रतं चेति परामृशेत् ॥१॥

(सागार० ६, १)

(६) धर्मसन्ततिरनुपहता रतिर्गृहवार्त्तासुविहितत्वमभिजात्याचार विशुद्धिर्देव द्विजातिथिबान्धवसत्कारानवद्यत्वं च दारकर्मणः फलम् ॥३०॥

(नीतिवा० पृ० ३७८)

धर्मसन्ततिमक्लिष्टां रतिं वृत्तकुलोन्नतिम् ।
देवादिसत्कृति चेच्छन् सत्कन्यां यत्नतो वहेत् ॥

(सागार० २, ६०)

(७) गृहिणी गृहमुच्यते न पुनः कुड्यकटसंघातः ॥३१॥

(नीतिवा० पृ० ३७८)

गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुड्यकटसंहतिम् ॥

(सागार० २, ५९)

(८) पक्वान्नादिव स्त्रीजनाद्देहोपशान्तिरेव प्रयोजनम् ॥२७॥

(नीतिवा० पृ० ३८९)

भजेद्देहमनस्तापशमान्तं स्त्रियमन्नवत् ॥

(सागार० ३, २९)

नीतिवाक्यामृत के टीकाकार का प्रमाद

श्री माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित नीतिवाक्यामृत की भूमिका में श्री प्रेमीजी ने 'टीकाकार' शीर्षक स्तम्भ के भीतर टीकाकार के विषय में लिखा है कि 'ये बहुश्रुत विद्वान् थे और एक राजनीति के ग्रन्थ पर टीका लिखने की उनमें यथेष्ट योग्यता थी। इस विषय के उपलब्ध साहित्य का उनके पास काफी संग्रह था और टीका में उसका पूरा पूरा उपयोग किया गया है" [illegible]। सटीक नीतिवाक्यामृत का पारायण करने के बाद उक्त बात पाठकों के हृदय पर अंकित हुए

बिना नहीं रहती। फिर भी कुछ स्थल ऐसे अवश्य दृष्टि में आये, जहां एक ही श्लोक को भिन्न भिन्न कर्त्ताओं के नाम के साथ उद्धृत किया गया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि एक ही श्लोक को तीन तीन आचार्यों के नामों से उद्धृत करते हुए भी टीकाकार को स्वयं पूर्वापर विरोध प्रतीत नहीं हुआ !!! यदि ऐसे पद्यों के रचयिताओं के विषय में विवाद था, तो उसे बिना किसीका नामोल्लेख किये ही 'तथा चोक्तं, आदि कह कर उद्धृत कर सकते थे। समझ में नहीं आता कि एक बहुश्रुत टीकाकार द्वारा ऐसा प्रमाद कैसे हुआ ?

पाठकों को इसके परिचयार्थ यहां एक उद्धरण दिया जाता है :—

> उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
> दैवेन देयमिति कापुरुषाः वदन्ति।
> दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
> यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः॥

इस प्रसिद्ध श्लोक को टीकाकार ने मात्र एक-दो शब्दों के हेर-फेर से तीन स्थलों पर तीन ही निर्माताओं के नाम से उद्धृत किया है। यथा—

पृष्ठ १४३ पर 'तथा च भागुरि',

पृ० २६४ पर 'तथा च शुक्र', और

पृ० ३१२ पर 'तथा च वल्लभदेव,

इतने बड़े बहुश्रुत विद्वान का इस प्रकार का प्रमाद अवश्य विचारणीय है।

इसी प्रकार पृ० ११३ पर टीकाकार ने 'काकतालीय' न्याय का भी बड़ा विचित्र अर्थ किया है। पाठको के परिज्ञानार्थ उसका यहा देना अनुचित न होगा:—

अथवा काकतालीयं यन्मूर्खमंत्रात्कार्यसिद्धि। कोऽर्थ. ? तालवृक्षस्य तावद्वर्षशतेन फलं भवति, काकश्च सर्वेषां पक्षिणां सकाशाद्दीर्घायुर्भवति, स तस्याधो गच्छन् तत्फलेन पतता यदि हन्यते तन्मूर्खमंत्रात्सिद्धिरिति।"

पृष्ठ १३५ पर 'स्ववधाय कृत्योत्थापनमिव मूर्खेषु राज्यभारारोपणम्' इस सूत्र का अर्थ करते हुए 'कृत्योत्थापन का बड़ा ही विलक्षण अर्थ किया है।

कुछ भूलें टीकाकार के अजैन होने एवं जैन परिभाषाओं से अपरिचित होने के कारण भी हुई हैं। जैसे पृष्ठ ८५ पर सूत्रकार ने सर्व वर्णों का समान धर्म बतलाते हुए अहिंसा, सत्य आदि पांच प्रसिद्ध व्रतों का उल्लेख किया है, वहां प्रयुक्त हुए 'इच्छानियम" इस पद का सीधा-सादा 'परिग्रह परिमाण' अर्थ न करके 'स्वेच्छाप्रवृत्तित्वं' किया है जो कि भ्रामक है।

दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रवेश और विस्तार

[ले०—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न]

दक्षिण भारत के इतिहास निर्माण में जैन संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। इस संस्कृति का इस भूभाग के राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक जीवन पर अमिट प्रभाव पड़ा है। यद्यपि जैनधर्म के सभी प्रवर्त्तक उत्तर भारत में उत्पन्न हुए है, पर दक्षिण में इस धर्म का प्रवेश प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के समय में ही हो गया था। ऐसे अनेक ऐतिहासिक सबल प्रमाण वर्तमान हैं, जिनसे प्रागैतिहासिक काल में दक्षिणभारत में जैनधर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है।

मदुरा और रामनद से खुदाई में ई० पू० ३०० के लगभग का प्राप्त शिलालेख इस बात को सिद्ध करता है कि जैनधर्म दक्षिण भारत में ई० पू० ३०० से पहले उन्नत अवस्था मे था। यह ब्राह्मी लेख अशोक लिपि मे लिखा गया है, इसमें मधुराई, कुमत्तुर आदि कई शब्द तामिल भाषा के भी मिलते है। यद्यपि अब तक इस लेख का स्पष्ट वाचन नहीं हो सका है, किन्तु इसी प्रकार के अन्य लेख भी मारुगलतलाई, अनमैलिया, तिरूपरन्नकुरम् आदि स्थानों में मिले है, जिनके आस पास तीर्थङ्करों की भग्न मूर्त्तियाँ तथा जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेष भी प्राप्त हुए है, जिससे पुरातत्त्वज्ञों का अनुमान है कि ये सभी लेख जैन हैं। अलगामलै की खुदाई में प्राप्त जैन मूर्त्तियाँ भी इस बात की साक्षी है कि दक्षिण भारत में यह धर्म ई० पू० ३०० के पहले एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया था जिससे कि जैन स्थापत्य और मूर्त्तिकला उन्नत अवस्था में थी[1]।

लंका के राजा धातुसेन (४६१-४७९ ई०) के समय में स्थविर महानाम द्वारा निर्मित महावंश नामक बौद्ध काव्य से पता चलता है कि ई० पू० ५०० के पहले दक्षिण भारत में जैनधर्म का पूर्ण प्रचार था। उस काव्य में बताया गया है कि राजा पाण्डुगम्य ने अनुराधपुर में अपनी राजधानी ई० पू० ४३७ में बसाई थी। इस नगर में विभिन्न प्रकार के सुन्दर भवनों का निर्माण कराया गया था। राजा ने एक 'निगन्थ' कुबन्ध' नामका सुन्दर जैन चैत्यालय बनवाया था तथा इस नगर में ५०० विभिन्न धर्मानुयायियों के बसने का भी प्रबन्ध किया था। इस कथन से स्पष्ट है कि जैनधर्म लंका में ई० पू० ५०० के पहले विद्यमान था।

---

1. See Madras Epigraphical Reports 1907, 1910.
2. See Studies in South Indian Jainism P 33

जैन प्रचारक यद्यपि लंका को समुद्र मार्ग से गये थे, पर लौटते समय वे स्थल मार्ग द्वारा दक्षिण के रास्ते से आये थे, यह बात तामिल और बौद्ध साहित्य से स्पष्ट है। अतः लंका में जैनधर्म के प्रचार के साथ-साथ दक्षिण भारत में भी जैनधर्म का प्रचार ई० पू० ५०० के लगभग या इससे पहले हुआ होगा।

राजावली कथा एक प्रामाणिक ऐतिहासिक काव्य माना जाता है। इसमें बताया गया है कि विशाख मुनिने चोल और पाण्ड्य प्रान्तों में भ्रमण कर वहाँ के जैन चैत्यालयों की वन्दना की थी तथा वहाँ के निवासी श्रावकों को जैनधर्म का उपदेश दिया था। इससे स्पष्ट है कि भद्रबाहु स्वामी के पहले भी जैनधर्म दक्षिण में था, अन्यथा विशाखमुनि को जिनमन्दिर और जैन श्रावक कैसे मिलते ?

तामिल साहित्य के प्राचीन व्याकरण 'अगथियम' और उससे प्रभावित तौल्काप्पियम के अध्ययन से पता लगता है कि ये ग्रन्थ एक जैनाचार्य द्वारा रचे गये हैं। विद्वानों ने इनका रचनाकाल ई० पू० ४०० माना है। अतएव स्पष्ट है कि ई० पू० ४०० के लगभग दक्षिण भारत में जैनधर्म का व्यापक प्रचार था। संगम[1]कालीन तामिल काव्य 'मणिमेखलै' और 'सीलप्पड्डिकारम' से ज्ञात होता है कि इस युग मे जैनधर्म समुन्नत अवस्था में था। 'संगम' युग के समय निर्धारण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग ई० पू० २०० के पूर्व के समय का नाम संगम या प्राथमिक युग बतलाते हैं तथा कतिपय विद्वान् ई० पू० चौथी शताब्दी से ई० दूसरी शताब्दी तक के काल समूह को। यदि इस विवाद में न भी पड़ा जाय तो भी इतना तो सुनिश्चित है कि भद्रबाहु स्वामी के दक्षिण पहुँचने के पूर्व ही जैनधर्म वहाँ विद्यमान था।

कन्नड रामायण में बताया गया है कि श्रीमुनिसुव्रत भगवान् के तीर्थंकर काल मे श्री रामचन्द्रजी ने दक्षिण भारत की यात्रा की थी, इस यात्रा में उन्होंने जैन मुनि और जैन चैत्यालयों की वन्दना की थी।

भागवत पुराण में भगवान् ऋषभदेव[2] के परिभ्रमण की एक कथा आई है। उस कथा में बताया गया है कि जिस प्रकार कुम्हार का चाक स्वय चलता है, उसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव का शरीर कोंक, वेंकट, कुटक इत्यादि दक्षिण कर्णाटक के प्रदेशों में गया। कुटक पहाड़ से सटे हुए जगल में उन्होंने नग्न होकर वहाँ तपस्या की। अचानक जंगल दवाग्नि से भस्म हो गया और कोंक, वेंकट और कुटक के राजाओं ने ऋषभदेव के धर्म मार्ग को ग्रहण किया। इससे स्पष्ट है कि कुटक ग्राम, हट्टंगडि, कोंक आदि दक्षिण भारत

1. See Jaina Gazette, Vol. XIX, P. 75.

2. Buddhistic Studies, PP. 3, 68.

३ जैनसिद्धान्त-भास्कर भाग १० किरण १ तथा भाग ६ पृ० १०२

के प्रदेशों में जैनधर्म का प्रचार प्राचीन काल में ही था। उपर्युक्त स्थानों में हुंबगिरि आज भी जैनियों का पवित्र क्षेत्र माना जाता है।

विष्णुपुराण में कहा गया है कि नाभि और मरु के पुत्र ऋषभ ने बड़ी योग्यता और बुद्धिमानी से शासन किया तथा अपने शासन काल में अनेक यज्ञ किये। चतुर्थावस्था में वह अपना राज-पाट अपने बड़े पुत्र भरत को सौंप कर सन्यासी हो गये और दक्षिण भारत में स्थित पुलस्त्य ऋषि के आश्रम में निवास किया। इससे स्पष्ट है कि प्रथम तीर्थंकर दक्षिण में गये थे।

हिन्दू पुराणों में एक संवाद[1] आता है, जिसमें बताया गया है कि देव और असुरों के युद्ध के बीच जैनधर्म का उपदेश विष्णु ने दिया था—"बृहस्पतिसाहाय्यार्थं विष्णुना मायामोहसमुत्पादनम् दिगम्बरेण मायामोहेन दैत्यान् प्रति जैनधर्मोपदेशः, दानवानां मायामोह-मोहितानां गुरुणा दिगम्बर-जैनधर्मदीक्षादानम्"। अर्थात् देव-मन्त्री बृहस्पति की सहायता के लिये विष्णु भगवान् ने मोहमाया नामक एक दिगम्बर साधु को उत्पन्न किया और दैत्यों को जैनधर्म का उपदेश उससे दिलाया, जिससे दानव दि० जैनधर्म में दीक्षित हो गये। इस संवाद में एक रहस्य यह छिपा प्रतीत होता है कि विष्णु ने दिगम्बर जैन मुनि का अवतार लेकर असुरों को दीक्षा दी। यदि यहाँ यह मान लिया जाय कि असुर जिनका यहाँ वर्णन किया गया है, वे वही लोग थे जो यहाँ के आदिम निवासी थे और दक्षिण भारत के किनारे के प्रदेशों में रहते थे। ये आदिम निवासी सभ्य, संस्कृत और स्वतन्त्र थे, दास नहीं। इन्होंने आर्यों के आने के पूर्व भारत को अपने अधिकार में कर लिया था; तो इससे स्पष्ट है कि जैनधर्म का केन्द्र उस समय नर्मदा नदी के तटपर स्थित था जो कि आज भी तीर्थ स्थान के समान पूज्य है।

उपर्युक्त कथन का समर्थन काठियावाड़[1] में प्राप्त एक ताम्रपत्र से भी होता है। यह ताम्रपत्र महाराज नेबूचदनेज्जर प्रथम अथवा द्वितीय (ई० पू० ११४० या ई० पू० ६००) का है। प्रो० प्राणनाथ ने इसका वाचन करते हुए बताया था कि यह महाराजा विबलोनिया का निवासी था, वहाँ से यह द्वारिका आया था; यहाँपर इसने एक मन्दिर बनवाया और इस मन्दिर को नेमि या अरिष्टनेमि को अर्पण किया। नेमि उस समय रैवत गिरि (गिरनार) के देव थे। इससे स्पष्ट है कि नेमि या अरिष्टनेमि जो कि जैन तीर्थंकर हैं, के प्रति नेबू की बड़ी भारी श्रद्धा और भक्ति थी। इस ताम्रपत्र में प्रतिपादित नेबू राजा को रेवानगर का स्वामी भी बताया है, संभवतः यह नगर सिद्धवर कूट के निकट का एक स्थान होगा, जो कि दक्षिण भारत में रेवा नदी के तटपर स्थित है।

---

१ विष्णुपुराण अध्याय १७, मत्स्यपुराण अ० २४, पद्मपुराण अध्याय १ और देवी-भागवत स्कन्ध ४, अ० १३

1. See Indian Culture April 1938, P. 515, and Times of India, 19th March, 1935, P 9

दक्षिण भारत में जैन धर्म की प्राचीनता के जैन साहित्य में अनेक प्रमाण हैं। निर्वाण-काण्ड की निम्न गाथा में बताया है—

पण्डुसुआतिण्णिजणा दविडणरिंदाण अट्ठकोडिओ।
सेतुंजय गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं॥

अभिप्राय यह है कि पल्लवदेश में विराजमान भगवान् अरिष्टनेमि के निकट पाण्डवों ने जिनदीक्षा ग्रहण की थी; इनके साथ दक्षिण देश के और भी कई राजाओं ने मुनिव्रत धारण किया था; जो कि पाण्डवों के साथ तपकर शत्रुंजयगिरि से मुक्त[1] हुए थे।

महापुराण में बताया गया है कि जब कल्पवृक्ष लुप्त हो गये और कर्म भूमिका आरम्भ हो गया तो अन्तिम कुलकर नाभि राजा के पास प्रजा आयी उन्होंने उसे भगवान् ऋषभनाथ के पास भेज दिया। प्रजाने भगवान् ऋषभनाथ से प्रश्न किया—भगवन्! कृपाकर आजीविका का उपाय बतलाइये, जिससे हमलोग सुखपूर्वक रह सकें। भगवान ने प्रजाको षट्कर्मों का उपदेश दिया। उनके स्मरणमात्र से इन्द्र अनेक देवों के साथ आ उपस्थित हुआ और उसने सकेतमात्र से ही नगर, गाँव, देश और प्रान्तों का वर्गीकरण कर दिया। तथा वहाँ जिन चैत्यालय, जिनबिम्ब एवं अन्य जैन संस्कृति के चिन्हों को प्रकट किया। बनाये गये देशों की सख्या ५२ बतायी गयी है; जिसमें दक्षिण भारत के अनेक बड़े-बड़े नागर शामिल हैं[2]—

करहाटमहाराष्ट्रसुराष्ट्राभीरकोंकणाः।
वनवासान्ध्रकर्णाटकोशलाञ्चोलकेरलाः॥
दार्वाभिसारसौवीरशूरसेनापरान्तकाः।
विदेहसिन्धुगान्धारयवनाश्चेदिपल्लवाः॥
कांबोजारट्टवाल्हीकतुरुष्कशककेकयाः।

महापुराण में भरत चक्रवर्ती की विजय का वर्णन करते हुए दक्षिण दिशा के राजाओं पर की गयी विजय के निरूपण में बताया है कि—

चोलिकाग्नालिकप्रायान्प्रायशोऽनृजुचेष्टितान्।
केरलान्सरलालापान्कलगोष्ठीषु चंचुरान्॥
पाण्ड्यान्प्रचंडदोर्दण्डान् खण्डितारातिमण्डलान्।

इससे स्पष्ट है कि भरत चक्रवर्ती ने चोल, पाण्ड्य, केरल आदि राजाओंको हराकर वहाँ जैनधम का प्रचार किया था। प्रत्येक नरेश उस युग में पराजित देशों में अपने धर्म का प्रचार करता था। दूसरी बात यह है कि भगवान् ऋषभदेव के संकेत से जब इन्द्र ने

१ देखें—संक्षिप्त जैनइतिहास भा० ३ खं० १ पृ० ११४
२ जिनसेनाचार्य विरचित महापुराण पर्व १६ श्लो० १३०—१६५

प्रान्तों और देशों का वर्गीकरण किया था, उस समय जैन चैत्यालयों का निर्माण भी हुआ था, अतः उत्तर के समान दक्षिण में भी भरत चक्रवर्ती ने जैन चैत्यालयों की वन्दना करते हुए विजय प्राप्त की थी।

पोदनापुर में दक्षिण भारत के प्रथम जैन सम्राट् बाहुबली स्वामी की राजधानी बतायी गयी है, यह स्थान आज भी दक्षिण भारत में स्थित है। इसी प्रकार जैन साहित्य में पोलासपुर, मदुरा, भद्दिल आदि नगरों के नाम मिलते हैं। इन नगरों में भगवान् ऋषभदेव के समय में ही जैन धर्मका प्रचार बताया गया है।

दाक्षिणात्य मथुरा—मदुरा नगर, को पाण्डवों ने बसाया था। कहा गया है—

सुतास्तु पाण्डोर्हरिचन्द्रशासनादकाण्ड एवाशनिपातनिष्ठुरात्।
प्रगत्य दाक्षिण्यभृता सुदक्षिणां जनेन काष्ठां मथुरां न्यवेशयन्[1] ॥

जब द्वारिका नगरी नष्ट हो गयी और कृष्ण अपने भाई बलदेव के साथ दक्षिण मथुरा को चले; रास्ते मे कौशाम्बी के जगल में जरतकुमार ने बाण चलाया, जो कि श्रीकृष्ण के पॉव मे लगा; जिससे उनका आत्मा इस नश्वर शरीर को छोड़कर चला गया। जब पाण्डवों को यह दुःखद समाचार मिला तो वे बलदेव से मिलने के लिये कौशाम्बी के जगल मे आये और उन्हे समझा बुझाकर यह तय किया कि नारायण के शव का संस्कार शृंगी गिरि पर कर दिया जाय।

पाण्डव दक्षिण के पल्लव देशमें भगवान् नेमिनाथ का विहार अवगत कर मदुरा को लौट आये और भगवान् नेमिनाथ के पास जाकर जैन-दीक्षा ग्रहण कर ली। पाण्डवो के साथ और भी कई दाक्षिणी राजाओ ने जैन-दीक्षा ग्रहण की, अतएव यह स्पष्ट है कि भगवान् नेमिनाथ ने दक्षिण के देशो मे विहार कर जैनधर्म का प्रचार किया था।

अथ ते पाण्डवाश्चंडसंसारभयभीरवः।
प्राप्य पल्लवदेशेषु विहरंतं जिनेश्वरम् ॥

हरिवंश पुराण के एक अन्य कथानक से ज्ञात होता है कि महाराज श्रीकृष्ण का युद्ध जब जरासिन्धु के साथ हो रहा था तो दक्षिण भारत के कई राजा भी उनके पक्ष में थे। इसका कारण यह है कि मदुरा में पाण्डवों का राज्य स्थापित हो जाने पर द्राविड़ राजाओं का सम्पर्क उत्तर के राजाओ के साथ घनिष्ठ होता जा रहा था। चेर, चोल, पाण्डय आदि वंश के राजाओं का इनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसलिये पाण्डवों के साथ इन्होंने जिन-दीक्षा ग्रहण की थी।

नागकुमार चरित्र[2] मे कहा गया है कि भगवान् नेमिनाथ के तीर्थकाल मे कामदेव नागकुमार हुए थे। नागकुमार का मित्र मथुरा का राजकुमार महाव्याल था। यह महा-

१ हरिवंश पुराण सर्ग ५४ श्लो० ७३

२ संक्षिप्त जैन इतिहास भाग ३ खं० १ पृ० ११४

ब्याह पाण्ड्य देश गया था और पाण्ड्य राजकुमारी को विवाह कर ले आया था। भगवान् पार्श्वनाथ के समय में करकण्डु नामका एक राजा हुआ है। उसने अपने राज्य का खूब विस्तार कर एक दिन मंत्री से पूछा, हे मन्त्री! क्या कोई ऐसा राजा है जो मुझे मस्तक न नमाता हो? मंत्री ने उत्तर दिया—उत्तर के तो सभी राजा आपकी आधीनता स्वीकार कर चुके हैं, पर द्राविड़ देश के चेर, चोल और पाण्ड्य नरेश आपको नहीं मानते। राजा ने उनके पास दूत भेजा, पर उन राजाओं ने करकण्डु के अधीनता नहीं स्वीकार की और यह कहकर दूत को वापस कर दिया कि हम जिनेन्द्र भगवान् को छोड़ और किसी को सिर नहीं झुका सकते। राजा करण्डु को द्रविड़ राजाओं के उत्तर ने अधिक उत्तेजित कर दिया; इससे उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक इन राजाओं को वश में न कर लूँगा, शान्ति से राज्य नहीं करूँगा और इनको पददलित न करूँ तो राज्य-पाट छोड़ दूँगा।

करकण्डु ने सेना सजाकर युद्ध के लिये प्रस्थान कर दिया और रास्ते में तेरापुर नगर में पहुँचा, यहाँ राजा शिवने उसे भेंट चढ़ाई तथा राजा शिव के परामर्श से पास की पहाड़ी की गुफा में भगवान् पार्श्वनाथ के दर्शन किये। उस पहाड़ी पर चमत्कार की एक बात यह थी, एक हाथी प्रतिदिन उस पहाड़ी पर स्थित एक बामी की पूजा करता था। राजा करण्डु ने उसकी पूजा को देखकर अनुमान लगाया कि निश्चित इस बामी के नीचे कोई देवमूर्त्ति है, अन्यथा यह पशु पूजा नहीं करता, अतः उस बामी को खुदवाया। खुदाई में नीचे भगवान् पार्श्वनाथ की एक मूर्त्ति निकली जिसे वह बड़ी भक्ति और श्रद्धा के साथ गुफा में ले आया। इसके पश्चात् वह राजा इधर-उधर भ्रमण करता हुआ दक्षिण पहुँचा तथा चेर, चोल और पाण्ड्य नरेशों की सम्मिलित सेनाओं का सामना किया तथा अपने युद्ध कौशल से उन्हें हराकर अपना प्रण पूर्ण किया। जब करकण्डु राजा उन पराजित राजाओं के सिर के ऊपर पैर रखने लगा तो उनके मुकुटों में स्थित जिन प्रतिमाओं के दर्शन उसे हुए, जिससे उसे भारी पश्चात्ताप[1] हुआ। उन्हें उसने फिर राज्य देना चाहा, पर वे स्वाभिमानी द्रविड़ाधिपति यह कह तपस्या को चले गये कि अब हमारे पुत्र पौत्रादि ही राज्य को चलायेंगे।

जम्बू स्वामी चरित्र से भी अवगत होता है कि विद्युच्चर नामका चोर जम्बूकुमार के प्रभाव के कारण चोरी से विरक्त हो गया था और यह भ्रमण करता हुआ समुद्र के निकट स्थित मलयाचल पर्वत पर पहुंचा। यहाँ से वह सिंहलद्वीप गया, लौटते समय वह केरल आया था। द्रविड देश को उसने जैन मन्दिरों और जैन श्रावकों से पूर्व देखा। अनन्तर वह कर्णाटक, काम्बोज, कांचीपुर, सह्यपर्वत, आभीर आदि देशों में भ्रमण करता हुआ

१ हा हा मई मूढइं किं कियउ, जिण बिंबु विसरसो आहयउ।

किष्किन्धापुर में आया। इस भ्रमण वृत्तान्त से स्पष्ट है कि भद्रबाहु स्वामी के जाने के पहले दक्षिण प्रान्त में जैनधर्म फल-फूल रहा था। यदि वहाँ जैनधर्म उन्नत अवस्था में नहीं होता तो यह विशाल मुनिसंघ, जिसकी कि आजीविका जैन धर्मानुयायी श्रावकों पर ही आश्रित थी, विपत्ति के समय कभी भी दक्षिण को नहीं जाता। बुद्धि इस बात को कभी स्वीकार नहीं करती है कि भद्रबाहु स्वामी इतनी अधिक मुनियों की संख्या को बिना श्रावकों के कैसे ले जाने का साहस कर सकते थे? अतः श्रावक वहाँ विपुल परिमाण में अवश्य पहले से वर्तमान थे। इसीलिये भद्रबाहु स्वामी ने अपने विशाल संघ को दक्षिण भारत की ओर ले जाने का साहस किया।

भद्रबाहु स्वामी की इस यात्रा ने दक्षिणभारत में जैनधर्म के फलने और फूलने का सुअवसर प्रदान किया। बौद्धों की जातक कथाओं और मेगास्थनीज के भ्रमणवृत्तान्तों से अवगत होता है कि उत्तर में १२ वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था और चन्द्रगुप्त मौर्य भी अपने पुत्र सिंहसेन को राजगद्दी देकर भद्रबाहु के साथ दक्षिण में आत्मशोधन के लिये चला गया था। चन्द्रगिरि पर्वतपर चन्द्रगुप्त की द्वादश वर्षीय तपस्या का वर्णन मिलता है। भद्रबाहु स्वामीने अपनी आसन्न मृत्यु ज्ञातकर मार्ग में ही कहीं समाधिमरण धारण किया था। इनका मृत्युकाल दिगम्बर परम्परानुसार वीर नि० सं० १६२ और श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा वी० नि० सं० १७० माना जाता है।

दक्षिण में पहुँचकर इस संघ ने वहाँ जैनधर्म का खूब प्रसार किया तथा जैन साहित्य का निर्माण भी विपुल परिमाण में हुआ। इस धर्म के प्रचार और प्रसार की दृष्टि से दक्षिण भारत को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—तामिल प्रान्त और कर्णाटक। तामिल प्रदेश में चोल और पाण्ड्य नरेशों में जैनधर्म पहले से ही वर्तमान था, पर अब उनकी श्रद्धा और भी दृढ़ हो गयी तथा इन राजाओं ने इस धर्म के प्रसार में बड़ा सहयोग प्रदान किया। सम्राट् एल खारवेल के एक शिलालेख से पता चलता है कि उसके राज्याभिषेक के अवसर पर पाण्ड्य राजाओं ने कई जहाज उपहार भेजे थे। ये सभी राजा जैन थे इसीलिये जैन सम्राट् के अभिषेक के अवसर पर उन्होंने उपहार भेजे थे। इनकी राजधानी मदुरा जैनों का प्रमुख प्रचार केन्द्र बन गयी थी। तामिल ग्रन्थ 'नालिदियर' के सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि भद्रबाहु स्वामी के विशाल संघ के आठ सहस्र जैन साधु पाण्ड्य देश गये थे, जब वे वहाँ से वापस आने लगे तो पाण्ड्य नरेशों ने उन्हें आने से रोका। एक दिन रात को चुप-चाप इन साधुओं ने राजधानी छोड़ दी; पर चलते समय प्रत्येक साधु ने एक-एक ताड़पत्र पर एक-एक पद्य लिखकर रख दिया; इन्हीं पद्यों का संग्रह 'नालिदियर' कहलाता है।

तामिल साहित्य का वेद कुरलकाव्य माना जाता है, इसके रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द हैं। इन्होंने असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण से इसे लिखा है, जिससे यह काव्य मानवमात्र के लिये अपने विकास में सहायक है। जैनों के तिरुकुरल, नालदियर, पल्लिमोळी, नानुवी चिन्ता-

मणि, सीलप्पडिकारम्, वलयापदि आदि तामिल भाषा के काव्य विशेष सुन्दर माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त पेरुंकदै, यशोधरकाव्य, चूड़ामणि, एलादी, कलिंगतुप्परणी, नन्नूल, नेमिनाद, यप्पांरु, श्रीपुराणं, मरुमंदर पुराणं आदि तामिल ग्रन्थ भी कम प्रशंसा के योग्य नहीं हैं। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि व्याकरण, छन्द, अलंकार, दर्शन और जैनागम प्रभृति विभिन्न विषयों के उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखकर तामिल वाङ्मय को समृद्धशाली और उत्कृष्ट स्थिति में लाने का श्रेय जैनाचार्यों को ही है। जैनाचार्य पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने पाण्ड्यों की राजधानी मदुरा में एक विशाल जैन संघ की स्थापना की थी; इस संघ द्वारा तामिल प्रान्त में जैनधर्म का खूब प्रचार हुआ। आचार्य कुन्दकुन्द ने पोन्नूरग्राम के निकट नीलगिरि नामक पर्वत पर तपस्या की थी, इनके आश्रम में आकर पल्लव वंशी शिवस्कन्दवर्म महाराज ने प्राभृत त्रय का अध्ययन किया था।

तामिल देश के इतिहास में जैनधर्म ई० तीसरी और चौथी शताब्दी में लुप्त प्रायः दिखाई पड़ता है। पाँचवीं और छठीं सदी में शैवधर्म का बड़ा भारी जोर रहा है, फिर भी जैनों की तात्कालीन परिस्थिति का चित्रण वैष्णव और शैवपुराणों में मिल जाता है। सातवीं शताब्दी से लेकर ११ वीं शताब्दी तक शैवधर्म के समानान्तर जैनधर्म भी चलता रहा। गंगवाडि के गंगवंशीय राजाओं ने इस धर्म को विशेष प्रोत्साहन दिया, जिससे विधर्मियों के द्वारा नाना प्रकार के अत्याचारों के होने पर इसकी क्षीण रेखा ११ वीं सदी के अन्त तक दिखलाई पड़ती रही।

अनेक विदेशी विद्वानों ने अपने-अपने इतिहास में तामिल प्रान्त की जैनधर्म की उन्नति का वर्णन किया है। विशप काल्डवेल का कहना है कि जैनों की उन्नति का युग ही तामिल साहित्य की उन्नति का महायुग है। इन्होंने तामिल, कनड़ी और दूसरी लोकभाषाओं का प्रचार किया, जिससे वे जनता के सम्पर्क में अधिक आये। सरवाल्टर इलियट के मतानुसार दक्षिण की कला और कारीगरी पर जैनों का अमिट प्रभाव है। तामिल प्रदेश में जैनों के द्वारा ही अहिंसा का विशेष प्रचार हुआ, जिससे जनता ने मद्य, मान्स और मधु भक्षण का भी त्याग कर दिया था। ब्राह्मणों पर जैनों की अहिंसा का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि यज्ञों में भी हिंसा बन्द हो गई जीव हिंसा-रहित यज्ञ किये जाने लगे। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि विग्रहाराधना, पुराणपुरुषों की पूजा, गणपति पूजा, देवस्थान-निर्माण-प्रथा और जीर्णोद्धार-क्रिया प्रभृति बातें शैव और वैष्णव मतों में जैन सम्प्रदाय की देखादेखी प्रचलित हुईं। अतएव तामिल देश में ई० पू० ३०० से लेकर ई० ११०० तक जैनधर्म का खूब प्रचार हुआ, किन्तु इसके अनन्तर शैव और वैष्णवों के धर्मद्वेष के कारण प्रभावहीन हो गया।

कर्णाटक—इस प्रान्त में जैन धर्म का विस्तार बहुत हुआ; वहाँ की राजनीति, धर्म, संस्कृति, साहित्य, कला, विज्ञान, व्यापार प्रभृति सभी बातें जैनधर्म से अनुप्राणित थीं।

अनेक जैन राजाओं के साथ-साथ ऐसे निष्णात विद्वान्, कवि, कलाकार और प्रभावक गुरु हुए, जिनका प्रभाव दक्षिण प्रान्त की कर्णाटक भूमि के कण-कण पर विद्यमान था। सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक सभी मामलों में जैनाचार्यों का पूरा-पूरा हाथ था, उनकी सम्मति और निर्णय के उपरान्त ही किसी भी सांस्कृतिक कार्य का प्रारम्भ होता था। भद्रबाहु स्वामी के संघ के पहुँचने के पहले भी यहाँ जैन गुरुओं को सम्मान्य स्थान प्राप्त था। मौर्य साम्राज्य के बाद इस प्रान्त में आन्ध्रवंश का शासन स्थापित हुआ, इस वंश के सभी राजा जैनधर्म के उन्नायक रहे हैं। इनके शासन काल में सर्वत्र जैन-धर्म का अभ्युदय था। इसके पश्चात् उत्तर-पूर्व में पल्लव और उत्तर-पश्चिम में कदम्ब वंश के राज्य इस प्रान्त में स्थापित हुए। कदम्ब वंश के अनेक शिलालेख उपलब्ध हैं, जिनमें इस वंश के राजाओं द्वारा जैनों को दान देने का उल्लेख है। इस वंश का धर्म जैन था।

कदम्ब वंश के समान चालुक्य वंश के राजा भी जैनधर्मानुयायी थे। पल्लव वंश के राजाओं के जैन होने के सम्बन्ध में ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता है पर भगवान् नेमिनाथ का विहार पल्लव देश में होने से तथा उस समय के समस्त दक्षिण के वातावरण को को जैनधर्म से अनुप्राणित होने के कारण प्राचीन पल्लव वंश भी जैनधर्म का अनुयायी रहा होगा। चालुक्य नरेशों ने अनेक नवीन जैन मन्दिर बनवाये तथा उन्होंने अनेक मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया था। कन्नड़ के प्रसिद्ध जैन कवि पम्प का भी सम्मान इस वंश के राजाओं द्वारा हुआ था।

गंगवंश—कर्णाटक प्रान्त में जैनधर्म के प्रसारकों में इस वंश के राजाओं का प्रमुख हाथ है। इतिहास बतलाता है कि दक्षिण-भारतीय गंगराजाओं के पूर्वज गंगानद-प्रदेशवासी इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रिय थे। इनकी सन्तान परम्परा में दडिग और माधव नामके दो शूरवीर व्यक्ति उत्पन्न हुए, जिन्होंने पेरूर नामक स्थान पर जाकर आचार्य सिंहनन्दी का शिष्यत्व ग्रहण किया। उस समय पेरूर जैन संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था, यहाँ पर जैन मन्दिर और जैन संघ विद्यमान था। आचार्य ने इन दोनों को राजनीति और धर्म-शास्त्र की शिक्षा देकर पूर्ण निष्णात बना दिया तथा पद्मावतीदेवी से उनके लिये वरदान प्राप्त किया। आचार्य की शिक्षा और वरदान के प्रभाव से इन दोनों वीरों ने अपना राज्य स्थापित कर लिया तथा कुवलाल में राजधानी स्थापित कर गंगवाडी प्रदेश पर शासन किया। गंगराजाओं का राजचिन्ह मदगजेन्द्र लाञ्छन और उनकी ध्वजा पिच्छ चिन्ह से अंकित थी। उस समय जैनधर्म राष्ट्रधर्म था, और इसके गुरु केवल धार्मिक ही गुरु नहीं थे, बल्कि राजनैतिक गुरु भी थे।

दडिग ने जैनधर्म के प्रसार के लिये मंडलि नामक स्थान पर एक लकड़ी का भव्य जिनालय निर्माण कराया, जो शिल्पकला का एक सुन्दर नमूना था। क्योंकि उस

युग के मन्दिर केवल दर्शकों की भक्ति-पिपासा को ही शान्त नहीं करते थे, बल्कि धर्म, साहित्य, संस्कृति के प्रचार के प्रमुख केन्द्र स्थान भी माने जाते थे। गंगराजाओं में अवनीत के गुरु जैनमुनि कीर्तिदेव और दुर्विनीत के आचार्य पूज्यपाद थे। इस वंश का एक राजा मारसिंह द्वितीय था, यह इतना पराक्रमी और साहसी था कि इसने चेर, चोल और पाण्ड्य वंशों पर विजय प्राप्त करली थी। जीवन के अन्तिम समय में इसे संसार से विरक्ति हो गई थी, जिससे इसने विपुल ऐश्वर्य के साथ राज्यपद त्याग दिया और धारवार प्रान्त के बांकापुर नामक स्थान में अपने गुरु अजितसेनाचार्य के सम्मुख समाधिपूर्वक प्राण-त्याग किया था।

गंगवंश के २१ वें राजा राचमल्ल सत्यवाक्य के शासन काल में उसके मंत्री और कवि चामुण्डराय ने श्रवणबेलगुल स्थान में श्रीगोमटेश्वर की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई थी। चामुण्डराय का वीरमार्त्तण्ड, चूड़ामणि, समरधुरन्धर, त्रिभुवन वीर, वैरीकुल-कालदण्ड, सत्य युधिष्ठिर इत्यादि अनेक उपाधियाँ थी। मन्त्रि प्रवर चामुण्डराय जैन-धर्म के बड़े भारी उपासक थे, इन्होंने अपना गुरु आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती को माना है। वीरता के साथ विद्वत्ता भी इनमें पूरी थी, संस्कृत और कन्नड़ दोनों ही भाषाओं पर पूर्ण अधिकार था। चारित्रसार संस्कृत भाषा में रचा गया इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है, कन्नड़ में इन्होंने त्रिषष्ठि लक्षण महापुराण नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ रचा है। चामुण्डराय ने जैनधर्म की उन्नति के लिये अनेक कार्य किये हैं। इस प्रकार गंगवंश के सभी राजाओं ने मन्दिर बनवाये, मन्दिरों के प्रबन्ध के लिये भूमि दान की और जैन गुरुओं को सम्मान देकर साहित्य और कला का सृजन कराया। दुर्विनीत, नागवर्म, गुणवर्म प्रथम चामुण्डराय इत्यादि अनेक उल्लेखनीय जैन कलाकार गंगवंश के राज्यकाल में हुए हैं।

गंगवंशकालीन जैन साहित्य और कला—गंगराज्यकाल में संस्कृत और प्राकृत भाषा के साहित्य की विशेष उन्नति हुई। अशोक के शासन-लेखों और सातवाहन एवं कदम्ब राजाओं के सिक्कों पर अंकित लेखों से प्रकट है कि इस युग में प्राकृत भाषा का व्यवहार संस्कृत के साथ-साथ ब्राह्मण और जैन दोनों ही विद्वान् करते थे। ७ वीं और ८ वीं शती में गंगवाडि में अधिक संख्या में आकर जैन बस गये थे, तब वहाँ संस्कृत साहित्य की पवित्र मन्दाकिनी प्रवाहित हुई; जिसकी कल-कल ध्वनि से अष्टशती, आप्तमीमान्सा, पद्म-पुराण, उत्तरपुराण, कल्याण कारक प्रभृति रचनाएँ प्रस्फुटित हुईं।

संस्कृत और प्राकृत के साहित्य के साथ-साथ कन्नड़ भाषा का साहित्य भी उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा था; प्राचीन कन्नड़, जो कि साहित्यिक भाषा थी, उसका स्थान नवीन कन्नड़ ने ले लिया था। इसमें पूज्यपाद, समन्तभद्र जैसे युग प्रवर्त्तक प्रसिद्ध आचार्यों ने भी साहित्य का निर्माण किया। इस युग में कुछ ऐसे कवि भी हुए हैं, जो दोनों भाषाओं के—

संस्कृत, प्राकृत और कन्नड़ के विद्वान् थे। गुणवर्म ने गंगराजा ऐरेयप्प के समय में 'हरिवंश' की रचना की थी। इन्हींके समकालीन कवि पम्प बहुत प्रसिद्ध कवि हुए हैं, इन्हें कविता गुणार्णव, पूर्णकवि, सज्जनोत्तम आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। इस महाकवि ने लोककल्याण की भावना से प्रेरित होकर आदिपुराण, विक्रमार्जुन विजय, लघुपुराण, पार्श्वनाथपुराण और परमार्ग नामक ग्रन्थों की रचना की है।

पम्प के समकालीन महाकवि पोन्न और रन्न भी है। इन दोनों कवियों ने भी कन्नड़ साहित्य की श्रीवृद्धि में अपूर्व योग दिया है। पोन्न का शान्तिनाथपुराण और रन्न का अजितनाथपुराण कन्नड साहित्य के रत्न है। इनके अतिरिक्त आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने उभय भाषाओं में ग्रन्थ रचना की है।

कला— गंगवाडि में स्थापत्य और शिल्पकला की विशेष उन्नति हुई थी। उस समय समस्त दक्षिण भारत में दर्शनीय भव्य मन्दिर, दिव्य मूर्तियाँ, सुन्दर स्तम्भ प्रभृति मूल्यवान् विशाल कृतियाँ स्थापित हुईं। गंगवाडि की जैन कला बिल्कुल भिन्न रही। गंगवंश के समस्त राजाओं ने जिनालयों का निर्माण कराया था। मन्दिरों की दीवाल और छतों पर कहीं-कहीं नक्कासी और पच्चीकारी का काम भी किया गया था। कोई-कोई मन्दिर दो मंजिल के भी थे और चारों ओर दरवाजे रहते थे। पाषाण के सिवा लकड़ी के जिना-लय भी बनवाये गये थे। इस युग में मूर्त्ति निर्माण कला में भी जैन लोग बहुत आगे बढ़े-चढ़े थे; प्रसिद्ध बाहुबली स्वामी की मूर्त्ति इसका ज्वलन्त निदर्शन है। यह मूर्त्ति आज भी दुनिया की आश्चर्यजनक वस्तुओं में से एक है।

मन्दिरों के अतिरिक्त गंगराजाओं ने मण्डप और स्तम्भों का भी निर्माण कराया था। जैन मण्डप पाँच स्तम्भ के होते थे, चारों कोनों पर स्तम्भ लगाने के अतिरिक्त बीच में भी स्तम्भ लगाया जाता था और इस बीच वाले स्तम्भ की विशेषता यह थी कि वह ऊपर छत में इस प्रकार फिट किया जाता था जिससे तली में से रूमाल आर-पार हो सकता था। ये स्तम्भ मानस्तम्भ और ब्रह्मदेवस्तम्भ, इन दो भेदों में विभक्त थे।

ई० स० १००४ में जब गंगनरेशों की राजधानी तलकाद को चोल राजाओं ने जीत लिया तो फिर इस वंश का प्रताप क्षीण हो गया। इसके पश्चात् दक्षिण भारत में होयसल वंश का राज्य प्रतिष्ठित हुआ। इस वंश को उन्नति भी जैन गुरुओं की कृपा से हुई थी। इस वंशका पूर्वज राजा सल था। कहा जाता है कि एक समय यह राजा अपनी कुलदेवी के मन्दिर में सुदत्त नामके जैन साधु से विद्या ग्रहण कर रहा था, इतने में वन से निकलकर एक बाघ सल को मारने के लिये झपटा। साधु ने एक डण्डा सल को देकर कहा— 'पोय सल'—मारसल। सल ने उस डण्डे से बाघ को मार डाला और इस घटना को स्मरण रखने के लिये उसने अपना नाम पोयसल रखा, आगे जाकर यही होयसल हो गया।

गंगवंश के समान इस वंश के राजा भी विट्टिमदेव तक जैन धर्मानुयायी रहे और जैनधर्म के प्रसार के लिये निरन्तर उद्योग करते रहे। जब रामानुजाचार्य के प्रभाव में आकर विट्टिमदेव वैष्णव हो गया, तो उसने अपना नाम विष्णुवर्द्धन रखा। इसकी पहली धर्मपत्नी शान्तलदेवी कट्टर जैनी थी। उसीके प्रभाव के कारण इस राजा ने जैनधर्म के अभ्युदय के लिये अनेक कार्य किये।

विष्णुवर्द्धन का मंत्री गंगराज तो जैनधर्म का स्तम्भ था। श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में कई शिलालेख उनकी दानवीरता और धार्मिकता की दुहाई देते हैं। विष्णुवर्द्धन के उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम के मंत्री हुल्लास ने भी इस धर्म को दक्षिण में फैलाने का प्रयत्न किया। वस्तुतः मैसूर प्रान्त में इन दोनों मंत्रियों ने तथा चामुण्डराय ने जैनधर्म के प्रसार के लिये अनेक कार्य किये हैं।

होयसल के पश्चात् बड़े राजवंशों में राष्ट्रकूट का नाम आता है, इस वंश के प्रतापी राजाओं के आश्रय से जैनधर्म का अच्छा अभ्युदय हुआ। मान्यखेट इनकी राजधानी थी, इस वंश में अनेक राजा जैनधर्मानुयायी हुए हैं और सभी ने अपने अपने शासन काल में जैनधर्म की प्रभावना की है। अमोघवर्ष प्रथम का नाम दि० जैनधर्म की उन्नति करने वालों में बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। यह राजा दि० जैनधर्म का बड़ा भारी श्रद्धालु था, इसने अन्तिम अवस्था में राज-पाट छोड़कर जिनदीक्षा अपने गुरु जिनसेनाचार्य से ले ली थी। अमोघवर्ष ने जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्राचार्य को भी प्रश्रय दिया था। सम्राट अमोघवर्ष ने अपने उत्तराधिकारी कृष्णराज द्वितीय गुणभद्राचार्य को गुरु के लिये नियुक्त किया था। श्रवणबेलगोल की पार्श्वनाथबसति शिलालेख से प्रकट है कि सम्राट् कृष्णराज की राजसभा में जैन गुरुओं का आगमन होता था तथा वह उनका यथोचित सत्कार करता थे। इस वंश में उत्पन्न हुए चारों इन्द्र राजाओं ने जैनधर्म को धारण किया था तथा उसके प्रचार और प्रसार के लिये अनेक यत्न भी किये थे। यद्यपि अन्तिम राजा इन्द्र को राज्य की व्यवस्था करने में पूर्ण सफलता नहीं मिली थी, जिससे उसने जिनदीक्षा ग्रहण करली थी।

कलचुरि वंश—के नरेशों ने तामिल देश पर चढ़ाई की थी और वहाँ के राजाओं को परास्त करके अपना शासन स्थापित किया था। ये राजा जैनधर्म के अनुयायी थे, इनके पहुँचने से तामिल देश में जैनधर्म का प्रसार हुआ था। इस वंश के राजाओं का राष्ट्रकूट नरेशों से घनिष्ठ सम्बन्ध था, इनमें परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध भी हुए थे।

इन प्रधान राजवंशों के अतिरिक्त नोलम्ब, सान्तार, चांगल्व, ल्योङ्गल्व, पुन्नाट, सेनवार सालुव, महाबलि, एलिनका रट्ट, शिलाहार, चेल्लकेतन, पश्चिमी चालुक्य प्रभृति राजवंशों के अनेक राजा जैनधर्मानुयायी थे। इन वंशों के जो राजा जैनधर्म का पालन नहीं भी

करते थे, उन्होंने भी जैनधर्म की उन्नति में पूरा सहयोग प्रदान किया था। इस प्रकार कर्णाटक के सभी राजाओं ने जैनधर्म का विस्तार किया।

जैन कला और साहित्य—राष्ट्रकूट प्रभृति उपर्युक्त राजाओं के काल में जैन साहित्य और कला की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि जैन कला और जैन साहित्य का विकास इस समय में बहुत हुआ है। राष्ट्रकूट और चालुक्य वंशों के राज्यकाल में जैनधर्म के प्राबल्य ने समस्त कर्णाटक को अहिंसामय बना दिया था; जिसके फलस्वरूप राष्ट्र खूब फलाफूला, देश में सुख समृद्धि की पुण्यधारा बही। फलतः मानव समाज के हृदय का आनन्द अपनी संकुचित सीमा को पार कर बाहर निकलने लगा, जिससे कला और साहित्य का प्रणयन अधिक हुआ। कला और साहित्य प्रेमी इन राजाओं के दरबार में साहित्यिक ज्ञान गोष्ठियाँ होती थी, इन गोष्ठियों में होने वाली चर्चाओं में राजा लोग स्वयं भाग लेते थे। राष्ट्रकूट वंश के कई राजा कवि और विद्वान् थे, इससे इनकी सभा में कवि और विद्वान् उचित सम्मान पाते थे। धवला और जयधवला टीकाओं का सृजन राष्ट्रकूट वंशीय राजाओं के जैन साहित्य प्रेम का ज्वलन्त निदर्शन है। दर्शन, व्याकरण, काव्य, पुराण, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद प्रभृति विभिन्न विषयों पर अनेक मौलिक रचनाएँ लिखी गई।

इस काल के जैन कवियों ने दूतकाव्य और चम्पूकाव्य की परम्परा प्रकट कर काव्य-क्षेत्र में शृंगार रस के स्थान पर शान्तिरस का समावेश किया। जिनसेनाचार्य का पार्श्वाभ्युदय, आदिपुराण, वर्द्धमानपुराण, पार्श्वस्तुति, सोमदेवाचार्य का यशस्तिलक चम्पू, नीतिवाक्यामृत; गुणभद्राचार्य का आत्मानुशासन, उत्तरपुराण, जिनदत्तचरित्र; वादिराज का यशोधरचरित, पार्श्वनाथचरित, एकीभावस्तोत्र, कुकुत्स्थचरित, न्यायविनिश्चय विवरण और वादमंजरी; महावीराचार्य का गणितसार संग्रह; शाकटायनाचार्य का शाकटायन व्याकरण तथा उसकी टीका अमोघवृत्ति प्रभृति संस्कृत जैन रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। अपभ्रंश भाषा में कवि पुष्पदन्त का महापुराण, जसहर चरिउ, णायकुमार चरिउ; कवि धवल का हरिवंश पुराण, कवि स्वयंभू का हरिवंशपुराण, पउम चरिय, देवसेन का सावयधम्म दोहा और अभयदेव सूरि का जयतिहुयण स्तोत्र इत्यादि ग्रन्थ भी जैन साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कन्नड़ भाषा में भी काव्य, पुराण, नाटक, वैद्यक, ज्योतिष, नीति प्रभृति विभिन्न विषयो पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे।

साहित्य की उन्नति के साथ जैनों ने कला के क्षेत्र में भी प्रगति की थी। राष्ट्रकूट, चालुक्य, कदम्ब, होयसल इत्यादि वंश के राजाओं ने अनेक जैन मन्दिर और जैन मूर्त्तियों का निर्माण कराया था। यद्यपि जैनों ने अपनी कला को शान्तरस से ओत-प्रोत रखा था तथा अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार मूर्त्ति और मन्दिरों पर वीतरागता की ही भावनाएँ अंकित की थीं, फिर भी सर्वसाधारण के लिये आकर्षण कम नहीं था। अमरेश्वरम् में एक

मन्दिर की छत में संग्राम के दृश्य से अंकित एक पत्थर लगा है, जिसमें किला बना हुआ है, धनुषबाण चल रहे है। नगर और कोट का ऐसा सजीव अंकन किया गया है, जो दर्शकों के ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकता। श्रवणगुडी में एक जैनमठ के पास पड़े हुए पाषाणों में एक घुड़सवार अपने भाले से एक पियादे के तलवार के वार को रोकता हुआ दिखलाया गया है। कई चित्र तो शान्ति के मूर्तिमान प्रतीक हैं।

ऐहीले और इलोरा के जैनमन्दिरो के मानस्तम्भ भी मिलते हैं। जैन मानस्तम्भों के विषय में विलहौस सा० ने लिखा है :—

"The whole capital and canopy of Jain pillors are a wonder of light, elegant, highly decorated stone work; and nothing can surpass the stately grace of these beautiful pillors, whose proportions and adaptations to surrounding scenery are always perfect, and whose richness of decoration never offends."

अर्थात् जैन स्तम्भों की आधार शिला तथा शिखिर बारीक, सुन्दर और समलंकृत शिल्पचातुर्य की आश्चर्यजनक वस्तु है। इन सुन्दर स्तम्भों की दिव्य प्रभा से कोई भी वस्तु समानता नहीं कर सकती। ये प्राकृतिक सौन्दर्य के अनुरूप ही बनाये गये हैं। नक्कासी और महत्ता इनकी सर्वप्रिय है।

कला परिपूर्ण मन्दिर और मूर्तियों की प्रशंसा भी अनेक विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से की है। इस तरह जैनधर्म दक्षिण भारत में अपना प्रभुत्व १३ वीं सदी तक स्थापित किये रहा। शङ्कराचार्य, शैवानुयायी राजा एवं अन्य धार्मिक विद्वेषों के भयंकर झोंके लगने पर भी इस धर्म का दीपक आज भी दक्षिण में टिमटिमा रहा है।

विविध विषय

(१)

सुहोनिया या सुधीनपुर

प्राचीन समय में सुहोनिया जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है। यह ग्वालियर से २४ मील उत्तर की ओर तथा कुतवर से १४ मील उत्तर-पूर्व अहसिन नदी के उत्तरी तट पर स्थित है। कहा जाता है कि पहले यह नगर १२ कोस के विस्तार में था और इसके चार फाटक थे। यहां से एक कोस की दूरी पर विलौनी नामक गॉव में दो खम्भे अभी तक खड़े मिलते हैं; पश्चिम में एक कोस दूर पर बौरीपुरा नामक गॉव मे एक दरवाजे का अंश अभी तक वर्तमान है। दो कोस पूर्व पुरवास में और दो कोस दक्षिण बाढ़ा में अभी तक दरवाजों के ध्वंसावशेष स्थित हैं। इन सीमा विन्दुओं की दूरी नापने पर सुहोनिया का प्राचीन विस्तार बिल्कुल ठीक मालूम होता है।

ग्वालियर के संस्थापक सूरजसेन के पूर्वजों द्वारा आज से दो हजार वर्ष पूर्व इस नगर का निर्माण किया गया था। कहते हैं कि राजा सूरजसेन को कुष्ठ रोग हो गया था, उसने इससे मुक्ति पाने के लिये अनेक उपाय किये, पर उस भयानक रोग का शमन नही हुआ। अचानक राजा ने एक दिन अम्बिका देवी के पार्श्व में स्थित तालाव में स्नान किया, जिससे वह उस रोग से छुटकारा पा गया। इस स्मृति को सदा कायम रखने के लिये उसने अपना नाम शोधनपाल या सुद्धनपाल रखा तथा इस नगर का नाम सुद्धनपुर या सुधानियापुर रखा, आगे चलकर यही नगर सुहानिया, सिहोनिया या सुधानिया नामों से पुकारा जाने लगा। कोकनपुर मठ का बड़ा मन्दिर जो ग्वालियर के किले से दिखलाई देता है, उसकी रानी कोकनवती के द्वारा बनवाया गया था। इस मन्दिर का निर्माण काल ई० २७५ है, इस रानी ने एक विशाल जैन मन्दिर भी सुहानिया के पास बनवाया था। इसका धर्म के ऊपर अटल विश्वास था। सुहोनिया मे उस समय सभी सम्प्रदाय-वालों के बड़े-बड़े मन्दिर थे। जैन यक्षिणी देवियों के मन्दिरों का पृथक् निर्माण भी किया गया था। १० वी शताब्दी तक ब्राह्मण मत के साथ जैनधर्म का प्रसार इस नगर में होता रहा। ४ थी और ५ वी सदी में सिहोनियाँ के आस-पास ११ जैन मन्दिर थे, जिनका निर्माण जैसवाल जैनों ने किया था।

सन् ११६५-११७५ के बीच मे कन्नौज के राजा अजयचन्द ने इस नगर पर आक्रमण किया। इस समय इस नगर का शासन एक राव ठाकुर के अधीन था जो कि ग्वालियर के अन्तर्गत था। इस युद्ध में राव ठाकुर का पराजय हुआ, और कन्नौज

का शासन स्थापित हो गया। लेकिन सुहानिया के दुर्भाग्य का उदय हो चुका था, उसकी उन्नति और श्री सदा के लिये रूठ गयी थी; फलतः कन्नौज के शासक भी वहाँ अधिक दिन तक नहीं रह सके तथा यह सुन्दर नगर उजड़ने लगा। इसका शासन पुनः ग्वालियर के अन्तर्गत पहुँचा, पर इसके अधिकांश मन्दिर, मठ धराशाही होने लगे। मुसलमान बादशाहों की सेना का प्रवेश भी इधर हुआ, जिसने सुन्दर मूर्त्तियों को भग्न किया और मन्दिरों को धूलिसात कर दिया।

अभी हाल में इस नगर में भूगर्भ से श्री शान्तिनाथ भगवान् की एक विशालकाय १६ फुट ऊँची प्रतिमा निकली है तथा और भी अनेक जैन मूर्तियाँ वहाँ पर विद्यमान हैं। सुनने में आया था कि ब्र० गुमानीलाल को शासन देवता ने स्वप्न में मूर्त्तियों की बात कही थी, उन ब्रह्मचारी जी के कहने पर ही वहाँ के समाज ने उस बीहड़ जंगल में खुदाई की जिसमें अनेक प्रतिमाएँ निकलीं। आज इस क्षेत्र का प्रबन्ध मुरैना के बा० महीपाल जी जैन के संनिरत्व में हो रहा है, प्रतिवर्ष अब यहाँ पर वार्षिक मेला भी लगता है। खुदाई करने पर अभी और भी मूर्त्तियाँ तथा जैन संस्कृति की अन्य वस्तुएँ निकल सकती हैं। पुरातत्वज्ञों ने जंगल में पड़ी हुई जैन मूर्त्ति को देखकर ग्वालियर की रिपोर्ट में लिखा है कि यह मूर्त्ति आज से कम से कम एक हजार वर्ष पहले की अवश्य है।

(२)

कवि वृन्दावन कृत सतसई—सप्तशती

कविवर वृन्दावनजी प्रतिभाशाली कवि थे, इनका जन्म सं० १८४८ में शाहाबाद जिले के बारा नामक गाँव में गोयल गोत्रीय अग्रवाल कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम धर्मचन्द और माता का नाम सिताबी था। इन्होंने चौबीसी पाठ, वृन्दावन विलास, प्रवचनसार टीका, तीस-चौबीसी-पूजा-पाठ आदि ग्रन्थ लिखे हैं। 'भवन' में उक्त कविवर की एक सतसई है, इसमें ७०० दोहे हैं। इस ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति दी गई है :—

इति वृन्दावनजी कृत सतसइया चैत्र कृष्ण १५ संवत १९५३ गुरुवार आठ बजे रात्रि को आरामपुर में बाबू अजितदास के पुत्र हरीदास ने लिखकर पूर्ण किया सो जैवंत होहु शुभं शुभं शुभं ॥

अतः कविवर के पौत्र द्वारा लिखित इसको प्रामाणिक मानना चाहिये। किन्तु इसके भीतर ऐसे भी अनेक दोहे हैं, जो कविवर के पूर्वकालीन गिरधर, बिहारी, रहीम,

तुलसी आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं। पता नहीं सतसई के भीतर ये दोहे कैसे आगये ? ग्रन्थ का प्रारम्भिक अंश इस प्रकार है :—

श्रीगुरनाथ प्रसाद तैं, होय मनोरथ सिद्ध ।
वर्षा तैं ज्यों तरुवेलिदल, फूलफलन की वृद्धि ॥
किये वृन्द प्रस्ताव को, दोहा सुगम बनाय ।
उक्त अर्थ दिष्टान्त करि, दिढ़ करि दिये बताय ॥१॥
भाव सरल समझत सबै, भले लगै हिय आय ।
जैसे अवसर की कही, वानी सुनत सुहाय ॥२॥
नीकीहु फीकी लगै, विन अवसर की बात ।
जैसे बरनत युद्ध में, रस सिंगार न सुहात ॥

इनकी यह सतसई विहारी के समान शृंगारिक कृति नहीं है, प्रत्युत नीति और वैराग्य से ओत-प्रोत है। इनकी यह रचना जनहिताय ही हुई है, मानव के चरित्र को विकसित करना ही इनका ध्येय रहा है। तार्किक ज्ञान समाज को प्रदान कर उसे व्यवहार कुशल और संयमित बनाने का प्रयत्न कवि का है। वास्तव में साहित्य क्षेत्र में नीति काव्यों का स्थान भी उतना ही ऊँचा और श्रेष्ठ है जितना शृंगारिक रचनाओं का। इस रचना में कवि ने सहृदय मानव समाज में भावों की सभी वृत्तियाँ जागृत कर करुणा, दया, क्षमा, सहानुभूति आदि कोमल वृत्तियों के विकास पर जोर दिया है। यह रचना अत्यन्त सरल, सरस और सद्य प्रभावोत्पादिनी है।

(३)

दूबकुण्ड का ध्वंस जैन मन्दिर

ग्वालियर से दक्षिण-पश्चिम में दूबकुण्ड नामक पुराना जैन मन्दिर है। यह कुनू और चम्बल के बीच में ग्वालियर से ७६ मील दक्षिण-पश्चिम और शिवपुरी से ४४ मील उत्तर-पश्चिम में एक उपत्यका के ऊपर स्थित है। ग्वालियर की सड़क से ९८ मील दूर है। श्री बा० ज्वालाप्रसाद, जो सन १८६६ में कप्तान मेलविल के साथ उस स्थान का अवलोकन करने गये थे, उन्होंने वहाँ उत्कीर्ण एक लेख को पढ़कर मन्दिर का निर्माण सं० ७४१ बताया, परन्तु कुछ पुरातत्त्वज्ञों ने उसका समय सं० १०८८ या ११४५ कहा है। क्योंकि अन्य उत्कीर्ण शिलालेखों से इस मत की पुष्टि हो जाती है। यह समय श्री विक्रमसिंह महाराजाधिराज के काल में पड़ता है। ग्वालियर के राजाओं की नामावली में इस नाम के राजा का उल्लेख नहीं है, किन्तु ग्वालियर के

युवराज 'कच्छप वंश घट तिलक' कहे जाते हैं, अतः इस कच्छवाह वंशी राजा का सम्बन्ध ग्वालियर से रहा होगा।

दूबकुण्ड का मन्दिर ७५० फीट लम्बा और ४०० फीट चौड़ा अण्डाकार घेरे में है। पूर्व की ओर प्रवेश द्वार है, द्वार के सामने पत्थर मे कटा हुआ ५० वर्गफीट का एक तालाव है। यह मन्दिर बिल्कुल गिर गया है। इसके भीतर शिव-पार्वती के मन्दिर का ध्वंसावशेष भी है। बेर और बबूल के पेड़ों का जंगल इतना घना है कि समस्त मन्दिर में घूमना कठिन है। यहाँ की सभी मूर्त्तियाँ जैन है। एक मूर्त्ति पर चन्द्रप्रभु का नाम भी लिखा हुआ है। किम्वदन्ती है कि यहाँ प्राचीन काल में जैनियों का मेला भी लगता था। प्राचीन समय मे पश्चिम के किसी राजा ने आक्रमण कर यहाँ के मन्दिर को तोड़ दिया था, तथा अनेक मूर्त्तियों को तालाव में डुबा दिया और सोने-चाँदी की मूर्त्तियों को वह ले गया था। मूर्त्तियों को डुबाने के कारण ही इस मन्दिर का नाम डूबकुण्ड अर्थात् दूबकुण्ड पड़ गया है। प्रसिद्धि है कि दोवाशाह और भीमा-शाह नामक जैन श्रावको ने इस मन्दिर को बनवाया था। किन्तु शिलालेख में बताया गया है कि मुनि विजयकीर्त्ति के उपदेश से जैसवाल वंशी दाहड़, कूकेक, सूर्पट, देवधर और महीचन्द्र आदि चतुर श्रावकों ने मन्दिर का निर्माण कराया था जिसके पूजन, सरक्षण एवं जीर्णोद्धार आदि के लिये कच्छवाह राजा विक्रमसिंह ने भूमि दान भी दी थी। मराठा सरदार अमर सिंह ने धर्मान्ध होकर जैन संस्कृति के स्तम्भ इस मन्दिर को नस्त-नाबूद किया था। इस मन्दिर के सम्बन्ध मे कहा गया है 'The Jain temple of Dubkund is square enclosure of 81 feet each way, on each side there are ten rooms. The four corner rooms have doors opening outwards, but all the rest open inwards into a corridor, supported on square pillars. The entrance is on the east side, which has, therefore only seven Chapels, there being exactly eight chapels on each of the other three sides Each chapel is 5 feet 8 inches square"

अर्थात्—जैन मन्दिर ८१ फीट के घेरे में है, इसमें चारो ओर दस कमरे है, चारो कोनों के दरवाजे बाहर की ओर खुलते है, बाकी सभी दरवाजे भीतर बरामदे की ओर खुलते है, जो कि चोकोर स्तम्भो के ऊपर स्थित है। पूर्व की तरफ सात वेदियाँ है और शेष सभी ओर आठ-आठ वेदियाँ है। प्रत्येक वेदी ५ फीट ८ इंच के वर्ग की है।

इस मन्दिर मे ३१ कमरे जो बाहर की ओर खुलते है, उनमे ३१ वेदियाँ और चार कमरे जो भीतर की ओर खुलते है, उनमें चार वेदियाँ है, इस प्रकार इस मन्दिर में कुल ३५ वेदियाँ हैं। वेदियो मे चित्रकारी की गई है, दरवाजों पर भी सुन्दर कारीगरी

है। प्रत्येक दरवाजे के दोनों ओर चार-चार बड़ी मूर्त्तियाँ है तथा दरवाजे के ऊपर तीन-तीन बड़ी पद्मासन मूर्त्तियाँ हैं। खम्भे चोकोर हैं, ये ऊपर और नीचे चौड़े हैं, इनके ऊपर चार-चार ब्रेकिटें हैं, जो छत को संभाले हुए हैं। इन खम्भों की ऊँचाई ७ फीट ५ इंच है। दक्षिण-पूर्व के कोने के कमरे की वेदी पर तीन ऊँची खड़ी मूर्त्तियाँ विराजमान हैं। इनमे बीच की मूर्त्ति १२ फीट, ६ इंच ऊँची और ३ फीट ८ इंच चौड़ी है। यह जमीन में नीचे धसी हुई है। शेष दोनों बगल-वाली मूर्त्तियाँ ६ फीट ६ इंच ऊँची और २ फीट ४ इंच चौड़ी है।

मन्दिर भूमिमान् है, इसकी छत गिर गई है, बरामदे की छत के कुछ किनारे के हिस्से लटक रहे है। बाहर में तीन यक्षिणियों की मूर्त्तियाँ भग्न मूर्त्तियों के साथ पड़ी हुई हैं, ये भग्न सभी मूर्त्तियाँ दिगम्बर सम्प्रदाय की हैं। एक स्तम्भ पर तीन पंक्तियों का लेख उत्कीर्ण हैं—

प्रथम पंक्ति—सं० ११५२ वैशाख सुदि पञ्चम्यां
द्वितीय पंक्ति—श्रीकाष्ठासंघ महाचार्यवर्य श्रीदेव
तृतीय पंक्ति—सेनपादुका युगलम्

नीचे के हिस्से में एक भग्न मूर्त्ति है, जिसपर श्रीदेव लिखा है। एक खड्गासन मूर्त्ति के नीचे निम्न लेख उत्कीर्ण है, इस लेख मे सवत और तिथि का जिक्र नही है—

लषु श्रेष्ठिनो कार्त्ति श्रीमान वसु प्रतिमा
श्रेठिनी लक्ष्मी:

अर्थात इस लेख में बताये गये 'वसु' वासुपूज्य भगवान है, जो कि १२ वें तीर्थकर है। दक्षिण की तरफ १६ इंच के तोरण पर ५९ पंक्तियों का लम्बा लेख उत्कीर्ण है। यह संवत ११४५ का है। इसका प्रारम्भ "ॐ नमो वीतरागाय" से हुआ है। श्रीशान्तिनाथ जिन और श्रीमज्जिनाधिपति आदि नाम भी आये है तथा इसमे लाडबागड गण के देवसेन, कुलभूषण, दुर्लभसेन, अंबरसेन और शान्तिषेण इन पाँच आचार्यों के नाम भी पाये जाते हैं।

नेमिचन्द्र शास्त्री

साहित्य-समालोचना

पटखण्डागम, धवला-टीका-समन्वितः ८ वीं जिल्द—सम्पादकः श्री० प्रो० हीरालाल जैन एम० ए०, डी० लिट्, नागपुर, सहसम्पादकः श्री पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री, प्रकाशकः श्रीमन्त सेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द्र, जैन-साहित्योद्धारक-फण्ड-कार्यालय, अमरावती (बरार), पृष्ठ संख्याः २०+३९८+२८; मूल्य दस रुपये।

यह धवला टीका की आठवीं जिल्द भाषानुवाद समन्वित हमारे समक्ष है। इसमे बन्ध स्वामित्व विचय का प्ररूपण किया गया है। ग्रन्थ के आदि मे इस प्रकरण के निरूपण की ओघ—गुणस्थान और आदेश—मार्गणा इन भेदों द्वारा प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् प्रथम प्रकरण में गुणस्थानों में प्रकृतिबन्ध व्युच्छेद, व्युच्छेद के भेद और उनका निरुत्यर्थ, प्रकृतियों की उदय व्युच्छित्ति, प्रकृतियों के बन्धोदय की पूर्वापरता, सान्तर, निरन्तर और सान्तर-निरन्तररूप से बंधनेवाली प्रकृतियों का निर्देश, ध्रुव-बंधी प्रकृतियां, प्रकृतियो के बंध के स्वामी और तीर्थङ्कर प्रकृति के बंध के कारण आदि बातों का प्ररूपण किया गया है।

दूसरे प्रकरण से लेकर ग्रन्थान्त तक चौदह मार्गणाओ मे विस्तार से बन्ध स्वामित्व का विचार किया गया है। कर्मबन्ध के विषय मे इस जिल्द से पूरा-पूरा ज्ञान हो सकता है। बात यह है कि बन्धन के चार भेद हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्ध विधान इस बन्ध-विधान के भेद प्रकृतिबंध के मूल प्रकृतिबन्ध और उत्तर प्रकृतिबन्ध ऐसे दो भेद होते है। उत्तर प्रकृतिबन्ध के एकैकोत्तर प्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढ उत्तरप्रकृति बन्ध ये दो भेद है।

प्रस्तुत बन्ध स्वामित्व विचय एककोत्तर प्रकृतिबन्ध के समुत्कीर्तनादि चौबीस अनुयोग द्वारों में बारहवां अनुयोग द्वार है। इस जिल्द मे धवलाकार ने तेईस प्रश्नों द्वारा स्वोदय-परोदय, सान्तर-निरन्तर, सप्रत्यय-अप्रत्यय, सादि-अनादि, ध्रुव-अध्रुव आदि बन्धों की व्यवस्था का स्पष्टीकरण किया है।

इस जिल्द का सम्पादन अच्छा हुआ है। टीका का हिन्दी अर्थ शब्दशः दिया गया है, पर कहीं-कहीं भावानुवाद भी है। ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय प्रारम्भ में लिखा गया है। बन्धोदय-तालिका जिज्ञासुओं के लिये बड़े काम की है, इसके सहारे भीतर के विषय को सरलतापूर्वक हृदयंगम किया जा सकता है। कागज, मुद्रण तथा अन्यान्य कठिनाइयो के होने पर भी श्री प्रो० हीरालाल जी अपने सत्प्रयत्न में संलग्न है, इसके

लिये उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाय थोड़ा है। समाज जिस ग्रन्थराज के दर्शनों के लिये लालायित था वही ग्रन्थराज सभी के समक्ष स्वाध्याय के लिये सुलभ्य है। छपाई-सफाई सुन्दर है, प्रूफ में एकाध जगह अशुद्धियाँ रह गई है, फिर भी ग्रन्थ की उपादेयता और सुन्दरता के समक्ष नगण्य हैं। स्वाध्याय प्रेमियों को अवश्य मंगाकर इसका स्वाध्याय कर पुण्यलाभ लेना चाहिये।

मोक्षमार्ग प्रकाश का आधुनिक हिन्दी रूपान्तर—रचयिता: स्व० पं० टोडरमल, सम्पादक और रूपान्तरकार: पं० लालबहादुर शास्त्री; प्रकाशक: मंत्री साहित्य विभाग भा० दि० जैन संघ चौरासी मथुरा, पृष्ठ संख्या: ८+६०+३६८, मूल्य: आठ रुपये।

यह भा० दि० जैन संघ ग्रन्थमाला का द्वितीय पुष्प है। समाज में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा, जो मोक्षमार्ग प्रकाश के नाम से अपरिचित हो। आजतक स्वाध्याय प्रेमियों के सामने इस ग्रन्थ की प्राचीन मारवाड़ी भाषा स्वाध्याय में बाधक थी, पर अब यह कठिनाई दि० जैन संघ मथुरा के प्रयास से दूर हो गई, जिससे साधारण शिक्षित भी जैनधर्म के गहन विषयों का अध्ययन कर सकेंगे। ग्रन्थ के आरम्भ में ही श्री टोडरमल जी लिखित मोक्षमार्ग प्रकाश की प्रति के पत्र का चित्र मुद्रित है, जिससे उनकी हस्तलिपि का परिचय हो जाता है। अनन्तर सम्पादक जी की विस्तृत प्रस्तावना है, इसमें आपने ग्रन्थ का विषय, रचनाशैली, भाषा, भावों का प्रकटीकरण, पं० टोडरमलजी की कवित्व शक्ति, प्रतिभा उनका गम्भीर अध्ययन तथा उनके जीवन की अन्यान्य घटनाओं पर सुन्दर प्रकाश डाला है। ग्रन्थ की विषयगत विशेषताओं का निरूपण बड़े अच्छे ढंग से किया है।

श्री पं० लालबहादुरजी ने हिन्दी रूपान्तर इतना सुन्दर और समुचित किया है जिससे ग्रन्थ की मौलिकता ज्यों की त्यों अक्षुण्ण बनी हुई है और पाठक को उतना ही आनन्द आता है जितना मूल पुस्तक के अध्ययन में। ग्रन्थ के अस्पष्ट विषय को स्पष्ट करने के लिये पाद टिप्पण भी दिये है, जिससे ग्रन्थ का आशय भली भाँति हृदयंगम हो जाता है।

ग्रन्थ के अन्त में दो महत्वपूर्ण परिशिष्ट दिये गये हैं, जिनमे ग्रन्थ के सूत्र वाक्यों को विशदार्थ देकर खुलासा किया गया है। इस प्रकार ग्रन्थ के हृद्य को इतना स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी बुद्धि पर बिना जोर दिये सरलता से जैनागम के उच्चतम विषयों को अवगत कर सकेगा। वास्तव में इसके सम्पादन में अत्यन्त परिश्रम किया गया है, जिससे यह ग्रन्थ सर्वाङ्ग सुन्दर बन गया है। ऐसे सर्वाङ्गीण

सुन्दर सम्पादन के लिये सम्पादक अभिनन्दनीय है। पाठकों को इसे मंगाकर स्वाध्याय करना चाहिये। छपाई-सफाई, गेटप आदि समस्त चीजें आकर्षक हैं।

कन्नड़ प्रान्तीय ताड़पत्रीय-ग्रन्थसूची—सम्पादकः विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री मूडबिद्री; प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृष्ठ संख्याः ३०+३२४; मूल्य तेरह रुपये।

श्री पं० के० भुजबली शास्त्री जैन समाज के माने हुए पुरातत्त्वज्ञ हैं, आपके द्वारा सम्पादित यह सूचि बहुत सुन्दर निकली है। प्रस्तुत सूची-पत्र में जैनमठ मूडबिद्री, श्री वीरवाणी-विलास जैन-सिद्धान्त-भवन मूडबिद्री, जैनमठ कारकल, आदिनाथ ग्रन्थ-भाण्डार अलियूर एवं सिद्धान्त बसदि मूडबिद्री आदि ग्रन्थागारों के ताड़पत्रीय ग्रन्थों की सविवरण नामावली है। सिद्धान्त, अध्यात्म, धर्म, योगशास्त्र, प्रतिष्ठा, व्रतविधान आराधना, न्याय तथा दर्शन, व्याकरण, कोश, काव्य, नाटक, अलंकार, छन्दःशास्त्र, नीति तथा सुभाषित, पुराण, चरित्र, कथा, इतिहास, आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित-शास्त्र, मन्त्रशास्त्र, लोक विज्ञान, शिल्पशास्त्र, लक्षण, समीक्षा, पाकशास्त्र, क्रियाकाण्ड, स्तोत्र, भजन तथा गीत एवं प्रकीर्णक विषयिक ग्रन्थों की अकरादि क्रम से सूची दी गई है। इसमें ३५३८ ग्रन्थों की संक्षिप्त परिचय सहित अनुक्रमणिका है तथा लगभग १२५ ऐसे अप्रकाशित ग्रन्थों का नामावली दी है, जो जैन साहित्य की अमूल्य निधि हैं। सम्पादक की प्रस्तावना महत्त्वपूर्ण और मौलिक है, इसमे जैन साहित्य का सामान्य आभास मिल जाता है।

भारतीय ज्ञानपीठ काशी ने दक्षिण प्रान्तीय भाण्डारों की ग्रन्थ तालिका का यह प्रथम भाग तैयार कराकर जैन साहित्य का महान् उपकार किया है। क्योंकि जैन साहित्य के प्रमुख निर्माताओं ने दक्षिण प्रान्त को ही गौरवान्वित किया है। दि० जैन साहित्य की शुद्धतम प्रतियाँ दक्षिण के शास्त्रागारो में ही वर्तमान हैं। वहाँ प्रत्येक मन्दिर में ही श्रुत देवता की निधि वर्तमान नहीं है, प्रत्युत कुछ व्यक्तियों के पास भी वाङ्मय के अमर रत्न हैं; जिनके अन्वेषण की नितान्त आवश्यकता है। प्रस्तुत अनुक्रमणिका में प्रत्येक ग्रन्थ के सम्बन्ध में कर्त्ता का नाम, पृष्ठ संख्या, प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या, प्रति पंक्ति अक्षर संख्या, लिपि, भाषा, विषय, लेखन काल, दशा, पूर्ण-अपूर्ण, शुद्ध-अशुद्ध आदि बातें दी गई हैं, जिससे पाठक प्रत्येक ग्रन्थ के सम्बन्ध में सामान्य परिचय प्राप्त कर सकता है। तालिका निर्माण में अच्छा परिश्रम किया गया है, कुछ ग्रन्थों के मंगलाचरण भी दे दिये गये हैं। अनुक्रमणिका को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने में कोई बात उठा नहीं रखी है।

इस सुन्दर और उपयोगी प्रकाशन के लिये ज्ञानपीठ तथा सम्पादक धन्यवाद के पात्र हैं। प्रत्येक मन्दिर में इसे मगाना चाहिये, जिससे प्रकाशकों को प्रोत्साहन हो और इस तालिका का द्वितीय भाग तैयार कराया जाय। चीज निस्सन्देह अच्छी है, इस एक ही ग्रन्थ से ४००० ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अन्तरंग के समान इसका बाह्य कलेवर भी रमणीय है। साहित्य-प्रेमियों को इससे लाभ उठाना चाहिये।

मदनपराजय [हिन्दी अनुवाद सहित]—रचयिताः कविवर नागदेव, सम्पादकः प्रो० राजकुमार जैन साहित्याचार्य, प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ काशी, पृष्ठ संख्याः ८४+१४८, मूल्यः आठ रुपये।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रो० राजकुमार की ७८ पृष्ठ की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना है, जिसमें आपने भारतीय आख्यान-साहित्य को धर्मकथा, नीतिकथा, लोककथा और रूपात्मक आख्यान इन चार भागों में विभक्त किया है। धार्मिक कथा साहित्य का वैदिक, बौद्ध और जैन इन तीनों सम्प्रदायों के अनुसार अच्छा ऐतिहासिक वर्णन किया है तथा धर्मकथाओं के विकास को बतलाते हुए जीवन के साथ उनका अनुस्यूत सम्बन्ध बतलाया है। शेष तीन प्रकार के आख्यान साहित्य का भी विकासक्रम की दृष्टि से सुन्दर विवेचन किया है।

प्रस्तावना के अगले अंश में मदन पराजय ग्रन्थ की कथा, उसका आलोचनात्मक परिचय, पात्रों का समीक्षात्मक चरित्र चित्रण, रूपकयोजना, ग्रन्थ की भाषा एवं अन्य रूपकों में प्रस्तुत ग्रन्थ का स्थान, नागदेव कवि का परिचय आदि विषयों का समावेश बड़े सुन्दर ढंग से किया है।

अनुवाद अच्छा हुआ है, पाठक भाषानुवाद पर से मूल ग्रन्थ को हृदयंगम कर सकते हैं। पारिभाषिक और विशेष शब्दों के अर्थ को अवगत करने के लिये अकारादि क्रम से एक कोश दिया है, जिसके सहारे संस्कृत भाषानभिज्ञ भी ग्रन्थ के भाव को सरलता पूर्वक समझ सकते हैं। ग्रन्थ को सर्वाङ्गीण सुन्दर बनाने का प्रयास प्रतिभा-शाली, विद्वान सम्पादक का प्रशंसनीय है। छपाई, सफाई और गेटप अत्यन्त सुन्दर है। पाठकों को इसे मंगाकर स्वाध्याय करना चाहिये।

कर-लक्खण [सामुद्रिक शास्त्र]—सम्पादक, प्रो० प्रफुल्लकुमार मोदी, एम० ए०, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी, पृष्ठ संख्याः १४+२२, मूल्यः एक रुपया।

इस ग्रन्थ में ६१ प्राकृत की गाथाएँ हिन्दी अनुवाद सहित दी गई है। यह सामुद्रिक शास्त्र की एक छोटी-सी रचना है, इसमें अंगुली और नखों की परीक्षा, मणिबन्ध,

विद्या, कुल, धन, ऊर्ध्व, सम्मान, समृद्धि, आयु, सहोदर-सहोदरा, सौभाग्य, धर्म, व्रत, मार्गण आदि विभिन्न रेखाओं के फलों का निर्देश किया गया है। छोटी-सी कृति में अनेक विषयों का समावेश रचयिता के तज्ज्ञ होने का समुज्ज्वल प्रमाण है। इस रचना के आरम्भ मे डा० ए० एन० उपाध्ये का प्राक्कथन संक्षिप्त और मौलिक है, आपने सामुद्रिक शास्त्र की परिभाषा और उसके पूर्वत्य-पाश्चात्य ढाँचे में अन्तर थोड़े ही शब्दों में बता दिया है। सम्पादक की प्रस्तावना भी ग्रन्थ-परिचयात्मक है, इससे साधारणतया विषय का ज्ञान हो जाता है।

अनुवाद मूलानुगामी है, पर इसमें विषय को स्पष्ट करने के लिये हाथ के चित्रों का न देना विषय समझने मे अड़चन डालता है। सामुद्रिक शास्त्र का ज्ञान परिभाषाओं के आधार से कदापि नहीं किया जा सकता है, चित्रों के आश्रय से विषयानभिज्ञ भी इस विषय को समझ सकता है। इसके सिवा एक कमी यह भी रह गई है कि विषय को बिल्कुल स्पष्ट नहीं किया गया है। अन्य सामुद्रिक ग्रन्थों का आधार लेकर यदि प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण किया जाता तो पाठकों को अधिक लाभ होता। अभी तक जैन ज्योतिष शास्त्र के अनेक ग्रन्थरत्न अप्रकाशित पड़े हैं, आज की जैन प्रकाशन संस्थाओं का ध्यान इस ओर नहीं के बराबर है। ज्ञानपीठ ने इस साहित्य के प्रकाशन का श्रीगणेश किया है, इसके लिये अधिकारी वर्ग साधुवादार्ह हैं। ग्रन्थ की छपाई-सफाई अच्छी है, अनेक त्रुटियों के रहने पर भी अपने भविष्य फल के जानने के इच्छुक व्यक्तियो को इसे मंगाकर स्वयं अपने सम्बन्ध में भावी शुभाशुभ का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। सामुद्रिक शास्त्र से बिना जन्मपत्री के मात्र हस्तरेखाओं से अपने भविष्य को ज्ञात किया जा सकता है।

कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न [पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार का विषय परिचय]—लेखकः गोपालदास जीवाभाई पटेल, अनुवादकः शोभाचन्द्र-भारिल्ल, प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृष्ठ संख्याः १४२, मूल्यः दो रुपये।

प्रस्तुत रचना में श्री कुन्दकुन्दाचार्य के प्रमुख तीन ग्रन्थ—पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार का सार व्यावहारिक और आध्यात्मिक दृष्टि से संक्षिप्त और नपे-तुले शब्दों में वर्णित है। यह मूल पुस्तक गुजराती में लिखी गई थी, लेखक ने पारिभाषिक और कठिन स्थलों को पादटिप्पणों द्वारा स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। अनुवादक श्री भारिल्लजी ने परिश्रम कर हिन्दी भाषा-भाषी जनता के लिये इसे उपस्थित कर बड़ा उपकार किया है। इस पुस्तक के आधार से निश्चय नय और

व्यवहार नय के स्वरूप को पाठक आसानी से समझ सकते है, तथा जीवन में इन दोनों का प्रयोग कर उसे उन्नत और विकसित कर सकते है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में श्री बा० लक्ष्मीचन्द्र जैन एम० ए० के द्वारा लिखा गया एक वक्तव्य है, जिसमे आपने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को समझाया है। पश्चात उपोद्घात के प्रारम्भ मे आचार्य कुन्दकुन्द की जीवनी और उनकी रचनाओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। आगे चलकर व्यवहार खण्ड मे द्रव्य की व्याख्या, गुण-पर्याय का विवेचन, छहकाय के जीव, आत्मा का स्वरूप, कर्मबन्धन, सर्वज्ञता, चारित्र आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय पारमार्थिक खण्ड में ज्ञान और आचरण का निरूपण बहुत सुन्दर ढग से किया है। वास्तव मे इस रचना से जैनधर्म के मोटे सिद्धान्तों का ज्ञान थोड़े श्रम से प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञानपीठ ने इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर स्वाध्याय प्रेमियों के लिये ज्ञानवर्द्धन का अच्छा साधन उपस्थित किया है। छपाई-सफाई अच्छी है, ज्ञान-पिपासुओं को मगाना चाहिये।

वर्णी-वाणी [**पं० श्री गणेशप्रसाद** जी वर्णी के विचारों का संकलन]—संकलयिता और सम्पादक वि० 'नरेन्द्र' जैन प्रकाशक भा० साहित्य-साधना समिति, जैन विद्यालय काशी, पृष्ठ संख्या: [illegible] मूल्य: [illegible] रुपया [illegible] आना।

पुस्तक के प्रारम्भ में श्री० पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री की श्रद्धांजलि है, आपने वर्णी जी के जीवन की दो-एक रश्मियों का दिग्दर्शन कराया है।

पश्चात श्री बालचन्द्र जैन विशारद ने वर्णीजी के जीवन पर संक्षिप्त प्रकाश डाला है। पुस्तक में आत्म-शक्ति, आत्मनिर्मलता, निराकुलता, रागद्वेष, परिग्रह, पुरुषार्थ धर्म, त्याग की महिमा, मोक्षमार्ग, भक्ति का रहस्य, चारित्र का फल, श्रद्धा, मानवता, शान्ति, स्वदेश, स्वोपकार परोपकार आदि विषयों पर वर्णीजी के विचारों का संकलन किया गया है। वास्तव मे वर्णीजी का लोकोत्तर व्यक्तित्व महान है, उनकी अन्तरात्मा से निकले हुए प्रवचन संसारी प्राणियों के लिये अत्यन्त कल्याणकारी है। श्री नरेन्द्रजी ने पूज्य वर्णीजी के वचनामृतों का संकलन कर मानव समाज का महान उपकार किया है, जो व्यक्ति वर्णीजी के समक्ष नहीं रहते, वे भी उनके इस संकलन से जीवन में सम्बल प्राप्त कर सकेंगे। यह केवल जैनों की वस्तु नहीं, प्रत्युत मानव मात्र के लिये स्वास्थ्यकर है। इस उपयोगी और सफल प्रकाशन के लिये संग्राहक और प्रकाशक धन्यवाद के पात्र है। हर्ष तो इस बात का कि स्या० वि० काशी के छात्र श्री० पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री के तत्त्वावधान मे ज्ञानार्जन के साथ-साथ

साहित्य सेवा की ओर भी प्रवृत्त हो रहे हैं; यह जैन ज्ञान-ज्योति के संवर्द्धन और प्रसार का शुभ लक्षण है। हम इस सर्वाङ्गीण सुन्दर प्रकाशन के लिये साहित्य-साधना-समिति की कलाभिरुचि का स्वागत करते हैं। गेटप, छपाई-सफाई आदि निहायत सुन्दर और आकर्षक हैं।

नेमिचन्द्र शास्त्री

जैनधर्म—लेखकः श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, काशी, प्रकाशकः भा० दि० जैन संघ चौरासी, मथुरा, पृष्ठ संख्याः ७+८+३७२, मूल्यः चार रुपये।

इस उपयोगी और महत्त्वपूर्ण पुस्तक की भूमिका संयुक्तप्रान्तीय शिक्षा-विभाग के मंत्री बा० सम्पूर्णानन्दजी ने लिखी है। आपने इस पुस्तक के सम्बन्ध मे प्रकाश डालते हुए इसे जैनधर्म के ज्ञान के लिये अतीव उपयोगी बतलाया है। इसमें जैनधर्म के इतिहास, दर्शन, आचार, साहित्य, पन्थ, पर्व, तीर्थ-क्षेत्र आदि विषयों पर समुचित प्रकाश डाला गया है। यह पुस्तक पांच खण्डों मे विभक्त है—प्रथम खण्ड में जैनधर्म का सांस्कृतिक इतिहास, द्वितीय में जैन दर्शन के अनेकान्त, द्रव्य व्यवस्था, ईश्वर, सृष्टि का कर्म-सिद्धान्त की मीमान्सा, तृतीय मे श्रावकाचार और मुन्याचार का विस्तृत विवेचन, चतुर्थ मे दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य के दर्शन, व्याकरण, आचार, काव्य, ज्योतिष, शिल्प प्रभृति विभिन्न अंगों का समुल्लेख, एवं पंचम मे जैन संघ, सम्प्रदाय, दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरहपन्थ, बीसपन्थ, तारण-पन्थ, जैनधर्म, जैनेतर धर्म जैनधर्म की इतर धर्मों मे तुलना तथा अन्तर इत्यादि बातों का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। वास्तव मे यह पुस्तक जैनधर्म के सम्बन्ध में सर्वाङ्ग पूर्ण है, इसे किसी भी अजैन विद्वान के हाथों में देने पर गौरव का अनुभव होता है। आजका पाठक आलोचनात्मक ढंग से जिस चीज को पाना चाहता है, इसमें पा लेता है। इस पुस्तक के आद्योपन्त पढने से लेखक की जैन दर्शन विषयक अलौकिक विद्वत्ता एवं जैन इतिहास विषयक असाधारण निपुणता का पर्याप्त परिचय मिल जाता है।

आजके लेखक को जिस संयम और नियन्त्रण की आवश्यकता होती है, प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में उसका पूर्णतः निर्वाह है। इसीलिये पुस्तक में अनावश्यक विस्तार नहीं है। निस्सन्देह अबतक इस सम्बन्ध मे लिखी गई पुस्तकों में यह सर्वोत्तम है। पुस्तक का भाषा प्रवाह ऐसा खर है, जिससे पाठक प्रारम्भ करने पर अन्त किये बिना नहीं छोड़ सकता है, वह बरबस बीच में रोकने की इच्छा करने पर भी लुढ़कता-

पुद्कता किनारे लग ही जाता है। धार्मिक साहित्य जो कि आज की दुनिया के पाठकों के लिये उपेक्षा की चीज है, इस पुस्तक के अध्ययन से यह बात भ्रान्त सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगी। ग्रन्थ की शैली रोचक और आशु बोधगम्य है, व्यवस्थित विषय का अंकन हृदय पटल पर पढ़ते ही होता चला जाता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि इस सुन्दर और उपयोगी पुस्तक को शीघ्र हाथों हाथ खरीद कर अन्य दूसरी इस विषय की अनुपम रचना लिखने के लिये शास्त्रीजी वाध्य करें, जिससे जैन साहित्य आजके राष्ट्रीय और नैतिक साहित्य में अपना उचित स्थान पा सके। छपाई-सफाई, गेटप आदि सुन्दर है।

ब्र० चन्दाबाई जैन

राजुल काव्य—रचयिताः कवि बालचन्द्र जैन, प्रकाशकः साहित्यसाधना-समिति, जैन विद्यालय काशी। पृष्ठ १२२, छपाई-सफाई और कागज उत्तम, मूल्य १।)

पुस्तक के प्रारम्भ में श्री० ब्र० पं० चन्दाबाई जी की आलोचनात्मक विद्वत्तापूर्ण सुन्दर भूमिका है। आपने इसमें राजुल काव्य की विशेषताओं पर पूरा प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ का कथानक—"द्वारकाधीश समुद्र विजय के सुपुत्र—भगवान नेमि का विवाह, गिरि-नगर की राजकुमारी राजुल के साथ हो रहा था, बारात अभी पहुच रही थी, भगवान नेमि ने देखा और सुना कि—ये बहुत से पशु बाराती मांसाहारी राजाओं की तृप्ति के लिए लाये गये हैं। करुणा-समुद्र उमड़ा, पशुओं को प्राणदान दिया और आप साधु होने के लिए गिरिनार पर्वत चल दिये। राजुल समझाने गई और स्वयं साध्वी होगई।

भाषा सरल भाव कोमल, गुण प्रसाद, कल्पना मधुर और इतिवृत्त सचित्र है पौराणिक कथानक परिवर्त्तन से निखर उठा है, राजुल की विरह, वेदना और टीस को कवि ने बड़े सुन्दर ढग से अभिव्यक्त किया है।

सुकुमार काव्याङ्गों के उपयुक्त अलंकार भी हैं। कहीं २ "विचर रहे" "विसार रहे" "अवरोध हुआ" आदि मे अनुप्रास या तुकबन्दी का पालन नही हुआ। "हास औ प्रति (!) हास" (७७ पद्य) "किन्तु स्मरण (!) भी" "मैं न (!) मानू (६४ पद्य) आदि में मात्राओं की कमी, "तुम्हारे (!) का क्यों प्रेमी मानूं" "पद्म की—अनुगामी (!) व्याकरण-विरुद्ध, "परिणीत कियानूने (!) मुझको, "अधिकार कहां तुझको (!)" आदि मे एक बचन-प्रयोग सौन्दर्य-विरूपक हैं, तथापि प्रथम प्रयास में ही कवि बहुत कुछ

सफल हुआ है। राजुल के त्याग और आत्म-सम्मान को कवि महिलाओं में लाने के लिए अनुप्राणित हुए हैं और "नारी तो तन, मन, जीवन दे" नारी न कभी इतनी ओछी होती जितना नर बन जाता" आदि पद्यों को उन्होंने लिखा है परन्तु भगवान् नेमी के उच्च आदर्श को "जितना ओछा नर बन जाता" कह कर विरुद्ध—अर्थ प्रतिपादन किया है। हम कवि और उनकी कलम के प्रति शुभ कामना रखते हैं। रचना सरस, सुन्दर और हृदय स्पर्शी है। इसका अधिक प्रचार होना आवश्यक है।

महेन्द्रकुमार काव्यतीर्थ

भाग्यफल [भाग्य-प्रकाशक मार्त्तण्ड] —ले० पं० नेमिचन्द्रशास्त्री, ज्योतिषाचार्य; प्रकाशक: कान्तकुटीर आरा; पृष्ठ संख्या: १३१, मूल्य: सजिल्द एक रुपया दस आना, अजिल्द एक रुपया आठ आना।

जिसके पास जन्मपत्री नहीं है, वे व्यक्ति भी अपने शुभाशुभ फल को इस पुस्तक के आधार से जान सकते हैं। लेखक ने इसमें भारतीय ज्योतिष के अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधारपर स्वभाव, चरित्र, विवाह, आय-व्यय, सन्तान, रोग, उन्नति, अवनति, मृत्यु आदि विभिन्न बातों का सुन्दर प्रतिपादन किया है। साधारण जनता भी केवल अपने उत्पत्ति के महीने से ही सारे फलादेशों को अवगत कर सकती है। पुस्तक की शैली रोचक, और आकर्षक है। वास्तव में लेखक ने इस पुस्तक के द्वारा हिन्दी में ज्योतिष विषय का सृजन करके हिन्दी भाषा-भाषी जनता का उपकार किया है। देश को आज राष्ट्र भाषा में विभिन्न प्रकार के साहित्य की नितान्त आवश्यकता है। ज्योतिष भारत वर्ष का प्राचीन विज्ञान है, आज इसका प्रचार हिन्दी में अवश्य होना चाहिये। यह पुस्तक नितान्त उपयोगी है, साधारण जनता के काम की है, इससे साक्षर या निरक्षर सभी प्रकार के व्यक्ति अपने भाग्य को बिना ज्योतिषी के अपने आप जान सकते हैं। फल प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार से लिखा गया है और आशा है कि बिल्कुल यथार्थ घटेगा। छपाई-सफाई अच्छी है, भाषा साहित्यिक है। पाठकों को इसे मगाकर अपना फल स्वयं ज्ञात करना चाहिये।

तारकेश्वर त्रिपाठी, ज्योतिषाचार्य

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा का वार्षिक विवरण

[२५-५-४७—११-६-४८]

वीर संवत् २४७३ ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी से वीर संवत् २४७४ ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी तक 'भवन' के सामान्य दर्शक-रजिस्टर में ७१५४ व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये हैं। इधर जबसे भारत को स्वातन्त्र्य की प्राप्ति हुई है, समाचार-पत्र पढ़नेवालों की संख्या बढ़ती जा रही है। नगर के मध्य में 'भवन' के रहने से समाचार-पत्रों के पढ़नेवाले पाठक अधिकाधिक संख्या में आते हैं, इनमें से अधिकांश ऐसे भी हैं जो दर्शक रजिस्टर में हस्ताक्षर नहीं करते; अतः इस प्रकार की कृपा करनेवाले व्यक्तियों की संख्या भी हस्ताक्षर करनेवाले व्यक्तियों से कहीं अधिक है।

विशिष्ट दर्शकों में श्रीमान् वाई० जी० पद्मराजैय्या, प्रोफेसर महाराज कालेज मैसूर, श्रीमान् पं० जनार्दन मिश्र वेदाचार्य डुमरांव, श्रीमान् पं० रामव्यास ज्योतिषाचार्य, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी; श्रीमान् एम० बी० इन्सपेक्टर पंजाब नेशनल बैंक; श्रीमान् सी० बूलके रिसर्च स्कालर इलाहाबाद यूनीवर्सिटी; श्रीमान् प्रो० पी० खुशाल जैन एम० ए० साहित्याचार्य काशी एवं बाबा राघवदास आदि विद्वानों के नाम उल्लेख योग्य हैं। इन विद्वानों ने अपनी शुभ सम्मतियों द्वारा 'भवन' की सुव्यवस्था और उसके संग्रह की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। 'भवन' के प्राचीन मूल्यवान् संग्रह का विवरण विश्वमित्र और आर्यावर्त दैनिक पत्रों में भी प्रकाशित हुआ है।

प्रकाशन:—'भवन' के इस विभाग से 'जैन सिद्धान्त भास्कर तथा जैन एन्टीक्वेरी' का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा। 'भास्कर' उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता जा रहा है, इसके भाग १४ के सम्बन्ध में प्रो० सुरेन्द्रनाथ घोषाल, प्रो० जगन्नाथराय शर्मा, और श्रीमान् तेजनारायणलाल सदाकत आश्रम पटना ने अपनी महत्त्वपूर्ण सम्मतियाँ भेजी हैं। आप लोगों ने भास्कर की ठोस सामग्री की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसे जैन इतिहास का एक उपयोगी ग्रन्थ बतलाया है।

परिवर्तन:—इस वर्ष भी प्रतिवर्ष के समान 'भवन' के प्रकाशन से परिवर्तन में ग्रन्थ लिये गये। निम्नलिखित पत्र पत्रिकाएँ भी 'भास्कर' के परिवर्तन में आती रही हैं—

हिन्दी—(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (२) सम्मेलन पत्रिका (३) साहित्य सन्देश (४) अनेकान्त (५) विज्ञान (६) आजकल (७) शिक्षा (८) वैद्य (९) हिमालय (१०) जिनवाणी (११) जनवाणी (१२) संगम (१३) जैन महिलादर्श (१४) दिगम्बर जैन (१५) आरोग्य (१६) आत्मधर्म (१७) जैन जगत (१८) जैन बोधक (१९) वीर-वाणी (२०) महावीर सन्देश (२१) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु (२२) वीर (२३)

भारतीय समाचार (२४) वीर लोंकाशाह (२५) जैन मित्र (२६) जैन सन्देश (२७) जैन गजट (२८) जयहिन्द—दैनिक का साप्ताहिक विशेषाङ्क (२९) भविष्य फल।

गुजराती—जैन सत्यप्रकाश

कन्नड़—(१) जयकर्णाटक (२) शरण साहित्य (३) विवेकाभ्युदय।

तेलगु—आन्ध्र साहित्य परिषद् पत्रिका।

अंग्रेजी—(1) Annalas of the Bhandarkar oriental research istitute Poona (2)The journal of the university Bombay. (3)Karnatak historical revew (4) The Adhyar library bulleten (5) The journal of the United province historical society. (6) The journal of Annamalia university. (7) The Poona orientalist (8) The quarterly of my wic society. (9) (10) The journal of the Rayalasiatic society of Bengal. (11) The journal of the Royalasiatic society of Bombay. (12) The Fergusson Cellege magazin (13) The journal of the Bihar and Orissa research society (14) The journal of the Benares Hindu university. (15) The Andhra university college magazine and chronical (16) The journal of the Sindh historical society. 17) The journal of tanjore saraswati library (18) The Bombay theosophical bulletin. (19) The Jain jezele (20) The Indian litrary review (21) The Journal of the Ganganath Jha research institute Allahabad. (22) The Brahim bidya (23) Himalayan times

इस प्रकार भास्कर के परिवर्तन में कुल ५७ पत्र-पत्रिकाएँ आती रही हैं। इनके अतिरिक्त the Indian historical quarterly (२) विशाल भारत (३) सरस्वती (४) साप्ताहिक समार (५) दैनिक समार (६) आज (७) सन्मार्ग (८) विश्वमित्र (९) आर्यावर्त (10) The Searchlight (11)The Indian nation (12) भारत (१३) लीडर ये पत्र मूल्य देकर 'भवन' में मँगाये जाते रहे है।

पाठक—भवन के सामान्य पाठक वे हैं, जो भवन मे ही बैठकर अभीष्ट ग्रन्थों का अध्ययन करते है। क्योंकि सर्वसाधारण जनता को ग्रन्थ घर ले जाने के लिये नहीं मिलते। इन पाठकों के अतिरिक्त विशेष नियम से कुछ लोगों को घर ले जाने के लिये भी ग्रन्थ दिये गये है। इन ग्रन्थों की इस वर्ष की संख्या ४५२ है। इनमें स्थानीय व्यक्तियों के अतिरिक्त श्रीमान् प० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री स्याद्वाद विद्यालय काशी; श्रीमान् प्रो० गो० खुशाल जैन एम० ए०, साहित्याचार्य काशी विद्यापीठ बनारस, श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त-शास्त्री वर्णी-ग्रन्थ माला काशी, श्रीमान् बा० कामताप्रसादजी जैन एम० आर० ए० एस०, श्रीमान् डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए०, डी० लिट् कोल्हापुर; श्रीमान् रामसिंह तोमर एम० ए० रिचर्स स्कालर शान्तिनिकेतन बंगाल; श्रीमान् अगरचन्द्र नाहटा बीकानेर;

श्रीमान् प्रो० शेषय्यंगार एम० ए० मद्रास यूनीवर्सिटी, श्रीमान् कविवर रामधारीसिंह 'दिनकर' पटना; श्रीमान् बा० रामबालक प्रसाद पटना; श्रीमान् रजनीकान्त शास्त्री बक्सर; श्रीमान् उमाकान्त प्रेमचन्द शाह घड़ियालीपोल, बड़ोदा; श्रीमान् प्रो० राजकुमार साहित्याचार्य बड़ौत; श्रीमान् पं० परमानन्द शास्त्री, वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा; श्रीमान् सी० बूलच्छे जर्मन स्कालर इलाहाबाद यूनीवर्सिटी।

संग्रह—पूर्ववत् इस वर्ष भी मुद्रित संस्कृत, प्राकृत, मराठी, गुजराती एवं हिन्दी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं के ५० ग्रन्थ और अंग्रेजी के १०, इस प्रकार कुल ६० ग्रन्थ संग्रहीत हुए।

'भवन' को इस वर्ष ग्रन्थ प्रदान करनेवालों में दिगम्बर जैन स्त्री समाज आरा, श्रीमान् बा० हेमेन्द्रचन्द्र जैन आरा एवं व्यवस्थापक आर्चलोजिकल मैसूरु आदि के नाम उल्लेख योग्य हैं।

समालोचनार्थ प्राप्त ग्रन्थ—(१) महाबन्ध (महाधवल-सिद्धान्त-शास्त्र) (२) दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ (३) हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त जैन इतिहास (४) आत्म समर्पण (५) आधुनिक जैन कवि (६) मुक्तिदूत (७) पथचिन्ह (८) षट्खण्डागम (धवला टीका ८ वीं जिल्द) (९) मदन पराजय (१०) करलक्खण (११) कन्नड़ प्रान्तीय ताड़पत्रीय ग्रन्थ-सूची (१२) कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न (१३) तत्त्वार्थ सूत्र (१४) मोक्षमार्ग प्रकाश (१५) जैनधर्म (१६) वर्णी वाणी (१७) राजुलकाव्य (१८) भाग्यफल।

साहित्यिक और धार्मिक सभाएँ—आरा नगर में भवन के जैसा विशाल और सुरम्य दूसरा प्राङ्गण नहीं है, इसलिये इस प्राङ्गण में सांस्कृतिक एवं साहित्यिक समारोह प्रायः प्रत्येक महीने में होते रहते हैं। श्रुतपंचमी और महावीर-जयन्ती इन धार्मिक समारोहों के साथ-साथ शाहाबाद जिला-हिन्दी-साहित्य सम्मेलन और सांस्कृतिक जागरण समिति के नैमित्तिक समारोह भी होते रहे। शाहाबाद जिला-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से तुलसी जयन्ती का समारोह इस भवन में ऊँचे पैमाने पर मनाया गया था, जिसमें बाहर के विद्वान् भी सम्मिलित हुए थे।

इस वर्ष लगभग दो सहस्र रुपये व्यय करके 'भवन' की पूरी विल्डिग पर 'रंग' करा दिया गया है तथा अलमारियोंपर पालिस भी करा दी गयी है; जिससे भव्य भवन की शोभा और भी अधिक बढ़ गयी है।

देवाश्रम, आरा
१२-६-४८

चक्रेश्वर कुमार जैन
बी० एस-सी०, बी० एल०
मंत्री, श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XIV JULY, 1948. No. I

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. G. Khushal Jain, M. A., Sahityacharya.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY.
ARRAH, BIHAR. INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs 1/8

CONTENTS.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"
[अकलंकदेव]

Vol. XIV No. I — ARRAH (INDIA) — July 1948

MOHEN-JO-DARO ANTIQUITIES & JAINISM.

By

Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.

Mohenjodaro antiquities mark an epochmaking discovery in regard to the civilisation of India. It pushes back the beginning of our historical data by thousands of years, but it is not sound to consider the Indus civilisation as pre-Aryan or non-Indian. We have reasons to believe that Indus civilisation is a creation of Aryans, whose home was nowhere else than India. To wit in the words of Prof. Humayun Kabir, "there have been scholars who doubt whether Mohenjodaro represents a pre-Aryan culture at all. They believe that India was the original home of the Aryans and Mohenjodaro marks only an early stage in the development of Aryan culture."[1] Ofcourse the Aryans, who created the high level of civilisation in Indus valley, were not of Vedic pursuasion. Sir John Marshall was emphatic on the point when he remarked that "a comparison of the Indus and Vedic cultures shows incontestably that they were unrelated......The Vedic religion is normally aniconic. At Mohenjodaro

1. *Humayun Kabir*, 'Our Heritage (Bombay), p. 12.

and Harappa iconism is everywhere apparent. In the houses of Mohenjodaro the fire pit is conspicuosily lacking"[2] However it has been pointed out somewhere that a reference to the image of Indra is traceable in Rigveda, but it certainly does not establish the fact that iconism was in vogue among the Rigvedic people, as it was within the folds of Indus valley[3] At any rate the Vedic people never worshipped and made such images of Yogis as are found at Mohenjodaro. Viewing the numerous seals, terracotta figures and icons of the Mohenjodaro and Harappa antiquities, which form the concrete evidence to determine about the religious belief of the people, one finds a parallel line of two streams of human thought working among the Indus people. One section of people was not highly civilised. It observed premitive ideas and conventions and had little regard for Ahimsa, They worshipped Shiva Linga, Mother Goddess & trees and offered goats to them in sacrifice Shiva as a deity is obscure in Vedic literature. Reference to Rudra does not signify the prevalance of Shiva worship in the Rigvedic society. Rather the Rigvedic people were antigonastic towards those who worshipped Shishnadeva (phallus) as deity[4] Thus Mohenjodaro people of the non-Ahimsa persuasion were not related with the Aryans of Rigvedic culture But at the sametime in contrast to these people, there existed a more civilised and cultured society of people at Mohenjodaro, who were true followers of Ahimsā and Yoga. They observed Yogadharma and their Yogis lived a life of abstinence and penance, which was more akin to the religious observance of a Jaina Yogi There are reasons to believe that they were followers of Rishabha cult of yore, which afterwards came to be known as Jainism

Regarding the racial affinity of the Mohenjodaro people, it is said that they were either connected with Sumerians or came from Dravidian stock. Prof Pran Nath deciphired a copperplate grant

---

2. *Sir John Marshall*, Mohenjo-daro, Vol. I. pp. 110-111
3. cf. 'मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः'—ऋग्वेद, ७।२१।५
'स वाजं याता पदुष्पदा यन्त्स्वर्षाता परिषदत् सनिष्यन्।
4. अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्नदेवाँ अभिवर्पसा भूत्॥
—ऋग्वेद १०।९९।३

of the Babylonian king Nebuchadnezzar I (circa 1140 B. C) found in Kathiawar, which disclosed that that king belonged to Sumer tribe and was the lord of Rewānagar Nebuchdanezzar is mentioned in it, as to had visited Mt Revata and paid homage to Tirthankara Nemi[5] According to certain Indian opinion the Sumerians originally belonged to Surashtra tract of India and their religion was akin to Jainism.[6] It shows that Sumerians were not totally unacquainted of Jainism, rather they betray Jaina influence in their early beliefs. Hence if Sumerians were concerned with Indus civilisation then it is not strange to find similarities between the Jaina and Indus people observances.

But the general tendency of the scholars is towards the hypothesis that the Indus people were of Dravidian stock. In this respect Western scholars uphold that Dravidians were not Aryans and came from Tūrāna But Indian tradition regards them as Ksatriyas, who were degraded to Vrasalahood owing to having remained out of touch of Vedas and Brahmanas. It shows that although these Dravidians were Ksatriya Aryans, but they were not the followers of the Vedic religion Manu makes them along with Lichhavi Jnātra and other Kṣatriyas as Vrālyas[7], who again can be the Jainas and none else[8] The Jaina tradition too, claims that the progeny of Prince Dravida who was the son of Rishabha, the first Tirthankara, came to be known as Drāviḍas and there had been prince-ascetics, known as Dravida Narindas in to Jain tradition, who are worshipped even today by the Jainas.[9] It is evident also from Tholkappyam the ancient grammar of the Tamils that the Dravidians were equally civilised like Aryans and were acquainted with the tenets of Jainism[10] Jainism played an important role among the Dravidians So rightly remarks Major General J G,R

5 'Times of India', 19th March, 1935, p 9 & "जैन" (गुजराती) भा०
—३५ अंक २ पृ० २

6. 'विशालभारत' भा० २८ पृ० ६३२

7. Manu.

8. *A. Chakravarti*, Jaina Gazette, Vol. XXI. pp. 6 *K P Jayaswal*,
—Modern Review, 1929, p 499.

9. Satrunjaya-mahātmya

10. Jaina Literature in Tamil (Arrah) pp. 10-14.

Furlong that "All Up or, Western, North Central India was then-say 1500 to 800 B. C. and, indeed, from unknown times—ruled by Turanians, convinient called Dravids and given to tree, serpent and Phalik worship......but there also then existed thoughout Upper India an ancient and highly organised religion, philosophikal, ethikal and severely asœtikal, viz., Jainism, out of which clearly developed the early ascetikal features of Brahmanism and Buddhism"[11] Thus Dravidians, too, were under the influence of Jainism from a very early period and as such, if they are the real founders of Indus civilisation, they would naturally betray the influence of Jainism in their creations.

The antiquities of Mohenjodaro & Harappa, if studied in keeping the above facts in view and giving credit to the Jaina tradition that Jainism prevailed long before Parsvanātha and Mahāvira betray evidence of the Jaina influence in the following aspects:—

1. *Nudity*—Nudity had been an essential characteristic of the Jaina Sramanas.[12] Rishabha, the first Tirthankara observed the vow of the nudity and his images are found as nude. People of Mohenjodaro also held nudity with esteem and as a sacred thing. Nude figures of male as well as of a certain female are found at Mohenjodaro. These figures depict personages who are but no other than Yogis.[13]

2. *Yogadharma*—A number of statuettes have been recovered at Mohenjo which are characteristic by halfshut eyes, the gaze being fixed on the tip of the nose. "These statuettes clearly indicate that ......the people of the Indus Valley in the Chalcolithic period not only practised Yoga but worshipped the images of the yogis.[14]" We are informed that "Not only the seated deities engraved on some of the Indus Seals are in Yoga posture and bear witness to the prevalence of Yoga in the Indus Valley in that remote age, the standing deities on the seals also show Kayotsarga posture of Yoga

11. Short Studies in the Science of Comparative Religions, pp 243-4.
12. 'Nudity of the Jain Saints by C R Jain (Delhi)
13. Mohenjodaro, Vol I pp 33-34
14. Survival of the Pre-historic Civilisation of the Indus Valley. (Memoir of the Arch: Survey of India)

.. ...A standing image of Jina Rishabha in Kayotsarga posture on a stele showing four such images assignable to the second century A. D. in the Curzon Museum of Archaeology, Mathura (was reproduced in the "Modern Review" for August 1932). It will be seen that the pose of this image closely resembles the pose of the standing deities on the Indus seals ...The name Rishabha means bull and the bull is the emblem of Jina Rishabha. The standing deity figured on seals three to five (pl. II) with a bull in the foreground may be the proto-type of Rishabha"[15] In the Digambara Jaina text ADIPURANA, (Book xxi) a full exposition of Dhyana (Meditation) is given and in it there is an instructive account of the Yoga postures. Regarding the pose of the eyes it is stated in it (xxi, 62) "Natyunisan na catyamtam nimisan"— 'Neither keeping the eyes wide open nor totally shutting them up' As to Yoga postures, the author of Adipurana (xxi 71) writes: with the mind distracted, how can one practise Dhyana? Therefore the easy postures Kāyotsarga and Paryank' are desirable other postures are painful" This Kāyotsarga (dedication of body in standing) posture is pecularily Jaina Hence it is most probable that the people of Indus Valley followed the Yoga cult of Tîrthankara Rishabha, who according to the Hindu Purāna was responsible to introduce the Yoga system of Paramhaṃsa type and was counted as eighth Avatār of Vishnu.[16]

3 *Adorable Deities*—Apart from the Mother Goddess & phallus worship the people of Indus adored some other deities, which can be traced in the figures on seals Prof. Pran Nath deciphired the inscription of the Indus seal No 449 and he read on it the word 'Jinesvara" (जिनइइसरः)[17], which is a peculiar term by which a Jaina Tîrthankara is known. It points out that worship of Jaina Tîrthankaras was not obscure at that period. Besides this, Prof. Prān Nāth was of opinion that Indus people worship such Tantrik deities as Śrî, Hṛî, Klîm etc.[18] In the Jain pantheon Śrî, Hṛî Dhrati, Kirti, Buddhi and Lakshmi are important female deities.[19] Hence we

---

15. *R. P. Chanda*, Modern Review, August 1932, pp 155-160
16. Bhāgavata,
17. Indian Historical Quarterly, Vol VIII Supplement, p. 18.
18. Ibid .
19. Tattwārthdhigama-Sūtra,

think Prof. Pran Nath was right to remark that "the names and symbols on plates annexed (IHQ. viii, supl) would appear to disclose a connection between the old religious cults of the Hindus and Jainas with those of the Indus people .... It is interesting to note that the Puranas and the Jaina religious books both assign high places to these gods (of the Indus people)."[20]

4. *Mode of worship*—There is nothing to show the mode of worship, which the people of Indus Valley observed But, however, a certain vessel similar to those used in Jaina temples for Ārati ceremony were found at Mohenjodaro,[21] which indicates that Indus people observed the Arati worship like Jainas.

5. *Sacred Symbols*—Mohenjodaro seals and tablets contains representations of the bull, buffalo, rhinoceras, tiger, elephant, crocodile, goat, svastika and tree. Animals portrayed on these seals, whether mythical or real, had some sacred or magical import in the eyes of their owners[22] Those are the very representations which are found on the images of the Tirthankaras as their respective emblems.[23]

6. *Traditional Data*—Details of the impressions on the Indus seals reveal the traditional data vogue among the people. Seal No 1 on plate cxvi, and 7 on pl. cxviii represent six nude human figures on the obverse in the upper register, standing in a row. A kneeling figure in the lower register holds a bladed object in one hand A goat stands in front of the figures and a partly defaced tree in front of the goat There is a human figure in the centre of the tree The same scene is found on the reverse ' The scene has been interpreted as showing a priest about to sacrifice a goat to a tree-spirit"[24] But why the priest is hesitating ? And what the six Yogis have to do with the scene ? This has not been explained. I think the six nude human beings are Yogis of Rishabha cult, who proclaimed Ahimsa culture and are depicted in the impression to have influenced the priest, who is hesitating to sacrifice the goat. Such pictures are

20 Indian Hist. Quarterly' Vol VIII Supplement, pp.
21. Mohenjodaro, I, p 69
22. Ibid, p 71
23. Pratiṣṭhāsāroddhāra
24 *Law*, Ind. Hist. Qrly Vol.

seen among the Jainas. The nudity and Kāyotsarga posture of these Yogīs are essential characteristics of a Jaina Śramaṇa. In the Jaina pantheon six Chāran-Yogīs, who were Yādava princes are held in great reverence.[25] It is probable that those very Charan-Yogīs are shown here propagating the Ahinsā culture.

7. *Images*—Nude images had been unearthed at Mohenjodaro and Harappa. Image No 15 & 16 of plate xiii represents a seated image with a hood over its head. A Jaina at the very first glance will say that this image is either of Tīrthankara Supārśva or Pārśva. Images similar to it are found in abundance in the Jaina temples. An interesting terra-cotta figure also represents a man standing full front in complete nudity, (HR 5368, pl. xciv, pp II) which probably represents a naked Jaina Yogī. A statuette from Harappa (pl. x) likewise seems to represent a Jaina Yogī in Kayotsarga posture Unfortunatily this statuette is broken and its portions of head and legs are missing, yet its nudity and position of both the arms indicate that it was a representation of a Digambar Jain Yogī.

Thus viewing these similarties of Mohenjodaro antiquities, one is justified to regard Jaina tradition as concrete, which claims a hoary antiquity to its Tīrthankaras. I hope, the scholars will make thorough research in this respect.*

25 Antagada-Dasao Ahmedabad) p 10.

*Submitted to the Indian History Congress for reading in its Bombay session of Decr. 1947.

HEROES OF THE JAIN LEGENDS.

By

(Dr Harisatya Bhattacharya, M A, B L, Ph D)

Contd from Vol. XIII No II pp. 18-29.

There was a talk of Sitā's being taken back To disarm popular suspicions, Rāma proposed the ordeal of fire for Sitā. Sitā agreed. According to the Jaina account, the gods made Sitā's fire cool and when Sitā entered it,—lo! there was a beautiful tank and an extensive lotus in it, upon which Sitā was found sitting There could not be any possible objection now. But Sitā herself was disgusted with the ways of the world; so when her innocence and chastity were established beyond all possible cavils, she took initiations from Prithvimati, the bader of nuns and entered the order. The Jaina account of Prithvīmatī, the nun, initiating Sitā is scarcely less poetic, though more realistic, than Vālmiki's story of Prithvī, the mother-earth, taking her away. We need hardly remind the readers that Vālmiki's Rāmāyaña discribes Sītā's fire-ordeal as happening at Lankā, after the battle with Rāvana and her rescue

As regard the death of Rāma and Lakshmaña, the Jainas say that a god, wanting to test the affection of the two brothers for each other, came down and kept Rāma senseless He informed Lakshmaña that his brother was dead, which was more than Lakshmaña could bear Lakshmaña died. Rāma coming back to his senses became mad at the sight of Lakshmaña's corpse He carried the dead body on his shoulder for full six months on the belief that it was still alive. At last some gods convinced him of the utter futility of his act, where upon he got himself initiated into the religious order. Sugriva, Bibhīshaña, Śatrughna etc. did also the same thing Rāma attained Salvation

Perhaps the most important thing to be noticed in the Jaina version of the Rāma-story is the fact that the Rākshasas and the Vānaras there, are not conceived as beings in any way other than man They are discribed as Vidyadharas i. e., men, endowed with Vidyā or knowledge of extraordinary arts. They are also regarded

as firm believers in the Jaina cult. Ordinary people of the Brāhmaṇic faith look upon the Rākshasas as superhuman demons of man-eating and other evil habits and the Vānaras, as monkeys. But instead of looking upon them as imaginary beings like the devils of the Jewish testaments, one may feel tempted to hold that the Rākshasas and the Vānaras, at least of the Rāmāyaṇa were human beings, perhaps, with a culture and civilisation, lower than that of the pure Aryans and perhaps, of a stock, different from theirs. While giving support to this view, we may point out that the descriptions of Lankā and Kishkindhyā, which we meet with in Vālmiki's Rāmāyaṇa, do not show that the Rākshsas and the Vānaras were uncivilised barbarians. As a matter of fact, in the Vēdic Śāstras, notably in the Mahābhārata, there are indications in many places that the Rākshasas were very wise, even exceptionally pious people. There are instances, cited in the Vēdic Śāstras, where a full-blooded Indo-Aryan became a Rākshasa; there are also passages in those books to show that some of the Rākshasas were descendants of high-caste Aryans of India. All these facts go to show that the Rākshasas (and the Vānaras) of the Rāmāyaṇa were not legendary creatures of imagination but were actually human people with a culture, scarcely lower than that of the Indo-Aryans and constantly coming in contact with them. It is needless to mention that the Jaina scriptures expressly and in so many words, maintain this view,—viz, that the, Rākshasas and the Vānaras were but human beings Perhaps, the attribution of an Indo-Dravido-Aryan character to this human stock of the Rākshasas and the Vānaras may not be very wrong.

The Rākshasas, as is well known, are generally painted in darkest colours in the Brāhmaṇic literature. In Vālmiki's Rāmāyaṇa, they are described as disturbers of the sacrificial ceremonies. At many places, they are made to appear as thoroughly bad, cruel and immoral people. In the Jaina Purāṇas, as we have said already, the Rākshasas are described as believers in the Jaina faith. Considering these two accounts together, some of the present day scholars vehemently urge that the Vēdic people denounced the Rākshasas, *because they were Jainas*. One of the protagosnits of this remarkable theory goes so far as to say that the descriptions of the Rākshasas in Vālmiki's Rāmāyaṇa clearly show that they could not be other

than Jaina and that the author of the Rāmāyaṇa presented them in hideous forms, simply out of religious bigotry. Notwithstanding the attractiveness which all startling theories have, we confess we are unable to subscribe to this position. It is impossible that Jainism as a positive faith,—i e., as a religion, clearly distinguished from other religions, as in modern times,—existed in the days of the Rāmāyaṇa, so that the question of religious animosity cannot arise in the case of Vālmiki. This does not necessarily mean that Brāhmiṇism is the earlier faith from which Jainism grew up at a later determinable epoch of time We are of opinion that the religion which was prevalent in the days of the Rāmāyaṇa,—may for the matter of that, in times, earlier than the 6th or the 7th centuries B.C.—was one in which the essentials of Brāhmiṇism, Jainism and Buddhism were embedded This ancient faith, cult or religion which was conglomerate of all the three systems and various other minor persuasions which flourished in India at later times, was none of them in their full-fledged and distinctive forms but was inclusive of all, embodying the most fundamental elements of each We are supported in our contention by the testimony of the sacred literature of each of the three faiths In the Vedic Purāṇas of comparatively older ages, for instance, we do not find references to any other rival faith. The princes and the people of the various countries of India are represented as believers in the Vedic religion. Similarly, in the Buddhist legendary accounts of the pre-Buddha days, we hear only of previous Buddhas, Pratyika-Buddhas, Bōdhi-Sattvas and people, believing in Buddha. The existence of any religion, antagonistic to Buddhism,—is very seldom referred to. In the Jaina Purāṇas too, we come across accounts of Jaina sages, Jaina prophets and people, professing the Jaina faith. Very rarely, if at all, we hear of the prevalence of any other religion. The one conclusion, which seems to be irresistible, from the above accounts is that in those days the religion which was prevalent in India was an all-embracing one and that Brāmiṇism, Jainism and Buddhism, as we understand them now i.e., as distinctive faiths, exclusive of each other, did not exist. This is the reason why Rishabha, the first Jaina Tīrthaṁkara is found to have been honoured as an incarnation of Vishṇu in the Vedic literature. The place of honour accorded to each of Bharata, Sagara,

Bhagiratha, Krishña, the Pañdavas and numerous other personages in both the Jaina and the Brāhmañic literature is to be explained in this way. The denunciation of Rāvaña and his Rākshasa hordes with equal emphasis by the Jaina and the Brāhmañic sacred books can be explained in no other way. The description of Rāma as an ideal man, which we meet with in the Brāhmañic, the Jaina and the Buddhist literatures, points to the same thing. Had Jainism been a positive and distinctive religion, existing in antagonism with the Brāhmañic cult in the days of Rāma, we could not have expected to have Rāma, who is described as a Jaina in the Jaina Purāña, accepted as the best of mortals by the Brāhmañic literature; in other words, if Vālmiki be held to have been actuated in any way by a spirit of religious hatred against Jainism, we would have found him denouncing Rāma in the same way as he did the Rākshasas. The fact is that distinctive religions did not exist in India before the 6th and the 7th centuries B. C. and religious spite and bigotry cannot be attributed to Vālmiki and other writers of his age.

In this connection, we may be permitted to make a short digression and say that even at a later time when Brāhmiñism, Buddhism and Jainism began to flourish as rival faiths,—sword was very seldom resorted to by any of them to establish its supremacy. We are no doubt told that king Śaśānka of Karña-Suvarña cut off the Bōdhi-tree We are also treated with the story that the celebrated Śankarāchāryya was thrown into a cauldron of boiling oil by the Buddhist high priest. In the inscriptions of Aśōka, we get references to his discrediting the Brāhmañas Stories of religious persecutions are no doubt met with in the literature of rival faiths. We do not deny that at times and at places, there were strong feelings against a particular faith; there might have been local and temporary persecutions. But we believe, the stories of persecutions which we meet with in the religious literature of India, are mostly exaggerated. Generally speaking, there was no serious quarrel among the three faiths in India Ethics and moral practices were the same among them. The theory of Karma and the faith in re-incarnation were common. The gods, Indra etc., were admitted by all of them and the social structure also was very probably not seriously interfered with by any of the so-called protestant faiths. Under the circums-

tances, religious toleration, perfect amity abetween the faiths may be expected to have been the rule in ancient India. Religious persecutions, if there were any at all in the accepted sense of the term,—were only local and temporary. This is perhaps the reason why even at the later times i.e., after the 6th century B.C., when the three faiths of India began to flourish on independent lines,—we find the self-same kings acknowledged as the upholders of the rival faiths. King Bimbisāra, for instance, is nowhere represented as the supporter of any non-Vēdic faith in the Vēdic literature. Buddhist literature, on the contrary, shows that he was the pillar of Buddhism. In the Jaina literature, again, it is distinctly said that without Śreñika,—the Jaina name of Bimbisāra,—Jainism could not have been a flourishing faith. In the case of Chandra-gupta, Brāhmañic literature does not repudiate him as a renegade. The Buddhist literature speaks of the Buddhist Mōriya Chandra-gupta, while in Jainism the place of king Chandra gupta as a Jaina saint is very high. Emperor Aśōka similarly is claimed by each of the three faiths. Emperor Vikramāditya who defeated the Scythian hordes, is claimed by both the Brāhmañic and the Jaina people. About the Emperor Harsha-varddhana, who is described as the most glorious Buddhist monarch of the day, it is also said that he honoured the Brāhmañas and used to carry on ceremonial occasions the images of Śiva and Vishnu publicly. The Pāla kings of Bengal were of a similar religious frame of mind. All these and similar anecdotes go to show that religious animosity was a rare exception in India, even at later times when Jainism, Buddhism and Brahmañism came to be recognised as distinct faiths.

There remains only one point to be considered in connection with the Rāma-Story. Does the story represent any real historical fact? Some thinkers, both ancient and modern, contend that the Rāma-Story has only an esoteric philosophical significance. It has no basis in real facts but only shows how the human soul,—Sitā (the offspring of the earth) or Sītā, the Śakti or the creative power,—is estranged from and re-united with Rāma (the absolute Soul, the paramount reality). We are unable, we confess, to admit the soundness of this position. One may read an allegory or esoteric significance into any system of facts but that is no reason why the

facts themselves should be held to be unreal. It may not be impossible to foist an alligorical interpretation on the Rāma-Story but the question is whether this is what the authors of the Rāmāyaña intended. First of all, there is the unbroken tradition about the truth of the Rāma-Story. There are ruling princes even now in India who claim to have descended from Rāma himself. All places connected with the Rāma-Story are geographically real and well-known. There is no inherent improbability of the facts of the Rāmāyañna. Under the circumstances, one would not be unjustified in holding that the Rāma Story has atleast a core of historical truth.

The story of the Rāmāyaña, appearing in the Jaina Purāñas, points to the same conclusion. Rāma is the Para-Brahmañ, Sītā is his Māyā or Śakti or Jīvātmā; and the story of the Rāmāyaña may be interpreted as the Līlā of the All-Highest. This may be in consonance with the principles of the histic Vēdāntā philosophy. But Jainism is opposed to the Vēdānta philosophy on important points. There is no reason why Jainism would choose to glorify the Rāma-Story, if it were nothing more than an allegorical discription of Vēdāntic principles. Thus the very fact that the Jainas have respectfully embodied the Rāma story in their sacred lore is almost a proof conclusive that it is more than philosophical speculation in symbolic garb and that it may have a historical basis

The appearance of the Rāma-Story in the Buddhist literature is another fact corroborating what we have said above. We admit that in Buddhist hands, the story has been changed almost beyond recognition. We are told, for instance, by the Buddhist that Sītā was Rāma's sister. Still, the substance of the Rāma-Story, given by Vālmiki, is there The fact of Rāma being the prince of Ayōdhyā and Sītā, his consort, that of his exile and Sīta's abduction, that of Sita's recovery and Rāma's ascending the throne of Ayōdhyā are found in the Buddhist version also. Had the Rāma-Story been nothing more than a penniworth of the Vēdānta philosophy, so to say, how could we expect to find it with those substantial details in the literature of the Buddhist who] are antagonist to the doctrine of the Jivātmā and the Paramātmā ?

For essentially the same reasons as above, we are unable to subscribe to R. C. Dutt's theory that the Rāmāyaña is but an elaborate

and highly rhetorical expression in an epic poetry, of the Vedic legend of the Rain-god, Indra, delivering the bows (Rain-clouds) from Vritra who had stolen them. We may point out, *inter alia*, that Buddhism and Jainism repudiated and broke away from the Vēdās and that consequently, if we find the Rāma Story in the Buddhist and the Jaina leterature, it would certainly not be for the reason that the Rāma-Story was a symbolical representation of a Vēdic legend!

It is thus that the description of the Rāma-story in the Jaina literature helps us to arrive at important conclusions regarding many debated points of Indian history. Take, for instance, the curious theory, propounded of late, that the incident of the Mahābhārata are earlier than those of the Rāmāyaña We need not enter into the details of the arguments in support of that theory nor the ground on which it is stoutly controverted It may simply be pointed out here that the sacred literature of the Jainas unambiguously support the Brāhmañic literature and traditions in holding that the exploits of Rāma were much earlier than those of the Kuru-Pāñdavas. There is no reason why the recorded testimony of the whole Brāhmañic literature regarding the priority of Rāma to the Pāñdavas should be disbelieved, it is not always safe to brush aside the unbroken tradition like that of the Brāhmañic, to the effect that the events of the Rāmāyaña preceded those of the Mahābhārata. When, however. we find the literature of Jainism,—a rival faith, not always friendly with Brāhmañism,—supporting the current traditional doctrine that the incidents of the Mahābhārata were subsequent to those of the Rāmāyaña, we may definitely say that the modern theory to the contrary, sensational as it is, is against the weight of evidence and such, is not to be seriously taken

II

Like the elegant Rāma-story, the Krishña-story also has inspired the hearts of millions in India from the remotest past. The mystic devotee is lost in ecstacy in the contemplation of Krishña as the amorous youth of Brindāvana and the philosopher find in the Krishña of Kurukshitra the wisest of teachers, while to the man of world, he is the bravest of fighters, the shrewdest of politicians and

the foremost upholder of a righteous cause. It is no wonder that his life story, acts and exploits have been the perennial source of the sweetest poetry in India and the saying. "There is no song but that about Kāñu (Krisnña)' is literally true.

As in the case of the Rāmāyaña, the Jainas also have a version of the Krishña-story. Krishña according to them, was the ninth Nārāyaña and Balabhadra, his elder brother, similarly, the ninth and the last of the Balabhadras. Jarāsandha, the king of Magadha was the Prati-Nārāyaña or the born antagonist of the Krishña-Nārāyaña of that age.

The Krishña-story, as we find it in the Jaina literature, is not different from the story in the Vēdic Purāñas, in essential particulars. According to the Jainas also, Krishña was the son of Basudēva, a prince of the Yādava clan, by his wife Dēvakī and Balabhadra, by Rōhiñī, another wife of Basudēva Kaṁsa, who was the son of king Ugrasēna of Mathurā and brother of Dēvakī, deposed his father and himself ascended the throne. He, however came to have the fore knowledge that he would meet his death at the hands of Dēvakī's son. This led him to keep both Dēvakī and Basudēva confined in Mathurā Dēvakī gave birth to several children one after the other, all of whom were snatched away by the cruel Kaṁsa for killing them The last was Krishña who was secretly taken by Basudēva to Brindāvana and made over to Nanda. Krishña was brought up at Brindāvana among cowherd-boys where he was joined by his elder brother. Kamsa, however, came to know that his mortal enemy was coming of age in Brindāvana and sent many of his demoniac emissaries there to kill Krishña. but all in vain. At last, Krishña came to Mathurā, killed Kaṁsa and re-instated Ugrasēna. Jarāsandha, king of Magadha, was infuriated at the slaying of Kaṁsa. He became the enemy of Krishña but at last met his death. Krishña removed to Dvārakā, was a great hero and ruled a pros-perous kingdom from Dvārakā. The great Pāñdavas were his friend and kinsmen. He had eight principal queens, Rukmiñī, Satyabhāmā etc. Rukmiñī had been enamoured of him and so, Krishña went to her place secretly and carried her away and married her against the wishes of her brother, Rukmiñī who had decided to give her in marriage to Śiśupāla of Chedi. Krishña's sons, Śāmba, Pradyunmna etc. were also brave princes. The Yādavas

however, gave offence to a holy man, for which they met disastrous deaths and their metropolis was destroyed. Krishña was killed by a hunter through mistake.

As in the case of the Rāma story, the Jainas make various interesting additions,—some alterations too,—in the Krishña-story. The first of these additions is the account of the Yadu clan which they give. Instead of describing Yadu as a son of Yayāti, a king of the lunar dynasty as according to the Vēdic Purānas, the Jaina sacred books state that there was a ruling dynasty which traced its descent from one Hari. "The kings of the Hari dynasty ruled at Mathurā. There was a king named Yadu in this dynasty, after whom the Hari kings were also called the kings of the Yadu dynasty. Yadu's son was Śura who had Śauri and Suvira as his sons. Śauri gave his kingdom of Mathurā to Suvira and himself founded a kingdom at Śauryapore in the Kuśārta country. King Śauri had Andhaka-Vrishñi and others as his sons while Bhōja-Vrishñi and others were the sons of Suvira. King Suvira gave his kingdom to prince Bhōja-Vrishñi and used to live in the city Sauvīrapore which he founded in the country of Sindhu. Bhoja-Vrishñi had a son named Ugrasēna, whose son was the notorious Kamsa. Andhaka-Vrishñi had ten sons viz, Samudra-Vijaya, Akshobhya, Stimita, Sagara, Himavān, Achala, Dharana, Pūrana, Abhichandra and Basudēva. Besides these sons, Andhaka Vrishñi had two daughters, Kunti and Madri who were respectively married to Pāñdu and Damaghōsha. Krishña was the son of Basudēva by his wife, Dēvakí while Balabhadra was another son of Basudēva by his wife, Rōhini. The sons of Pāndu were known as the Pāndavas while Śiśupāla was the son of Damaghōsha."

The romantic peregrinations of Basudēva form a long and interesting episode in the Krishna-story, as narrated in the Jaina Purānas. It is said that Basudēva was an extremely beautiful prince, so much so, that any lady happening to look at him was sure to be enamoured of him. To keep the chastity of ladies unsullied became thus a serious problem for the Yādavas and the citizens and they represented the matter before king Samudra-Vijaya. King Samudra-Vijaya was fond of his brother, Basudēva and so, instead of doing any thing which might hurt the feelings of the prince, he asked

Basudēva not to stir out of his house but master the fine arts. The unsuspecting Basudēva gladly agreed. One day, however, a maid-servant of the palace told him the real reason of his virtual confinement, upon which Basudēva fled from the palace in disguise. At the outskirt of the city, he made a funeral pyre and burnt a dead body there. He left there writings to show that Basudēva, grieved at heart, committed suicide The Yādavas believed what the writings showed while really Basudēva wandered in distant lands *incognito.* It is impossible to describe here all the places which Basudēva visited and the damsels he married. It will be sufficient to state that towards the close of his peregrinations, he visited the city of King Rudhira, where all the renowned princes of India including Samudra-Vijaya and Jarā-Sandha were assembled in order to have their chance in the Svayamvara (the selection of a husband) ceremony of Rōhini, the daughter of the king Rudhira Basudēva attended the assembly, disguised as a drummer. It so happened, however, that the choice of the princess fell upon the humble drummer. At once the assembled princes raised a clamour and gave out that they would not tolerate a Kshatriya princess being given in marriage to a low-class non-descript. A battle ensued in which king Samudra-Vijaya took the lead at the instance of Jarāsandha Soon, however, Basudēva made himself known to Samudra-Vijaya, whereupon the two brothers were united again and the battle ended in merry making in which Jarāsandha himself joined. Balabhadra, the elder brother of Krishna was the son of Basudēva by Rōhini.

Another wife of Basudēva was Dēvaki She was the daughter of Kaṁsa's uncle. According to the Jaina Purāṇas, Kaṁsa was devoted to Basudēva and it was at Kaṁsa's earnest desire, will and effort that Basudēva was married to Dēvaki. Krishna was Basudēvas son by Dēvaki.

The Jaina account of Kamsa's life and character may be stated in this connection. Kamsa was one of the sons of king Ugrasēna of Mathurā. His mother was Dhārini When he was in his mother's womb, his cruel and blood thirsty character was indicated by many of the uncommon longings of the queen one of which was her uncontrolable vish to eat the flesh of her husband. So when the

child was born, the queen thought it fit to put it in a small box with the names of the king and the queen written in a script within it and to let it float away in a river. It was given out that the queen gave birth to a dead child. It so happened that a merchant had no child so that when he saw the box in the river and looked at its contents, he carried the child to his wife. The merchant and his wife brought up the child with great care and fondness. But the boy grew to be very mischievous and every one dreaded him When he came of age, he was given over to prince Basudēva as one of his attendants. Both Basudeva and Kamsa loved each other dearly and with the former, the latter learnt the arts of warfare.

King Jarāsandha of Magadha was acknowledged to be the foremost of the ruling chiefs of those days and his wish or order was not to be disobeyed on any account. One day he sent an order to king Samudra-Vijaya to bring to him king Simha-ratha of Simhapura bound hand-and-foot. King Jarasandha declared at the same time that whoever would succeed in complying with his order would get the hands of his daughter, Jivad-yaśā together with any kingdom he would pray for King Simha-ratha was a mighty monarch but king Jarāsandha also was by no means to be displeased King Samudra-Vijaya accordingly prepared for a war on Simha-ratha, when Basudēva implored him for being permitted to lead the invasion. King Samudra-vijaya granted his prayer and Basudēva marched against Simharatha with Kamsa. A great battle ensued in which Simha ratha was defeated and Kamsa took the lead in binding him hand-and-foot. King Jarāsandha was satisfied but Samudra-vijaya did not like that his brother would marry Jīvad-yaśā because he had heard of a prediction that that princess would be the cause of ruin of both her husband's and her father's families Kamsa, ont he other hand, was known to have come of a comparatively low-caste merchant family, so that an offer of marriage of the princess of Magadha with Kamsa would but greatly irritate Jarāsandha At this juncture, the reputed merchant-father of Kamsa appeared with the script and on a reference to queen Dhārinī of Mathurā, it was established that Kamsa belonged to the respected clan of the Yādavas. King Jarāsandha gladly gave his daughter in marriage to him. Kamsa, however, burnt with rage against his parents, when he came to know

his real origin. He asked for help against king Ugrasēna which was readily given by the mighty Jarāsandha With the help of the army of Magadha, Kamsa defeated his father, kept him confined in a cage and himself became the the king of Mathurā. He did not forget his friend and master, prince Basudēva; so, it was at his instance that Basudēva was married to the princess, Dēvaki who was the daughter of his uncle

A great banquet took place at the marriage of Basudēva with Dēvakī and every one was making merry. Kamsa's wife, queen Jīvad-yaśā, drank too much wine. Intoxicated she came across Atimuktaka who was one of the sons of the ex-king Ugra-sēna and who had taken to the religious orders, being disgusted with the ways of the world. Jīvad-yaśā asked her cousin-in-law to join in the revelries importunately, where upon the sage uttered the imprecation that Kamsa would die at the hands of one of the offspring of the very marital union which she was thus shamelessly celebrating in wine When Jīvad-yaśā came to her senses, she told Kamsa what had happened Kamsa was frightened. So, without telling Basudēva the real fact, he simply requested him to hand over to him the children, as soon as they would be born to him. The unsuspecting Basudēva agreed to it Afterwards, when he came to know the real facts, his grief knew no bounds

Dēvakī gave birth to six sons, one after the other. It is said that at the very times when these sons were born, Sulasā, wife of the merchant Nāga of Mahilā-pura-nagara, gave birth to six dead children. At the instance of a god of the heavens, the sons of Dēvakī were taken to and kept with Sulasā whose dead children were in a similar manner taken to and kept with Dēvakī. The cruel Kamsa took away the dead children thinking them to be Dēvakī's and smashed them on a stone Dēvakī's real children were thus saved and not killed,—as according to the Vēdic Purānas.

The Jaina Purānas state that Krishna was the seventh child of Dēvakī. Krishna was stealthily taken to Yasōdā, wife of Nanda of Gōkula and Yasōda's daughter was handed over to Kamsa. Kamsa, however, did not attempt to kill the female child, as described in the Vēdic Purānas. He thought that the prediction was false, in as

much as it had been predicted that a male child of Dēvakī, the seventh in order, would be his distroyer,—and not a daughter. He returned the female child to Dēvakī.

Krishna's killing of Putana and emissaries of Kamsa and his amorous dealings with the beautiful milkmaids of Gōkula are also described in the Jaina sacred books. The Jaina account of killing Kamsa and re installing Ugrasēna as the king of Mathura is substantially similar to that in the Vedic Purānas It is to be noticed, however, that according to the Jainas, Satyabhāmā was a sister of Kamsa. She became enamoured of Krishna and was the first princess to be married to him upon the accession of Ugrasēna.

We pass by the numerous beautiful stories which the Jainas connect with the marriages of Krishna with Rukminī, Lakshanā and his other wives The addition which the Jainas make to the Krishna-Story is the account of their twenty-second Tirthamkara, Arishtanēmi, which has already been noticed

The more important and perhaps of greater interest is the account of the great tragic battle of India which the Jainas give and which is not a little different from the well-known version of the Mahabhārata According to the latter it was a great fight that took place at Kurukshetra between the Kouravas on the one side and the Pāndavas on the other and the cause of it was the systematic attempts on the part of the Kouravas to deprive the Pāndavas of their just possessions. The Jainas admit that in that great battle the Kouravas and the Pāndavas fought on opposite sides but they say that it was not primarily a contest between the Kouravas and the Pāndavas. Their account of the battle is as follow—Kansa's widow, Jīvad-yaśā, on the sad end of her husband went to her father, Jarāsandha, king of Magadha, who was the most powerful of the rulers of the day and instigated him against Krishna and the Yādavas The Yādavas, led by Krishna found Dvāraka and ruled over an extensive territory. Jarāsandha marched against Krishna. He had a great army and on his side, among others, was Śiśupāla, king of Chēdi, a sworn enemy of Krishna. The Kouravas also were on his side Krishna and the Yādavas were similarly joined by a host of kings, among whom there were the Pāndavas. The great

battle that ensued was thus primarily a battle between Jarāsandha and Krishna, in which Jarāsandha was killed,—not by one of the Pāndavas but by Krishna himself.

The Jaina account of the end of Krishna, the Yādavas and their metropolis is also different from what is narrated in the Vēdic Purānas, although scarcely less tragic. We prefer to describe the Jaina version by extensevely quoting from "Lord Arishtanēmi."

"Every one was startled to hear from the Lord (Lord Arishtanēmi) that Dvaipāyana would destroy Dvārakā and Krishna was to die at the hands of Jarākumāra (a son of Basudēva and step-brother of Krishna). Lest wine would be the cause of ruin of Dvārakā, Krishna stopped its drink in his kingdom At his order, the people of Dvārakā went out and poured all the wine they had, in a cave called Kādambari in the Kadamba forest near the Girinara mountain. Hearing of the dreadful prediction of the Lord Nēmi, the sage Dvaipāyana left the city of the Yādavas and in order that he might not injure it in any way, immersed himself in profound contemplation in a distant lonely forest

'And being a son of Basudēva, how shall I kill my own brother? This shall not be Rather shall I take care that none can touch a hair in Krishna's head' Determined thus, Jarākumāra roamed outside the limits of Dvāraka armed to the teeth and ready to die for its safety

"But the prophecy of Nēminātha was not to be false."

"One day, troubled by the scorching rays of the Baiśakha sun, a companion of the prince Śāmba came near the Kādambari cave, while wandering in the forest He was extremely thirsty and consequently drank the wine there to his heart's content. The immense quantity of wine,—that had been at Dvāraka and poured out there,—became extremely delicious to taste on account of its being kept confined within the stony cave in a cool forest; the season-flowers of the forest fell into it and enhanced its sweet taste and smell quite a thousand fold. To please his Lord Śāmba, that attendant of his, secretly brought some quantity of the wine for his master.

(To be Continued)

NEW LIGHT ON ANTIQUITY OF JAINISM

[By L A. Phaltane Esq., B. A. LL. B Pleader
Islampur, District Satara.]

Many have expressed their opinions about the antiquity of Jainism Devout Jains cling to the belief that Jainism has no beginning while the non-Jaina scholars bring its starting time to a very late stage The non-Jain scholars believed in the beginning that Jainism arose in the seventh century A. D as a branch of Buddhism. But the modern research has taken the origin of Jainism back even before Lord Buddha and has assumed that Lord Pārshvanātha must have been its founder They are unwilling to give to it a date which would be earlier than the date of Lord Pārshvanātha If we were to depend upon the traditions mentioned in each religious literature we would find that excepting Zoroastrianism Christianity and Muhamedanism all religions claim that they existed from the beginning of the universe But it does not stand to reason to assume that Almighty Nature contrived to send into this world several religions possessing most inconsistent idealogies traditions and modes of thinking at one and the same time. In this age of scientific and historical mode of reasoning the scholars are most unwilling to accept anything as true which is not supported by reliable proof and if anything is propounded before them without the backing of sound evidence that is considered by them as a tradition or a thing of imaginary importance. It is contended by the non-Jain scholars that the assumption that the Jainism was most ancient would necessitate references about this faith, its Tirthankars, and other important personages in the literatures of the neighbouring countries and as such references have not been traced, it is but natural and proper to assume that Jainism cannot lay any claim to prehistoric antiquity. It has been found that the civilizations of Egypt, Babylon and China are the most ancient civilizations and the Vedic religion also claims to go back over a long antiquity. As references to Jainism have not, upto now, been traced in the literatures of those countries it would be most improper to assign to Jainism a date which would be as ancient as the dates of those civilizations.

We intend to approach this subject from an altogether different point of view which has not, as yet, attracted the attention of the eastern or western scholars.

In ancient days writing was scarcely used for spreading and preserving knowledge. The sages of old used to commit to memory the then existing knowledge and send it down to posterity by oral teaching from—preceptor to disciple. It was from Kundakundāchārya that a systematic attempt appears to have been made to preserve knowledge by reducing the same to writing. Āchārya Kundakunda says :—

मग्गो मग्गफलं तिह दुविहं जिणसासणे समक्खादो ।
मग्गो मोक्खउवाओ तस्स फलं होइ णिव्वाणम् ॥

Maggo Maggaphalṃ tiha duırhaṃ Jinasāsṇe Samakkhādo
Maggo mokkha uvāo tassa phalaṃ hoı Nívvāṇam.

Meaning:—Magga (way) and Maggaphal—(fruit of the way) are the two things mentioned in Jainism. Magga means a remedy for liberation and its fruit is complete contentment.

In the commentary below of the above Prakrit verse the commentator says :—

मार्गस्तावत् रत्नत्रयात्मकः

Mārgastavāt ratnatrayātmakah

Meaning:—Mārga however consists of three jewels i e. Samyakdarshan Samyakgñyan and Samyaga charitrya. Jainism is the religion of the three jewels. This means that the author of Niyamsāra calls Jainism as 'mārga'. After ācharya Kunda Kunda flourished ācharya Umāswati who, in his book 'Tatwarth Sutra', gives the first Sûtra as (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः ।) 'Samyagdarshana gñyāna Chāritrani Mokshamārgah.' Here also the word Mārga has been used in the sense of religion. It will be marked that the word 'Dharma' has nowhere been used in Tatwārth Sutra in the sense of 'religion'. This book uses the word 'dharma' to denote one of the six primordial substances which this world is composed of. Later on, the word Magga or Mārga fell out of use and in its place the word dharma came to be used in later literature.

Having thus firmly kept in mind that the ancient name of Jainism was *Mārga* we shall proceed further.

When the sister and neighbouring communities realise that the tenets of a rising faith possess elements which would—secure communal good or enlighten the powers of the soul if adopted and practised they begin to adopt and incorporate into their lives the tenets, requisite methods of behaviour, rites and religious practices introduced by the rising faith and those methods gradually came to be named after the faith from which they were adopted. In ancient times the humanity was most disordered and promiscuous in sexual and other relations between man and man, and man and woman It is the leaders of the Jain thoughts who were the first to introduce into the society a well-controlled and balanced marriage system The conception of brotherhood of man arose out of the teaching of Jainism and the 'Anagāra Dharma' of Lord Rishabhadeva was its climax. In order to illustrate the above contentions by concrete examples I am proposing to enumerate below certain facts of importance. Before those facts are given however it would be abvisable to bear in mind the following propositions of historical and geographical importance.

(1) The time about which we are writing is very ancient and we cannot ascertain its date at present,

(2) In ancient times humanity lived in small groups The people were not known by the country of their occupation as at present but the countries were known by the tribes which populated the same whenever unfavourable circumstances made it impossible for a tribe to continue to inhabit the country the whole tribe used to move out of that country

(3) The small tribes in which the people were divided were constantly on enmical terms with one another This enmity and exclusiveness developed in them specialities of behaviour, dress, likings etc. with a result that each tribe looked quite distinct from the rest. For instance Nāga tribes distinguished themselves by using a head dress which resembled the hood of a cobra.

(4) The phonetic and other similarities between languages current in Baluchistan and those spoken in Karnātaka have led Linguists to come to the conclusion that the people of Baluchistan and those of Karnāṭaka must have come from the same stock. It

appears from their opinion that owing to some unforseen circumstances the Dravidians of the province of Karnāṭaka must have come down to the south from their original home which must have been somewhere near the province of Baluchistan. From this one can imagine that in ancient times about which we are writing these Dravidians must have been living in a province from which they could not escape the touch of the teachings of the followers of the '*Mārga*' religion.

With these suggestions we shall proceed further :—

The word 'Magga' (Sanskrit Mārgā) appears to have been in use in several countries of the Asiatic continent. But while being incorporated in other languages it has gone through the various influences of those languages. In Persian language we find the word 'Maga' used in the sense of a priest. In canarese also the word is used. Monk (Christian Catholic priest) and Manga are its two different forms The Sāraswat Brahmanas of India name their god of worship as Mangesha (मगेश) and consider him to be an incarnation of God Shiva The Burmans use the word Mamga (माँग) in the sense of brother Makalā (मकला) in dravidian language means children It may be argued by some that this attempt is like building castles in the air taking advantage of some similarities of names of various languages. But the further explanations would show that it is not so.

In Persia or Shak continent the 'Magas' formed an important section of the people. They were the worshippers of the Sun and has three classes among them (1) those born of fire (2) Samakas born of Soma and (3) Bhojakas i e. those born of Aditya (Sun God)

अग्निजाता मगाः प्रोक्ताः ।
सोमजाता द्विजातयः ॥
भोजका आदित्यजाताः ।
दिव्यास्तेपरिकीर्तिताः ॥

भाविष्यपुराण ब्राह्मपर्व अ० १३६

शिरसाधारयेत्केशान् सज्ञेयो भोजकाद्यमः ।
भुजंते न च ये रात्रौ भोजकास्ते प्रियाममम ॥

Agnijāta Magah proktāh
Somajāta duijātayah

Bhojakā Ādityajātāh
Divyāste parikīrtitāh
Bhavishya Purāṇa Bāhyaparva part-136.
Shirasā Dhārayet Keshān sa jñyego Bhojakādhamah
Bhunjante na cha ye ratrau Bhojakāste priyā mama.

Meaning:—'Magas are those who are born of fire There are others—Brāhmans who are born af soma. Bhojakas are born of the Sun they are famed as celestial'.

'That Bhojaka is the worst who allows the hair on his head to grow. Those Bhojakas who do not dine at night are dear to me.'

We learn from Bhavishya Purāna that Bhojakas and Magas were one, that they had the practice like Jain saints of shaving the head completely and not taking food at night and that they carried in their hands a brush like the Jain saints. Thus they had adopted some of the practices of the Jain saints and as they bore respect towards the 'magga' relegion they were called 'Magas'.

It has been remarked above that marriage system was originally introduced by the Jain thinkers The Dravidians appear to have adopted the sacred ceremony of marriage from the 'magga' people. This is testified by the fact that the son born of marriage wedlock is called 'Maga' (मग) in kanarise language. While a male offspring born in any other way is termed as 'huduga' (हुडुगा) which means an orphan

Manga or Mangesha (मंगेश)—The Saraswat Brahmanas call their deity of worship as 'Mangesha' (मगेश) which is considered by them as an incarnation of God Shiva. But on closer observation it will be found that the image of God Mangesha is not an artificial image but a naturally grown stone slab which is ornamented by them on ceremonial occasions with an artificial face of God Shiva This conception of the deity of the Saraswat Brahmanas appears to have been based on an idea which looks similar to the idea of Akritrima Jina Chaity (अकृत्रिम जिन चैत्य) of the Jainas

Moghal and Mongolia.—The Mongols or Moghals are the people of Mongolia. The Sanskrit form of Mongolia would be Mangalavati and would mean 'a country of purity or brotherhood'. These names appear to have been given to those people and their country owing

to their acceptance of many rites and ceremonies of the 'Magga' people.

Mākala (माकल) – Even at present there is an advanced community in the Dravidian province which is known as 'Mākala' It has been shown by rules governing languages that the word 'Mākala' is derived from the Sanskrit word 'Markala' or Marāthi 'Makada'. In the Rāmāyana of Valmiki there appears a community which is described as Markata which, according to that Rāmāyana, was monkey like. But on modern research it has been found that these markatas were not monkeys but human beings. The Jain Rāmāyana says that they were like ordinary men and followed Jainism.

Mongi Tungi.—According to the Jaina tradition Shri Rāmchandra Sugriva and thousands of others attained liberation on the mount of Mongi Tungi after going through the austerities prescribed by the Jaina faith. Why should the mount be called Mongi-Tungi is a question which cannot be solved unless the following explanation is accepted. The word 'Mongi' means sacred or belonging to the sacred religion 'Magga' and Tungi means a mount or mountain. Thus the joint word 'Mongi-Tungi' would mean 'a sacred mount of the Jainas'. This is, according to this writer, a strong proof that Jainism was known as 'Mārga' at least up to the time of Shri Rāmachandra the hero of Rāmāyana.

The above points are sufficients, according to this writer, to hold that 'Marga was the name by which Jainism was pre-eminently known until at least the time of Shri Rāmāchandra, that the Persians of Iran, the Dravidians, Mongolians and the Burmans were at that time inhabiting terretories not far off from the country in which the Magga (Marga) religion stood shining in full splendour, that they accepted and incorporated among them much of the learning by studying in Marga seals of education and that they or important sections of those people came to be styled and named after the civilization which imparted education to them.

ASTINASTI VADA.

This doctrine of Astināsti Vāda may be considered to be the central idea of Jaina metaphysics Unfortunately, it is also the view which is very often misunderstood by the non-Jaina writers. The non-Jain thinkers cannot easily appreciate how it is possible to predicate two contradictory attributes to the same object of reality. Prima facie it is impossible You cannot say about the same object of nature that it is and that it is not. Naturally it is extremely confusing and the non-Jaina thinkers very often consider this doctrine to be the weakest point in Jaina metaphysics. Even great thinkers like Śankara and Rāmānuja without appreciating the true significance of this principle condemn this as merely pratling of a mad man. Hence it is necessary for every student of Jainism to explain this principle clearly and make it within the reach of the ordinary man's understanding

Astināsti Vāda implies the predication of contradictory attributes of Asti and Nāsti 'is' and 'is not' to the same object of reality Jaina thinkers certainly did not make the statement that the same object can be described in terms of two contradictory attributes without any limitation What the Jaina doctrine of Astinasti Vada implies is that you can describe an object from one point of view that it is, exists, and from another point of view that it does not exist. It is certainly paradoxical to speak of the same thing from a single point of view that the object is both 'is' and 'is not'. Jaina thinkers take a practical point of view even in explaining intricate principles of metaphysics Take the case of a piece of furniture. It may be made of ordinary jungle wood and it may be given painting to make it appear as if it is made of rose wood Naturally a purchaser who wants to know the price of that piece of furniture would like to know the exact timber which is made use of in making that piece of furniture. If he depends upon the mere appearance he would have to pay more than what it is worth. Therefore, he may naturally enquire somebody who knows these things to find out whether the piece of furniture is made of rose wood. The expert's answer would

certainly be 'no'. The piece of furniture is not made of rose wood in spite of its appearance. The appearance is due to painting whose object is merely to hide the real nature of the timber utilised. Hence he would assert that the table is not made of rose wood. If the expert by scraping the paint in a small corner of the furniture in order to expose tha true nature of the wood employed then it will be made evident that the timber used for making the furniture is some jungle wood of an inferior type. Then the purchaser will learn from the expert the exact answer to his question, 'What is the timber of which this piece of furniture is made?' The answer to the question would be an affirmative proposition stating that the table is made of jungle timber. Thus, two propositions, one an affirmative and another negative are asserted with reference to the same piece of furniture and both propositions are certainly valid With reference to the true nature of the timber utilised for making the table the statement that it is made of jungle wood is a valid affirmative proposition When we want to make a proposition from the mere appearance whether it is made of rose wood, the valid answer is a negative proposition, it is not made of rose wood Thus, the negative proposition arises when the object is related to another nature which is not its true nature The true substance is jungle wood and another substance with reference to which the negative proposition is made is rose wood This point is explained by Jaina thinkers in a technical way

Self and Alien —

In the case of the two contradictory propositions the affirmative proposition is valid with reference to 'Svadravya', its own substance, the negative proposition is valid with reference to 'Paradravya', the alien substance. The illustration may be multiplied. If we have an ornament made of pure gold and the question is asked what is the nature of the substance, the valid answer would be, it is made of gold. But, if the similar ornament is made of imitation gold the answer would be, 'No, it is not made of gold.' Here also the object from its own 'Svadravya' point of view would be described by an affirmative proposition, from the 'Paradravya' point of view by a negative proposition. Similarly, if you are interested in finding out whether your cow is in the cattle shed and if you ask your servant

"Where is the cow?" his answer would be affirmative if the cow is in the cattle shed and negative proposition if it is not so, he will simply say, "The cow is not in the cattle shed." If it is taken away by the cow-boy for the purpose of grazing in the field the negative proposition will be true with reference to the cattle shed, but if the question is whether the cow is in the grazing field the answer would be affirmative, just because the cow is grazing in the field and it is not tied up in the cattle shed. You may have similar illustrations with reference to any object If you want to find where a particular book of yours is and if it is not found in the book-shelf, we have to assert the book is not in the book-shelf If it is there you will say, 'Yes, it is'

Place:—

Historical propositions will have true validity according to their relation to the place. If you say that Socrates was an Athenian Philosopher, the affirmative proposition will be true, because the historical Philosopher Socrates lived in Athens. But, if some student writes that Socrates was a Roman Philosopher, the proposition would be erroneous, because Socrates was never connected with the city of Rome In this respect the technical term is used 'Kshetra'. A proposition with reference to a particular object of reality is true from the point of view of Swakshetra its own locality or place of existence, and the negative proposition is valid from the point of view of Parakshetra, the alien place or locality in relation to the object. In the above example, Athens is the Svakshetra of Socrates and Rome is Parakshetra

Time:—

Similarly, in relation to time it is possible to make two contradictory predications with reference to the same object of reality A historical event would be true with reference to its own appropriate time in the period of history and false with reference to some other time. If somebody makes a statement that Charles I was King of England in the 19th century, it would be historically false. Charles I did not belong to the 19th century. Similarly, if somebody speaks of Socrates as a Philosopher who lived in Greece in the 4th century after Christ, it would be a false statement He did not live in the 4th century A D. would be a valid negative proposition, just

as the affirmative proposition that he lived in the 4th century B. C. would be a valid affirmative proposition. Here the point of view is technically said to be 'time'. Any historical event would be capable of affirmative assertion with reference to its own time or Svakāla and it would admit of negative assertion with reference to Parakāla or alien time, *not its own.*

Form :—

Similarly, in the case of the modification of a substance, according to its modification it may be asserted affirmatively or negatively. Speaking of water you may have it as a liquid or solid Ice is the solid form of water and if you are interested in knowing the nature of ice you have to assert that it is solid from its own Bhāva. But, if it is heated, it changes its form, it may become liquid Then you have to say that ice is not liquid or gas. From its own Bhāva a substance is capable of being described by an affirmative proposition, from the nature of an alien form or Bhava it must be described by a valid negative proposition. You must say that ice is not liquid or gas or vapour, because the form in which you are concerned with is solid.

Interpretation :—

These are the four points of view which form the foundation of this 'Astināsti Vāda' and these are the ways in which an object may be affirmatively described from the point of view of Svadravya, Svakshetra, Svakāla and Svabhāva, and the same object may be validly described in the negative from the point of view of Paradravya, Parakshetra, Parakāla and Parabhāva. When the matter is understood in this way, it is quite obvious why the affirmative proposition will be true and why the negative proposition also will be true with reference to the same object of reality There is no chance of confusion here and there is no mysterious metaphysical maze to be unravelled. Simply we may say that it is so common-place that we very often wonder why serious thinkers should find it difficult to appreciate this principle of Astināsti Vāda. Here we have to point out that the doctrine is applicable only with reference to a real object, Take the following example. A cow ordinarily has horns. The cow, when it was an young calf, cer-

tainly should not be described to have had horns. There would be no horns in the head of a young calf. Therefore, with reference to the same individual animal we have to say that at one time it had no horns and later on it had horns The existence of horns is asserted and denied with reference to the same individual, according to its life history The calf in its own time had no horns. The cow when it is grown up, the horns are asserted to exist, because you can assert the horns and deny horns, the existence of horns can be asserted and denied with reference to the same individual cow according to its period of growth You cannot turn and say that the horns may be asserted and denied with reference to a horse or a hare. Very often it is a point of objection, such a dilemma is presented to the Jaina thinker since you can assert and deny the same thing. Can you assert the horns and deny horns with reference to the same horse or the same hare? The question proposed by the opponent is meaningless, Horns of a horse or a hare are non-existent and they cannot be considered as real. The doctrine of Astināsti Vāda is distinctly confined to the world of reality, only to an object in the world of reality. The doctrine should not be applied to non existing things. A mythological animal like the centaur or unicorn cannot be brought under this doctrine of Astināsti Vāda Hence such an objection is rejected as irrelevant and meaningless by the Jaina thinkers

Relative Qualities.—

Exactly analogous to this principle of Astināsti is the doctrine that the same object of reality may be described as 'Nitya' and 'Anitya', permanent and impermanent, Bheda and Abheda, identical and different These predications which are contradictory in themselves are no doubt applied to the same object of reality certainly from different points of view. A thing may be described to be Nitya, permanent, from the point of view of the substance of which it is made. The same object may be described as Anitya, impermanent, if we attend to the modification of the shape to which the substance is transformed. A particular ornament made of gold may be melted and a new ornament made out of the gold. Here the particular ornament will certainly be described as Anitya because at any moment it may be changed by the goldsmith according to the

wish of the owner. But neither the skill of the goldsmith nor the desire of the owner can altogether destroy the substance, gold. It is indestructible and permanent and therefore it must be described as Nitya. Therefore, from the nature of the underlying substance the thing must be described as Nitya and from the point of view of the particular mode or shape it is given to, it must be described as Anitya. Thus, the two attributes Nitya and Anitya can be intelligently predicated of the same object of reality as was shown above.

Matter & Form:—

This point of view will become much clearer when we attend to the nature of organic things, the tree or an animal. The life history of a tree may be said to begin with the seed, and at every stage of its growth there is a corresponding change in its structure From the seed to the sprout, from the sprout to a little plant, from the little plant to a growing tree; and at every stage there is a change of structure and also change of function of the particutar parts. Here you have an instance of continuous change in the same identical organism which must be considered to be unchanging and permanent A margosa seed can grow into a margosa tree marking out all the changes in its growth but at no point in its life history could it change so fundamentally as to become a mango tree. A mango seed can grow into a mango tree and a margosa seed can grow into a margosa tree Each one has its own permanent nature marked by its different stages of growth which are distinctly impermanent. Thus, if for example the margosa declines to grow further, will not shoot forth new sprouts, will not shed away the old leaves, it will be an attempt to secure permanency for that stage in the history of the plant, but this attempt to secure permanency must end in death because a growing organism, if it attempts to crystallize itself at that particular stage, it will only seek its own death warrant. Thus organic growth must necessarily imply change at every stage different from the previous stage and different form the next stage and at the same time secure a permanent identity. Nature cannot be transcended during the growth of the organism. Here you have in the life history of an organic, say a tree, both identity and difference, Bheda and Abheda,

Nitya and Anitya In fact, that is the nature of reality as understood by Jaina thinkers

Review:—

Every object of reality implies a difference with an underlying identity, a change associated with a permanency, a unity associated with multiplicity It is because of the structure of reality that it is possible for us to describe it by contradictory attributes, Asti and Nāsti, Nitya and Anitya, Bheda and Abeda and so on. This fundamental metaphysical doctrine which is the central idea of Jaina thought differenciates this system of philosophy from other schools of thought, Indian or European No Indian school of thought has accepted this doctrine. Every Indian school takes up one particular point of view of reality and asserts it to the exclusion of other aspects. Vedāntism, for example, emphasises the permanent substratum of reality, of the permanent substance, the Brahma It is always one unchanging Nitya At the opposite pole of thought you have the Buddhistic Kshanika Vāda which emphasises the momentary nature of reality and is blind to the underlying permanent sub stratum To the Buddhistic thinker every object of reality is Anitya, momentary. It appears and disappears the very next moment There is no such thing as Nitya or permanent sub-stratum either in the outer world of nature or in the inner world of consciousness. This kind of one-sided emphasis to the exclusion of the other aspect of reality is described by Jaina thinkers as Ekānta Vāda, one sided assertion, while they claim their metaphysics to be a Anekānta Vāda viewing reality from all its aspects. Thus, the Astināsti Vāda with which we began is the natural corrolary of the nature of reality which is many sided and hence could be described accurately and completely only by taking into conside ration all its aspects or technically by Anekānta logic Forgetting this aspect of reality and attempting to describe the nature of reality piecemeal would end in a similar confusion as the description of an elephant by the various blind men each describing the animal from his own point of contact and thus making a ridiculous mess of reality.

Conclusion —

In short, a complex nature of reality must be the necessary

approach by the principle of Anekānta Vada, if it is to be understood accurately. Thus, we see the Jaina metaphysics has got a more rational view in its approach to reality than the other schools of thought which obstinately cling to one particular aspect. The latter schools of thought create a readymade framework and attempt to squeezing the nature of reality in the readymade framework which serves as a sort of Procrustian bed and thinkers do not hesitate to chop the inconvenient corners to make reality fit in with their framework. Such a method of unwarranted interference with the nature of reality to make it suit one's own theory is neither science nor philosophy It is merely a dogmatic assertion of one's own prejudice and wishing reality to squeeze into the readymade scheme of things. It is not necessary for us to repeat that such an irrational attitude will be inconsistent with true principles of metaphysics. The function of man is to understand the nature of reality; not to interfere with its nature to suit his liking. Judged from this point of view, the only school of thought which may be said to resemble the Jaina metaphysics is the Hegelian doctrine of the Dialectic. Hegel's direct approach to the nature of reality is more or less analogous to the Jaina approach. Hegel's Dialectic consisting of thesis, antithesis and synthesis, which may be described as, identity of the opposites, or the resolution of the contradictories, exactly correspond to the Jaina doctrine of Astināsti Vāda. But in other respects Hegelian idealism is quite different from the Jaina metaphysics and hence we cannot afford to emphasise the similarity between the two schools beyond this one particular fact. This method of philosophy, the method of philosophical approach must be adequate and suitable to the nature to reality, which is the object of study. This general principle is observed to be true in the Jaina approach to the study of reality.

[Published by the kind permission of Varni Abhinandan Granth editor]

ACHRYA SAMANTABHADRA AND PATLIPUTRA

[By—D G. Mahajan, Esqr, M R A S, (London) Working President,
C P & Berar Jain Research Institute, YEOTMAL]

The great Jain Acharya Samantabhadra's name has been associated with PATALIPUTRA and it has been a belief of the Scholars till late, that Acharya Samantabhadra had visited Patliputra named PATNA at present This belief has a basis in the following rhyme in Sanskrit in the inscription :—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता।
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे ॥
प्राप्तोहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं।
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं ॥[1]

1. It is an inscription found at Sravanabelgola, a most famous holy place-Thirthakhetra of the Jain Religion since the Christan Era, in Mysore State, South India. This being the only one of its kind, naturally much importance is given to it. My learned friend Pandit Jugalkisor Mukatiyar[2] and others on the strength of this inscription are led to belive, that Acharya Samantabhadra visited this Pataliputra-PATNA during the travel he made in the country of the then Bharatavarsha, as refered to in the above inscription

2. While on tour of South India, on the occassion of the Indian History Congress sessions held at Madras and Annamalai University in the years 1945 and 1946 respectively, the research in the Jain culture in the ages before, I came across a town called CUDDALORE, which was then known as Patliputra and hence a doubt arose in my mind to find out whether the reference to Patliputra in the above inscription as the place to which Acharya Samantabhadra visited is

---

1 Sravanabelgola inscription No 54 old and 67 new. It is also called "Mallisen Prashasti" which was written in Sak Samvat 1050, i. e. 1100 century A. D.

2. "Atmamimansa" page 4, refered in "Swami Samatbhadra" a Hindi book by Pandit Jugal Kisor Mukatiyar

refered to this Patliputra, a new find or to other which is now known as Patna in Behar-North India

3. For this one has to test the question from the following point of view :—(A) Why should Acharya has gone to Patliputra in North India and whether it was a seat of learning and centre of religious activities then-in his times ? Whether at all the town was in a flourishing condition as it was a capital of the Magadha in that period ? No doubt that Pataliputra was a flurishing city in the times of Chandragupta Maurya, as the capital of MAGADHA Empire, it lost its importance after the overthrow of the Imperial thrown of Mauran Dynasty, some times in second century B. C (184 B. C.) when Pushyamitra and his son Agnimitra the founder of the Sunga Dynasty, occupied it, invading Magadha and tremendous destruction has been suffered by the capital-Pataliputra, and Agnimitra took his capital to Vidisha in Malva, the modern Besanagar near Bhilsa in Gwalior State. The other capital was Avanti-Ujjain being at the other end of the Magadha Empire.[3]

4 Again Pataliputra was invaded by King KHARAVEL of Kaling Desh and of Hatigumfa fame and complete destruction was made in the 1st century B. C. of the city of Patliputra, due to the severe blow at the hands of King Kharavel, when he invaded Magadha and made Agnimitra as his vassal Thus evidently it will be proved that Pataliputra was under complete destruction and never regained its importance and magnificience, glory and grandeur for ever. All these events took place before the Christian Era and since then there is nothing to the credit of Pataliputra to show that it had regained the same past days, up to the times of Acharya Samantabhadra, which means a very long and most considerable gap of time of nearly five hundred years or so. (B) Whether it was a seat of learning at the time of the visit of Acharya ? Samantabhadra's time is as far as fixed or supposed as Saka Samvat 60, i.e. 138 A. D.[4]

---

3. (a) Ancient India Vol No. IV, pages 113 and 114, by Dr. T. L. Shah.
(b) ,, ,, ,, ,, ,, ,,

4 Mr. Levis Rise in his "Inscription at Sravanabelgola" and preface to "Karnatak Shabdanusasan"; "Pattavali" published in Bhandarkar Oriental Report 1883-84, page 320 and "Swami Samantbhadra" page 196 a Hindi Book by Pandit Jugal Kisor Mukatiyar.

From the above discussion it is clear that as Pataliputra was under complete destruction, it cannot be a seat of learning and of importance in religious activities. Secondly why should Acharya go to Pataliputra at such length from the place in Tamilnadu when there were other more important places of learning, namely Kanchanpuram-Kanchi-Canjeeveram, Madura, etc, so near from place from which Acharya came in Tamil land, the ancient Thondayamandalam. In the time of Acharya, Urayur, Kanchi, Madura, Bhadalpur, and others were big centres of learning to fulfill his object and all were in South India, full of Jain Mathas-monastaries, temple Basties and Pallies, schools, etc of the Jain religion. It is also presumed that Acharya might have taken Dikshya and became MUNI at Kanchipuram or near about it as it appears from the later part of the said inscription[6]. (C) Was Acharya in a position to undertake such a long and hazardous travel, when he was suffering from a deadly disease "Bhasmakavyadhi" and hence can not be said to have undertaken such a risky travel at the cost of life, a good for nothing. From the sequence of the text of the inscription it appears probable that Acharya might have visited Pataliputra of Sourthern India-Tamilnadu, which was very near to his birth place and Dikshyasthanam etc[7] This will be clear from following posibilities.

5. Pataliputra in Tamilnadu is made out as follows :—(A) In South India Kanchipuram or Kanchanapuram the present Canjeeveram, Madura, Urayur, Bhaddalpur, Pataliputra, Uragapur, etc were the great centres of learning, religion, activities and debates used to take place amongst Jains, Buddhists, Saivaits, and Vaisnwaits on religious subjects "Bhaddalpur" refered in other inscriptions and

---

5 "Swami Samatbhadra" page No 12 by Pandit Jugal Kisor Muktiyar

6 Sravanabelgola inscription No 54 old and 67 new as thus :—

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पांडुपिंड: ।
पुंड्रोड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट् ॥
वाराणस्यामभूवं शशिधरधवलः पांडुरांगस्तपस्वी ।
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥

7. Studies in South Indian Jainism page No 30

Prof · A F. Rudolf Hearnle-Indian Antiquity Vol XXI. There father atti valis of the Diga. bars pages 60 and 61.

manuscripts was no other than Pataliputra or Patalipur, the ancient name in Tamil language was "THIRUPADARIPULIYUR", the corrupt form of which is "Thiruppapuliyur" the present town of CUDDALORE, the headquarter of the South Arcot Dist, of the Madras Presidency [8]

In my tour in the last January 46, I visited the town of Cuddalore and made survey of the most ancient sites of the old city of Pataliputra. The "PETTAI" is the very ancient suberb of the town, nearly two miles away. There is a very old Jain idol nearly 4½ ft. high in Padmasan posture, placed in the premises of a private person of Mandom Village, who celebrate the function supposing it the idol of Visnu. The idol is placed on a raised platform under a big tree. It is coated with dark coating, due to the applying oil by the villagers at the time of worship. No animal sacrifice is made before the said idol, the identity of the idol having not known by them. From here a straight road goes to "THRIAHINDRAPURAM" a very ancient site, at the foot of a hill 100 ft in height on the bank of the river Gadilam. There are several ruins and relics of the old times, spread all over area of 12-15 miles of the old city of Pataliputra. There are ancient caves, temples, palaces, shrines, Mathas-monastaries etc, in ruins buried under earth and debries, showing their existence in the past by old pillars and stone out of the said ruins The main temple of Visnu is also ancient and main shrine dates to the Pallav period and fine specimen of ancient artitecture is seen. The river Gadilam that flows on the North of Thiruppapuliyur at present used to run by the South of it in olden says, along with the Eastern Ghat Valley and even today we can notice the bed of the river, which is very fertile land under cultivation at present. Visit to this place will quite convince a person that river was flowing on the South of the town in olden days. Some years before there was one Jain Idol in the premises of the temple, but it is not found now. This idol was brought from the ruins in the part of the place [9]

---

8. Prof: A. F. Rudolf Hornel-Reports on the Archaeplogical Survey of India Vol No 1906-0-7.

9. Epigrafica India Vol No. 6 and Vol 331.

5. The environment of THIRUVEDIPURAM, the most ancient spot Pataliputra, can be verified fully and satisfactorily on the strength of the Tamil works,[10] which deal with information regarding the existence of ancient Pataliputra, in the heart of the Tamil country, from the very beginning of the Christain Era to the period of King Mahendravarman I, who was converted from Jainism to Saiva Sect at the instance of Saint Appar, who himself was a convert from Jain religion The Visnu temple in Thiruvendipuram has a very lofty Gopuram and large Sabhamandapam, Garbhagraham, etc, about which it is said that Muni Vyagrapad worshipped Siva under the tree of "PADARI" or Padali or Patali and since then it got this name.

From Cuddalore the town of Panruti is nearly 15 miles away, which can be conveniently visited by railway train on main line. A straight road goes to THIRUVADIKAI, an ancient suberb of the city of Pataliputra, nearly 1½ mile from the town of Panruti. This is a small village now a days having a most ancient temple, which originally belonged to Jain Religion The temple is famous by the name "GUNADHAR ECCHARAM" which might have been worshipped by a great Jain Acharya GUNADHARA or GUNABHADRA; or the idol in the temple might have been installed by him, or the temple might have been built at his instance Besides it, can not give a sound interpretation by calling so The temple is under utter ruins In the Mulagraham there is Siva Lingam of a very large size, made of black granite with shining polish and Shalunka the Yonipitham below it is very beautifully and artistically carved There is also a Visnu image in sabhamandapam, nearly 5½ ft. high. The original Jain Tirthankar idol which was in the Mulagraham of the temple, on the main Vedisthanam, has been thrown away and placed just out side the temple, under the Neem tree by the side of the main-road The image is nearly 3½ ft high in Padamasan posture. Its original pedastal and upper portion of the head and face has been damaged badly There is no inscription and Lanchanam on the pedestal of the image, but from the artitecture it can be assigned to the Pallava time.[11]

---

10. Tamil "Periya Puranam", "Sthal Puranam", and "Thevaram Rhims"
11. South Arcot District Gazettier of the Madras Government.

At a distance of few furlongs there is a big temple named "VIRATESWARAM". It has a very lofty Gopuram in the rampart walls, inside there is a little tank and further there is main Temple of Sri Virateswaram. In the compound premises there is one JAIN IMAGE in Padamasan posture without any Lanchanam and inscription on the pedestal, nearly as large as the JAIN IMAGE of the "GUNADHAR VICCHARAM" temple and of the same type but not mutilated or damaged or obliterated, but in good condition from all points of view. This is the same temple where a famous saint Appar was converted from his original religion to Saiva Sect.[12] In fact this Appar who was Jain by birth became Jain Muni and was named as "DHARMASENACHARYA", but he was very badly displeased with, due to the difference of opinion amongst the Jain Sangha, to whom he was leading as a head of it, while he was on the way to visit Jain Thirthakhetra-holy place named, "THIRUNARUNKUNRAM or THIRUNARUNGONDAI" on the banks of the river Gadilam, only 40 miles from Pataliputra from where he had started He returned back from the middle of his way, to this Sri Virateswaram Temple and got converted himself and accepted the new sect Saivism. Afterwards he converted the said Virateswaram temple which was originally Sri Mahavir temple. This Jain Mahavir temple was in the Western part of the city of Pataliputra the then known and famous "THIRUPADRIPULIYUR—Thiruppapuliyur, which is now a days 25 miles away from the present town of Cuddalore on the main spot of ancient city of Pataliputra, in the above mentioned small ancient suberb-village THIRUVADIKAI or THIRUVADI, on the river Gadilam, the same which flows at present too near Cuddalore and it must be noted that all above refered ancient suberbs are on the banks of the river GADILAM itself.

In support of the above investigation of the old sites of ancient city of PATALIPUTRA, let us examine some of the ancient Tamil and other works. They throw light on the existence of the city of Pataliputra in Tamilnadu in the days of Acharya Samant-Bhadra. It is well known fact that the city of Kacchipuram was the capital of

12. Tamil "PERIYA PURANAM" and "TEVARAM RHIMES" sung by Tamil Saints.

Pallava Kings, who ruled over the country of Thondaimandalam and the Telagu country upto the river Krishna. The country between two "PINARAS" was called THONDAYAMANDALAM or THONDAINADU The Present North Arcot Dist of the Madras Presidency, was called the Sourthern "PINAR" and the part of the Nellore District and the Eastern Ghats were called the Southern "PINAR". This conntry was divided into so many "NADUS" and each "NADU" in many "KOTTAMS". This was the land which produced many great men and personalities, such as Pandits, Scholars, Munis, Yatis, Logicions, Philosophers, administraters, Naiyaiks, Vedantis and verious religions and sects that existed in the country [13] Almost the whole Tamil literature is full of work of merit in literary field and civic life of the country—THONDAYAMANDALAM and thus Kanchipuram was one of the big centre of learning in the north of the country, with PATALIPUTRA in the centre and Madura in the sourthern part of the TAMILANADU.[14]

It is quite clear from the Tamil works[15] that Pataliputra as was a very large and flurishing city, equally famous as the Pataliputra the capital of Magadha, in the times of Chandragupta Maurya. The city was spread far and wide, nearly 15 miles This ancient Pataliputra is mostly described in almost all the Tamil works and literature as the city of "THIRUPADARIPULIYUR"—Thiruppapuliyur. Now let us see how for Thiruppapuliyur means a city of Pataliputra The city was called after a tree 'PADARI" in Tamil, while Puliyur means a tiger village (i e Puli-a tiger and Ur or Or-a place) Puliyur is the suffix given to those places-villages, towns, cities etc, where Muni Vyagrapad (Muni having a tiger like legs with lower body and above a human body) worshipped Siva Lingam under the tree "PADARI". The pecularity of this tree PADARI is said that it bears only flowers and no fruits, the leaves and flowers have got the value of disinfecting and hence it is used in Homas of the Saivaits, as combination of Vibhuties, i. e. sacred ashes. The

13. Rao Bahadur Prof. A Chakravarti, M. A. Madras,—his Historical Preface to "THIRUVALLUVAR KURAL" translated in English.

14. South Arcot District Gazettier of Madras Province.

15 Tamil "Patalipur Puranam" manuscript No 1136/5.

16 Tamil "Puliyur Puranam" in Sanskrit language.

tree Padari is also called as PADALI or PATALI in Sanskrit and the place as "PATALIPUR or PATALIPUTRA and the forest round about the place is called "PATALIVANA" or as given in Sanskrit Such type of discription has been found in almost all the Tamil works and literatures.[17(A)]

Also we learn from Poranas[17(B)] in Tamil and other works, very fine description of this Pataliputra, written at different times by the different writers. While giving account of Patalivanam, which was round about the city of Pataliputra in those days, through which the famous river GADILAM was flowing near the city, it is said that the Patalivanam was the abode of the Great Munis and Yatis, Rishis, for centuries. We get even today a great number of Sama-dhisthanams or the NISHADHIS of the ancient times with the prehistorical burial grounds spread throughout the PATALIVANAM area.[18]

The existence of the city of Pataliputra is also supported by the Archiaeological finds such as inscriptions and other material found in excavation made by the Government Amongst which are found two inscriptions from the ruined ancient temples at Pataliputra Out of which one was in the Garbhagraham of the said temple. This inscription gives two stanzas about the description of the temple, which begins with "TALAITYA THIRUPADARIPULIYUR......" and states that the temple in the town of Patali of thick foliage has been founded for the diety named "KADAINYALAI MAHADEVA" etc Thus it is clear that "THIRU" in Tamil meens "SRI" in Sanskrit, 'Puli' in Tamil means a form of tiger like and Ur in Tamil means a "PURA" in Sanskrit. In short it gives complete reference to the existence of the ancient Pataliputra.[19].

17. (a) Tamil "Parijatakachal Mahatam' Mass No 11303.

(b) Tamil "Kanchi Puranam' all manuscripts from the Maharaja Sarafoji Bhonsala Sarasvati Mahal Library at Tanjore City, South India,

18 Tamil work 'Thirupadaripuliyur-Kalambakam", a work verified Structive Directory by Mr Tukapiat Tewar

19. Tamil "Periyapuranam" part II page 52 under the heading as "Tiru-puliyur" and "Tirupuriyuratam" or "Tiruviuttam", both manuscripts in the above Tanjore Library.

Even the Government records also give us the information that throw sufficient light over the existence of the ancient Pataliputra in South India, as described up till now in the above paras. It says thus" In Cuddalore which is the old THIRUPADARIPULIYUR, there is the big temple honoured by the songs of Siva Saints. There is the CHOLA inscription in the temple It appears that during the times of Appar, the JAIN TEMPLE in this place was dimolished and a Temple of Siva called "GUNAPATISWARAM" was built by Mahendravarman[20] at THIRUVADIHAI, on the river Gadilam. Further we get reference in the publications that Pataliputra was being called also as "PALIBOTRA"[21] which was destroyed by the river that was flowing by, near the town in the middle of the 8th century A. D. Besides the distruction made by the nature-river etc of the old city of Pataliputra, it was more the scene of dreadful and tremendous distruction made by the Kind Mahendravarman I of Madura and Saint Appar, the new converts to Saiva Sect, and jointly began to give such a crushing blow to Jain religion that it was absolutely rooted out from the land of Tamil, by converting the Jains and their associations and possessions and ultimate result was no ancient Jain temples-Bastis or Pallis. Mathas-monasteris, Chaityas, Caves. Caverns, Holy places, Jain Idols and images carved on the Jain temple pillars, Mahamandapams, etc, remained safe but completely distroyed, which can be seen by any layman with his nacked eyes clearly, even this day bright light It is said that thousands of Jains had to sacrifice to save their most valuable religion with all its possessions and associations from the hands of these new converts.

In the vicinity of this ancient Pataliputra there are good many ancient Jain places still in existence, such as Thirunarunkundram, Thirukkoilur, Devanur, Tondur, Perumdur, etc. In some of the villages round about them there are many ancient Jain Samadhisthanam NISHADHIS and as such a tradition is that nearly 6000

20. "District History of South Arcot" by Mr P. V Jagadisha Ayya of the Archaeological Survey of India, page No. 35

21 (a) Mr Apte's Dictionary page 1046 and "Clasical Account of India.

(b) The Geographical Dictionary of Ancient and Medival India by Mr. Nundalal Day, M.A B.L.

MUNIS Samadhisthanams or Nishadhis are at THIRUVANNA-MALAI and THIRUKKOILUR, in South Arcot District. No doubt that there are prehistorical burial grounds spread all over the part in great number as compared to any other place in Tamilnadu. There are also ancient natural caverns and caves still in delapidated conditions at KALARAYAN HILLS This district specially was a great centre of the Jain and their religion quite at zenith from the very begining of the Christian Era, upto the times of King Mahendra-varman I (6th Cent. A. D.)[22]

From the above discussion the following facts are clear :—

(1) Pataliputra—the present Patna was at zenith and important place in the 2nd century A. D when Acharya Samantabhadra is said to have lived. (2) Acharya Samantabhadra might have visited Pataliputra in Tamil land the ancient Thondaimandalam-South India, which is associated with other cities when Jain Religion and culture has attended the highest degree of importance

Therefore I have made an attempt to show in my humble way, I have nothing to say about other scholars who also must have based their ideas about Pataliputra-Patna, on some other records. I have given this only with a view that the scholars may again try to find the truth in the light of observations made by me on the subject matter.

---

22 (a) Gazettier of the South Arcot District and archaeological reports of the Southern circle, Survey Office, Madras

(b) Rao Bahadur Prof - A Chakravarti M A.—preface to "Thiruvalluvar Kural" English Translation

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ४) और विदेश के लिये ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं, मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म, साहित्य दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजना चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैनधर्म की उन्नति और प्रचार के अभिप्राय से कार्य करते हैं —

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्
प्रो० गो० खुशाल जैन एम० ए०, साहित्याचार्य
बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.
पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न

PRINTED BY D. K. JAIN SHREE SARASWATI PRINTING WORKS LTD. ARRAH.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १५ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XIV No 2

Edited by

Prof A. N. Upadhya, M A, D. Litt.

Prof C. Khushal Jain. M A. Sahityacharya.

B. Kamata Prasad Jain. M R.A.S, D.L

Pt Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY

(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)

ARRAH, BIHAR, INDIA

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 6d Single Copy Rs. 1/ .

JANUARY, 1949.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १५ | जनवरी १९४९ | किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.
प्रोफेसर गो० खुशाल जैन एम. ए., साहित्याचार्य
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.
पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) | विदेश में ३।) | एक प्रति का १॥)

विषय-सूची

श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १५ | जनवरी १९४९ । माघ, वीर नि० सं० २४७५ | किरण २

चीनदेश और जैनधर्म

[ले०—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन एम० आर० ए० एस०, डी० एल०]

"The cultural relationship between China and India has an extra remote origin, So remote that it is beyond our comprehension"—

Dr. Tai Chi—Tao [1]

चीनदेश के प्रकाण्ड पण्डित डा० ताइचि-ताउ का कथन है कि चीन और भारतवर्ष का सांस्कृतिक सम्बन्ध अतीव प्राचीन है—इतना प्राचीन कि उसका अनुमान लगाना कठिन है। डॉ० सा० का यह कथन निस्संदेह वस्तुस्थिति का द्योतक है। जैनशास्त्रों में हमें चीन देशका उल्लेख कर्मभूमि के आदिकाल में भ० ऋषभदेव के समय से ही मिलता है। तब चीनदेश की गणना अनार्य देशों की कोटि में की गयी थी[2] और पुराणकार कहते है कि भ० ऋषभदेव के पुत्रों के नामकी अपेक्षा अथवा उनके शासनाधिकार में रहने के कारण देशों के जो नाम प्रसिद्धि में आये थे, उनमें चीन और महाचीन देश भी थे[3]। यह निश्चित है कि सुसंस्कृत चीनवासियों के पहले उस देश में असंस्कृत मनुष्य रहते थे। चीनालोग

1. On Cultural Relations Between India & China, by Tai Chi-Tao, p 1

२ प्रश्न व्याकरण सूत्र (श्वे०)-हैदराबाद संस्करण—पृ० १७ (..खसखस, चीणा, खासिय..,)

३ "ऋषभदेवतणां पुत्रतणों नामिहं सयलदेश आणिया। ते कुरा-काश्मीरदेश ....एवं देश अट्ठाणू अनइ भादन, हाबस, मुगदिसु, धनगिरि, लीकोत्तर, चोलगाट, पांड्य, ताबीउ, त्रिहूति भोट, महाभोट, चीण, महाचीण, बंगाल, पुरसाण, मगध...प्रमुख अनेक देश वसेइ।"—पृथ्वीचंद्रचरित्र

—Dalal; प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह (बड़ौदा) पृ० ९७

कासपियन झील के दक्षिण से जाकर के चीन में बसे बताये जाते है। पुरातत्त्वविदों का मत है कि वे मिस्रीयवंशोद्भूत ही सभवतः है। उनकी शरीर आकृति और अवयव आर्यजाति से सम्पूर्ण भिन्न हैं। वह मङ्गोलीयश्रेणि भुक्त हैं। फोही चीन के प्रथमाधीश्वर अनुमान किये जाते हैं, जिन्होंने चीनीभाषा बनायी और राज्य में विवाह, सङ्गीतशास्त्र, वेशभूषादि के नियम प्रचलित किये और उन्हें लिपिबद्ध किया। वह चीनी वर्णमाला के आदि सृष्टा थे[४]। इस इतिवृत्त से जैनों का यह कहना कि चीन मूलतः अनार्य देश था, उचित ठहरता है। जैनों को चीन का पता उस समय से था जबकि वहाँ के आदिनिवासी सभ्य और सुसंस्कृत नहीं थे। किन्तु जैनों का सीधा सम्पर्क चीनवासियों से कब हुआ और जैनधर्म कभी वहाँ पहुँचा या नहीं ? यह प्रश्न विचारणीय हैं।

डॉ० बुह्लर को भी अपने अध्ययन में यह शङ्का हुई थी कि क्या जैनधर्म चीन में कभी पहुँचा था[५]। डॉ० वेबरने जैन ज्योतिष शास्त्रोका अध्ययन करते हुए उसका सादृश्य चीनी-मान्यता से पाया था। इसपर उन्होंने यही अनुमान निर्धारित किया था कि जैनों से चीनवासियोंने ज्योतिष विद्या ली थी[६]। चीनी हमारी तरह ही बारह राशियाँ और दस दिक्पालादि मानते थे[७]। जैन चिन्ह स्वस्तिका भी चीनों को मान्य है, जो भारत से वहाँ पहुँचा है[८]। इसके अतिरिक्त चीनदेश के प्राचीन धर्म तावइज़्म (Tavism) की शिक्षा बिल्कुल जैनधर्म के अनुरूप है। जैन विद्वान् श्रीचम्पतरायजी विद्यावारिधि ने तो लिखा है कि "तावमत यथार्थ भावका अपेक्षा जैनधर्म की शिक्षा का ही खुलासा है।"[९] तावमत की स्थापना भ० महावीर के समय अर्थात् ईस्वी पूर्व छठी शताब्दि के लगभग लावट्ज़े (Lao-tze) नामक तत्त्ववेत्ताने की थी। 'ताव' शब्द का अर्थ जीवन है, जो अनादिनिधन है। इस शाश्वत जीवन को प्राप्त करना मानव का ध्येय है। तावमत के रहस्यमय ग्रन्थ 'ताव-तेह-चिङ्ग' (Tao Teh-Ching) में लिखा है कि—

"जितना ही विशेष दूर कोई मनुष्य अपनी सत्ता (जीवन-आत्मा) से बाहर जाता है, उतना ही कम वह अपने को जानता है।" (से० बु० ई०, भा० ३९ पृ० ८९)

---

४ हिन्दी विश्वकोष, (कलकत्ता) भा० ६ पृष्ठ ४१७

5 "I do not know if Jainism flourished in China — Buhler जैनधर्म का महत्त्व (बंबई) पृ० २७२

6 "...The Chinese must be regarded as the borrowers, through the medium of Buddhism, with which Jainism was frequently confused by the Chinese." — Dr. Weber, nd. Ant, XXI., p. 15.

७ हिन्दी विश्वकोष, भा० ६ पृ० ४२७

८ रासमाला, पृ० ४२

९ असहमत संगम पृ० ३१४

यह शिक्षा बिल्कुल जैन के अनुरूप है। एक जैनी प्रतिदिन बाह्य सम्बन्ध में न जाने की भावना निम्न शब्दों में भाता है—

"न सन्ति बाह्या मम केचनार्था,
भवामि तेषां न कदाचनाहम्।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं,
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ॥ २४ ॥"—सामायिकपाठ

आगे उसी चीनी पुस्तक में कहा है कि—

"वह मनुष्य जिसकी जात (व्यक्तित्व) में ताव (शाश्वत जीवन) के गुण विशेषरूप में हैं, एक बालक के सदृश होता है। विषैले कीड़े उसको डंक नहीं मारते। क्रूर पशु उसको नहीं पकड़ते। शिकारी पक्षी उसको नहीं खाते।" (पूर्व पृ० ६६)

जैनधर्म में वर्णित जीवन की तीन अवस्थाओं बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा में से उपर्युक्त वर्णन का सादृश्य अन्तरात्मा से है। अन्तरात्म दशाको प्राप्त मानव समरसी होनेके कारण विश्वप्रेम का पुतला होता है। द्वेष, द्रोह और दुःख उसके पास नहीं फटकते। वही परमात्मरूप को जानकर परमात्म दशाको प्राप्त होता है। चीनीमत में भी यही कहा गया है—

"मनुष्य अपनी मानसिक शक्तियों को पूर्णरूप से काममें लाकर अपने स्वभावको समझ जाता है और जब वह अपने स्वभावको समझ जाता है तो वह परमात्मा को समझ जाता है।"[1]

जैनसाधक नित्यप्रति यही भावना भाता है। वह 'सामायिकपाठ' में कहता है—

'आत्मानमात्मन्यविलोकयमान—
—स्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र,
स्थितोपि साधुर्लभते समाधिम् ॥ २५ ॥'

शाव-बङ्ग नामक चीनी विद्वान् उस परमात्मा को हृदय में विराजमान बतलाते है। वह लिखते हैं—

"आकाश शान्त है। कोई शब्द नहीं होते हैं।
तब परमात्मा कहाँ मिलेगा ?
दूरस्थ व्याप्त आकाश में उसकी खोज मत करो,
वह स्वयं मनुष्य के हृदय में विराजमान है।"[2]

१—२ असहमत संगम पृ० ३१०-३११

हृदय में विराजमान इस परमात्माको प्राप्त करना ही चीनी मुमुक्षु का ध्येय है।' जैन साधक का ध्येय भी तो यही है! परमात्मदशाके महत्व को प्रकट करनेवाले चीनी तत्त्ववेत्ता के निम्नलिखित वाक्य बड़े ही मार्मिक और अध्यात्मरस से पूर्ण हैं—

"प्रत्येक मनुष्य जो बाह्य वस्तुओं में विशेषरूपेण लिप्त रहता है (अर्थात् उनसे मोह करता है) वह अन्तरंग में निर्धन होता है।" (दी म्यूजिंग्स ऑव ए चाईनीज मिस्टिक—पृ० १००)

"यदि तुम मानसिक पूर्णता की प्राप्ति में दत्तचित्त हो जाओ तो पुण्य और पाप सत्ताहीन हो जावें। यदि जिह्वा अपने प्राकृतिक नियम के आधीन हो जावे तो उसको लाभ और हानिका भान न होगा।"

(तावइस्ट टीचिंग, पृ० ४७)

"शरीर से छुटकारा पाने के लिये केवल एक ही मार्ग है, जो मनसे कषायों का निकाल डालना है।" (Ibid, p-42)

"महात्मा पुरुष सर्वोत्तम विजयी है।" SBE. xxxix p 385)

"वह मनुष्य जिनमें उत्कृष्ट गुण पाये जाते हैं प्रकाशपर अवस्थित होकर ऊपर चढ़ जाते हैं। उनके शरीर के बन्धन नष्ट हो जाते हैं।" (Ibid, 324)

"ध्येय की प्राप्ति का अर्थ पूर्ण आनन्द है।... - आजकल ध्येय प्राप्तिका भाव गाड़ियों और छत्र की सिद्धि से है। परन्तु गाड़ियों और छत्रका प्रभाव शरीरपर पड़ता है। उनका कोई सम्बन्ध हमारे स्वरूप से, जैसा वह वास्तव में है, नहीं है। जब ये वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं तो वह अल्प समय के लिये होती हैं। क्षणिक होनेके कारण उनका आना-जाना रुक नहीं सकता है।......... अतः वह मनुष्य जो सांसारिक वस्तुओं के पीछे अपने आपको भूल जाते हैं और पौद्गलिक वस्तुओं के ध्यानमें अपने असली स्वरूपको गंवा देते हैं। उनकी बाबत कहना पड़ता है कि वे ऐसे मनुष्य हैं जो प्रत्येक कार्य को उल्टा करते हैं।' (Ibid. pp 372-373)

ठीक इस प्रकार के धर्म-वाक्य जैनशास्त्रों में हमको पद-पद पर मिलते हैं। उदाहरण रूपमें कतिपय निम्न प्रकार हैं—

ममपुत्तं मम भज्जा मम धणधण्णोत्ति तिव्वकंखाए।
चइऊण धम्मबुद्धिं पच्छा परपडदि दीहसंसारे॥" (बारहअणुवेक्खा)

भावार्थ— बाह्य जगत के मोहबन्धन में फँसे रहने के कारण कि यह मेरा पुत्र है, मेरी भार्या है, मेरा धनधान्य है और धर्मबुद्धि को छोड़ देनेसे मानव दीर्घ संसार में पड़ता है !

"जेण णिरंजणि मणु धरिउ विसयकसायहिं जंतु ।
मोक्खह कारणु एत्तडउ अवरइं तंतु ण मंतु ।।" (पाहुडदोहा)

अर्थ—"विषयकषायों में जाते हुए मनको जिसने निरंजन में रोक लिया तो शरीर से मुक्त होने—मोक्षपानेका कारण इतना ही है । और कोई तंत्र है न मंत्र !"

'पाउवि अप्पहिं परिणवइ कम्महं ताम करेइ ।
परमणिरंजणु जाम ण वि णिम्मलु होइ मुणेइ ।।'—पाहुडदोहा

अर्थ—"पापका आत्मा में तभीतक परिणाम होता है और तभीतक कर्मबन्ध होता है, जबतक, निर्मल होकर, परमनिरंजनोंको नहीं जान लेता ।"

'जोइय जोएं लइयइण जइ धंधइ ण पडीसि ।
देहकुडिल्ली परिखिवइ तुहुं तेमइ अच्छेसि ।।"

अर्थ—'हे जोगी ! जोग लेकर यदि तू फिर धंधे में नहीं पडेगा तो इस देहरूपी कुटिया का क्षय हो जायगा और तू अक्षय (परमात्मा) हो जायगा ।"

"अरि जिय जिणवरि मणु ठवहि विसयकसाय चएहि ।
सिद्धि महापुरि पइसरहि दुक्खहं पाणिउ देहि ।।"

अर्थ—रे जीव, जिनवर में मनको स्थिर कर, विषय-कषाय को छोड़, सिद्धिमहापुरी में प्रवेश कर और दुखों को पानी दे !"

"तोडिवि सयल वियप्पडा अप्पहं मणु वि धरेहि ।
सोक्खु णिरंतरु तहिं लहहि लहु संसारु तरेह ।।'

अर्थ—"समस्त विकल्पों को तोड़कर आत्मा में मनको धारण कर वहीं तुझे निरन्तर सुख मिलेगा और तू शीघ्र संसार को तर जायगा ।"

"जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा ।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ।।"

भावार्थ—जो जीव पर्य्यायों में मोही हो रहे हैं—संसारी वस्तुओंके रागद्वेष में फँसे हुए हैं, वे बाहर के पराये मतके अनुयायी हैं और जो स्वात्मा के स्वभाव में लीन है, वे अपने—आत्मधर्म के माननेवाले हैं ।

"तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि आणुकंपा ।।"

भावार्थ—जिसके हृदय में भूखे, प्यासे और दुखीको देखकर पीड़ा उत्पन्न होती है और उन्हें वह करुणा से अपनाता है, वह मानव ही अनुकम्पावाला है।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि प्राचीन चीनीधर्म और जैनधर्म के सिद्धान्तों में परस्पर कितनी एकता है! दोनोंके सिद्धान्त और उपदेश एक समान हैं। क्या यह संभव नहीं है कि तीर्थङ्कर महावीर की पवित्र वाणी का प्रसार ही लावत्ज़े द्वारा चीनमें किया गया हो? अतः कहना होगा कि चीनीवासी जैनधर्म और अहिंसासिद्धान्त से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं थे। सम्भव है कि बौद्धधर्म के साथ अथवा उससे पहले ही जैनधर्म वहाँ पहुँचा हो। शास्त्रीय साक्षी तो यही बताती है। चीनके प्राचीन स्थानों और कीर्तियों का सूक्ष्म अवलोकन जैनदृष्टि से किया जावे तो सम्भव है कि जैनोंके अस्तित्व का कुछ पता वहाँ चले। श्री एन० सी० मेहताने बताया था कि चाइनीज़ तुर्किस्तान की गुफाओं में नग्न साधुओं के चित्र बने हुए मिले हैं, जो सम्भवतः जैन थे[1]। कुछ प्राचीन मूर्तियाँ भी वहाँ पर ऐसी हैं, जो यद्यपि म० बुद्धकी मूर्तिके रूपमें पूजी जाती हैं; किन्तु उनकी आकृति जिनप्रतिमा सदृश है[2]। वैसे चीनी भाषाके त्रिपिटक एवं अन्य शास्त्रोंमें जैनोंका उल्लेख मिलता है। डॉ० टुक्कीका कथन है कि उनमें जैनोंका उल्लेख मुख्यतः 'निर्ग्रन्थ' नाम से और गौणतः 'अचेलक' रूपमें हुआ है। उनको 'ज्ञातिपुत्र' अथवा 'ज्ञातृपुत्र' श्रमणों से भिन्न निर्दिष्ट किया है[3]। ज्ञातृपुत्रोंको प्रो० टुक्की सा० आजीविक अनुमान करते हैं; परन्तु हमें भूल न जाना चाहिये कि भ० महावीर स्वयं 'ज्ञातृपुत्र' कहलाते थे और अनेकान्तमत—अस्ति नास्त्यादिरूप स्याद्वादके उपदेष्टा थे। चीनीशास्त्र ज्ञातृपुत्र श्रमणों को 'अनुभय-सिद्धान्त' का प्रतिपादक घोषित करते हैं। हमारा अनुमान है कि चीनी साहित्य में भ० महावीर ज्ञातृपुत्र से पहलेके जैनश्रमणों का उल्लेख निर्ग्रन्थ अथवा अचेलक श्रमण रूपमें किया गया है और भ० महावीर के श्रमण उनकी अपेक्षा ज्ञातृपुत्र-श्रमण कहे गये हैं।

आर्यदेव के 'षटशास्त्र' में निर्ग्रन्थ श्रमणों के आप्तदेव ऋषभ कहे गये हैं और उसमें निर्ग्रन्थ श्रमणों की कठिन तपस्या का विशेष उल्लेख किया गया है। चीनी टीकाकार कि—त्सांग ने उसकी विवेचना करते हुए निर्ग्रन्थ मतपर विशेष प्रकाश डाला है। चीनी भाषामें संस्कृत से अनुवादित हुआ 'उपयहृदय' नामक एक न्यायग्रन्थ उपलब्ध है। उसमें निर्ग्रन्थ (जैन-सिद्धान्त) का निरूपण हुआ है। जैनों के नव-तत्त्वों में निर्जरा को छोड़कर केवल

---

1 An Introduction to Indian Art

२ मध्यचीन में मार्नाक्रुंग से २० मील दूर अवस्थित 'सहस्रबुद्ध' नामक मठ में जो २४ फीट ऊँची बुद्ध मूर्ति (पद्मासन) विराजमान है, वह बिल्कुल जिन प्रतिमा भासती है। आजकल उसे चीवर ढका रक्खा है। फिर उसकी ध्यान मुद्रा और आसन जैन के समान है। ता० १८ जुलाई ४८ को 'हिन्दुस्तान' में चित्र है। यह १५०० वर्ष प्राचीन है।

३ "वीर" महावीर जयन्ती विशेषांक, वर्ष ४ पृ० १२२-१२६

आठ (१) जीव, (२) अजीव, (३) पाप, (४) पुण्य, (५) आस्रव, (६) संवर, (७) बंध, (८) मोक्ष बताये है। पाँचों ज्ञानों का निर्देश अलबत्ता ठीक से किया गया। आठ कर्मोंका उल्लेख छः आवरणों के नामसे निम्नप्रकार किया है—

(१) दर्शनावरण, (२) वेदनीय, (३) मोहनीय, (४) आयु, (५) गोत्र, (६) नाम। इनमें ज्ञानावरणीय और अन्तराय को चीनी लेखक भूल गया है। क्रोध, मान, लोभ, माया—

इस प्रकार चार कषाय भी गिनाये गये है। चीनी साहित्यमें और भी बहुत से जैन सम्बन्धी उल्लेख प्रो० टुक्की को मिले हैं, जिसपर वह एक लेख लिखनेवाले थे[१]। सारांशतः चीनीभाषा के साहित्यमें जैनोंके उल्लेख मिलना इस बातका प्रमाण है कि चीनीलोग जैनधर्म से परिचित थे।

जैनसाहित्य में आगे जो थोड़े-से उल्लेख हमें मिले हैं उनसे स्पष्ट है कि जैनियोंका सम्पर्क चीनदेश से प्राचीनकाल से है। जैन व्यापारीगण समुद्र द्वारा जिन द्वीपों से व्यापार करते थ उनमें चीन देशका भी नाम मिलता है। 'शत्रुञ्जयमाहात्म्य' में जैन सेठ जावड़के चरित्र में लिखा है कि उसके जहाज भोट, महाचीन और चीनको गये थे[२]। फिर वह सुवर्णद्वीप पहुचा था। चीनदेश की वस्तुओंमें चीन-पट, एक विशेष प्रकार का वस्त्र और धवल (कपूर) जैनोंमें विशेष प्रचलित थे[३]। जिस प्रकार आजकल चाइना-सिल्क प्रसिद्ध है, वैसे ही उस प्राचीन कालमें चीन पट प्रसिद्ध था और वह एक खास रगका बनता था; यही कारण है कि प्रसिद्ध राजवार्तिक-कारने उसके रंगके अनुरूप एक विशेष पर्वतका रग निर्दिष्ट किया था। "चीनपट्टवर्णः वाक्यका अर्थ "चीनदेश के बने हुए रेशमी कपड़ोंका-सा वर्ण" पर्वतका है, श्रीमान् पण्डितप्रवर माणिक्यचन्द्रजी न्यायाचार्य ने निर्देश करने की कृपा की है। श्रीवसुबिन्दु प्रतिष्ठापाठ मे चीन के कोमल सचिक्कण सुन्दर वस्त्र को प्रतिष्ठा कार्य मे आच्छादन के लिये प्रयुक्त करने का विधान है।[४] श्रीहेमचन्द्राचार्यने चीनाक नामक एक धान्यविशेष का उल्लेख किया है, जो कौवों को अधिक प्रिय होता है। ('चीनकस्तु काककगु) [काकप्रिया कगु काककगु']—अभिधानचिन्तामणि ४। २४४) सभव है कि

---

१ "वीर" महावीर जयन्ती विशेषांक, वर्ष ४ पृ० ३५५-३५६

2 "gāvaḍa sent ships to Bhota, Mahāchina and china"
- Burgess, Satrunjaya Māhātmyan (Bombay)-p 30.

३ राजवार्तिक पृ० ४०, श्वे० बृहद् भाष्य (४।३६६२) मे इसका नाम 'चीणंसुय' लिखा है। 'नागकुमार चरिउ' (२।६।६) धवल नाम से चीनीकपूर का उल्लेख है। 'धवल' चीनी कपूर का अपरनाम है; यथा:—

'चीनकश्चीनकर्पूरः कृत्रिमो धवलः पटुः। मेघसारस्तुषारश्च द्वीपकर्पूरजः स्मृतः॥" मुनिसुव्रत काव्य सर्ग ६ में कपूर के उपयोगका उल्लेख है।

४ "चीनसलक्षणसूक्ष्मोत्तरीयपट चोरकर्नं पुरा निर्मितं।" वसुबिन्दु प्रतिष्ठापाठ सटीक पृ० ४९

यह शब्द चीनदेश के चावल के लिये प्रयुक्त हुआ हो। सारांश यह कि चीनदेशकी वस्तुओं का ज्ञान जैनियोंको था—वे उनको अपने दैनिक व्यवहार में लाते थे।

प्राचीनकाल में भारतवासी चीनदेशको स्वर्गलोक और इन्द्रको वहाँ का शासक मानते थे। भारतवासी मनुकी सन्तान होनेके कारण मानव अथवा मनुष्य कहलाते थे। विद्वानोंका मत है कि इन भारतीय मनुष्यों का संघर्ष देवताओं और दैत्यों से चला करता था। भारतीय मानव प्रायः देवताओंके साथ रहा करते थे। दैत्यों के लिये देवताओंके देशको विजय करना सुगम न था। जब कभी भारतीय आर्य देवताओंकी सहायता करने गये तो वे हिमालय पर्वतको पार करके वहाँ पहुंचे थे। सचमुच देवताओं का देश चीन ही था। अर्जुनने हिमालय में तपस्या करके इन्द्रराज से दिव्य अस्त्र प्राप्त किया था। देवलोककी गणना वर्जित देशों में की गयी है चीन भी ऐसा ही देश समझा गया है। देवताओंकी तरह चीनी भी अपने सौन्दर्य के लिये प्रसिद्ध है[1]। चीनी स्वयं अपने देश और राज्य को 'स्वर्गीय' अर्थात् देवलोकका बताते हैं[2]। दैत्य, किन्नर, नाग आदि नामों की जातियाँ मध्य-एशिया में एक समय बसती थीं[3]। जैनग्रन्थों में मानवों के साथ-साथ सुर, खेचर और किन्नर जाति के लोगोंका उल्लेख हुआ मिलता है"। नरलोक में विजयार्द्धादि पर्वतोंपर स्वर्गों के देवता नहीं मिल सकते। अतः यह मानना होगा कि उपर्युक्त वाक्यों में 'सुर' और 'किन्नर' शब्द नरलोक के मानवों के लिये प्रयुक्त हुए हैं। खेचर शब्द विद्याधरवंश के लोगोंका द्योतक था। सिंहलद्वीप में सुरों, खेचरों और किन्नरोंको क्रीडा करते हुए लिखा है[5]। करकंडु के विषय में लिखा है कि वह उस घने जंगल में घुस गये जिसमें मनुष्य, खेचर, किन्नर और सुर भी नहीं घुस सकते थे[6]। स्मरण रहे, विक्रिया ऋद्धिधारी सुरों के लिये किसी भी जंगल में घुस जाना बायें हाथ का खेल है। अतः उपर्युल्लिखित सुर-किन्नर देवपर्याय के न होकर नरपर्यायके लोग ही होना चाहिये। 'भविसयत्तकहा' में एक स्थलपर उल्लेख है कि 'इन्द्र-नरेन्द्र-सुरेन्द्रने अर्चना की[7]।' इस वाक्य में इन्द्र देवपर्यायका द्योतक है और सुरेन्द्र नरलोक के सुरोंका बोधक होना चाहिये। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि जैन लेखक भी नरपर्यायके सुर किन्नरादि जातियों से परिचित थे।

---

१ अंग्रेजी जैनगजट, फरवरी-मार्च ४८, पृ० २८-२६

२ हिन्दी विश्वकोष, भाग ४ पृ० ४१७

३ नन्दूलालडे कृत 'रसातल' नामक पुस्तक देखें

४ करकंडुचरिउ (कारंजा सीरीज़) २।२, ५।१, ७।३।४-५

५ करकंडुचरिउ, परिच्छेद ७ कड़व १ छंद ५-६

६ करकंडुचरिउ, ७। ६। ४-५

७ 'इंदणरिंदसुरिंदहि अंचिउ।'—४।१२

जैन 'पद्मपुराण' में विद्याधरवंश के परिचय में लिखा है कि विजयार्द्ध पर्वत की दोनों श्रेणियों के अधिकारी नमि—विनमि के वंशज विद्याधर कहलाये थे। उनमें एक इन्द्र नामका राजा मुनिसुव्रतनाथजीके तीर्थकाल में प्रसिद्ध हुआ था। उसके समय में विद्याधर लोग इधर उधर फैल गये थे। इन्द्रने उन सबको वश किया और देवेन्द्र-वत् उसने राज्य-व्यवस्था की स्थापना की। उसने विद्याधर लोगों में देवनिकाय के भेद प्रभेदों और नामों की कल्पना की। असुरनगर के विद्याधर असुर, यक्षकीर्तिनगर के यक्ष, किन्नरनगर के किन्नर इत्यादि कहलाये[1]। इन्द्र स्वयं सुर-विद्याधर हुआ और उसका साम्राज्य सुर अथवा देवसाम्राज्य कहलाया। अतएव यह स्पष्ट है कि जैन कथाओं में विद्याधरवंशोद्भूत सुर-असुर-किन्नर-नाग आदि लोगोंका भी उल्लेख हुआ है। इन्द्रका यह सुर-साम्राज्य संभवतः चीन में या उसके निकट ही स्थापित हुआ भासता है। हिन्दू पौराणिकोंने इन्द्रकी राजधानी और उसके राजोद्यानादि उत्तरीय ध्रुवमें स्थित बतलाये हैं। स्वर्गादि की कल्पना भी हिन्दू-पौराणिक ग्रन्थों की है[2]—यह इन्द्र विद्याधर राजा ही हो सकता है; क्योंकि देवेन्द्र को हिन्दू भी ऊर्ध्वलोक में मानते हैं। इस अवस्था में विजयार्द्ध की स्थिति उत्तर और दक्षिणी ध्रुवों में होना संभव है। विजयार्द्ध २५ योजन ऊँचा और भूमिपर ५० योजन चौड़ा शास्त्रों में बतलाया है। वह पूर्व पश्चिम समुद्र से समुद्रतक विस्तृत है और चांदी के समान सफेद है[3]। इन ध्रुवों में जो खोज हुई है उससे वहाँ नगरों और ग्रामोंका अस्तित्व प्रमाणित होता है। एक समय वहाँ की अधिकता से वहाँ के निवासी यूरोप, ऐशिया आदि देशों की ओर चले आये थे[4], पदार्थ विज्ञान से भी इस शीतके प्रकोपका समर्थन होता है[5]। संभवतः इन्द्र विद्याधर के वंशज चीनमें आकर बसे हों और उन्होंने अपने पूर्वज इन्द्रको मान्यताके अनुसार अपने राज्यको स्वर्ग या देवोंका राज्य कहा हो तो आश्चर्य नहीं। इस ओर गवेषणा और शोध करने की आवश्यकता है।

जैनशास्त्रों में मंगलावती (संगलवाई) नामक देशका बहुत उल्लेख हुआ है[6], एक मंगलावती देश धातुकी खंड में था और दूसरा जम्बूद्वीप में। अधुनाज्ञात लोकका समावेश जम्बूद्वीपान्तर्गत भरतखंड में होता है[7]। अतः यह मंगलावती देश अथवा उसके निवासी मंगल—लोगोंका पता ज्ञात दुनिया में चलना असंभव नहीं। सोलहवें तीर्थङ्कर शान्तिनाथका

---

1 श्रीपद्मपुराण (कलकत्ता), पृ० ४६ व १०६-१०९

2 ज्योग्राफिक रिसर्चेज, भा० १ पृ० ४२

3 पद्मपुराण पृ० ४८-५६ व हरिवंशपुराण, पृ० ५४

4 'वीर' भाग २ अंक १०-११

5 प्री-हिस्टॉरिक इंडिया, पृ० ४३

6 त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रम् (मा० ग्रं०), पृ० ८, २२, २८, ४६, एवं १९२

7 हमारी रचना "भगवान् पार्श्वनाथ" पृ० १९८-१९८

जीव अपने एक पूर्वभव में मंगलावती देशके राजा क्षेमंकर की रानी कनकचित्राका पुत्र रत्नसंचयपुर में जन्मा था। वज्रायुध उसका नाम था। क्षेमंकर मुनिराज से दीक्षा ले उसने तप तपा और वह स्वर्ग गया था।[1] चीनदेश का अपरभाग मंगोलिया नामसे प्रसिद्ध है। उसका यह नामकरण मंगोल जातिके कारण है। क्या यह संभव नहीं कि मंगलावती देशके लोगोंने चीनके इस भागका नाम मंगोलिया रक्खा हो? वास्तवमें जैनशास्त्रों में वर्णित [illegible] और क्षेत्रोंका अध्ययन करने की आवश्यकता है। तब ही कुछ निश्चयात्मक कहा जा सकता है। मंगलावती देशरूपमें जैनी मंगोलिया से परिचित हों तो आश्चर्य क्या?

जैनशास्त्रभंडारों में "ब्र० लामचीदास की कैलाशयात्रा" नामक रचना संवत् १८२८ की लिखी हुई मिलती है। लाडनूं से श्रीभैरोंदानजीने ता० ५। ८। १९२७ को उसकी प्रतिलिपि हमको भेजी थी। उसको पढ़कर हमने उसे जाली अनुमान किया था, क्योंकि किसी भारतीय का नाम लामचीदास नहीं होता और चीनादि देशों में जैनों का उल्लेख भी हमें सदिग्ध जंचा था। किन्तु अब हमारा विचार बदल गया है। एक भारतीय का लामचीदास नाम होना संभव है, क्योंकि तिब्बत भूटानादि देशों में जो भारतीय जाकर बसे थे, वह स्थानीय प्रथाओं से प्रभावित हुए थे और उन्होंने मिलेजुले नाम रक्खे[2]। ब्र० लामचीदास नाम भी आधा तिब्बतीय और आधा भारतीय है। 'लामा' तिब्बत भूटान में पुरोहित भिक्षु को कहते है। संभव है कि किसी लामा से जादू-गंडा कराया गया हो और उसके बाद ही लामचीदासजीका जन्म हुआ हो। अतः लामा के अनुग्रह को लक्ष्य कर उनकी माताने लामचीदास नाम रक्खा। वह लिखते है कि वह क्षत्रियकुलोत्पन्न सूर्यवंशी गोलालारान्वयके श्रावक जैनी थे। भूटान देशके सिरमध्यनगर मे वह रहते थे। वहाँ से वह विक्रम सं० १८०६ में ब्रह्मा चीनकी यात्रा के लिये गये थे। कामरू होकर वह ब्रह्मा के किरेटग पदेश के कोसी नगरमें पहुंचे, जहाँ की स्त्रियाँ मुलम्मेका काम अच्छा करती थीं। ब्रह्माकी राजधानी आवा शहर लिखा है। वहाँ भी वह गये थे। आगे ब्रह्माके कपूरीदेश में होकर गये, जहाँ कपूर उत्पन्न होता था और पहाड़ों में सोने-चाँदी की खानें थीं। कोचीन मुल्क की सीमापर ब्हावल पहाड़ के घाटेपर ढेवा नगर फिर वह पहुंचे। इस पहाड़ीपर उन्होंने बाहुबलीजीका प्रतिमा देखी, जिसे वर्मी बुद्धकी मूर्ति मानकर पूजते थे। कार्त्तिक में वहाँ मेला भरता था। इन प्रतिमाओंका एक हाथ उपदेशरुद्ध उठा लिखा है। अतः यह मूलतः बुद्धप्रतिमा ही है। ब्र० जी को भ्रम हुआ। वहाँ से वींदमदेशके होवीनगर वह पहुंचे। राजा और प्रजा बौद्ध थे। वह लिखते है कि 'इस देश में कहीं-कहीं अमेढना जैनी रहे हैं। उनकी प्रतिमा सिद्ध के आकार की है।' वहाँ से उत्तर की ओर चीनदेश, के सिरगम प्रान्त के ढाकुल नगरमें १६०० कोस चलकर पहुँचे। (?) नगर १८ कोसके

१ "पुत्रोऽभूद्रो मङ्गलावत्यां चक्रीवज्रायुधोऽभवत्।" त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रम्

२ इन्डो-चिनो जर्नल, भाग १ खंड १

घेरे में लिखा है ! राजा-प्रजाको जंगाड़ा जैनी लिखा है। अवधिज्ञानको विशेष मानते हैं। शेष बौद्धमती हैं। वहाँ से चलकर खास चीनदेश के खोसम प्रान्तके पीकुननगर में पहुँचे लिखा है इसका कोट चोनीकोण ४० का है। ३२ दरवाजेपर लिखे हैं। पत्थर के मकान—बाजार आदि थे, कलकी गाड़ी सड़कार और धुयें की पहियेदार किश्ती नहरों में चलती उनने देखी थी। बाजारको पंक्तिबद्ध महासुन्दर लिखा है। 'सड़कोंपर एक तार सूतके माफिक फौलादका वास्ते डाक के लग रहा है। तीन घडीमें हजार कोसकी खबर दे सकता है। सैकड़ों विद्यामंदिर जारी थे। कम्पामका काम अद्भुत यहाँ से शुरू हुआ लिखा है। सारी दुनियाको यहाँ से ही घड़ियाँ बनकर जाती लिखी है। वर्णमाला के अक्षर ६८००० लिखे है। मनुष्यों का रंग गोरा और वे सच्चे लिखे है। किला अष्टधातु का बना लिखा है। राजमहल में सुनहरी चित्रावली व हीरा पन्ना जडे लिखे हैं। राजाका नाम अलग—शाह बौद्धमती लिखा है। पर्वकी ओर पर्वत में रंगकी खान है, जिसमे तरह तरहके रंग बनाकर छपाई होती है। कलपुतली (मिलो) से कपड़ा बुना जाता है। रेशमी, ऊनी और मखमली कपडा बनता है। सब बौद्धमती है, कहीं कहीं कोई जैनी है। कनफूसश नामा अवतार गौतमबुद्ध से एकसौ वर्ष बाद हुआ मानते लिखा है। खास चीनके लोग उसीके मतानुयायी थे। उस समय वहाँ सन् २३१८ चल रहा था। ब्र० लामचीदास वहाँ एक वर्ष ठहरे। बौद्धमंदिर कीमती जड़ाऊ देखे थे। ब्र० जीने लिखा है कि "इन छहों चीनमें आठ तरह के जैना देखने में आये है। खास चीनमें तुनावादे जैनी हैं। कोरिया चीनमे पातके है और घघेरवाल, बघानारे जैना है। निश्चत चीनमें सोहनावारे जैनी है। और चीन तातार में भी सावन वारे जैनी है। महाचीन में जगाड़ा जैनी हैं। काचीनमें अमेड़ना जैना हैं।" संभव है, यह जैना व्यापार करने के नायत से वहाँ जाकर बस गये थे। पेकिनशहर में तुना-वारे जैनियों के ३०० मन्दिर लिखे है। संभवत प्रत्येक जैनगृह में चैत्यालय होगा—तभी इतनी संख्या हो सकती है। उनमे प्रतिमा खड्गासन भी है। पद्मासन प्रतिमाओं का एक हाथ केशलोंच करता हुआ दर्शाया गया है। छत्र हीरा-मोती के है। सोने चांदी के कल्पवृक्ष बने थे। वे दीक्षा कल्याणक को विशेष पूजते थे। जैनागम भी उन्होंने चीन की बोलचाल में रचा था। धर्मोद्योत खूब था। पेकिन से वह तातार देश में सागर नगर पहुचे थे। वहां घघेरवाल जैनी मिले, जिनके बिंब मनोहर ३॥ गज ऊंचे और १॥ गज चौड़े, चौथ काल के अंत समय जैसे देखे थे। बिम्ब के दोनों कर उठे बनाये अर्थात् वरद् मुद्रा में थे। आजकल इनको बौद्ध कहा जाता है। घघेरवाले जैनों से पूछा तो बताया कि, यह त्रिलोकेश्वर है-समवशरण में दोनों कर उठाकर भव्यजीवों का सम्बोधन कर रहे हैं।'

वहां से ब्र० जी पश्चिम को चलकर छोटी तिब्बत के मुँगादेश के बरजंगम नगर गये थे। वहां उनको बघानारे जैनी मिले थे। उनके ८००० घर व २००० मंदिर बताये है। मंदिरों की गुम्बज तीन, पांच व सात तक लिखी हैं। कलश सौ-दो-सौ एक २ पर विराजे

बताये हैं। अरहंत की माता मरुदेवी के बिम्ब हैं। रत्न बरसने के चित्र व १६ स्वप्नों के चित्र भी बने हैं। गर्भ व जन्म कल्याणक पूजते हैं। वहा से तिब्बत के एरूल नगर गये थे। वहां का राजा जैनी लिखा है। सोमावरे जैनी वहां थे। हजारों मंदिर नदी किनारे लिखे हैं। जेठ बदी १४ को मेला होते लिखा था। १५० गज ऊँचा सुनहरी मेरु पर्वत संगमरमर का बन रहा उन्होंने देखा था, जिसमें देवेन्द्रों द्वारा जन्माभिषेक का दृश्य अंकित था। वहा से वह मानसरोवर पहुँचे थे। सिलवन नगर में उनको जैनी मिले, जिनके साथ वह एक वर्ष रहे। उनसे जिनागम सुनकर ग्यारह प्रतिमा के धारी हुये। वहा १०४ मन्दिर शिखिरबन्द हैं। बावन चैत्यालय नन्दीश्वर द्वीप के बने हुये हैं। वहा से आगे हनुवर देश उनको मिला था। सब प्रजा जैनी लिखी है। अनेकों मन्दिर हैं। वहां के लोगों ने रोका, किन्तु ब्र० जी माने नहीं और कैलाश के दर्शन करने का संकल्प करके निकल पड़े। आगे सागर गंग नाला मिला, जिसे ४ कोस गहरा चौड़ा लिखा है। ब्र० जी इसी नाले पर आसन और अनशन माड कर खड़े हो गये। प्रतिज्ञा की कि यदि कैलाश के दर्शन हुये तो अन्नजल ग्रहण करके शेष तीर्थों की यात्रा करूँगा और मुनिव्रत धारण करूंगा-अन्यथा समाधिमरण होगा। इस प्रकार अनशन करते जब चौथा दिन हुआ तब कोई व्यन्तर आकर प्रकट हुआ। उसके अनुग्रह से वह कैलाश पर्वत पर पहुंच गये। कैलाश पर पहली टोंक ऋषभदेव की बताई, जिसमें चरण है। श्वेत टोंक ८०० धनुष ऊंची है। फिर ७२ मंदिर सुवर्ण धातुमई बन्दने का बात लिखी है। उनमें तीन चौबीसी की ७२ प्रतिमायें रत्नमई देव निर्मित विराजमान हैं। आसपास मुनियों की निर्माण भूमिया— निस-धिकायें बनी हुई है। चारों ओर सोना रूपा-ताम्बा की खानें हैं। ४० योजन की परिक्रमा है। इस प्रकार कैलाश की बन्दना करके जिस मार्ग से ब्र० जी गये थे, उसी से लौट कर आये। अट्ठारह वर्षो बाद अपने देश को वापस आये। एक वर्ष ठहर कर भारत के तीर्थों की बंदना करने गये। दक्षिण में जैनबद्री में जाकर ठहरे, वहां से कैलाश यात्रा का वर्णन लिखाकर विविध देशों के मंदिरों को भिजवाया।

ब्र० लामचीदास की उक्त यात्रा में शङ्का करने के लिये गुंजाइश नहीं है, फिर भी हो सकता है कि कहीं २ पर उनके वर्णन में अतिशयोक्ति हो। संभव है कि वह कैलाश पर्वत के ऊपर भी न पहुँचे हों और गर्मियों के दिनों में जब बर्फ पिघल जाती है तब मंदिरों को दूर से चमकता हुआ देखा हो। वर्णन सुनकर भी लिख दिया हो। अथवा किसी देव की कृपा से उन्हें दर्शन हुये हों तो भी कोई अनहोनी बात नहीं। सारांश यह कि श्री लामचीदास जी ने यात्रा की अवश्य थी। उनकी मंशा बर्मा, चीन का सैर सपाटा करने की थी। फिर उनको कैलाश यात्रा करने की सुध आई और वह पेकिन से तिब्बत को चले गये। पुराने जमाने में चीन जाने के लिये वही स्थल मार्ग था, जिससे ब्र० जी गये थे। लंका से भी व्यापारी लोग चीन देश को ईस्वी की प्रारंभिक शताब्दियों से स्थल मार्ग

से ही आया-जाया करते थे। पहले वह जहाज से मगध देश पहुँचते थे और वहां से वह पटना से चीन को जो विशद मार्ग गया था, उस पर अन्य सारवाहों के साथ जाया करते थे'। 'फूलमालपचीसी' में भी चीन-महाचीन आदि समुद्र पारके देशों से जैनों के आने का उल्लेख मिलता है।[2] उधर डॉ० जैसेये टुक्की को तिब्बत से सस्क्य मठ (Saskya Monastry) से १४ वीं शती की एक जैनमूर्त्ति भी मिली है। अतः ब्र० जी का उस प्राचीन मार्ग द्वारा चीन को जाना स्वाभाविक था। हो सकता है कि किन्हीं खास स्थानों के देखने के लिये उन्होंने इस मार्ग का कहीं कहीं पर व्यतिक्रम किया हो।

ब्र० लामचीदास जी ने जिन ? स्थानों का वर्णन लिखा है उनका पता लगाकर वस्तुस्थिति को स्थापित करना आवश्यक है। साधारणतः हमें उनके द्वारा उल्लेखित नगरों और देशों में तीन का पता चलता है (१) आवा (Ava) निस्सन्देह बर्मा की पुरानी राजधानी इरावदी नदी के तट पर स्थित थी। उसमें अनेक बौद्ध मंदिर (Pagodas) बने हुए थे। किन्तु अब यह नगर उजाड़ हो गया है। फिर भी इसकी जनसंख्या ८००० थी। (२) ब्र० लामचीदास ने बर्मा से कोचीन होकर चीन पहुचते लिखा है। पहले इंडोचीन के समस्त पूर्वीय भाग को जो २२००० वर्गमील था, कोचीन-चीन के नाम से प्रसिद्ध था। उसकी राजधानी सैगोन (Saigon) है। (३) पेकिन चीनदेश की राजधानी पी-हो (Pei-ho) और हुन-हो (Hun-ho) नामक नदियों के मध्य बसी हुई है। वह चीनी व तातारी आबादी के कारण दो भागों में विभक्त है। जनसंख्या लगभग १०००००० अनुमानतः थी। खास इमारतें (१) राजमहल, (२) पेनटाउर व ड्रम टाउर तातारी भाग में और (३) "स्वर्ग का मन्दिर" (Temple of Heaven) चीनी भाग में दर्शनीय हैं'। ब्र० लामचीदास ने भी उन स्थानों का विशद वर्णन लिखा है। आवश्यकता है कि जैन विद्वानोंको अपने शिल्प और मूर्तिकलाविज्ञानका परिचय कराया जावे और उनको पुरातत्त्वविज्ञानका पारगामी बनाया जावे। तत्पश्चात् उनको बर्मा, चीन, इंडोचीन, जावा, सुमात्रा आदि देशों में खोज करने के लिये भेजा जावे। वे प्रत्येक प्राचीन स्थान के खंडहरों और मूर्तियोंका अध्ययन करें और जैन कीर्तियों का पता लगावें। किन्तु यह तो स्पष्ट है कि चीन में जैनी लोग एक

1 "...The people of Iseland (Ceylon) traded to China, at the very beginning of our era and by land There can be no doubt, that they went first by sea to the country of Magadha There they joined in a body with the caravans of that country, and went to China. through what ptolemy, & the author of Periplus, call the great route from Palibothra to China"

—Asiatick Researches, IX, 41.

2 Pear's Cyclopadie—Gazetteer of the World, pp 491, (Ava) ?

—523 (Cochin China & 604 (Peking)

समय मौजूद थे। उन्होंने अपने धर्मग्रन्थोंका अनुवाद भी चीनीभाषा में किया था। चीनी साहित्य में इसका भी पता लगाना आवश्यक है। आज भी जैन व्यापारीगण फ्रांस, अफ्रीका, जंजीबार, जापान, आदि देशों में फैले हुए हैं और कहीं-कहीं तो वह बस भी गये हैं। अतः चीनदेश में जैनी व्यापारियोंका पहुंचना स्वाभाविक है। जैनकथाओं से स्पष्ट है कि जैनी यात्री रत्नद्वीप, सुवर्णद्वीप, आदि विदेशों से जहाजों द्वारा व्यापार करते थे।

इस प्रकार संक्षेप में चीन देश से जैनों और जैनधर्मका सम्पर्क स्पष्ट होता है। यदि विद्वज्जन इस विषय में अधिक खोज करें तो विशेष प्रकाश पड़ने की संभावना है। प्रो० टुक्की ने चीनी साहित्य में जैन उल्लेखोंका पर्याप्त सग्रह किया था; किन्तु वह भी अप्रकाशित है। समाज यदि ऐसे उपयोगी और आवश्यक कार्यों में धन लगाये तो विशेष धर्मप्रभावना हो!

अलीगंज;
२६-७-४८

जैनकला

[ले०—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य]

आत्मा की सुकोमल, मंजु, मृदुल और मनोज्ञ नैतिक साधन-शृंखला कला कहलाती है। मानव शिशु जिस क्षण आँखें खोलता है, उसी क्षण से बाह्य सृष्टि की विविध वस्तुओं की छाप अलक्ष्य रूप से उसके कल्पनाशील मन पर पड़ने लगती है। संसार का ऐसा कोई परमाणु नहीं, जो उसपर अपना प्रभाव बिना डाले रहता हो। किन्तु विशेषता संस्कार ग्रहण करने वाले की होती है, वह जैसा कल्पनाशील, सजग और सुबोध होता है, संस्कार के वातावरण को भी उसी रूप में ग्रहण करता है। इस ग्रहीत संस्कार को मनुष्य अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहता है, बल्कि अन्य पर अभिव्यक्त करने के लिये अनिवार्य-सा हो जाता है।

अथवा यों समझिये कि मानव के हृदय और मस्तिष्क की रचना ही कुछ ऐसी है, जिससे संसार का वातावरण उसे प्रभावित करता है। जिस प्रकार चंचल पवन जलराशि पर अपना प्रभाव अंकित करता है, या मयूख रश्मियाँ जैसे शिलाखण्डों पर अपना शीतोष्ण गुण अंकित करती हैं, उसी प्रकार मानव मस्तिष्क में जड़, चेतन पदार्थों के चित्र अंकित होते रहते हैं। परन्तु मनुष्य की आत्मा में नैसर्गिक प्रेरणा होती है कि वह उन चित्रों को अभिव्यक्त करे। अभिव्यञ्जना की यही प्रणाली कला है।

भारतीय कला की उन्नति में जैनाचार्यों का स्थान भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कारण कोई भी धर्म तभी अपना अस्तित्व रख सकता है जब उसकी कला उच्च कोटि की हो। सांस्कृतिक महत्ता और गौरव गरिमा ही धर्म का प्राण है। जैनेतर विचारक और विवेचकों ने समय-समय पर जैनदर्शन और जैनकला की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। यद्यपि भारतीय कला का साम्प्रदायिक वर्गीकरण जैनशैली, बौद्धशैली और ब्राह्मण-शैली की कला का नहीं हो सकता है। बूलर[1] का कथन है कि भारतीय कला में साम्प्रदायिकता नहीं है। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण सभी की भावना का स्रोत एकही है। कुमार स्वामी ने[2] हिस्ट्री इण्डियन एण्ड इण्डोनेशन आर्ट में बताया है कि शुद्धशैली के हिसाब से प्रान्तीय भेद या साम्प्रदायिक भेद कला में संभव नहीं। दार्शनिक भेद होने

1 Jain Art in the North P. 247

2 History of Indian and Indonesion Art P. 106; the Jaina Stupa and other Antiquities of Mathura. Int, p 6; Mehta, Studies in Indian Painting, pp. 1-2; Percy Brown, Indian Painting PP. 38, 54.; History of Indian Architecture.

के कारण कला में कुछ अन्तर आया है, पर कला का वर्गीकरण समय और भूगोल के अनुसार ही हो सकता है। भारत के प्रधान तीनों धर्म—जैन, बौद्ध और ब्राह्मण में कला की भावना आन्तरिक सौन्दर्याभिव्यक्ति की ही रही है, अतः कला के शैलीगत भेद मानना उचित नहीं।

जैनधर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है, इसमें इतर धर्मों की अपेक्षा अनेक विशेषताएँ हैं। धर्म की विशेषता के कारण जैन धर्मानुयायी कलाकारों की अभिव्यञ्जना में भी पर्याप्त अन्तर है। यदि प्रतीकों के भेद से या अन्तर्जगत के भावविशेष को व्यक्त करने की प्रणाली के भिन्न होने से जैनकला को अलग स्थान दिया जाय तो अनुचित न होगा। जैन आदर्श वीतरागता का है, इसलिये जैन कलाकार प्रत्येक ललित कला में इसी आदर्श की अभिव्यञ्जना करता है। उसका ध्येय कला द्वारा लौकिक एषणा की तृप्ति करना नहीं होता, किन्तु शान्तरस का प्रवाह बहाकर द्रष्टा के हृदय में आध्यात्मिक भावना को जागृत करना है। जैन कलाकारों ने पत्थर या कागज के माध्यम द्वारा आध्यात्मिक रहस्य के उद्घाटन में आशातीत सफलता प्राप्त की है।

अभिव्यञ्जना की दृष्टि से जैनकला के दो भेद किये जा सकते हैं—स्थित कला (The Static Mood of art) और गतिशील कला (The dynamic mood of art) प्रथम में क्रम और औचित्य की प्रधानता तथा द्वितीय में गति, आरोहावरोह एवं भावव्यञ्जना की प्रधानता रहती है। स्थित कला के वास्तु, तक्षण और चित्र ये तीन भेद एवं गतिशील कला के संगीत और काव्य ये दो भेद हैं।

वास्तुकला—इस कला में कलाकार लोहा, पत्थर, लकड़ी और ईंट आदि स्थूल पदार्थों के सहारे अपने अमूर्तिक भावों के सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना करता है। जैनों ने इस कला में प्राचीनकाल से ही अधिक उन्नति की है। गिरनाट[1] ने हिन्दुओं के बहुत से स्थापत्यों में जैन कला का पूर्ण प्रभाव बताया है। जहाँ तक वास्तुकला का सम्बन्ध है जैनकला अद्वितीय है। वास्तुकला में जैनधर्म की सुन्दर[2] अभिव्यक्ति की गई है। विशाल पर्वतों पर प्रकृति के रम्य वातावरण में श्रेष्ठ मन्दिरों का निर्माण कर जैनों ने वस्तुत अपनी कला प्रियता का परिचय दिया है। श्री सम्मेदशिखर (Parshwnath Hill), गिरनार[3] और शत्रुञ्जय के निर्जन प्रदेशों की जैन स्थापत्य कला अपनी आभा और चमक से प्रत्येक दर्शक के मन को बरबस अपनी ओर खींच लेती है।

1 Guerinat, Lo Religion Dgaina, p 279,
2 Fergusson, History of Indian and Eastern Architecture, ii, p. 24.
3 Elliot, Hinduism and Buddhism i, p 121

प्राचीन भारत की स्थापत्य कला में मथुरा का जैनस्तूप भी शिल्पतीर्थ का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। यहाँ के रमणीय देवप्रसाद, उनके सुन्दर तोरण, वेदिकास्तम्भ, उष्णीष पाषाण, उत्फुल्ल कमलों से सुसज्जित सूची, उत्कीर्ण आयागपट्ट आदि जैनकला के गौरव है। चहार दीवारी के वेदिका-स्तम्भों पर अनेक सुगात्रवाली नर्तिकाएँ अंकित हैं, जो मथुराकला की अनुपम देन है। इन रमणियों के सुन्दर रत्नजटित वस्त्राभूषणों की कारीगरी को देखकर दाँतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। चंपक, आम्र, अशोक और बकुल के उद्यानों में क्रीड़ासक्त अथवा स्नान और प्रसाधन द्वारा शृंगार मग्न देवियों को देखकर जैनकला का गौरव सहज ही हृदयंगम हो जाता है। इन वेदिकाओं को सुपर्ण और किन्नर देवों के पूजा दृश्यों ने और भी रमणीय और भावगम्य बना दिया है। बौद्ध स्तूप के पास जो दो बड़े देवप्रसादों के भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं, वे ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी के है। डा० बूलर और स्मिथ आदि विद्वानों ने जैन स्तूप की सुन्दर कारीगरी की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए उसे भारतीय शिल्प का तीर्थ बताया है। वेदिकास्तम्भ और सूचीदलों की सजावट नीरस हृदय को भी सरस बना देती है।

विशेषज्ञों ने स्थापत्यकला को नागर (उत्तरी), बेसर (पूर्वी) और द्राविड़ इन तीन भागों में बाँटा है। दक्षिण के जैनमन्दिरों में होयसल या चालुक्य और द्राविड़ इन दोनों शैलियों का प्रभाव पाया जाता है। चन्द्रगिरि के पार्श्वनाथ बस्ति, कत्तले बस्ति और चामुण्डराय बस्ति जैनकला के सुन्दर निदर्शन हैं। कत्तले बस्ति १२४×४० फुट क्षेत्रफल का है। इसमें गर्भ गृह के चारों ओर प्रदक्षिणा है। नवरंग से सटा हुआ एक मुख-मण्डप भी है और बाहरी बरामदा भी। ये सभी मन्दिर द्राविड शैली के उत्कृष्ट नमूने हैं। फर्ग्यूसन[1] ने चन्द्रगिरि की १५ बस्तियों—मन्दिरों की स्थापत्य कला की प्रशंसा करते हुए कहा है कि इनकी नक्काशी उत्तर भारत की स्थापत्य कला से सर्वथा भिन्न है। इन मन्दिरों की बनावट कलापूर्ण है द्राविड़ और चालुक्य कलाओं के मिश्रित रूपकी अभिव्यञ्जना प्रशंसनीय है।

दक्षिण भारत में ई० पू० ३ से ई० १३ वीं शताब्दी तक जैन शासन रहने के कारण जैनकला की खूब उन्नति हुई है। तामिल और कन्नड दोनों ही प्रान्तों में सुन्दरतम जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ है। पल्लव और गंग राजाओं ने अपने राज्यकाल में भव्य चैत्यालय और दिव्य स्तम्भों का निर्माण कराया था। मन्दिरों की दीवाल और छतों पर नक्काशी और पच्चीकारी का भी काम किया गया था। कई मन्दिर दो मंजिले और चारो ओर दरवाजे वाले थे। पाषाण के अतिरिक्त लकड़ी के जिनालयों की प्रथा

1 Fergusson, op. cit, p. 75, 172 and Burgess, Digambara Jain Iconography Ind, Ant, XXXII, p. 95-96.

भी प्रारम्भ हो गई थी। जैन[1] वास्तुकला की यह प्रणाली नागर या आर्यावर्त की थी। इस कला के मन्दिरों का आकार चौकोर होता था तथा ऊपर शिखर रहता था। ई० ६–७ वीं सदी तक इसी प्रणाली पर मन्दिरों का निर्माण होता रहा। पश्चात् बेसर—समकोण आयताकार मन्दिर बनने लगे, इन मन्दिरों के शिखर ऊपर-ऊपर हीन-हीन होते जाते थे और अन्त में अर्द्ध गोलाकार गुम्मज बना होता था। सातवीं शताब्दी के आरम्भ में इस शैली के मन्दिर बादामी, ऐहोले, मामल्लपुर, कांची आदि स्थानों पर बनाये गये थे। विद्वानों का मत है कि समवशरण रचना का परिष्कृत रूप बेसर प्रणाली है।

इसके सिवा चतुर्मुख मन्दिर[2] भी बनाये जाते थे। इन मन्दिरों की बनावट के बारे में कहा गया है कि इनके बीच में एक कमरा होता था, जिसके चारो ओर बड़े दरवाजे एवं बाहर बरंडा तथा उसारा होता था। छत सपाट पाषाण से पाट दी जाती थी और बड़े-बड़े स्तम्भों पर टिकी रहती थी। तीन कोठरियों के मन्दिरों का प्रचार भी दक्षिण में था, इनमे तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ यक्ष-यक्षिणी सहित विराजमान रहती थी। बर्जेस[3] और फर्ग्यूसन का कथन है कि ७-८ वीं सदी में दक्षिण भारत में जैन-कला का जो आकार-प्रकार प्रचलित था, वह उत्तर की ओर बढा और साथ ही द्राविड़ चिन्हों को भी लेता गया। जैन-वास्तु-कला सौन्दर्य के साथ-साथ उपासना का मूर्त्ति-मान रूप है।

जैन स्तूप और स्तम्भ—जैन वास्तुकला में स्तूपों का स्थान भी श्रेष्ठ है। ये स्तूप केवल धार्मिक चिन्ह ही नहीं थे, बल्कि सिद्ध परमेष्ठी के प्रतीक होने से पूज्य थे। स्तूप रचना की प्रणाली जैनियों में मौर्य सम्राट् अशोक से भी पहले प्रचलित थी।

मण्डप स्तम्भ द्राविड कला में जैनो की अपनी पृथक् वस्तु हैं। ये मण्डप पाँच स्तम्भों के होते थे। चारों कोनों के साथ-साथ बीच में भी एक स्तम्भ रहता था। यह बीच का स्तम्भ कला की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर बनाया जाता था। फर्ग्यूसन ने इस मण्डप स्तम्भ की बड़ी प्रशंसा की है। मण्डप स्तम्भों के अतिरिक्त सामान्य स्तम्भ दो प्रकार के जैनियों में प्रचलित थे—मानस्तम्भ और ब्रह्मदेव स्तम्भ। मानस्तम्भ में ऊपर चोटी पर एक छोटी सी वेदी रहती है, जिसमें चतुर्मुख प्रतिमा विराजमान रहती है। ब्रह्मदेव स्तम्भ में चोटी पर ब्रह्म की मूर्त्ति स्थापित की जाती है। यह स्तम्भ एक समूचे

१ संक्षिप्त जैन इतिहास तृ० भाग द्वि० खंड पृ० १३४

२ संक्षिप्त जैन इतिहास भा० ३ ख० २ पृ० १३५;

३ दी गंगज़ ऑफ तालकाड पृ० २२२—२२६

पाषाण का होता है और इसके निचले भाग में नक्काशी का काम किया रहता है। ऐहोले, इलोरा आदि स्थानों पर सुन्दर मानस्तम्भ वर्तमान थे। इलोरा की इन्द्रसभा के सम्मुख बना हुआ मानस्तम्भ वास्तुकला की दृष्टि से अपूर्व है। श्री वेलहौस सा० ने मानस्तम्भों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "जैन स्तम्भों की आधार शिला और शिखिर बारीक और सुन्दर समलंकृत शिल्पचातुर्य की आश्चर्यमय वस्तु हैं। इन सुन्दर स्तम्भों की राजसी प्रभा से कोई भी वस्तु मुकाबिला नहीं कर सकती है। ये प्राकृत सौन्दर्य के अनुरूप ही पूर्ण और पर्याप्त बनाये गये हैं। इनकी नक्काशी और महत्ता सर्वप्रिय है[1]।"

राजनृपने काल्पोले नामक स्थान में अद्वितीय जिनमन्दिर बनवाया था, जिसकी तीन शिखरें थीं। उसने उपासकों के विश्रामगृह के लिये एक सोने की शिखरवाला मन्दिर तथा उसके सामने मानस्तम्भ बनाया था। ये सभी मानस्तम्भ शिल्पकला के अद्‌भुत नमूने थे, इनकी नक्काशी, लटकन और गुम्मजें अनूठे ढंग की बनी हुई थीं।

दक्षिण के अलावा उत्तर भारत में भी आबू के जैन मन्दिर जैसे सुन्दर वास्तुकला के नमूने बनाये गये थे। आबू के जैन मन्दिरों की प्रशंसा करते हुए कर्नल टॉडने अपनी ट्रेवल्स इनवेस्टर्न इण्डिया नामक पुस्तक मे लिखा है। "हिन्दुस्तान भर में यह मन्दिर सर्वोत्तम है और ताजमहल के सिवा कोई दूसरा स्थान इसकी समता नही कर सकता"। मिस्टर फर्ग्यूसनने पिक्चर्स इलस्ट्रेशन आफ इन्नोसेण्ट आर्कीटेक्चर इन हिन्दुस्तान नामक पुस्तक में लिखा है—"इस मन्दिर में, जो संगमरमर का बना हुआ है, अत्यन्त परिश्रम सहन करनेवाली हिन्दुओं की टॉकी से फीते जैसी सूक्ष्मता के साथ ऐसी आकृतियाँ बनायी गयी हैं, जिनकी नकल कागजपर बनाने में कितने ही समय और परिश्रम कर भी मैं नहीं कर सकता हूँ"।

इस प्रकार जैन वास्तुकला के नमूने एक से एक बढ़कर समस्त भारत में वर्तमान हैं। जैन इमारतों के सौन्दर्य की सूक्ष्मता, गुम्बज, तोरण, स्तम्भ, छत और गोखों की सूक्ष्म नक्काशी मनको मुग्ध करती है। मन्दिर निर्माण के सम्बन्ध मे जैनाचार्योंने जितने नियम प्रचलित किये हैं, उनके देखने से मालूम होता है कि मन्दिर निर्माण शैली के अनेक भेद थे।

धुव-धन्न-जया नंद-खर-कंत-मणोरमा सुमुह-दुमुहा।
कूर-सुपक्ख-धणद-खय आक्कंद-विउल-विजया गिहा॥

—वास्तुसार गा० ७१

1 Walhouse IA, p. 39

अर्थात्—ध्रुव, धान्य, जय, नन्द, खर, कान्त, मनोरम, सुमुख, दुर्मुख, क्रूर, सुपक्ष, धनद, क्षय, आक्रन्द, विपुल और विजया ये १६ प्रकार के प्रासाद होते हैं। शाला,[१] अलिन्द, गुजारी, दीवाल, पट्टे, स्तम्भ और झरोखे के भेदों से प्रासाद ६६७० प्रकार के बनाये जाते हैं।

प्रतिष्ठासार संग्रह में मन्दिर बनाने के स्थानोंका उल्लेख निम्न प्रकार है—

जन्म-निष्क्रमणस्थानज्ञाननिर्वाणभूमिषु।
अन्येषु पुण्यदेशेषु नदीकूले नगरेषु च॥
ग्रामादिसन्निवेशेषु समुद्रपुलिनेषु च।
अन्येषु वा मनोज्ञेषु कारयेज्जिनमन्दिरम्॥

इसी प्रकार चैत्यालय के सम्बन्ध में भी उल्लेख मिलता है—

सिंहो येन जिनेश्वरस्य सदने निर्मापितो तन्मुखे।
कुर्यात्कीर्तिमुखं त्रिशूलसहितं घण्टादिभिर्भूषितम्॥
तत्पार्श्वे मदनस्य हस्तयमलं पञ्चाङ्गलीसंयुतम्।
केतुस्वर्णघटोज्ज्वलश्च शिखरं केत्वाय निर्मापितम्॥

वास्तु निर्माण के और भी अन्य प्रकार के नियम बताये गये हैं, जिन नियमों के देखने से जैन वास्तुकला की महत्ता का सहज अनुमान किया जा सकता है।

मूर्तिकला—वास्तुकला के अनन्तर मूर्तिकला का कार्य आरम्भ होता है। वास्तुकला जिस आभ्यन्तरिक आत्मा की ओर संकेत करती है, मूर्त्तिकला उसीको प्रकाशित करती है। मूर्त्तिकला में आभ्यन्तरिक आत्मा और बाहरी साधनों में समन्वय रहता है। अतएव सफल मूर्त्तिकला में आध्यात्मिक और शारीरिक सौन्दर्य की समन्वित अभिव्यञ्जना की जाती है। मानव स्वभावतः अमूर्त्तिक गुणों के स्तवन से संतोष नहीं करता, उसका भावुक हृदय एक साकार आधार चाहता है, जिसके समक्ष वह अपने भीतर की बातको कह सके और जिसके गुणोंको अपने जीवन में उतार कर संतोष प्राप्त कर सके। मूर्त्तिकला के आविष्कार का कारण बहुत कुछ उपर्युक्त प्रवृत्ति ही है। जैन सम्प्रदाय में आत्मिक गुणों के चिन्तन के लिये तीर्थङ्करों और लौकिक अभ्युदय की प्राप्ति के लिये यक्ष-यक्षणियों की मूर्त्तियाँ प्राचीन काल से ही बनती थी। भूगर्भसे जितनी प्राचीन जैन प्रतिमाएँ निकली है, उतनी अन्य सम्प्रदाय की नही। ई० पू० ५-६ सौ वर्ष पहले की भी जैन प्रतिमाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। जनमूर्त्ति की रूपरेखा निम्न प्रकार है—

१ ओवरय-अलिंद-गई गुजारि-भित्तीण-पट्ट-थंभाण।
जालियमंडवाणय भेएण सिहा उवज्जंति॥

—वास्तुसार गा० ६१

शान्तप्रसन्नमध्यस्थनासाग्रस्थाविकारदृक् ।
सम्पूर्णभावरूढ़ाऽनुविद्धांगं लक्षणान्वितम् ॥
रौद्रादिदोषनिर्मुक्तं प्रातिहार्यांकयक्षयुक् ।
निर्माप्य विधिनापीठे जिनबिम्बं निवेशयेत्[1] ॥

अर्थात्—शान्त, प्रसन्न, मध्यस्थ, नासाग्र अविकारी दृष्टिवाली, अनुपमवर्ण, वीतरागी, शुभ लक्षणों से सहित, रौद्र आदि बारह दोषों से रहित, अशोक वृक्ष आदि आठ प्रातिहार्यों से युक्त, और दोनों तरफ यक्ष-यक्षणियों से सहित जिन प्रतिमा को विधिपूर्वक सिंहासन पर विराजमान करना चाहिये। प्रतिमा बनानेवाले शिल्पी को जिन प्रतिमा में वीतराग दृष्टि, सौम्य आकृति और निश्चलता अनिवार्यतः रखनी चाहिये।

वराहमिहिरने भी जिन प्रतिमा का लक्षण बतलाते हुए कहा है—

आजानु[2]लम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्त्तिश्च ।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः ॥

अर्थात्—अर्हन्त की मूर्त्ति प्रशान्त, श्रीवत्स चिन्ह से अंकित, तरुण, लम्बी भुजा-वाली और नग्न होती है।

अतएव स्पष्ट है कि जैनमूर्त्तियों के निर्माण के सम्बन्ध में केवल जैनग्रन्थकारोंने ही नियम नहीं बनाये थे, किन्तु जैनेतरोंने भी। आजतक जितनी मूर्त्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, उन्हें कलाशैली की दृष्टि से तीन भागों मे विभक्त किया जा सकता है। उत्तरभारतीय, दक्षिणभारतीय और पूर्वभारतीय। प्राचीन समय में जैनधर्म के प्रधान केन्द्र पाटलीपुत्र, मथुरा, उज्जैन और कांची थे। इन स्थानों में जैनों की संस्कृति विशेषरूप से वर्तमान थी। उत्तरभारतीय—गुजरात, पंजाब, संयुक्तप्रान्त और मध्यभारत में निर्मित प्रतिमाएँ एक ही शैली की होती थीं; शरीर गठन, मुखाकृति सन्निवेश आदि की दृष्टि से एक ही वर्ग में उन्हें रख सकते हैं। दक्षिण भारत की मूर्त्तियों में द्राविड़ कला की छाप रहने के कारण शरीरावयव, आकृति आदि में उत्तरभारतीय कला की अपेक्षा भिन्नता रहती है। इसी तरह पूर्वभारत की मूर्त्तियों में भी वहाँ के शिल्पियों की अपनी शैली के कारण कुछ अन्तर रहता है। अबतक भूगर्भ से तीनों ही शैली की प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं।

पटना[3] म्यूजियम में नं० ८०३८ की भग्नमूर्त्ति है। इस मूर्त्ति पर चमकदार पालिस है, यह पालिस इतनी सुन्दर और ओजपूर्ण है कि आज भी ज्यों की त्यों बनी है।

1 प्रतिष्ठासारोद्धार पृ० ७ श्लो० ६३-६४
2 देखें—वाराही संहिता अ० ५७ श्लो० ४५
3 देखें—जैन सिद्धान्त भास्कर १३ भाग किरण १

अशोक के शिल्पों की तरह यह चुनार के पत्थर की है, इसके ऊपर किसी मसाले की पालिस नहीं है, बल्कि पत्थर घोंट कर इतना चिकना और चमकदार बना दिया गया है, जिससे काँच के समान चमक आगई है। यह मूर्ति निस्सन्देह मौर्य कालीन है। इस म्यूजियम में और भी अनेक मूर्त्तियाँ हैं, जो पूर्व भारत की शैली की कही जा सकती हैं।

उत्तर भारतीय मूर्त्तियों के नमूने मथुरा, लखनऊ, प्रयाग आदि स्थानों के म्यूजियमों में मिलते हैं। प्राचीन समय में गान्धार की भाँति मथुरा की शैली भी अपनी निजी थी। मथुरा में सफेद चित्तीवाले लाल रवादार पत्थर की मूर्त्तियाँ बनती थीं। इस शैली में भरहुत की अलंकरण शैली और साँची की उन्नत शैली इन दोनों का समन्वय था। श्री रायकृष्णदास ने लिखा है कि "मथुरा' की शुंगकालीन कला मुख्यत: जैन सम्प्रदाय की है, किन्तु उसमें ब्राह्मण विषय भी पाये जाते है।" इससे स्पष्ट है कि मथुरा में जैन मूर्त्तिकला के सम्बन्ध में बड़ा भारी काम हुआ है। मौर्यकाल और गुप्तकाल में पूर्वभारतीय और उत्तरभारतीय जैन मूर्त्तिकला का बड़ा भारी विकास हुआ है। श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है "गुप्त लेखों में ऐसे वर्णन मिलते हैं जिनमे ज्ञात होता है कि उस समय जैन धर्मावलम्बी भी पर्याप्त संख्या में थे। गुप्तकलाकारों ने जैन मूर्त्तियों को उसी सुन्दरता के साथ तैयार किया है। मथुरा में २४ वे तीर्थंकर वर्धमान महावीर की एक मूर्त्ति मिली है जो कुमारगुप्त के समय मे तैयार की गई थी। महावीर पद्मासन मारे ध्यानमुद्रा में दिखलाये गये है। आसन के नीचे लेख खुदा है तथा निचले भाग में चक्र बना हुआ है। चक्र के दोनों तरफ मनुष्यों की आकृतियाँ हैं। स्कन्दगुप्त के शासन काल में कहोम (जिला गोरखपुर) नामक स्थान में एक तीर्थंकर की मूर्त्ति स्थापित की गई थी"[२]।

अतएव स्पष्ट है कि लखनऊ और प्रयाग के म्यूजियमों में अनेकों गुप्तकालीन जैन मूर्त्तियाँ हैं जिन्हें उत्तरभारतीय कला की कोटि मे रखा जा सकता है। इन मूर्त्तियों की सजीवता और स्वाभाविकता उच्च कोटि की है। ई० पू० १८८-३० ई० शुंगकाल में उत्तरीय और पूर्वीय मूर्त्तिकला का मिश्रण खण्डगिरि और उदयगिरि के मूर्त्तिशिल्प में मिलता है। श्री रायकृष्णदास जैसे कलापारखीने लिखा है "उड़ीसा के उदयगिरि और खण्डगिरि में इस काल की कटी हुई सौ के लगभग जैन गुफाएँ हैं जिनमे मूर्त्ति शिल्प भी है। इनमे से एकका नाम रानीगुफा है। यह दोमंजिले है और इसके द्वारपर मूर्त्तियोंका एक लम्बा पट्टा है जिसकी मूर्त्तिकला अपने ढंग की निराली है। उसे देखकर यह भान होता है कि

१ देखें—भारतीय मूर्त्तिकला पृ० ५१

२ गुप्त साम्राज्य का इतिहास पृ० २५०

वह पत्थर की मूर्त्ति न होकर एक ही साथ चित्र और काठपर की नक्काशी है। उड़ीसा में आज भी काठ पर ऐसा काम होता है जो रंग दिया जाता है और तब उभरा हुआ चित्र जान पड़ता है। वर्तमान उदाहरण से पता चलता है कि यहाँ ऐसा काम उस समय भी होता था जो इस पट्टेका आधार था। इस दृष्टि से यह पट्टा महत्त्व का है"[1]।

दक्षिणभारतीय जैनमूर्त्ति कलाका विकास भी ई० पू० २००—१३०० ई० तक माना जा सकता है। इतनी लम्बी अवधि में अनेक जैनधर्मानुयायी शासक हुए, जिन्होंने धर्मप्रेम से प्रेरित होकर अनेक मन्दिर और मूर्त्तियोंका निर्माण कराया। यद्यपि जैन मूर्त्तिकला के उत्तरीय और दक्षिणीय ढाँचे में कोई मौलिक अन्तर नहीं, फिर भी स्थान भेद से थोड़ा-सा अन्तर मिलता ही है। अलगामले में खुदाई से जो जैनमूर्त्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनका कलात्मक विश्लेषण करनेपर पता लगता है कि उन मूर्त्तियों की सौम्याकृति द्राविड़कला में अद्भुत मानी जा सकती है। इन मूर्त्तियोंका समय ई० पू० ३००-२०० के लगभग बताया जाता[2] है। सुदूर प्राचीन काल में जैनमूर्त्तियों की केवल रूपरेखा (out line) ही बनायी जाती थी, शिल्पी किसी विशाल पत्थर में केवल आकृति चिन्हित कर देता था। कुछ समय के उपरान्त पत्थर काटकर मूर्त्ति गढ़ने की प्रथा प्रचलित हुई। श्रवणबेलगोला की प्रसिद्ध मूर्त्ति के सम्बन्ध में अनेक विद्वानोंका मत है कि चामुण्डराय के पूर्व उस मूर्त्ति की रूपरेखा ही अंकित थी। चामुण्डरायने उसी रूपरेखा के आधारपर मूर्त्तिका गढ़न कराया है। यह मूर्त्ति ५७ फुट ऊँची, विशालकाय खड्गासन है और संसार की अद्भुत और रमणीय वस्तुओं में से एक है। इसके सिर के बाल घुंघराले, कान बड़े, और लंबे, वक्षस्थल चौड़ा, नीचेको लटकती हुई विशाल भुजाएँ एवं कञ्चित् कटि क्षीण है। मुखपर दिव्य कान्ति और अगाध शान्ति है। घुटनों से कुछ ऊपर तक बमीठे बनाये गये हैं, जिनसे सर्प निकलते हुए अंकित किये गये हैं। दोनों पैर और भुजाओं में माधवीय लताएँ लिपटी हुई हैं, इतने पर भी मुख से दिव्य आभा, अद्भुत शान्ति, तथा दुर्धर तपकी छटा टपकती है। यह मूर्त्ति तपस्याका साक्षात् अवतार मालूम होती है।

सिंहासन प्रफुल्लित कमल के आकार का है, इस कमलपर बायें चरण के नीचे तीन फुट चार इंचका माप खुदा हुआ है। कहा जाता है कि इस मापको अठारहगुना कर देनेपर समस्त मूर्त्तिका परिमाण निकल आता है। यह मूर्त्ति समस्त विश्व की अपूर्व वस्तु है, इसकी जोड़ी की दूसरी मूर्त्ति आज संसार के किसी भी कोने में नहीं है।

दक्षिण में बाहुबलि स्वामी को दो मूर्त्तियाँ और हैं एक कारकल में और दूसरी वेणूर में। प्रथम स्थान की मूर्त्ति ४१ फीट ५ इंच ऊँची और १० फीट ६ इंच चौड़ी है

---

1 भारतीय मूर्त्तिकला पृ० ६०-६१

2 See Madras Epigraphical reports 1907, 1910

और दूसरे स्थान की ३५ फुट ऊँची है। ये दोनों मूर्तियाँ भी अपने अनुपम सौन्दर्य, अगाध शान्ति और अद्भुत प्रभाव से अपनी ओर प्रत्येक व्यक्ति को आकृष्ट कर लेती हैं। इस प्रकार दक्षिणभारतीय जैन मूर्तिकला के अनेक अनुपम निदर्शन वर्तमान हैं।

जैन मूर्तिकला की अभिव्यञ्जना शक्ति—सत्य, शिव और सुन्दर इन तीनों गुणों की समन्वित रूप में अभिव्यक्ति होना ही जैन मूर्तिकला की विशेषता है; पर जैनकला का सत्य अन्य सम्प्रदायों की कला के सत्य से भिन्न है। वीतरागता—विकारों का अभाव यह त्रैकालिक सत्य है; क्योंकि अजर, अमर एवं अविनाशी अखण्ड आत्म तत्त्व का स्वभाव वीतरागता है, इसलिये त्रैकालिक अबाधित सत्य वीतरागी भावनाओं को उद्बुद्ध करना ही हो सकता है। शिव भी जैनों का लोकहित तक ही सीमित नहीं है, किन्तु उनका शिव अमर आत्मा की अनुभूति या विकार रहित आत्म स्थिति है। जैन मूर्तियाँ इसी शिव की अभिव्यञ्जना करती हैं।

जैन कला का सौन्दर्य भी लौकिक सुन्दर से रहित लोकातीत है या बाह्य सौन्दर्याकांक्षा से रहित आन्तरिक आत्मिक गुणों की अभिव्यक्ति है।

जैन मूर्तियों की मुद्रा योगमुद्रा है, जिसका अर्थ आत्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति है। नासाग्र दृष्टि निर्भयता और संसार के प्रलोभनों के संवरण की सूचक; सिर, शरीर और गर्दन का एक सीध में रहना अतुलबल, आत्मप्रतिष्ठान, और जगत की मोह माया से पृथक्त्व का सूचक तथा पद्मासन प्रतिमा में बाईं हथेली के ऊपर दाईं हथेली का खुला रहना स्वार्थ त्याग, चरम सन्तोष, आदान-प्रदान की भावना से रहित, जिससे राग द्वेष की उत्पत्ति होती है, और खड्गासन मूर्ति में आजान बाहुओं का लटकना कृतकृत्य, संसार के गोरख-धंधे से रहित, मानसिक और शारीरिक संघर्ष को छिन्न करने में संलग्न, प्रकाण्ड तथा विस्तृत विश्व में अकेला ही अपने सुख, दुःख का भोक्ता यह जीव है की भावना के संदेश का सूचक, प्रशान्त मुखमुद्रा सर्वत्र शान्ति और प्रेम के साम्राज्य की व्यञ्जक एवं आभरण और वस्त्र हीनता अपनी कमजोरियों तथा यथार्थता को प्रकट करने की भावना की सूचक हैं। इस प्रकार जैन मूर्तियाँ अपनी अभिव्यञ्जना द्वारा संसार मरुभूमि में मृगतृष्णा से संतप्त मानवको परम शान्ति और कर्तव्य परायणता का संकेत करती हैं, उनका यह संकेत निर्जीव नहीं, वरन् सजीव है।

शायद कलाप्रेमी सहृदयों के चित्त में यह प्रश्न उठे कि जैन मूर्तियों मे शारीरस्थान विद्या (एनाटोमी) के लिये कोई स्थान नहीं, किन्तु जैनमूर्ति शिल्प में देहका खाका, उसका गठन, नाप-जोख आदि बातें मूर्ति की आकृति, मुखमुद्रा और उसकी विविध गतिभंगियों के निरीक्षण से ज्ञात हो जाती हैं। जैनकला में आन्तरिक

भावनाओं द्वारा विशेष-विशेष शारीरिक भंगिमाएँ प्रकट की गयी है। जैनमूर्ति की प्राणछन्द की रूपरेखा पर से ही शरीर की भावसमता, खाका, सूक्ष्मत्व आदि बातें लक्ष्य की जा सकती हैं। प्राणछन्द के द्वारा ही शरीर के यथावत् दर्शन किये जा सकते हैं। अतः जैन तीर्थङ्करों की तपः प्रधान मूर्त्तियाँ तपोबल के साथ आराधक के समक्ष शान्ति, अभय, और कला के दिव्य आदर्शको उपस्थित करती हैं। इस प्रकार जैन मूर्त्तिकला में युग-युग की संस्कृति और आध्यात्मिकता के भावोंका सन्निवेश है, जिन बातों को कलाकार कहना चाहता था, जैनमूर्त्तियाँ उन बातों को अभिव्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हैं।

जैन चित्रकला—विश्व की ललित कलाओं में चित्रकला का अद्वितीय स्थान है। इस कला द्वारा मानव जाति के व्यापक और गम्भीर भावोंको जनता के समक्ष रखा जा सकता है। जैनों ने प्राचीन काल में ही हृदयगत मूल्यवान भावों के प्रवाह का व्यक्तीकरण इस कला द्वारा किया है। जैन शिल्पियो ने मूक भाषा में अपने मस्तिष्क के विचारों और हृदय की गूढ़तम भावनाओं के प्रवाहको रंग और कूंची के सहारे कागज के माध्यम द्वारा प्रवाहित किया है। यद्यपि कला मर्मज्ञोंने जैन चित्रकलाको पृथक् स्थान नहीं दिया है, उसे विशेष-विशेष भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार भारतीय कला के अन्तर्गत ही परिगणित किया है, फिर भी इतना तो सभी ने स्वीकार किया है कि जैन चित्रों की अभिव्यञ्जना अपने तौर की पृथक् है। चित्रों का सम्बन्ध धर्म के साथ जोड़ देने पर भी जैन चित्र हृत्तंत्री के तारोंको झंकृत करने में समर्थ है।

श्रीनानालाल चिमनलाल मेहता ने जैन चित्रकला के सम्बन्ध में लिखा है—"परन्तु इतना अवश्य है कि जैन चित्रों में एक प्रकार की निर्मलता, स्फूर्ति और गतिवेग है, जिससे डा० आनन्दकुमार स्वामी जैसे रसिक विद्वान मुग्ध हो जाते हैं। इन चित्रों की परम्परा अजंता, एल्लोरा, बाघ, सित्तन्नवासल के भित्ति चित्रों की है। समकालीन सभ्यता के अध्ययन के लिये इन चित्रों से बहुत कुछ ज्ञानवृद्धि होती है। खासकर पोशाक, सामान्य उपयोग में आती हुई चीजे, आदि के सम्बन्ध में अनेक बातें ज्ञात होती हैं[१]"। स्मिथ और बूलरने भी जैन चित्रकला की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "जैनों चित्रों मे एक नैसर्गिक अंत प्रवाह, गति, डोलन और भावनिदर्शन विद्यमान[२] है"।

निस्संदेह जैन चित्रकला का ध्येय अत्यन्त व्यापक और उच्च है। जैनाचार्योंने अपने हाथों से जैनधर्म के सिद्धान्त और कथाओंको स्पष्ट करने के लिये चित्रोंका निर्माण किया

१ देखें भारतीय चित्रकला पृ० ३३

२ Smith, History of fine art in India and Ceylon p. 133
Percy Brown, Indian painting pp. 38, 51

तथा जैन राजाओं ने अपनी कलाप्रियता का परिचय देने के लिये लक्ष्मीका सदुपयोग कर मन्दिरों, गुफाओं और ग्रन्थों में कुशल चित्रकारो द्वारा अपनी आम्नाय के अनुसार चित्रोंका निर्माण कराया। इस प्रकार धर्मका आश्रय पाकर जैनचित्रकला में आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक और प्राकृतिक रहस्यों की अभिव्यञ्जना की गयी।

चित्रकला मर्मज्ञोंने चित्रों के विद्धचित्र, अविद्धचित्र, रसचित्र, और धूलिचित्र ये चार विभाग किये हैं। विद्धचित्र—जिसमे वस्तुका साक्षात्कार होता है या उसकी आबेहूब प्रतिकृति होती है। ऐसे चित्र भित्ति[1], कागज, काष्ठ-पट्टिका आदि पर बनाये जाते हैं।

अविद्धचित्र[2]—जिसका विधान आकस्मिक कल्पना से ही होता है। अविद्ध चित्रों का सौन्दर्य उनके आकार में माना जाता है। ऐसे चित्र कागज पर ही सुन्दर बन सकते हैं, दीवालों पर इनका यथावत् अंकन आसानी से नहीं किया जा सकता है।

रसचित्र[3]—जिनके दर्शन मात्र से शृंगार आदि रसो का ज्ञान हो जाता है, उन्हें रस चित्र कहते हैं। इसका उदाहरण नायधम्मकथा मे एक मनोरंजक आख्यायिका में मिलता है। "मिथिला नरेश कुंभराज के पुत्र मल्लदिन्न ने अपने लिये सुन्दर चित्र-शाला बनवाई। उसकी दीवालों पर एक कुशल चित्रकार ने राजकुमारी मल्लिका का केवल अँगूठा देखकर ही उसका पूरा और आबेहूब चित्र खींच दिया। राजकुमार ने जब अपनी बड़ी बहन का चित्र चित्रशाला में देखा तब उसके मनमें चित्रकार और राजकुमारी के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न हुआ और चित्रकार को प्राणदण्ड को आज्ञा दी। परन्तु जब उसे मालूम हुआ कि यह चित्रकार को अनुपम कारीगरी का परिणाम है तो उसकी कूचीं, रंगों की डिबिया आदि को तोड़-फोड़ कर निर्वासित कर दिया"[4]। जैन साहित्य में इस प्रकार के रसचित्र या सादृश्य चित्रों के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

धूलिचित्र - जैनों मे इस प्रकार के चित्रों का प्राचीनकाल से लेकर आज तक रिवाज प्रचलित है। पूजा-पाठो मे माड़ना पूरना, चौक पूरना एवं चावल के पुञ्जो द्वारा साथिया या अन्य प्रकार के यंत्रों का निर्माण करना इस चित्र प्रणाली में गर्भित है।

---

१ एवं धवलिते भित्तौ दर्पणोदर सन्निभे।
फलकादौ पटादौ वा चित्र लेखनमारभेत् ॥—भारतीय चित्रकला पृ० ५

२ आकस्मिके लिखामीति यदा तूद्दिश्य लिख्यते।
आकारमात्रसम्पत्त्वे तदविद्धमिति स्मृतम् ॥—अभिलषितार्थ चिन्तामणि पृ० २८२

३ शृंगारादि रसो यत्र दर्शनादेव गम्यते—शिल्परत्न।

४ देखें—भगवान महावीरनी धर्मकथाओ पृ० २२५

ऐतिहासिक दृष्टि से जैन चित्रकला के सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि ई० सन् से कई शताब्दी पहले गुफाओं, मन्दिरों एवं धर्मस्थान मठों आदि में भित्ति पर चित्रांकन करने की प्रथा जैनों में थी। ये प्राचीन ध्वंसावशेष आज भी जैन चित्रकला के महत्त्व और भव्यता के रहस्य को सुरक्षित किये हुए हैं। मध्य प्रान्त के अन्तर्गत सरगुजा स्टेट में रामगिरि नाम की पहाड़ी है, जिसपर जोगीमारा नामक गुफा चित्रित है। इसकी[1] प्रधान चौखट पर एक अत्यन्त सुन्दर, भावपूर्ण चित्र अंकित है। प्राचीन भारतीय चित्रकला में रंगों और रेखाओं की दृष्टि से यह अपूर्व है।

इस चित्र के परिचय में मुनि श्री कान्तिसागर जी ने 'जैनाश्रित चित्रकला' नामक लेख मे लिखा है[2]—

१ एक वृक्ष के निम्न भाग में एक पुरुष का चित्र है। बाईं ओर अप्सराएँ व गन्धर्व हैं। दाहिनी ओर सुसज्जित जुलूस खड़ा है।

२ अनेक पुरुष, चक्र तथा विविध प्रकार के अलंकार हैं।

३ आधा भाग अस्पष्ट है। एक वृक्ष पर पक्षी, पुरुष और शिशु है। चारो ओर मानव समूह उमड़ा हुआ है, केशों की ग्रन्थि लगी हुई है।

४ पद्मासनस्थ पुरुष है। एक ओर मन्दिर की खिड़की तथा तीन घोड़ों से जुता हुआ रथ है।

अतः स्पष्ट है कि इस चित्र में जैन मुनि की दीक्षा का वर्णन अंकित किया गया है।

ई० ६००-६२५ के पल्लव वंशीय राजा महेन्द्रवर्मन के द्वारा निर्मित पदुदुकोटा स्थित सित्तन्नवासल्लीय गुफा चित्र जैनकला के अद्भुत निदर्शन हैं। यहाँ के चित्रों में भाव आश्चर्य ढंग से स्फुट हुए हैं और आकृतियाँ बिल्कुल सजीव मालूम पड़ती हैं। समस्त गुफा कमलों से अलंकृत है। सामने के खम्भों को आपस में गुंथी हुई कमलनाल की लताओं से सजाया गया है। छत पर तालाब का दृश्य अंकित है, उसमें हाथियों, जलविहंगमों, मछलियों, कुमुदिनी और पद्मों की शोभा निराली है। तालाब में स्नान करते हुए दो व्यक्ति—एक गौर और दूसरा श्याम वर्ण के चित्रित किये गये है। इसी गुफा के एक स्तम्भ पर एक नर्तकी का सुन्दर चित्र है, इस चित्र मे चित्रित नर्तकी की भावभंगिया देखकर लोगों को आश्चर्यान्वित होना पड़ता है। नर्तकी के कमनीय अंगों का

१ देखे—भारत की चित्रकला ११-१२

२ विशेष जानने के लिये देखे—विशालभारत नवम्बर १९४७

सन्निवेश चित्रकार ने बड़ी खूबी के साथ किया है। यह मंडोदक चित्र है। सित्तन्न-वासल की चित्रकारी अजन्ता के समान सुन्दर और अपूर्व है[१]।

उड़ीसा के भुवनेश्वर की गुफाओं में भी जैन चित्र अंकित हैं, इन चित्रों के सौन्दर्य और भावाभिव्यञ्जन अद्भुत हैं। भित्ति चित्रों की परम्परा जैनों में बहुत समय तक चलती रही। मूडबिद्री के चन्द्रनाथ चैत्यालय के खम्भों पर उत्कीर्ण प्राकृतिक चित्र अपनी आभा से संसार को आश्चर्य में डाल सकते हैं। इन चित्रों में बाह्य आकर्षण, प्रकृति का सादृश्य, उसकी रमणीयता, कम्पन और नैसर्गिक प्रवाह वर्तमान है।

१२ वीं सदी के उपरान्त १६ वीं सदी तक गुजरात और दक्षिण में जैन चित्रकला का पर्याप्त विकास हुआ। निशीथचूर्णि, अंगसूत्र, त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र, नेमिनाथ चरित्र, कथारत्न सागर, दि० पूजा-पाठों के गुटके संग्रहणीयसूत्र, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र, जैन रामायण, त्रिलोकसार, त्रिलोक प्रज्ञप्ति, भक्तामर, धवलाटीका इत्यादि जैन ग्रन्थ सचित्र पाये जाते हैं। इस जैन चित्रित ग्रन्थ शैली की परम्परा के कारण इस चित्र शैली का नाम जैन शैली रखा जाय तो अनुचित न होगा, क्योंकि इस जैन परम्परा पर जैनेतर भी कई ग्रन्थ सचित्र लिखे गये।

जैनों में सचित्र ग्रन्थों की दो प्रणालियाँ हैं, पहली में विषय द्वारा समझाने का यत्न किया गया है, समस्त धर्मकथा को चित्रों द्वारा ही अभिव्यक्त किया है। इस शैली में जैन रामायण और भक्तामर प्रमुख हैं। भक्तामर के प्रत्येक श्लोक के भाव को एक-एक चित्र द्वारा व्यक्त किया गया है, इसी प्रकार रामायण की कथा को जैन परम्परा के अनुसार चित्रों में बताया है, प्रत्येक पृष्ठ के दोनों ओर जितनी कथा दी है, उतनी कथा को व्यक्त करने वाले चित्र भी दिये हैं। दूसरी प्रणाली में ग्रन्थ के विषय से बाह्य चित्र दिये जाते हैं, इसमें चित्र का सम्बन्ध विषय से नहीं रहता है, प्रत्युत उसकी सौन्दर्य वृद्धि के लिये या अन्य हृदयगत भावनाओं को स्फुट करने के लिये चित्रों का अंकन करते हैं। इस मध्यकालीन जैन चित्रकला के सम्बन्ध में एक विद्वान ने लिखा है "सच पूछिए तो मध्यकालीन चित्रकला के अवशेषों के लिये हम मुख्यतः जैन भण्डारों के आभारी हैं। पहली बात तो यह है कि इस काल में प्रायः एक हजार वर्ष तक जैन-धर्म का प्रभाव भारतवर्ष के एक बहुत बड़े हिस्से में फैला हुआ था। दूसरा कारण धनी-मानी जैनियों ने बहुत बड़ी संख्या में धार्मिक ग्रन्थ ताड़पत्र पर लिखित और

१ विशेष जानने के लिये देखें—जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ५ किरण २ पृ० १०३-१४० तथा भास्कर भाग १२ किरण १ पृ० ४

चित्रित (Illuminated) कराकर बंटवाये थे[1]"। अतएव संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि माधुर्य, ओज और सजीवता जैन चित्रकला में पूर्णरूप से वर्तमान है।

जैन संगीतकला—इस कलाका आधार इन्द्रियगम्य है, पर इसका अधिक सम्बन्ध नाद से है। संगीत में आत्मा की भीतरी ध्वनिको प्रकट किया जाता है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि नाद की सहायता से हमें अपने आन्तरिक आह्लाद को प्रकट करने में बड़ी सुबिधा होती है। संगीतका प्रभाव भी व्यापक, रोचक और विस्तृत होता है। जैन प्राचीनकाल से ही इस कला का उपयोग करते चले आ रहे हैं। जैन वाङ्मय में संगीत को क्रियाविशाल नाम के पूर्व में अन्तर्भूत किया है अर्थात् संगीत को वाङ्मयका एक अंग बताया है, इसीलिये प्राचीनकाल में ही इस विषयपर अनेक रचनाएँ हुई थीं। जैन पुराणों में ऐसे अनेक वर्णन हैं, जिनमें जैन राजाओं, उनकी रानियों तथा अन्य लोगों का संगीतज्ञ होना बताया गया है। भक्ति के प्रबल वेगको बढ़ाने के लिये मन्दिरों में गायन और वादन का प्रयोग होता था।

नागकुमार चरित्र से पता लगता है कि स्वयंवर में कन्याएँ आगत राजकुमारों को चैलेंज देती थी कि जो उन्हें वीणावादन और संगीत में पराजित कर देगा, वही उनका प्राणेश्वर हो सकेगा। इस ग्रन्थ में कवि पुष्पदन्तने लिखा है कि नागकुमारने स्वयं मन्दिर मे वीणा बजायी और उनकी स्त्रियोंने नृत्य कर उत्सव मनाया। पुष्पदन्त कवि ने वीणा, दुन्दुभि, ढक्क, भेरी, मृदंग, शंख, झालर, तूर्य, घंटा आदि वाद्योंका उल्लेख किया है। आदिपुराण में भी संगीत के सम्बन्ध में कई उल्लेख हैं[2]।

सर्वार्थसिद्धि में शब्दों—स्वरों के तत, वितत, घन और सुषिर ये चार भेद किये हैं। ढोलक, मृदंग, नकारा आदि के शब्दों को तत; सितार, वीणा आदि के स्वरको वितत, घण्टा, झालर, आदि के स्वरको घन और तुरई, शंख आदि के स्वरको सुषिर कहा गया है। इस शब्द—स्वर बिभाग का संगीतकला की दृष्टि से परीक्षण करने पर पता चलता है कि जैनों को गायन और वादन दोनोंका मिश्रण संगीतकला में अभिप्रेत था।

स्थानांग सूत्र को अभयदेव विरचित संस्कृत टीका में संगीत के गुण दोषोंका अच्छा विवेचन किया है। इसमें संगीत के भीत, द्रुत, रहस्य, उत्ताल, काकस्वर और अनुनास ये छः दोष बताये हैं। भीत से थर्राने, द्रुत से जल्दबाजी, रहस्य से धीमी आवाज, उत्ताल से तालभंग, काकस्वर से आवाज में कडुवापन और अनुनास से नाक से शब्द करने से तात्पर्य है। गुणों में पूर्ण, रक्त, अलंकृत, व्यक्त, अविघुष्ट, मधुर, सम और

१ देखें—जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १२ किरण १ पृ० ४

२ नाग कुमार चरित भूमिका पृ० २८

सुकुमार गिनाये गये हैं। जिसमें सभी स्वर पूर्णरीति और शुद्धतापूर्वक उच्चरित हों, उसे पूर्ण, राग में भावों का भरना रक्त, अलंकारों से भूषित अलंकृत, लय और स्वरका स्पष्ट उच्चारण व्यक्त, गर्वभस्वरका त्याग करना अविघुष्ट, माधुर्य पूर्ण कोकिल स्वर से गाना मधुर; श्रुति और तालका सामञ्जस्य रखना सम एवं संगीत में लोच लाना सुकुमार कहलाता है।

संगीत[1] समयसार पार्श्वदेव की १३ वीं शताब्दी की संगीतविषयक अपूर्व रचना है। इसमें नादोत्पत्ति, नादभेद, ध्वनिभेद, गीत लक्षण और उसके भेद—आलप्ति, वर्ण, अलंकार आदि; गमक, रागों के रागांग, भाषांग, उपांग आदि भेदोंका वर्णन; चार प्रकार के अनवद्यादि वाद्योंका स्वरूप; नृत्य और अभिनयका विवेचन, ताल की आवश्यकता और स्वरूप प्रभृति बातोंपर प्रकाश डाला गया है। मध्यमादि, तोडी, बसंत, भैरवी, श्री, शुद्धबंगाल, मालवश्री, वराही, गोड, धनाश्री, गंडकृति, गुर्जरी, देशी ये तेरह रागांग राग-लक्षण सहित बताये गये है। वेलावली, अन्धासी, सायरी (असावरी), फल, मंजरी, ललिता, कौशिकी, नाटा, शुद्ध, वराटी, श्रीकण्ठी ये नो भाषाग राग दिये हैं। आगे वराही आदि २१ उपांग राग दिये गये हैं। इन सब रागोंका खूब विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। ताल के सम्बन्ध मे एक सुन्दर श्लोक दिया है—

तालमूलानि गेयानि ताले सर्वं प्रतिष्ठितम्।
तालहीनानि गेयानि मंत्रहीना यथाहुतिः॥

गायक, वादक और नर्तक के सम्बन्ध मे भी अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञातव्य बातें दी गयी हैं। राग रागनियों के सम्बन्ध में सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। जैन संगीत कला के नमूने गीतवीतराग, जैसे संस्कृत काव्य ग्रन्थों एवं हिन्दी के पद, भजन और लावनी आदि मे मिलते हैं।

जैन काव्यकला—विशेषज्ञोंने ललितकलाओं में सबसे ऊँचा स्थान काव्यकला को दिया है। मस्तिष्क पर अपना प्रभाव डालने मे इसे अन्य अवलम्बन की आवश्यकता नहीं होती है, इसीलिये ललितकलाओं में इसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। विषय की दृष्टि से इसके दो भेद किये जा सकते हैं—प्रथम वह जिसमें कवि अपनी बीती बात कहता है और दूसरा वह जिसमें जगबीती बात कहता है। अपनी बीती बात कहने में निजीपने का अनुभव होने के कारण भावात्मकता की मात्रा अधिक रहती है तथा कवि के हृदयगत भाव एक नयी प्रकार की झंकार के साथ प्रकट होते हैं, ऐसे काव्यों को प्रगीत (Lyrical) कहते हैं। यह अन्तर्मुखी काव्य होता है।

१ देखें—जैन-सिद्धान्त-भास्कर भाग ९ किरण २ तथा भाग १० किरण १

जिसमें जगबीती बात कवि कहता है, वह काव्य अनुकृत (Imitat've) कहलाता है, इसमें वर्णन की प्रधानता होती है । ऐसे काव्य प्रबन्धकाव्य कहलाते हैं । जैन काव्यकला में दोनों ही प्रकार की रचनाएँ वर्तमान है। भारतकी प्रायः सभी भाषाओं में काव्य ग्रन्थ लिखे गये हैं। यद्यपि इस निबन्ध में समस्त जैन काव्यों की बारीकियों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा जा सकता है, फिर भी नामभर गिनाकर इस कला के विषय में कतिपय बातें लिखी जायँगी । जैन काव्य ग्रन्थों में धर्मशर्माभ्युदय, चन्द्रप्रभ, मुनिसुव्रत, पार्श्वाभ्युदय, नेमिनिर्वाण, अमरुशतक, यशस्तिलकचम्पू, पुरुदेवचम्पू, जीवन्धरचम्पू, काव्यानुशासन, अलंकारचिन्तामणि, गद्यचिन्तामणि, शीलदूत, नेमिदूत, चेतोदूत, इन्दुदूत, पवनदूत, मनोदूत, द्विसन्धान, सप्तसन्धान, क्षत्रचूडामणि, छन्दोऽनुशासन, रत्नमंजूषा आदि रचनायें उल्लेखनीय हैं ।

महाकवि हरिश्चन्द्र ने धर्मशर्माभ्युदय में सूक्ष्म कल्पना, भाव गाम्भीर्य, रसीली भाषा का प्रयोग कर अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। भाषा और शैली की चमचमाहट भाव को तुरन्त हृदयगम कराती है। मधुर वाक्यावली में बद्ध कवि-विचार रसगुल्ले के समान सब प्रकार से अच्छे लगते हैं। कवि ने अपनी अनुभूति की व्यापकता के कारण ऐसे विषयों का विधान किया है जो मानवमात्र की अनुभूति से सम्बन्ध रखते हैं। भावों के प्रकृत आधार का कल्पना द्वारा पूर्ण तथा यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण इसमें वर्तमान है। अतः रति, हास, शोक, क्रोध इत्यादि की ऐसी अनुभूति प्रकट की है, जिससे पाठक काव्य में तन्मय हुए बिना नहीं रह सकता। कवि ने नीले नभ में चमकते हुए पूर्णचन्द्र की कितनी सुन्दर कल्पनाएँ की हैं—

किं मधुना स्फटिकपानपात्रमिदं रजन्याः परिपूर्यमाणम् ।
चलद् द्विरेफोच्चयचुम्ब्यमानमाकाशगंगास्फुटकैरवं वा ॥

अर्थ—क्या यह मद्य से भरा हुआ रजनी का स्फटिक निर्मितदानपात्र—प्याला (कप) है ? या चञ्चलभ्रमर समूह द्वारा चुम्ब्यमान मन्दाकिनी का विकसित सफेद कमल है[1] ?

ऐरावणस्याथ करात्कथाञ्चिच्च्युतः सपंको बिषकन्द एषः ।
किं व्योम्नि नीलोत्पलदर्पणाभे सश्मश्रुवक्त्रं प्रतिबिम्बितं मे ॥

क्या ऐरावत हाथी की सूंड से गिरा हुआ पंक युक्त मृणाल है ? या नीलमणि निर्मित दर्पण के समान आभा वाले आकाश में दाढ़ी-मूछ सहित मुख ही प्रतिबिम्बित हो रहा है ?

1 धर्मशर्माभ्युदय सर्ग ४ श्लो० ४२-४३

कवि की उपर्युक्त उत्प्रेक्षा किस रसिक को मुग्ध न करेगी। इस महाकाव्य में उत्प्रेक्षा उपमा, रूपक, समासोक्ति, श्लेष, भ्रान्ति और काव्यलिङ्ग आदि अलंकारों की छटा निराली ही दिखलाई पड़ती है। इसी प्रकार चन्द्रप्रभकाव्य भी अपने सरस, मधुर और सुदृढ़ पद्यों द्वारा पाठकों को रससरिता में मज्जन कराता है।

श्री जिनसेनाचार्य ने मेघदूत की पादपूर्त्ति में पार्श्वभ्युदय की रचना की है। इस कवि ने शृंगार रस से ओत-प्रोत श्लोकों के चरणों को भगवान् पार्श्वनाथ की पौराणिक वार्ता के सांचे में ढालकर रौद्र, वीर और शान्त रस की अपूर्व त्रिवेणी प्रवाहित की है।

"तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतोः" इस पद्यांश में कवि कालिदास ने यक्ष की विरह वेदना का अंकन किया है, किन्तु जैन कवि ने सिनेमा के चित्रपट के समान शृंगारिक मूर्त्ति को विलीन कर उसके स्थान पर रौद्रमूर्त्ति शाम्बर को खड़ा किया है—

सोऽसौ जाल्मः कपटहृदयो दैत्यपाशः हताशः
स्मृत्वा वैरं मुनिमपघृणो हन्तुकामो निकामम्।
क्रोधात्स्फुर्जन् नवजलमुचः कालिमानं दधान-
स्तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतोः ॥

दोनों में कितना महान अन्तर है।

जैनाचार्यों ने काव्यों द्वारा धार्मिक एवं सैद्धान्तिक तत्त्वों और नियमों का प्रचार किया है। इन्होंने शृंगार की ओर जाती हुई काव्य धारा को मोड़कर भक्ति और शान्त रस की ओर लगाया है। जैनों ने राजनीति, समाज विज्ञान, अर्थ शास्त्र, तत्त्वचर्चा आदि विषयों का समावेश भी जैन काव्यों में किया है। संक्षेप में जैन काव्यकला में वे सारे तत्त्व वर्तमान है जो मानव हृदय को स्पर्श करने वाले हैं तथा जिनमे आनन्दोद्रेक करनेवाला रूप-सौष्ठव पूर्ण रूप से है। अतएव जैनकला विश्व की ललित कलाओं में अपना प्रमुख स्थान रखती है।

श्री जैन-सिद्धान्त-भवन
आरा
१५-१२-४८

वृत्तक्षेत्र का गणित—
जैन तथा जैनेतर आचार्यों के सिद्धान्त

[ले०—प्रो० राजेश्वरीदत्त मिश्र एम० ए०, शास्त्री]

प्रस्तुत लेख में केवल वृत्त की परिधि और क्षेत्र-फल कलन के सिद्धान्तों पर विचार किया जायगा। वृत्त सम्बन्धी सारी क्रियाओं का खेल एक नित्य राशि (Fixed const) π पर आश्रित है। π का परिधि से व्यास की अनुपात राशि के लिए व्यवहार होता है। आजकल π, परिधि, और क्षेत्रफल का मान क्रम से २२/७ या ३.१४१५, २π × व्यासार्द्ध π × व्यासार्द्ध² हैं।

जैन आचार्य भी वृत्त सम्बन्धी सारे गणित के पूरे जानकार थे। गणितशास्त्र जैन आम्नाय में एक अनुयोग माना गया है, अतएव गणित का मूल्य बहुत अधिक है। जैनों के बहुत से मौलिक ज्योतिष ग्रन्थ[1] मिलते है, पाटी गणित[2] पर उनका पर्याप्त अधिकार था, क्षेत्रमिति[3] पर भी कितने ही ग्रन्थ उनके अब इधर मिले है। इनके आगम ग्रन्थों[4] में, जम्बूद्वीप के विस्तार के कलन में क्षेत्रमिति का पूरा व्यवहार किया गया है। मेरे कहने का इतना ही मतलब है कि जैन सम्प्रदाय के आचार्योंने भी भारतीय गणित में पुराने जमाने से काफी सफलतापूर्वक काम किया है।

जहाँ तक π का सम्बन्ध है, जैन आचार्यों ने उसके तीन मान व्यवहार में रखे है: (१) √१०, (२) ३ से कुछ ज्यादा, (३) ३.१६

पहले पाटीय मान अर्थात् √१० का प्रयोग निम्नाङ्कित स्थलों पर मिलता है; सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष करण्डक, भगवतीसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, जीवाभिगम-सूत्र, लघुक्षेत्र-समास राजवार्तिक इत्यादि। ज्योतिष करण्डक की १८५ वीं गाथा यों है:—

विक्खंभ वग्गदह गुणकरणी वट्टस्स परिरओ होइ
विक्खंभ पाय गुणिओ परिरओ तस्स गणिय पयम्

पूर्वपाद की टीका यों है:—"वृत्तस्य यो विष्कम्भ तस्य वर्गो विधीयते दशभि· गुणिता ततः वर्गमूलानयन, तत· वृत्तस्य परिरय परिणामम्"। कुछ लोग ज्योतिष करण्डक को सूर्यप्रज्ञप्ति से पुराना मानते हैं और स्वयं सूर्यप्रज्ञप्ति को ज्योतिष वेदांग के समान पुराना कहते

---

१ ज्योतिष करण्डक, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति

२ महावीराचार्य कृत, गणितसार संग्रह

३ तिलोयपण्णत्ति, षट्खण्डागमसूत्र, त्रिलोकसार, राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति समास प्रकरणम्, भगवतीसूत्रम्, तत्त्वार्थभाष्यम्।

४ उमास्वातिका क्षेत्रसमास, जिनभद्रका बृहत्क्षेत्रसमास, लघुक्षेत्रसमास, (रत्नशेखर सूरि)

हैं। कुछ भी हो, पर इतना तो स्पष्ट है कि इस ज्ञान का समय किसी भी हालत में ४ थी या ३ री शताब्दी ई० पू० से नीचे नहीं रख सकते। खैर, जीवाभिगम-सूत्र के ८२वें और १०८ वें सूत्र क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

तत्थणं जे ते गव्वेज्ज विरथडे से णं एक्कं जोयण सयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसइसहस्साइं सोलससहस्साइं दोन्नि य सत्तावीसे जोयण-सए, तिन्नि कोसे य अट्ठावीसं च धणुसतं तेरस य अगुलाइं अद्धंगुलयं च किंचि विसेसेण परिखेवेणम्

[तत्र योऽसौ मण्डलेय विस्तृतः स एकं योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भेण, त्रिणियोजन शतसहस्राणि, षोडशसहस्राणि, द्वे च सप्तविंशति (अधिके) योजन शते त्रयः कोशाश्चाष्टाविंश च धनुः शतं त्रयोदश चाङ्गुलान्यर्धाङ्गुलक च किञ्चिद्विशेषाधिक परिक्षेपेण]

तिन्नि जोयण सयाइं आयामविक्खंभेणं णव एकूणपण्णजोयणसए किंचिविसेसेण परिक्खेवेणं

[त्रिणि योजनशतान्यायामविष्कम्भेण नव एकोनपञ्चाशत् (अधिकानि) योजनशतानि (९४९) किञ्चिद् विशेषेण परिक्षेपेण]

सूर्य प्रज्ञप्ति के २० वें सूत्र का उद्धरण यों है:—

एगं जोयण सहस्स एगं तेत्तीसं जोयणसय आयामविक्खंभेणं तिण्णि जोयण सहस्साइ तिण्णि य नवणउए जोयणसते परिक्खेवेणं

एक योजन सहस्रमेक त्रयस्त्रिंश (त्रयस्त्रिंशदधिकं) योजनशतम् (११३३) आयाम-विष्कम्भेण त्रीणि योजनसहस्राणि त्रीणि च नवनवतानियोजनशतानि (३३९९) परिक्षेपेण।

दूसरे मान का प्रयोग जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (१९ वां सूत्र) और उत्तराध्ययनसूत्र में हुआ है। तीसरे मान का संकेत जीवाभिगमसूत्र के ११२ वें सूत्र में मिलता है। वहाँ यह भी लिखा है कि यदि वृत्त का व्यास १०० हो तो परिधि ३१६ होगी।

तिलोयपण्णत्ति में वृत्त सम्बन्धी चर्चा प्रथमाधिकार गाथा ११७ में विस्तार से आई है।

π का मान केवल तीन मान कर भी जैन आचार्यों ने स्थूल क्रियाएँ की हैं। प्रमाण में 'वासोतिगुणो परिधि' को उपस्थित किया जा सकता है। महावीराचार्य ने भी स्थूलकार्य के लिए π का व्यावहारिक मान ३ ही माना है, पर सूक्ष्म कार्य के लिए $\sqrt{१०}$ या ३.१६

दिगम्बर ग्रन्थ 'लोक विभाग' में π का मूल्य [illegible] मिलता है। लोक विभाग में π = $\sqrt{१०}$ = $\sqrt{९}$ + [illegible]

षट्खण्डागमसूत्र की धवलाटीका में परिधि लाने के लिए निम्न रीति लिखी गयी है। जो रीति सर्वथा विलक्षण और शुद्ध है। इसका मेल पौर्वात्य या पाश्चात्य किसी भी सिद्धान्त से नहीं बैठता है। इसकी शुद्धता का प्रमाण यही है कि यदि व्यास २ मान लिया जाय तो परिधि उक्त नियमानुसार ६.४२ आती है तथा २२/७ के हिसाब से ६.२९ इससे स्पष्ट है कि प्रथम मान द्वितीय की अपेक्षा अधिक शुद्ध है।

व्यासषोडशगुणितं षोडसहितं त्रिरूपरूपैर्भक्तम्
व्यासं त्रिगुणसहितं सूक्ष्मादपि भवेत् सूक्ष्मम्

अर्थात् $\frac{\text{व्या} \times १६ + १६}{११३}$ + व्यास ३ = परिधि

पर किसी स्थल पर इन परिणामों की युक्ति नहीं मिलती। परम्परागत एक और सूत्र मिलता है :—

विक्खंभ वग्गदहगुणकरणी वट्टस परिरयो होदि ॥

यह पाठ क्षेत्रसमास में भी मिलता है। अस्तु आचार्य नेमिचन्द्र ने इसकी वासना में $\sqrt{१०}$ की उपपत्ति का प्रतिपादन किया है। सारांश अधोलिखित है:—

किसी भी वृत्त की परिधि के अनन्त हिस्से किये जायँ और उसी माप के हिसाब से व्यास के भी टुकड़े किए जायँ तो रूप व्यास में परिधि का मान $\sqrt{१०}$ आएगा। यहाँ पर शंका इस बात की होती है कि परिधि तो चापाकार होती है और व्यास सरलाकार फिर दोनों के अनुपात से रूपपरिधि में $\sqrt{१०}$ का मान कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है "कि किसी भी वृत्त की परिधि का ९६ वाँ खण्डचापाकार छोड़कर सरलाकार हो जाता है।" यहाँ पर सबसे आश्चर्यजनक बात है कि आर्कमीडस भी ९६ भुजा के समबहुभुज क्षेत्र के परिमिति से π < ३६ के निष्कर्ष पर पहुँचा था और वासनाकार भी ९६ का प्रयोग करते हैं।

इस वासना के गुणावगुण का ख्याल न किया जाय तो भी, इसका ऐतिहासिक मूल्य बहुत है। गणित में युक्तिप्रतिपादन के भारतीय इतिहास में यदि यह सर्वप्रथम प्रयास नहीं हो तो भी, जैनगणित में तो यह सर्वप्रथम अवश्य है, ऐसी मेरी धारणा है क्योंकि इसके खण्डन का प्रमाण मुझे नहीं मिला। ममूचा भारतीय ज्ञानकोष प्रायः सूत्रबद्ध है अतएव उपपत्ति के लिये अन्वेषकों को काफी कष्ट उठाना पड़ता है।*

यहाँ तक कह लेने के बाद π के मान के सम्बन्ध में जैनेतर भारतीयों के सिद्धान्त में कोई नवीनता नहीं रह जाती। जहाँतक मेरा ख्याल है कि π की उपपत्ति के सम्बन्ध में जैनेतर आचार्यों की भी कोई युक्ति नहीं मिलती। टीका ग्रन्थों में अवश्य युक्तिका उल्लेख मिलता है; जैसे 'आर्यभट्टीयम्' की नीलकण्ठी टीका में। इसटीका का समय १४५०-१५५० ई० स० माना जाता है। इस युक्तिका सारांश यह कि वृत्तकेन्द्र से परिधि पर्यन्त अनन्त त्रिज्याएँ खींची जाय, फिर वृत्तके वृत्तखण्ड को द्वन्द्वशः व्यस्तारोपण करें, चाप के अणीयस परिणाह के कारण, वृत्त एक आयत में परिवर्तित हो जायगा। चाप सरलाकार हो जायगा और वह आयत वृत्त के क्षेत्रफल के बराबर होगा। स्पष्ट है कि इस तरह की प्रणालीका मूल आजकल के सीमास्थमान का सिद्धान्त (Theory of limifing value) है। π की नित्यता पर भी आर्यभट्टीयम् में स्पष्ट उल्लेख है। $\sqrt{१०}$ की उपपत्ति के विषय

में हमें केवल कमलाकर के सिद्धान्त तत्त्वविवेक में ही युक्ति मिली जिसका उल्लेख नीचे किया जा रहा है। कमलाकर का सूत्र है—

"व्यासवर्गाद्दशगुणात्पदं भूपरिधिः भवेत्" और उपपत्ति के लिये उन्होंने प्रमाण दिया है।

रुद्राहतव्यासदलोत्थवृत्ते: व्यासोत्क्रमज्यावशतः क्रमज्या।

या तत्समोऽयं परिधिः सुसूक्ष्मो व्यासैकमानाद्दशमूलरूपा॥

कमलाकर ही ने शायद पहले पहल रेखागणितीय विश्लेषण की युक्ति दी है।

अगर कमलाकर की बात छोड़ दी जाय, तो १५ वीं शताब्दीतक युरोप और भारत में π के निरूपन बराबर ही काम हुआ। क्योंकि उस कालतक युरोप में आर्कमीडस की रीति पर ही, π का पाटीयमान निकलता रहा था। भारत में भी पाटीयमान की भरमार हो गयी थी। युक्तिप्रतिपादन का अन्तर अवश्य था। क्या अन्तर था कहा नहीं जा सकता। ऐसा मालूम पड़ता है कि युक्लिड साहब की रेखागणितीय रीति, या आर्कमीडस साहब की कल्पना कि परिधि का मान परिलिखित (Circumscribed) और अन्तर्लिखित (Inscribed) सम बहुभुज क्षेत्र के बीच होता है, का पता जैन आचार्यों को था। $\sqrt{10}$ तो सर्वथा भारतीय है। षड्खण्डागमसूत्र तथा सूर्यप्रज्ञप्ति काफी पुराने है। इनमें वर्णित गणित के सिद्धान्त ई० पू० ४ थी शताब्दी के बाद के सगत नहीं मालूम पड़ते।

दो बात इस सम्बन्ध में और बचीं। π की करणीगतता (Irrationalı) असंख्येयता) और पाश्चात्यो का यह प्रश्न कि वृत्तक्षेत्र के बराबर एक वर्गक्षेत्र की रचना पहले क सम्बन्ध में जैन आचार्य एकदम मौन नहीं है, उन्होंने संख्याओं का वर्गीकरण बहुत ही उत्तम रीति से किया है। यूरोप में १७६१ ई० में लैम्बर्ट साहबने आर्यभट्टीयम् क उपर्युक्त टीका के निम्न अवतरण से सिद्ध किया है।

कुतः पुनर्वास्तवीं संख्यामुत्सृज्यासन्नैवेहोक्ता। उच्यते तस्या वक्तुमशक्यत्वात्। कुतः येन मानेन मीयमानो व्यासः निरवयवः स्यात्, तेनैव मीयमानः परिधिः पुनः सावयव एव स्यात्., स्पष्ट हो जाता है कि π की करणीगतता का ज्ञान हमें प्राप्त था।

रहा दूसरा प्रश्न। आर्कमीडस ने उत्तर में rectilinear triangle [सरल त्रिभुज जिसका आधार परिधि हो और ऊँचाई त्रिज्या हो, की कल्पना की थी। इस त्रिभुज को समक्षेत्रफलीय वर्ग में परिगुन करना कठिन नहीं रह जाता। पर, जैन ग्रन्थों में इस प्रश्न का कोई स्पष्ट हल नहीं मिलता। जैनेतर ग्रन्थों मे आर्यभट्टीयम् की वासना में नीलकण्ठने इस पर काफी प्रकाश डाला है। वे वृत्तको आयत में परिणत करते है।

इसके बाद π की प्रगति भारत में अवरुद्ध हो जाती है। यूरोप में π पर आशातीत नये मतों का प्रतिपादन हुआ। संक्षेपतः इतिहास यों है—

त्रिकोण-मिति का π के लिये प्रयोग होना शुरू हुआ। १६३१ के करीब Snell साहबने चापकलन (rectification) की एक रीति चलायी जो आर्कमीडस साहब से अच्छी और अधिक शुद्ध थी।

पर सबसे नवीन रीति डेकार्सने अपनायी। यह रीति आर्कमीडस साहब से बिल्कुल उलटी है दी हुई रेखा का परिणाह परिधि के बराबर मानकर उन्होंने वृत्त के व्यास का मान निकाला। मूलतः उनकी रीति है कि दी हुई रेखा के चतुर्थांश पर एक वर्ग बनाया जाय। कर्णपर एक बिन्दु (बाहर) लिया, यह बिन्दु इस तरह का होना चाहिये कि, वर्ग की एक भुजा के साथ, उस बिन्दुको एकशीर्ष बिन्दु मानकर एक आयत बने जो वर्गका चतुर्थांश हो फिर उसी कर्णपर एक अन्य बिन्दु लेकर उसी तरह एक आयत बनाया जाय जो उस आयत का चतुर्थांश हो। इस क्रिया में अन्ततः जो बिन्दू मिले उस कर्णका परिमाण व्यास होगा।

बाद में वालिस साहबने कार्तीयद्विधानियामक अन्तों के सहारे, समीकरण में π का मान यों रखा।

$$\frac{४}{\pi} = \frac{३.३.५.५.७.७}{२.४.४.६.६.८.८}$$

और ब्रोंकर साहबने इसी परिणाम को वितत भिन्न के सहारे यों लिखा।

$$१+\cfrac{१^२}{२+\cfrac{३^२}{२+\cfrac{५^२}{२+\dots}}}$$

उसके बाद सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोग इस दिशा में ग्रिगरी साहब का हुआ, इनका समय १७ वीं शताब्दी है। पहले तो इन्होंने आर्कमीडस साहब के समान रीति अपनायी। अन्तर इतना ही था कि जहा आर्कमीडस साहबने मान निकालने के लिये परिमिति के सीमास्थ मानकी कल्पना की थी वहाँ ग्रिगरी साहबने क्षेत्रफल के सीमास्थमान की कल्पना की।

पर सबसे आधुनिक रीति के अनुसार π का मान एक अनन्त ससृत श्रेणी में लिखा जाता है। ग्रिग्री साहबने अपना परिणाम प्रस्तुत समीकरण के आधार पर निकाला।

$$\theta = \tan\theta - \tfrac{1}{3}\tan^3\theta + \tfrac{1}{5}\tan^5\theta -$$

$$\theta = \text{स्पर्शज्या}\ \theta - \tfrac{1}{3}\ \text{स्पज्या}\ ^3\theta + \tfrac{1}{5}\ \text{स्पज्या}\ ^5\theta$$

परिणामत चापको स्पर्शज्यादि की श्रेणी में लिखने की रीति यहीं से चली। उसी समय न्यूटन आदि भी खोज में लगे थे, न्यूटनने चापको ज्या' की श्रेणी में लिखने की रीतिका प्रतिपादन किया।

जैन आगम ग्रन्थों में उपर्युक्त प्रणाली का आभास भर मिलता है। पर मुकुन्दमरार और राजगोपालन् के मतानुसार तन्त्रसंग्रह, युक्तिभाष्य, करणपद्धति और सद्रत्नमाला में उक्त प्रणाली स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। चारों ग्रन्थ दाक्षिणात्यों के हैं। तन्त्रसंग्रह के

कर्ता हैं नीलकण्ठ, जिन्होंने आर्यभट्टीयम् की टीका लिखी है। तन्त्रसंग्रहका रचनाकाल १६ वीं शताब्दी है। वहाँ ट=१ और ट=१/३का मूल्य निकाला गया है। युक्तिभाष्य में रीतिका प्रतिपादन हुआ। इसका समय १६३९ ई० स० मालूम पड़ता है। यूरोप में ट=१/३×√३ का मूल्य १६९९ ई० में निकला था। स्वयं ग्रिगरीसिद्धान्त के प्रकाशनका समय १६७० के करीब माना है। नमूने के तौरपर कुछ श्लोक हिन्दी सहित उद्धृत नीचे कियेजाते हैं

> व्यासार्धेन हतादभीष्टगुणतः कोट्याप्तमाद्यं फलं
> ज्यावर्गेण विनिघ्नमादिमफलं तत्तफलं चाहरेत्।
> कृत्या कोटिगुणस्य तत्र तु फलेष्वेकत्रिपञ्चादिभिः
> भक्तेष्वोजयुतैस्त्यजेत्समयुतिं जीवाद्धनुश्शिष्यते ॥

अर्थात् चापको—कोटिवृत्तको व्यासार्ध से गुणा और गुणनफलको भुज से भाग दीजिये। यह योजना में प्रथम होगा। इस पदको कोटिवृत्तवर्ग से गुणाकर भुजवर्ग से भाग, यह श्रेणी का दूसरा पद होगा। इस क्रमको जारी रखा जाय। इस तरह से पदोंका क्रम मिलेगा, इन्हें क्रम से १, ३, ५ से भाग दें, १, ३, ५ स्थानीय राशियोंका संकलन और २, ४, ६ स्थानीय राशियोंका व्यकलन किया जाय, परिणाम में परिधि आयगी।
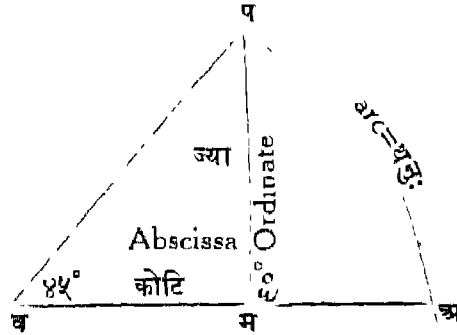
कोण अवप ∠ ४५° चाप पअ = वप $\left\{ \frac{पम}{वम} - \frac{1}{3}\frac{पम^3}{वम^3} + \frac{1}{5}\frac{पम^5}{वम^5} \right\}$

इस तरह प्रस्तुत नियम आधुनिक सिद्धान्त के अनुरूप मिलता है:—

$\tan^{-1}t = t - \frac{1}{3}t^3 + \frac{1}{5}t^5 \quad \ldots |\tan^{-1}t| < \frac{\pi}{4}$

अतएव स्पष्ट है कि दक्षिण में ऐसे लुप्त जैन ग्रन्थ का मिलना असंभव नहीं मालूम पड़ता जिसमें इन बातों की चर्चा हो। युक्तिभाष्य मलयालम में है, अतएव कन्नड़

१ आर्यभट्टीयम् की नीलकण्ठीका प्रस्तुत अंश विचारणीय है—
परिधेः षड्भागज्या विष्कंभार्धे तुल्यैव ॥

साहित्य में इस तरह के जैन गणित ग्रन्थोंका पता चल सकता है।

एक रीति और है—जिससे π का पाटीयमान निकाला गया है। उस रीतिका प्रतिपादन संभाविता-गणित से होता है। इस रीति के प्रतिपादन के मूल में भावना है कि π को केवल परिधि से व्यासका अनुपात ही नहीं माना जाय। इसे एक करणीगत राशिका संकेत-मात्र माना जाय जिसका प्रयोग गणित में विभिन्न स्थलोंपर होता है। रीतिका प्रतिपादन निम्न है—

एक समतलपर समदूरस्थ समानान्तर रेखाएँ खींची जायें, प्रत्येक रेखा के बीच की दूरी अ है। एक सूची जिसकी कल्पित लम्बाई ल (∠अ) है उस धरातल पर गिराई जाती है। इसकी संभावना कि उस समतलपर वह सूची फेंकी जानेपर किसी एक रेखाको पार कर जाय, $\frac{२ल}{\pi अ}$ है। डी मार्गन के एक शिष्य ने ६०० बार प्रयोगपर π का मूल्य ३.१३७ निकाला था।

एक दूसरी रीति का प्रतिपादन यों है:-दो संख्याएँ जिस तिस प्रकार से (At random) चुन ली गयी इसकी संभावना कि दोनों परस्पर अभाज्य है $=6/\pi^2$ इसके सतत वास्तविक प्रयोग से भी π का मान निकाला गया है।

मेरा विश्वास है कि अन्वेषण करने पर जैन गणित या अन्य भारतीय गणित में इस संभाव्य गणित प्रक्रिया का प्रयोग भी मिलेगा।

जैन ज्योतिष का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ

(ज्योतिप्रकाश—जैनतिथिपत्र साधन)

[लेखक—श्रीयुत् बा० अगरचन्द नाहटा]

भारतवर्ष में ज्योतिष विज्ञान का आविष्कार बहुत प्राचीन समय मे हुआ और उसका क्रमशः विकास होता चला गया। जिसके फलस्वरूप हजारों ग्रन्थ इस विद्या सम्बन्धी प्राप्त होते हैं। जैन मुनियोंका भी इसकी ओर प्रारभ से आदर रहा है। अतः जैन आगमों—अंग साहित्य में भी इस सम्बन्ध में काफी सामग्री मिलती है एवं स्वतन्त्ररूप से चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, लोकविजय यंत्र ज्योतिष करंडक, आयज्ञान तिलक गणि विद्यादि ग्रन्थ प्राप्त हैं। कई वर्ष पूर्व भास्कर एवं विज्ञान में उस समय तक के ज्ञात जैन ज्योतिष ग्रन्थों की सूची प्रकाशित कर चुका हूँ एवं भास्कर के संपादक श्रीनेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यने उनकी विस्तृत सूची के साथ जैन ज्योतिष के महत्वपर प्रकाश डाला है जो वर्णीअभिनंदन ग्रन्थ मे शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। पर अभी ज्यों-ज्यों खोज होती जायगी, नये-नये अन्य अनेक ग्रन्थ प्रकाश में आते रहेंगे। कई ग्रन्थों के तो यद्यपि उल्लेख व उद्धरण भी प्राप्त होते है पर अभीतक उनकी प्रतियाँ प्राप्त नहीं हुई। जैसे मेघविजय उपाध्याय के ग्रन्थ में प्राकृत 'भद्रबाहुसंहिता' के निर्देश के साथ कुछ उद्धरण भी है पर वह ग्रन्थ अभी अप्राप्य है यद्यपि इसी नामवाला संस्कृत ग्रन्थ प्राप्य है। इसी प्रकार नरचन्द्रोपाध्याय के 'जन्म प्रकाश' और 'प्रश्नशतक' का उल्लेख उन्ही के अन्य ग्रन्थों में प्राप्त है पर वे ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं हुए। प्राकृत भाषाका हीरकलश कृत ज्योतिषसार नामक ग्रन्थ की भी अपूर्ण प्रति ही प्राप्त हुई है यद्यपि इसी कर्त्ताका लोकभाषाका 'हीरकलश' ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

दिल्ली के श्रीयुत् पन्नालालजी जैन से वहाँ के दि० सरस्वती मन्दिरो की कतिपय प्रतियाँ मँगाकर लाभ उठाते हुए वहाँ के नये मन्दिर के ज्ञान भण्डार से एक ज्योतिष ग्रन्थ की प्रति प्राप्त हुई है। इसके भी मध्य के (पत्रांक ९-१६-४४) पत्र व अंतका पत्र प्राप्त नहीं हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ बहुत महत्वका है पर त्रुटित है। अद्यावधि इस ग्रन्थ की अन्य कोई प्रति कहीं ज्ञात नहीं हुई। अतः पाठकों की जानकारी के लिये इसका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है, किसी सज्जनको इसकी पूर्ण प्रति कहीं प्राप्त हो तो मुझे सूचित करने की सादर विज्ञप्ति है। जयपुर के पं० भगवानदासजी से ज्ञात हुआ कि काशी के

हीराचन्द्रसूरि के भंडार में भी इसकी एक अपूर्ण प्रति है पर सूरिजी से पूछनेपर उत्तर मिला कि इस नामवाले ग्रन्थका यहाँ पता नहीं चलता।

ग्रन्थनाम —

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम 'ज्योतिः प्रकाश' या 'जैनतिथि पत्र साधन' (रचना) है। प्राप्त प्रति के अनुसार उसमें ७ प्रकाश हैं अन्तिम प्रकाश में ही इसका नाम ज्योतिःप्रकाश दिया गया है। अन्य प्रकाशों के अन्त में "जैनतिथि पत्र साधन" सज्ञादी गयी है और ग्रन्थ के विषय एवं प्रारंभ के श्लोक से भी इसी नामका समर्थन होता है।

महत्व एवं आधार—बहुत समय से जैन ज्योतिषानुसार पञ्चाङ्ग के विच्छेद हो जाने से पर्व तिथियों को लेकर श्वे० जैन समाज में बड़ा विवाद चलता आ रहा है और अब तो वह चरम सीमातक पहुँच गया प्रतीत होता है। तब प्रस्तुत ग्रन्थ में उसी कमीको पूरी करनेका प्रयत्न किया गया प्रतीत होता है इससे ग्रन्थका महत्व बहुत बढ जाता है। इस ग्रन्थ की रचनाका मूल आधार आचार्य मलयगिरि की ज्योतिष करण्डक वृत्ति है।

एक अप्राप्त दि० ज्योतिष ग्रन्थ का निर्देश—प्रस्तुत ग्रन्थ में सूर्यप्रज्ञप्ति' चन्द्रप्रज्ञप्ति एवं लोकप्रकाश आदि श्वे० ग्रन्थों के उल्लेख के साथ इसमें दि० मूलसंघीय-ज्ञानभूषण के खेटचूल[१] ग्रन्थका भी निर्देश है यदि यह ग्रन्थ प्राप्त हो तो इसका परिचय प्रकाशित करना आवश्यक है, अनुपलब्ध हो तो दि० भंडारो में खोज करनी चाहिये। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रत्येक प्रकाश के अन्त में ज्ञानभूषणका भी निर्देश है। अतः उनका ग्रन्थ भी आधार कृत ग्रन्थ प्रतीत होता है।

ग्रन्थकार व रचना समय—

ग्रन्थ के प्रारंभ में एवं प्रकाशों के अन्त में दिये गये श्लोको में ग्रन्थकारका नाम निर्देश प्रतीत होता है पर वह अस्पष्ट-सा है एवं अन्त की प्रशस्ति अपूर्ण प्राप्त होने से ग्रन्थकार के नामका निश्चय नहीं कर सका पर वह श्वे० तपागच्छीय हीरविजयसूरि की परम्परा का है यह तो निश्चित है। इसी प्रकार ग्रन्थ रचना कालका निर्देश भी ग्रन्थ में २-स्थानोंपर सं० १६४० (हीरसूरि के अकबरको बतलाने रूपमें) का किया है पर

१ अत्र आशांबरपात्तिका' मूलसंघे श्रीज्ञानभूषणसूर्यः स्वकृतखेटः।

२ चूलायां प्राहु यथा च तद्ग्रन्थे तेषां स्तुति.। श्रीजैनशिष्टतिथिपत्रमिह प्रणष्टं स्पष्टी च-कार भगवान् करुणाधुरीणः, बालावबोधविधिना विनयं प्रपद्य श्रीज्ञानभूषण गणेशमभिष्टुमस्तं। ज्ञानभूषण जगद्विभूषण विश्वभूषणगणाग्रणी, त्रयीचिन्मयी स्व विनयी हिताश्रयास्तादृयतो भवति विधिर्जयी ॥२॥ इत्यादि मगलं कृत्वा सारणीसवृत्ति प्रवर्तिता।

ग्रन्थ में विनय विजय के "लोकप्रकाश" जिसकी रचना संवत् १७०८ में हुई है एवं सं० १७२५-३०-४०-४१-५५ के कई उल्लेख उदाहरण के रूपमें होने से ग्रन्थका वास्तविक रचना समय सं० १७५५ के कुछ समय बादका ही ज्ञात होता है। ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति पूर्णरूप से प्राप्त होनेपर ही इसका पूरा निश्चय हो सकता है।

अब ग्रन्थ के कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं।

मंगलाचरण—

प्रणम्य सम्यग्नामेयं पुरुषोत्तमनमीश्वरम् ॥
श्री जैनतिथिपत्रस्य रचनां वच्मि कांचन ॥१॥
गौतमाद्या गणेशाश्च भास्करप्रमुखाः खगाः ॥
ज्योतिः प्रसादं दधतां जैनशासनसूरयः ॥२॥
श्री हीरविजयसूरेः, साम्राज्ये तपगणे विजयमाने ॥
श्री अकबर चक्रपतिः मपातिसाहिर्बभूव भुवि ॥३॥
प्रवचनवनककषोपलप्रोन्मील च शील भूषणां गणिनः।
करकमलसिद्धिभाज चरित्राचारदृढरुचयः ॥४॥
तेषां कृपानुयोगाच्छिष्य भुजष्यां विशेष्य विनय मतिः।
कुरुते गुरुतेजोभिर्ज्योतिरिदं स्पष्टमिह जैनम् ॥५॥

× × ×

तस्य खाब्धयंगभूः (१६४०) वर्षे श्री हीरगुरुसंगमात् ॥
करुणाविरभूत्तस्माद्दयाधर्मोप्यदीदिपत् ॥१०॥
ज्ञानगोष्ट्यां प्रवृत्तायां ज्योतिःशास्त्रमुपादिशत् ॥
श्रीहीरसूरिस्तच्छ्रुत्वा सोत्साहः साहिराह च ॥११॥
गुरुणादिश्यते ज्योतिर्मार्गस्तस्यानुसारि च ॥
तिथिपत्रं स्फुटी कृत्वाऽस्मन्नाम्नैव प्रवर्त्यताम् ॥१२॥

प्रथम प्रकाश के अन्त में—

इति श्री जैनतिथिपत्रसाधने तिथिद्वारं संपूर्णं। प्रथमः प्रकाशोपि पूर्णः। पूर्वाचार्य मलयगिरयो मे प्रसीदंतु सद्यो ज्योतिर्मार्गे दिनकर समाज्ञानतो भूषणाभाः धन्यैर्मामतिरतिशयाद् द्वेष वेषं विमुच्यासीषां ज्योतिर्भजति विमलं यन्मनीषां विशिष्यन्या ॥१॥

द्वितीय प्रकाश के अन्त में—

इतिश्रीजैनतिथिपत्रसाधने द्वितीयं द्वारं, तेन द्वितीयः प्रकाशः संपूर्णः ॥

तृतीय द्वारं तु तिथिघटिकारूप तिथ्यधिकारादेव सुलभं, तुर्यं नक्षत्रद्वारमारभ्यते ॥

अज्ञान धर्मतापे मलयगिरिर्हीतजनतृषांगोभिः
दूरादपि विषयविद्यौ शुचिसमये विनय नमः पूर्णः ॥१॥
ज्ञान भूषणमपिस्तुमः सतां सर्व मांडलिक वदितं हितं।
सूर्यकांतमतिनिर्मलं गवाक्षेत्रभासन सभासनाश्रितं ॥२॥

तृतीय प्रकाश की प्रशस्ति नहीं मिली—

चतुर्थ प्रकाश के अन्त में—

ज्ञानभूषणमवाप्य सद्गिरा। वस्तुनोयदधियोति पाटवं। हेतुरत्रमलयाचलक्रम। सौरभानु भव एव लभाऽयते ॥१॥ इति नक्षत्र द्वार। वारंवारं विमृश्यवश्यमना। इहमकार्यं विष्टितं। गुरु विनयस्य प्रसादोऽसौ ॥२॥ इति श्री जैनतिथिपत्रसाधने नक्षत्रसाधनंसंपूर्ण ॥ तुर्यः प्रकाश संपूर्णः ॥

पंचम प्रकाश के अन्त में—

मलयगिरिः सुरगिरिवर ज्योतिर्धत्तेऽत्र शिखिरिव सुवृत्या। तस्मात् कांचन शोभा तनोति जिनासनविमलः ॥१॥ तद्ज्ञानभूषणश्रीसालंकार करोति विबुधजनं। योगाभोग नो। सोप्यस्तु विस्तीर्णः ॥ इति श्री जैनतिथिपत्रसाधने योगद्वारं षष्टांश राशि पूर्ण। पंचमः प्रकाशोऽपि सपूर्णः। जगद्गुरो श्री मलयाचलस्य। प्रभावतो ज्ञान-भूषणेन। विभूष्यते यं करणाधिकाराद्ग्रंथः स्फुरज्ज्योतिरपासुतपः ॥१॥

षष्ठ प्रकाश के अन्त मे—

मलयगिरि गरीयः शृंगपादानुसंगी। भवति नमसि भानुर्भानुभास्वान्महस्वी। गुरु दिनमुदयेनो तेजयन्मेघमम्यक्। विजयकरणहेतोः शश्वदानंददायी ॥१॥ सौर-प्रभावदवनेषुलक्ष्मीः। सा भारतीस्याद्व सुधासुधात्र्या। श्री ज्ञानसद्भूषण वाक्य वृत्त्या। ज्योतिर्महीयस्तरमभ्युदेति ॥२॥ इति श्रीजैनतिथिपत्रसाधने। दशमेका

सप्तम् प्रकाश के अन्त में—

इति चतुर्दशपचदश सप्तदश
रूपैश्च चतुर्भिर्द्वारैः संपूर्णोऽयं
ज्योतिः प्रकाशः सप्तमः
जयशैलः श्रीगुरुः शीलशाली।

तदनुदनुपूज्यः सूरि सूर्योऽपि हीरः ।
कनककविमलशीलोन्मालिदर्हन्मतश्रीः ।
कमलमधुरकांतिर्वल्लभः सिद्धि वद्धवाः ॥१॥
तदनुविदित कीर्तिश्चारु—

प्रति परिचय—पत्र ५१ प्रति पृष्ठ पंक्ति ८ व प्रतिपंक्ति अक्षर ३० । मध्य के ६।१६।४४ का व अन्त्य का पत्र नहीं मिला । पाठ अधिकांश अशुद्ध हैं, ऊपर मूल की रक्षा के लिये ज्यों के त्यों प्रशस्तियों में पाठ रखे गये हैं ।

१६-११-४८ बीकानेर]

कलिङ्गाधिपति खारवेल

[ले०—श्रीयुत प्रो० गो० खुशाल जैन एम० ए०, साहित्याचार्य, आदि]

मूलाधार हाथीगुंफा लेख—

'बुद्धि वार्द्धक्य की पुत्री है।' इस पाश्चात्य तथ्यको संभवतः प्राचीन भारतीय संस्कृति में स्थान नहीं था। वहां तो आत्माख्यान भी शील और संकोच के साथ करना ही शिष्टता थी, यही कारण है कि संस्कृति के प्रथम प्रतिष्ठापक भारतीय महा-पुरुषों के स्पष्ट परिचय भी नहीं मिलते हैं। जो मिलता है उसमें भी समय, पद प्रतिष्ठा आदि का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, क्योंकि 'आत्म प्रशंसा' और परदोषोद्भावन के दोष से बचने के लिए उसे लक्ष्य अथवा व्यङ्ग्य बना दिया जाना अनिवार्य था। परिणाम यह हुआ कि जब योरोपीय विद्वानों ने अपनी उक्त दृष्टि के अनुसार भारतीय संस्कृति और समाज की प्रचीनता की थाह लेनी चाही तो वे निराश हुए और उन्होंने भारतीय विद्वानों तथा नायकों पर 'ऐतिहासिक रुचि शून्यता' का आरोप कर दिया। जिस देश के सिद्धान्त तथा पुराण ग्रन्थों में दशसागर कोटाकोटि वर्षों का क्रमबद्ध वर्णन मिलता है, उसी देश के, आजसे लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हुए महापुरुष (सम्राट् खारवेल) का काल निर्णय इसीलिए नहीं हो पा रहा है कि उसने अपने समय का संकेत अपने 'पूर्वज राजाओं की अपेक्षा' से किया है, जैसा कि हाथी गुम्फा शिलालेख मे आये "'पन्नंतरिय सठि वससते राजा मुरिय काले वोच्छिन्ने च चोयठिग सनकोतारिय च उपादयति[1]।" उद्धरण से स्पष्ट है।

हाथीगुम्फा शिलालेख का महत्त्व—भारतीय इतिहास में प्रियदर्शी राजा अशोक के शिलालेख सर्व प्रथम हैं। भगवान महावीर और बुद्ध के समय से लेकर ईसा संवत् के प्रारम्भ तक के इतिहास के ये परम प्रकाशक तथा प्रतिष्ठापक हैं। इनके बाद आज तक उपलब्ध शिलालेखों में कलिङ्गाधिपति एल खारवेल का हाथीगुम्फा शिला-लेख वेदिश्री के नानाघाट शिलालेख के बाद गिना जाता है। अर्थात् अशोक लेखों के बाद खोदा गया यह दूसरा शिलालेख है। किन्तु मोर्य-पूर्व काल की वंश परम्परा तथा काल गणना की दृष्टि से इसका महत्त्व अशोक लेखों से भी अधिक है। देश में उपलब्ध

1 ज० ए० सो० व०, पु० ११, को० इन्स० इं०, पु० १ पृ० २७, ए० सि० को, इण्ड० ओरि०, भा० ३ विभा० २ पृ० १५२-७७, ज० वि० ओ० रि० सो०, पु० ३ पृ० ४५३-६१, आदि पंक्ति १६।

शिलालेखों में यही एक मात्र लेख है जिसमें वंश[1] तथा वर्ष संख्या[2] का स्पष्ट उल्लेख है। स्व० रा० पा० बनर्जी के मत से यह पौराणिक वंशावलियों की पुष्टि करता है तथा ऐतिहासिक काल गणना को ल० ४५० ई० पू० तक पहुंचा देना है[3]। जहां तक तत्कालीन राज्य व्यवस्था, सामाजिक अवस्था, राजा की योग्यता तथा कर्त्तव्य आदि का सम्बन्ध है यह १७ पंक्तिका शिलालेख अत्यन्त स्पष्ट है क्योंकि इसमें दत्त जनसंख्या आदि का चाणक्य के अर्थ शास्त्र, मेगस्थने, आदि के उद्धरणों से होता है। भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग सौ वर्ष बाद ही जैनधर्म किस प्रकार उड़ीसा में पहुंचा और राज्यधर्म बन गया इसका तो यह दर्पण ही है। आज विभक्त उड़ीसा और विहार प्रान्तों के ल० २००० वर्ष प्राचीन सम्बन्ध को भी यह बनाता है। तथा हजारों वर्षों से पराधीन भारत जब १६ मास पूर्व स्वतंन्त्र हुआ और आज अपने मूल नामका पोषक पाषाणोत्कीर्ण प्रमाण इसलिए चाहता है[4] कि स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधान मंत्री को 'भारत' नाम की पौराणिकता के साथ ऐतिहासिकता का भी भान हो सके, तब भी हाथीगुंफा शिलालेख ही वह प्राचीनतम शिलालेख है जिसकी दशमी पंक्ति में 'भरध-वस' (भारतवर्ष) के दर्शन होते हैं[5]।

शिलालेख का आकार प्रकार— उड़ीसा प्रान्त के पुरी जिले में स्थित भुवनेश्वर स्थान से तीन मील की दूरी पर 'खण्डगिरि' नामका साधारण ऊँचा पर्वत है। इसके उत्तरी भाग की 'उदयगिरि' नाम से ख्याति है। इस उदयगिरि पर्वत में एक कृत्रिम गुफा है जो हाथीगुंफा नाम से विश्रुत है। इसी गुफा के मुख तथा छत पर सम्राट्

१ उक्त, पंक्ति २-३।

२ "पंचमे च दानी वसे नंदराज ति० वस-सत-ओघाटितं...इत्यादि।" व उक्त पंक्ति ६, ११ तथा १६।

३ ज० वि० ओ० रि० सो०, पु० ३, पृ० ४८६

४ श्री० प्रा० नगेन्द्रनाथ घोष की अभिनव पुस्तक (अरली हिस्ट्री ओफ इण्डिया ७० १८६-१७) देखने के बाद सम्राट् खारवेल के समयादि का सूक्ष्म अध्ययन करने की इच्छा हुई ही थी, संयुक्त प्रान्तपति मा० बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन ने प्रश्न किया क्या प्राचीन शिलालेखों में 'भारत' नाम आया है? यत: मुझे इस शिलालेख में आये 'भरधवस' की अस्पष्ट स्मृति थी अत: 'हां' कहना ही चाहता था कि उन्होंने भा० प्राचीन इतिहासज्ञ एक आचार्य का नाम लेकर कहा कि वे कहते हैं कि नहीं आया है, तब मैं चुप रह गया। किन्तु शिलालेख देखने के लोभ का संवरण न कर सका और अनायास ही अभीप्सित प्रारब्ध हो गया।

५ "दसमे च वसे महधीत, भिसमयो भरध-वस-पथानं महि जयनं...ति कारापयति।"... पंक्ति १७ (ज० वि० ओ० रि० सो०, पु० ३, पृ० ४६७)

खारवेल का शिलालेख उत्कीर्ण है। लेख की लम्बाई १५ फी० १ इ० तथा चौड़ाई ५५ फी० है तथा ल० ८४ वर्गफीट क्षेत्रफल है। इसमें सत्तरह पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में ९० से १०० तक अक्षर हैं। अक्षरों की ऊँचाई भी ⅓ इं० से ३½ तक है। यह एक सफेद निसाप की शिला पर खुदा है जिसका बीच का भाग उभरा हुआ है। दो हजार वर्ष से सतत पड़नेवाले आतप वृष्टि के आघातों का प्रभाव स्पष्ट है। प्रारम्भिक पाँच पंक्तियां ही अच्छी हालत में हैं। ७ से १० पंक्ति तक में प्रथम दो अथवा तीन शब्द ही पढ़े जा सकते हैं। ७ से १३ पंक्ति तक के दक्षिणार्ध की पर्याप्त हानि हुई है। अन्तिम ७ पंक्तियों के प्रारम्भिक दश-बारह अक्षर लुप्त ही हो गये हैं। तथा अन्तिम चार पंक्तियों में कई जगह अक्षर उचट गये हैं। शिलालेख के ऊपर बने छिद्रों को देखकर अनुमान होता है कि प्रकृति के प्रभाव से बचाने के लिए इसके ऊपर छायाकी व्यवस्था की गयी थी जो अधिक समय तक न चली। और इस पाषाण-इतिहास की हीयमान अवस्था वैज्ञानिक उपचार की अपेक्षा करती है।

लेख की भाषा अर्द्धमागधी तथा जैन प्राकृत मिश्रित अपभ्रंश है। डा० का० प्र० जैसवाल के मत से वह प्राचीन पाली से बहुत मिलती जुलती है। श्री ब्यूलर ने लिपि का सूक्ष्म अध्ययन करके बताया था कि वह उत्तर भारतीय ब्राह्मी है, जिसका समय ल० १६० ई० पूर्व आँका जा सकता है। क्योंकि ब्राह्मी लिपि के विकास का वह समय था जिसमें हुए उसके परिवर्तन और परिवर्द्धन का सरलता से अनुमान किया जा सकता है।

लेख के प्रारम्भ में प्रथम पंक्ति की बाँयी ओर मुकुट तथा स्वस्तिक के आकार है तथा समाप्ति पर खारवेल नाम के बादही गोष्पद सदृश (नन्द्यावर्त) चिन्ह हैं। इनके अतिरिक्त चतुर्थ चिन्ह वृक्षका है जो संभवतः अशोक वृक्षका सूचक है। ये चारों चिन्ह जैन मान्यता के स्वस्तिक, दर्पणादि अष्ट मंगल द्रव्यों में से हैं। इनमे प्रथम तथा चतुर्थ चिन्ह अन्यत्र भी उपलब्ध हुए हैं।

शिलालेख का प्रकाशन—सन् १८२५ में सबसे पहले इसपर श्री स्टर्लिंग[1] (Stirling) की दृष्टि पड़ी थी। सन् १८३७ में श्री किटो (Kittoe) ने स्वयं देखकर इसकी प्रतिलिपि ली थी, जिसके आधार श्री प्रिन्सेप[2] (Princep) ने इसे मुद्रित किया था। एक दूसरी प्रतिलिपि के आधार से ४० वर्ष बाद १८७७ ई० में श्री कनिंघमने[3] इसे

---

१ एशियाटिक रिसर्चेज, पु० १५, पृ० ३१३ आदि।

२ जर्नल ओफ एशियाटिक सोसाइटी ओफ बंगाल, ओ० सै०, पु० ११।

३ कोरपस इन्सक्रिपशन इण्डीकेरम, पु० १, पृ० २७, क्र० १५।

मुद्रित किया था। इसके तीन वर्ष बाद १८८० ई० में राजा राजेन्द्रलाल[1] मित्रने इसका एक छापा (ठप्पा) ही मुद्रित किया था। किन्तु इन सबके सहारे विशेष अध्ययन संभव न हो सका। इस दृष्टि से आचार्य भगवानलाल इन्द्र[2] जी का वाचन ही महत्वपूर्ण तथा उपयोगी था जिसे उन्होंने १८८५ ई० में प्रकाशित किया था। श्री बनर्जी के शब्दों में इस अद्भुत कार्य के लिये आचार्य भ० ला० इन्द्रजी की जितनी प्रशंसा की जाय वह कम ही है। क्योंकि उन्होंने अकेले जो सफलता प्राप्त की थी, संभवतः भारतीय पुरातत्त्व संग्रहालय की समस्त साधन सामग्री और दो विशेषज्ञों की सहायता से भी श्री बनर्जी उतना नहीं कर सके थे[3]। आचार्य इन्द्रजी का मूलपाठ सन् १९१० तक सर्वथा प्रामाणिक माना जाता था यद्यपि श्री हाफेराय[4] तथा आ० जोर्ज ब्यूलरने[5] क्रमशः १८९५ तथा १८९८ में कुछ संशोधन सुझाये थे। पुर० ल्यूडस्[6] ने १९१० ई० इस लेख का संक्षेप प्रकाशित करके इसमें तिथि सूचक अंशका अपलाप करके विवाद का सूत्रपात किया था। इसी वर्ष आ० फ्लीट[7] ने दो टिप्पण प्रकाशित करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि लेखकी १६ वीं पंक्ति के पाठानुसार स्थापित तथतक सर्वथा अव्यवहृत मौर्य संवत् की सत्ता संदिग्ध ही है।

आ० काशीप्रसाद जैसवाल की प्रेरणा से १९१३ ई० में श्री राखालदास[8] बनर्जी ने इसका पुनः परीक्षण किया था। और इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि यद्यपि प्रकृति के प्रत्याघातो ने पंक्ति सोलहको काफी अस्पष्ट कर दिया है तथापि अक्षरोंको निस्संदिग्ध रूप से पढ़ा जा सकता है। तथा 'वेरेन' के स्थान पर 'खरेन' पाठान्तर के सिवा उन्होंने आ० इन्द्रजी के समग्र पाठका समर्थन किया था। १८१७ ई० के मार्च मास में श्री स्मिथने श्री बनर्जी तथा जैसवालजी से इस द्विविधा को दूर करने के लिये तथा प्रामाणिक पाठ तैयार करने के लिये निवेदन किया था। फलत. भारतीय पुरातत्त्व विभाग के प्रधान सचालक श्री जोन मार्शल की अनुमतिपूर्वक श्री बनर्जी खंडगिरि

१ एएटीक्विटीस ओफ उडीसा, पु० १, पृ० १६।

२ इण्टरनेशनल ओरिएण्टलिस्ट कॉंग्रेस के षष्ठ अधिवेशन के एक्टस्, भा० ३, विभाग २, पृ० १५२-१७७।

३ ज० ब० ओ० रि० सो०, पु० ३, पृ० ४८६।

४ इण्डियन स्टडीज् सं० ३, पृ० १३।

५ ओरजिन ओफ दि ब्राह्मी अलफाबेट, पृ० १३ आगे।

६ इसके पहिले संभवत १९०६ ई० में ब्लोचके तत्त्वावधान में इसका एक स्याही लगाकर ठप्पा तयार किया गया था और प्रा० कीलहार्न को भेजा गया था।

७ जर्नल ओफ रोयल एसियाटिक सोसाइटी, १९१० पृ० २४२, ८२४-आगे।

८ ज० बि० उ० रि० स्टेट०, पु० ३, पृ० ८०, टि० ५५।

गये थे और उन्होंने स्याही लगाकर लेख के दो ठप्पे तैयार किये थे। इनके आधार से श्री बनर्जी[1] तथा जैसवाल[2] ने इसका प्रामाणिक पाठ निश्चित करके अपने स्पष्ट एवं महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले थे। जिनके द्वारा केवल कलिङ्गका ही इतिहास प्रकाश में नहीं आया था अपितु मगध के नन्द, मौर्य तथा शुङ्ग शासकों के साथ-साथ दक्षिण के आन्ध्र शासकोंका इतिहास भी पुष्ट हुआ था[3]। स्व० आचार्य काशीप्रसाद जैसवाल के लिये तो यह लेख वर्षोंतक अध्ययन और अनुरक्ति का विषय बना रहा। १९१७ में श्री बनर्जी के साथ इसका शुद्ध पाठ तथा निष्कर्ष प्रकट करके भी वे इससे विरत न हो सके। १९१८ ई० में उन्होंने मगधराज तथा समय से सम्बद्ध (१२, १६) पंक्तियोंका साक्षात् अध्ययन करने के लिये खंडगिरि-यात्रा की तथा लेख के विविध ठप्पे ही नहीं लिये अपितु प्रातःकाल ८-३० बजे से संध्या ३-३० तक लेखका गम्भीर वैज्ञानिक मन्थन किया। इसके उपरान्त उन्होंने जो पाठ उपस्थित किया वह पुरातत्त्व-जगत् के लिये क्रान्तिकारी था[4]।

जैसवालजी द्वारा प्रकाशित दूसरा पाठ लेखका विशुद्धतम रूप था। फलतः इसके सामने आते ही यद्यपि श्री स्मिथ[5] ने १९१८ में उसके आधार से अपनी नन्द, मौर्य तथा शुङ्ग राजाओं सम्बन्धी मान्यताओंको निश्चित किया और अपने प्राचीन भारत के इतिहास में उनका अनुसरण भी किया[6]। तथापि कतिपय पाठों को संदिग्ध मानकर अबतक ऊहापोह चलता ही है। श्री रामप्रसाद चन्दा,[7] प्रा० रमेशचन्द्र मजूमदार[8] ने क्रमशः टिप्पण तथा लेख लिखकर कितनी ही शंकाएँ तथा समाधान किये हैं। श्री शंकर अय्परका[9] लेख भी गवेषणापूर्ण है। इसके उपरान्त अनेक विद्वान्[10] अब भी इस लेखका अनुशीलन कर ही रहे हैं। फलतः विवादग्रस्त स्थलोंपर निष्पक्ष विचार करने के लिये आजतक उपलब्ध मूल पाठका सामने होना आवश्यक है।

---

१ ज० बि० उ० रि० सो०, पु० ३ पृ० ४८१-५०७।

२ उक्त, पृ० ४५३-४६७।

३ उक्त, पृ० ४३०-४४५

४ उक्त, पु० ४ पृ० ३७२-४०३

५ जर्नल रोयल एशियाटिक सोसाइटी (ग्रे० ब्रा०) १९१८ पृ० ५४३-आगे।

६ ओक्सफोर्ड हिस्ट्री ओफ इण्डिया, द्वितीयावृत्ति पृ० ५८, टि० १

७ खारवेल का समय, शीर्षक विवेचन इण्डियन एण्टीक्वायरी, पु० ४८ पृ० २१४-१६।

८ 'खारवेल के हाथीगुंफा शिलालेख पर द्वितीय विवेचन, शीर्षक निबन्ध, उक्त, पृ० १८७-१९१

९ 'खारवेल का हाथीगुंफा शिलालेख' शीर्षक निबन्ध। इण्डियन एण्ट० पु० ४९, पृ० ४३-४२

१० इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंगस्, १९४३, पृ० १०९-१६ तथा बी० सी० लौ मैमोरियल वोल्युम, पृ० २१०-१८ में श्री म० ना० घोष के लेख तथा श्री सरकार आदि के विवेचन।

मूल

१ पंक्ति—(वर्द्धमानक तथा स्वस्तिक चिन्ह) नमो अरहंतानं [।]¹ नमो सवसिधानं [।] ऐरेन² महाराजेन महमेघवाहनेन चेत³राजवस-वधनेन पसथ सुलभलखनेन चतुरंतल थुन⁴-गुनो पहितेन कलिंगाधिपतिना सिरि खारवेलेन⁵

२ पंक्ति—

पंदर वसानि सिरि-कडार⁶-सरखिता कीडता कुमारकीडिका [।] ततो लेख रूपगणना-ववहार-विधि-विसारदेन सवविजावदातेन नव वसानि योवराज⁷ पसासितं [।] संपुण-चतुवी⁸ सति-वस्ते त⁹ दानि व¹⁰धमान सेसयोवे (= व) नाभिविजयो¹¹ ततिये

भाषा

अरहंतो को नमस्कार [।] सब सिद्धों को नमस्कार [।] ऐल¹ महाराज मेघवाहन² [।] चेतराज वंशकी प्रतिष्ठा के प्रसारक प्रशस्त शुभलक्षण युक्त चारों दिशाओं (विश्व) के आधार स्तम्भ के गुणों से विभूषित कलिंग देश के राजा श्री खारवेल के द्वारा

(अपने) कान्त प्रतापी गौरवर्ण³ किशोर शरीर द्वारा पन्द्रह वर्ष पर्यन्त कुमार क्रीडाएँ करता है [।] इसके उपरान्त लेख मुद्रा राजगणित धर्म⁴ (शासन नियम) तथा शासन संचालन⁵ में पारंगत समस्त कलाओं⁶ में प्रवीण (उसने) नौ वर्षतक युवराज पदसे शासन करता है। चौबीसवाँ वर्ष समाप्त होनेपर पूरे यौवन भर उत्तरोत्तर विशाल विजेता⁷ (उसका) कलिंग के तृतीय राजवंश में पूरे जीवन के लिये महाराज्याभिषेक होता है [।

---

१ लेखमें विरामादि के चिन्ह नहीं हैं किन्तु बड़ा रिक्त स्थान पूर्ण विराम (।) तथा छोटा अर्ध विरामादि का सूचक है।

२ बन० 'खरेन' पाठ दिया है।

३ 'चैत' भी पढ़ा जा सकता है।

४ ज्यू० बन० ने 'ठात' पढ़ा था

५ इसके बाद नन्द्यावर्त का चिन्ह है।

६ ज्यू० ने कुमार पढ़ा था।

७ 'योवरजम्' भी पढ़ा गया था।

८ 'त्रि' भी पढ़ा गया था।

९ ज्यू० बन० ने 'च' पढ़ा था। बन० 'च' के साथ 'लि, भी पढ़ते हैं।

१० 'सुधमेन' पढ़ा गया था।

११ ज्यू० का 'वतिपे' भ्रान्त पाठ है ल्यूडरस भी 'ततिये' मानते हैं।

१ आर्यका अपभ्रंश रूप है।

२ 'महेन्द्र' आदि के समान उपाधि है। ज्यू० का महामेघ तुल्य वाहन (हाथी) युक्त अर्थ संगत नहीं प्रतीत होता।

३ 'कडारं तृष-वह्निवत' न जानने से ज्यू० ठीक अर्थ नहीं कर सके थे।

४ व्यवहार का तात्पर्य शासन के समस्त नियमों से है। इस अर्थ मे एक शब्द 'धर्म' भी आता है।

५ विधि से अवरतलीय'एक्जीक्यूटिव'अभीष्ट है

६ कामसूत्र के अनुसार विद्या शब्द कला के अर्थ में भी आया है।

७ 'भावी शेष यौवन में एसे विजयें की जो धर्मानुकूल होकर भी विकराल भेंट लायी।' भ्रान्त अर्थ है।

२ पंक्ति

कलिंगराज बसे[1] पुरिसयुगे महाराजा भिसेचतं पापुनाति [।] अभिसितमतो च पधमे[2] वसे बात-विहत-गोपुर-पाकार-निवेसनं पटि संखारयति [।] कलिंग नगरं (रि) खिबीरे[3] सीतल तडाग पाडियो च वधापयति [।] सावुयान[4] पति संठा (ठ) पनं च(—)

अभिषेक होते ही प्रथम वर्ष में (वह कलिंग नगर[1] के) आँधी द्वारा नष्ट किये गये गोपुर-प्राकार-प्रसादों का जीर्णोद्धार कराता है [।] तथा शीतल झीलों और झरनों[2] के बाँधों को भी बनवाता है। उद्यानोंके पुनः निर्माणको (—) करवाता है [।]

—धारावाही

---

१ ल्यू० का 'वस' अशुद्ध है। भण्डारकर बनर्जी ने भी अशुद्ध पढ़ा है।

२ ल्यू० ने 'पधम' पढ़ा था।

३ 'भबीर' पाठ संभव है। ल्यू० ने इसके बाद एक 'च' भी बताया था जिसके लिये स्थान भी लेख में नहीं है।

४ 'सवु' भी पाठ हो सकता है जैस० ने अपने अन्तिम पाठ में रखा भी है।

१ जैस० को यह अर्थ अभीष्ट है। वे गोपुरादि को अलग-अलग लेना ठीक नहीं समझते। तथा ल्यू० के पाठका निषेध करते हैं।

२ 'खिबि'—'क्षिवि' धातुका अपभ्रंश है।

सोमदेवसूरिका आर्थिक दृष्टिकोण

[ले०—श्रीयुत प्रो० रमेशचन्द्र एम० ए०]

प्राचीन भारत सभ्यता का केन्द्र था। आज इस देश की हृदय द्रावक दरिद्रता को देखकर बहुत लोगों को यह भ्रमात्मक धारणा हो जाती है कि प्राचीन भारतियों ने अर्थशास्त्र आदि सामाजिक विज्ञानों का सूक्ष्म अध्ययन नहीं किया था। पर समीक्षा करने से यह ज्ञात हो जायेगा कि पुरातन काल से ही इस देश में सामाजिक शास्त्रों का—अर्थशास्त्र आदि का विशद अध्ययन किया जाता था। कूटनीति के प्रकाण्ड पण्डित कौटिल्य का अर्थशास्त्र उपर्युक्त विचार धारण करनेवालों के भ्रम को दूर करने वाला है। ऋषि कौटिल्य के अतिरिक्त अन्य शास्त्रकारों ने भी अर्थ से संबंध रखने वाले विषयों पर ग्रन्थ लिखे हैं। सोमदेवसूरि ऐसे ही मार्मिक विद्वानों में से एक हैं। जिस प्रकार अंग्रेज अर्थ-शास्त्री आदम स्मीथ के विचारों को फ्रांसीसी लेखक जे० बी० से (J. B Say) ने फ्रांस आदि देशों में फैलाया, उसी प्रकार सोमदेव ने कौटिल्य के विचारों को प्रस्फुटित किया। सोमदेव ने अपनी प्रतिभा के बल पर स्वतंत्र रूप से भी उनके नवीन आर्थिक नियमों को सूत्र रूप मे जनता के सामने रखा। इनकी जो पुस्तकें उपलब्ध हैं, उन्हीं से पता चलता है कि ये अर्थशास्त्र, राजनीति, दर्शन तथा साहित्य के पूर्ण पण्डित थे। प्रस्तुत लेख में इनके अर्थशास्त्र सबधी विचारों को स्पष्ट किया जाता है।

सोमदेव देव सघ के आचार्य थे। दिगम्बर सम्प्रदाय के सुविख्यात चार संघों में देवसघ प्रमुख है। इनका समय दशवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है और इनकी सुप्रसिद्ध रचना यशस्तिलकचम्पू। नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति से पता चलता है कि कम से कम इन्होने युक्तिचिन्तामणि, त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसजल्प और षण्णवति प्रकरण नामक तीन ग्रंथों की रचना और भी की थी। नीतिवाक्यामृत सबसे बाद की रचना है। इसके बाद उन्होंने और किसी ग्रंथ की रचना की या नहीं--कहना कठिन है। नीचे इनके अर्थशास्त्र सम्बन्धी विचारो की समीक्षा की जाती है।

धर्म, अर्थ और काम इन्ही तीनों के सेवन का उपदेश इन्होंने किया है। इन तीनों में किसी एक को दूसरे के ऊपर प्रधानता नहीं दी गई है। धर्म और अर्थ के विरोध के बिना काम को अर्थात् इच्छाओं की तृप्ति करना अत्युत्तम है। इसीसे सुख मिलता है। "धर्मार्थाविरोधेन[1] कामं सेवेत ततः सुखी स्यात्"। "समं वा त्रिवर्गं सेवेत"। त्रिवर्ग में किसी

---

१ नी० वा० कामसमुद्देश सूत्र २, ३

एक को अधिक महत्व देने से अकल्याण होता है। "एको[1] ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मनमितरौ च पीडयति"। मध्ययुग तक सब देशों में अर्थशास्त्र और राजनीति संबंधी बातों पर लिखने वाले विद्वान धर्म को बहुत महत्व दिया करते थे। सोमदेव ने भी इसी परिपाटी को ग्रहण किया था। परन्तु धर्म और अर्थ को बराबर स्थान देकर इन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से एक सुधार किया। काम को भी धर्म के बराबर का पद देने से इनके विचार और भी अधिक पुष्ट हो जाते हैं। अर्थ प्राप्ति के द्वारा काम की तृप्ति होती है। अतएव अर्थ और काम दोनों का सुखपूर्वक सेवन इनके विचारों से सम्भव भी है और उचित भी।

देवसंघ के आचार्य होकर भी इन्होंने अर्थ के वास्तविक महत्व को समझने में भूल नहीं की। अर्थ को इतना अधिक महत्व देना इनकी दूरदर्शिता के कारण ही सम्भव हुआ। इनका यह स्पष्ट विचार था कि धनोपार्जन करने के बाद उसका उपभोग करना चाहिये। साथ ही साथ इनका विचार था कि बहुत कष्ट उठाकर, अपने सुखों को तिलांजलि देकर अर्थ प्राप्ति का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। अर्थ की प्राप्ति कष्ट उठाकर करना दूसरों का बोझ ढोने के समान है। अर्थात् व्यर्थ है या मूर्खता है। "परार्थ[2] भारवाहिन इवात्मसुखं निरुन्धानस्य धनोपार्जनम्"। धन की वास्तविक सफलता तभी होती है जब उससे मन और इन्द्रियों की तृप्ति हो। "इन्द्रियमनःप्रसादनफला हि विभूतयः"। आधुनिक अर्थ शास्त्र विभूति की इस परिभाषा को पूर्णतः सही मानते हैं। विभूति के बदले उसे Good कहा जाता है। जिनसे इच्छाओं की तृप्ति हो, उन्हें Good कहते हैं। इनकी अर्थ की परिभाषा भी बहुत व्यापक है और आधुनिक अर्थ शास्त्री उससे पूर्णतः सहमत नहीं होंगे। परन्तु देश और काल के अनुकूल उनकी परिभाषा है। क्योंकि—जिससे सब प्रयोजनों की सिद्धि हो, सब कार्य पूर्णता को प्राप्त हों वही अर्थ है[3]। सूक्ष्म समीक्षा करने पर यह परिभाषा बहुत अंश तक ठीक हो जाती है। द्रव्य (Money) के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से सब इच्छाएँ तृप्त नहीं हो सकतीं। परन्तु यदि एक वस्तु से आवश्यकतानुसार विनिमय द्वारा अन्य वस्तुएँ प्राप्त हो सकें तो एक वस्तु सब प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन कही जा सकती है। अतः यह कहना उचित होगा कि विनिमय कार्य में आने वाली वस्तुएँ अर्थ (Wealth) हैं। वास्तव में आज भी अर्थ की यही परिभाषा सम्यक् मानी जाती है। विनिमय महत्व तो उन्हीं वस्तुओं का होगा जो कम Scarce (माँग की अपेक्षा कम) प्राप्त होंगी तथा जिनका अधिपत्य

1 उपर्युक्त स० सू० ४

२ उपर्युक्त स० सू० ५

३ यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः—अर्थ स० सू० १

बदला जा सकेगा। अर्थात् जो Tranferable होंगी। धन का उपभोग वे ही लोग कर सकते हैं जो न्यायानुकूल तरीके से उसकी सेवा करते हैं। "सोऽर्थस्य भाजनं योऽर्थानुबन्धे-नार्थमनुभवति"। अर्थानुबन्ध अर्थात् न्यायानुकूल तरीके से धन का उपयोग करना सर्वथा उचित है। जो धन पास में नहीं हो, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये, जो प्राप्त हो जाय उसकी रक्षा करनी चाहिये। और रक्षित धन को बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिये। इन्हीं प्रयत्नों को अर्थानुबंध अर्थात् न्यायनुकूल तरीकों से धन का उपयोग कहा गया[1] है। पुरुषार्थ द्वारा धनोपार्जन करना, उपार्जित धन को नष्ट होने से बचाना तथा प्राप्त धन का सदुपयोग करके उसकी वृद्धि करना ही उचित कर्त्तव्य है। पुरुषार्थ छोड़ बैठना उचित कर्त्तव्य नहीं है।

अर्थ को उचित कार्यों में प्रयुक्त करना चाहिये। अनुचित कार्यों में लगाने से धनका नाश हो जाता है। अतएव बुद्धिमान्को धन विश्वसनीय व्यक्तियोंको ही देना चाहिये। सोमदेवने धन के उचित उपयोग के लिये 'तीर्थ' शब्द का प्रयोग किया है। सामान्यतः तीर्थ से तात्पर्य उन लोगों से है, जो धर्म कार्यों में सहायक होते हैं। विशेषतः तात्पर्य उन लोगों से भी है, जो सब कार्यों में—महान् कार्यों में सहायक होते हैं। "धर्मसमवायिनः कार्यसमवायिनश्च पुरुषास्तीर्थम्। तीर्थमर्थेनासंभावयन् मधुच्छत्रमिव सर्वात्मना विनश्यति[2]"। संभवतः उपर्युक्त सूत्रों द्वारा सोमदेवका तात्पर्य यही था कि पूंजी अनुचित कार्यों में नहीं लगानी चाहिये। पूंजी लगानेवाले व्यक्तिको काफी सोच समझकर कार्य करना चाहिये। संभवतः उस समय बहुत से लोग कर्ज लेकर नहीं चुकाते थे और बहुत से लोग धनको भोग की वस्तु समझ कर उसकी वृद्धि के लिये प्रयत्नशील नहीं होते थे। आगे के सूत्रों में यह भी बताया गया है कि किस प्रकार के लोगोंका अर्थ नष्ट हो जाता है। उनका कहना है कि तादात्विक, मूलहर और कदर्य इन तीन प्रकार के लोगोंका धन नष्ट हो जाता है[3]। धनका समुचित उपार्जन ही आवश्यक नहीं है, वरन् उसका उचित उपयोग भी महत्वपूर्ण है। पाश्चात्य लेखकों ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्ततक उचित उपभोगका महत्व ठीक-ठीक नहीं समझा था। खर्चको काबू में रखना आर्थिक विकास के लिये आवश्यक है। तादात्विक वे ही लोग हैं, जो इतना भी नहीं जानते कि उनकी प्रमुख आवश्यकताएँ क्या है और जो धनका अपव्यय करते है। आय से अधिक खर्च करनेवाले लोग भी तादात्विक है। "यः किमप्यमचिंत्योत्पन्नमर्थं व्ययति स तादात्विकः"। तादात्विक वह व्यक्ति है, जो स्वयं धनका उपार्जन करता है, पर खर्चपर नियन्त्रण नहीं कर पाता। तादात्विक से भी खराब उन लोगोंको समझा गया है, जो स्वयं धनका उपार्जन

१ अलब्धलाभो लब्धपरिरक्षणं रक्षितपरिवर्द्धनं चार्थानुबन्धः—अर्थस० सू० ३

२ अर्थ स० सू० ४-५

३ तादात्विकमूलहरकदर्येषु नासुलभः प्रत्यवायः—अर्थ स० सू० ६

भी नहीं करते तथा अन्यायपूर्वक, बेकार कार्यों में पिता, पितामह आदि के द्वारा अर्जित धनको खर्च करते हैं। ऐसे व्यक्ति मूलहर हैं। आजकल ऐसे लोगोंको मुफ्त का धन खानेवाला (reutier) कहा गया है। ये शोषकवर्ग के हैं। अधिकाधिक कर लगाकर इन लोगों से धन ले लेना चाहिये। "यः पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहरः"। इन दोनों से बुरा कदर्य है; क्योंकि वह न स्वयं उपभोग करता है और न दूसरों को ही धनका उपभोग करने देता है। वह कम मजदूरी देकर, दुखी दुर्बल जनता का शोषण करता है और अपना धन बढ़ाने का प्रयत्न करता है। ऐसे लोगों के कारण ही देशकी पूंजी कम हो जाती है। सूक्ष्मदर्शी होने के नाते सोमदेव स्पष्टतः जानते थे कि भृत्योंको कष्ट देकर द्रव्य जमा करनेवाला कदर्य स्वयं धनका उपभोग नहीं कर सकता और उसके धनका उपभोग उसके दामाद, राजा अथवा चोर करते हैं। "यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं संचिनोति स कदर्यः। कदर्यस्यार्थसंग्रहो राजदामादतस्कराणामन्यतमस्य निधिः"। तादात्विक और मूलहर का नाश भी अवश्यम्भावी है। "तादात्विकमूलहरयोरायत्यां नास्ति कल्याणम्"।

अपने समय के अनुकूल सोमदेव व्यक्तिगत सम्पत्ति के पक्षपाती थे। दूसरों की सम्पत्तिपर दृष्टि डालनेवालेको बुरा समझा गया है। परधन के प्रति निस्पृह व्यक्ति देवता है। देवसंघ के आचार्य होकर भी ये धन सम्बन्धी मानवीय दुर्बलों की शक्ति से परिचित थे "कस्य न धनलाभाल्लोभः प्रवर्तते"। इस पृथ्वी में कौन ऐसा है, जिसे धनका लोभ नहीं हो जाता। इटली के सुप्रसिद्ध लेखक मैकियावेली (Mackiavelli) ने लिखा है कि मनुष्य अपने पिता की हत्याको भूलकर हत्यारेका मित्र हो सकता है, पर वह अपनी सम्पत्तिका अपहरण करने-वालेको नहीं भूलेगा। सोमदेवका कथन है कि जिन मंत्रियोंकी जीविका अपने अथवा राजा के दोष से अपहृत होती है, वे क्रोधी, कायर, लोभी तथा अभिमानी हो जाते हैं। "स्वामिदोष स्वदोषाभ्यामुपहतवृत्तयः क्रुद्धभीतलुब्धमानिनः कृत्याः"। सम्पत्तिका निरादर करने से सम्पन्न से सम्पन्न व्यक्ति भी दरिद्र हो जाता है। अतएव लक्ष्मीकी पूजा करनी चाहिये। धनको ठुकराना अनुचित है। "अर्थदूषणः कुबेरोऽपि भवति भिक्षाभाजनं" अर्थदूषण से कुबेर भी भिक्षुक हो जाते हैं। अतिव्यय और अपात्रव्यय यही दो धनसम्बन्धी दोष है। सम्पत्तिदानको भी बहुत महत्व दिया गया था। आजकल व्यक्तिगत दान श्रेयस्कर नहीं कहा जाता है क्योंकि बहुत से अपात्रोंको सहायता मिल जाती है और भिक्षा माँगना तथा दान लेना ही बहुत लोगोंका पेशा हो जाता है। परन्तु उस समय जब सोमदेव लिख रहे थे, दान देना भारतीय संस्कृति के अनुकूल समझा जाता था। "सप्रियो लोकानां यो ददात्यर्थम्"। इतना होनेपर भी कुपात्रको धन देना बुरा बताया है। "किं तया गवा या न क्षरति क्षीरं न गर्भिणी वा"। सम्पत्ति का सबसे अधिक महत्व यही है

१ अर्थ स० सू० १०

कि लोग सम्पत्ति वाले की ही सेवा करते हैं। सम्पत्ति के बिना सभी तुच्छ हो जाते हैं "को नाम न धनहीनो भवति लघुः"।

राज्य की रक्षा के लिये आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाये रखना आवश्यक समझा जाता था। अमात्यों के कर्त्तव्य का निर्देश जहाँ किया गया है, वहाँ राजा की रक्षा से भी अधिक महत्व आर्थिक दृढ़ता को दिया गया है। "आयो व्ययः स्वामिरक्षा तंत्रपोषणं चामात्यानामधिकारः। आयव्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुर्निदर्शनमेव" आय से ही द्रव्य की उत्पत्ति होती है। "आयो द्रव्यस्योत्पत्तिमुखम्" शासन में आयव्यय का विशेष महत्व है। आय पर विना विचार किये खर्च करने वाला राजा कुबेर-सा संपन्न होकर भी निर्धन भिक्षुक हो जायगा। "आयमनालोच्य व्ययमानो वैश्रवणोऽप्यवश्यं श्रमणायत एव"। यद्यपि राजस्व का इतना अधिक महत्व है, तथापि अन्यायपूर्वक, प्रजा का मन दुखा कर अर्थसंग्रह नहीं करना चाहिए। "स्वल्पोऽप्यादायेषु प्रजोपद्रवो महान्तमर्थं नाशयति"। अन्यायपूर्वक धन का संग्रह करने पर प्रजा में उपद्रव हो सकता है तथा उपद्रवों के कारण आत्यधिक धन का नाश हो सकता है। महान अर्थशास्त्री आदम स्मीथ ने भी कर (राजस्व) के सिद्धान्तों में न्यायशीलता (equity) को सर्वप्रथम स्थान दिया था। जब प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट होता है, तो राज्यकोश कम हो जाता है। कर के सिद्धान्तों में सुविधा (Convinience) का प्रमुख स्थान है। आर्थिक सङ्कटों के कारण राज्यकोश कम हो जाता है "सर्वबाधा प्रजानां कोशं पीडयति"।

राज्यकोश ही राजाओं के लिये प्राण के समान आवश्यक है और राज्यकोश कम हो जाने पर राज्यशक्ति क्षीण हो जाती है। "कोशो हि भूपतीनां जीवितं न प्राणाः"[1]। राज्यकोश कम हो जाने पर राजा अन्यायपूर्वक प्रजा को लूटता है और इस अन्याय के कारण राजशक्ति क्षीण हो जाती है तथा राजा नष्ट हो जाता है। सोलहवीं, सत्तरहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड में मेर्केन्टिलिस्ट्स (Mereantilists) के नाम से प्रख्यात अनेक विद्वानों ने राज्यकोश तथा राष्ट्रधन की वृद्धि पर जोर दिया था। आधुनिक अर्थशास्त्र के महत्व को उन्हीं लोगों ने पहले पहल आमजनता के सामने छोटे छोटे लेखों द्वारा रखा। बली राष्ट्र के लिये धन जनसंम्पन्न होना आवश्यक है और दरिद्र राष्ट्र का राजा भी दुर्बल होता है। सोमदेव अर्थ के इस महत्व से भलीभांति परिचित थे। "कोशो राजेत्युच्यते न भूपतीनां शरीरं।" मध्ययुग तक युद्ध में सैन्यबल की प्रधानता रहती थी और जिसके पास सेना अधिक होती थी, उसे विजयो पहार मिलता था। यूरोपीयदेशों में मध्ययुग के बाद युद्ध में सफलता प्राप्त करने के लिये धन का महत्व ज्ञात हुआ। सोमदेव ने दशवीं शताब्दी में धन के वास्तविक तथ्य को समझ लिया था। "यस्य हस्ते द्रव्यं स जयति"।

1 कोश स० सू० ५

अर्थप्राप्ति की इच्छा रखकर निर्धन कुलीन और सदाचारी व्यक्ति की सेवा करना निरर्थक होगा। क्योंकि कुलीनता अथवा सदाचार के रहते हुए भी धनहीन व्यक्ति धन नहीं दे सकेगा। अतएव बुद्धिमान व्यक्तिको निर्धन होने पर कुलीन और सदाचारी व्यक्ति की सेवा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वही व्यक्ति बड़ा कुलशील है, जिसके पास धन हो। अपार धन साधारण व्यक्तिको भी कुलीन बना देता है। जो व्यक्ति कुलीन अथवा महान होकर भी दूसरे का भरणपोषण न कर सके, उसकी महत्ता तथा कुलीनता व्यर्थ है "किं तया कुलीनतया महत्तया वा या न सन्तर्पयति परान्"। निर्मल बड़े तालाब का क्या महत्व[11] है?

सोमदेव ने केवल राज्यकोश के अभाव के कष्टों का तथा अपमानों का ही वर्णन नहीं किया है, पर उस अभाव की पूर्ति करने, राज्यकोश की वृद्धि करने का उपाय भी बताया है। राज्यकोश की वृद्धि के चार उपाय हो सकते हैं। देव, द्विज और वणिकों द्वारा धन का उपयोग होना है और जो धन बच जाय वह राजा के हाथ में आ जाना चाहिये। देव और द्विज का धन संभवतः धर्मकार्यों में लगाये गये धन का बोधक है। धर्मकार्य से यहाँ मतलब निर्वाहकार्य से है। साधारण जनता का जिस धन से निर्वाह होता है, उसे लेना ठीक नहीं होगा। आज भी राज्यकोश की वृद्धि के लिये निर्वाह कार्य के लिये आवश्यक धन पर कर लगाना अनुचित समझा जाता है। वणिकों का धर्मकार्य केवल निर्वाह कार्य नहीं है, पर पूँजी की वृद्धि करनी है। राज्यकोश की वृद्धि के लिये वणिकों के उस धन का अपहरण अनुचित होगा जिससे वे अपनी पूँजी की वृद्धि करते है। आधुनिक लेखक भी उस कर को बुरा मानते है, जिससे देश की पूँजी कम हो जाने का भय होता है।

पुनः उन लोगों से प्रचुर परिमाण में अर्थ ग्रहण करना उचित है, जिनसे समाज को लाभ के बदले हानि है तथा जिनके पास धन रहता है तथा बेकार पड़ा रहता है। विधवाओं से तथा वेश्याओं से धन ले लेना चाहिये। विधवाओं से धन लेना आज बुरा लग सकता है, पर उस युग में विधवाओं को कष्टपूर्वक संयमित जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया जाता था तथा ऐशो-आराम में धन का दुरुपयोग करने वाली विधवाओं के लिये ही यह विचार प्रकट किया गया था। इसके अतिरिक्त नियोग करने वाले, ब्रह्मचारी, संघ (देवपूजक) मठादि तथा पाखण्डियों से भी धन ले लेने का आदेश सोमदेव ने दिया है। संभवतः नियोग करनेवाले तथा सबों से सोमदेव का तात्पर्य वैसे लोगों से है, जो अर्थोत्पादन का कार्य नहीं करते हैं। ये लोग समाज से स्वयं अपना पोषण कराते हैं, पर समाज को कुछ देते नहीं। इन लोगों के पास धन रहना व्यर्थ ही है। धनाढ्यों को भी धन राज्यकोश की वृद्धि के लिये देना चाहिये।

---

११ तस्य किं सरसो महत्त्वेन यत्र न जलानि—कोश स० सू० १२

संभवतः सोमदेव का तात्पर्य आढ्यों से धन लेना अर्थात् धनी से आनुपातिक दृष्टि से अधिक धन लेना है यानी Propressive taxes (ऐसे कर जिनका भार धनिकों पर अधिक पड़े) लगाना है। आजकल सभी अर्थ शास्त्री एक स्वर से ऐसे कर को उत्तम समझते हैं। गाँव में व्यवहार करने वाले ग्रामकूट (village moneylenders) से भी धन ग्रहण करना चाहिये। समृद्ध पड़ोसी, परिवार के अन्य लोग, सामन्त आदि से भी धन माँग कर लेना चाहिये। आजकल युद्ध काल में जब राज्य धन की आवश्यकता से पीड़ित होता है, तो लोगों के पास अपील की जाती है, जनता से सहायता की प्रार्थना की जाती है। अन्य राजाओं से तथा मंत्रियों से, सामन्तों से तथा सेनापति आदि से भी धन मांगना आवश्यक हो सकता है। संभवतः यहां कर्ज मांगने का तात्पर्य है।

"देवद्विजवणिजां धर्माध्वरपरिजनानुपयोगिद्रव्यभागैराढ्यविधवानियोगिग्रामकूटगणिका-सघपाखण्डिविभवप्रत्यादानैः समृद्धपौरजानपदद्रविणसंविभागप्रार्थनैरनुपक्षयश्रीका मन्त्रीपुरोहितसामन्तभूपालानुनयमहागमनाभ्यां क्षीणकोशः कोशं कुर्यात्।"

सोमदेव कृषि की सुविधा को अधिक महत्वपूर्ण समझते थे और खेती के अयोग्य भूमि को तथा ऐसी भूमि से पूर्ण देश को बुरा समझते थे। अत्यधिक वर्षा भी कृषि के लिये हानिकर है। वह देश उनके विचार से अच्छा नहीं कहा जा सकता, जिसमें फल देने वाले पेड़ों का अभाव हो, अथवा जहाँ अन्न कम उत्पन्न हो। पर्वतीय भूखण्ड भी वे बुरा मानते थे। जिस देश की जनता अधिक लोभी और कम परिश्रमी हो, उसे भी इन्होंने खराब बताया है (पृष्ठ १८१) (जनपद-समुद्देशः) "विषतृणोदकोषरपाषाणकंटकगिरिगर्तगह्वर-प्रायभूमिर्भूरिवर्षाजीवनो व्याललुब्धकम्लेच्छबहुलः स्वल्पसस्योत्पत्तिस्तरुफलाभाव इति देश-दोषाः"। इसके विपरीत प्रचुर परिमाण में शस्य उत्पन्न करने वाली भूमि से परिपूर्ण, सुवर्णादि खनिज पदार्थों की खानों से भरे, देश को अत्युत्तम बताया है। ऐसे स्थान के लोग दीर्घजीवी, परस्पर मित्रभाव से रहने वाले और एक दूसरे की रक्षा करने वाले होते हैं। "अन्योन्यरक्षकः खन्याकरद्रव्यनागधनवानतिवृद्धानतिहीनग्रामो बहुसारविचित्रधान्य-पण्योत्पत्तिरदेवमातृकः पशुमनुष्यहितः श्रेणिशूद्रकर्षकप्राय इति जनपदस्यगुणाः" (पृ० १८१)

कृषि के इस विशेष महत्व के कारण ही सोमदेव ने फसल काटने के समय युद्ध न करने का आदेश दिया है। फ्रांस में सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में बहुत से लेखकों ने, जिनको अर्थशास्त्र के सर्वप्रथम आधुनिक लेखकों में गिना जाता है, कृषि का महत्व पूर्णरूपेण दिखलाने का प्रयत्न किया था। उनलोगों को फ्रेंच भाषा में प्रकृति के उपासक (Physiocrates) कहा जाता है। सोमदेव ने कृषि के महत्व को पूरी तरह समझा है। "लवनकाले सेनाप्रचारो दुर्भिक्षमावहति" (१८२ पृष्ठ)। परन्तु फ्रांस के उन लेखकों ने कृषि के महत्व को समझते हुए भी अन्य उत्पादन कार्यों को, व्यवसायादि को नगण्य समझा। उन लोगों की धारणा के अनुसार अन्य श्रमजीवी व्यर्थ का कार्य करते हैं, क्योंकि वे जो

कुछ उत्पन्न करते हैं, उसका स्वयं उपभोग कर लेते हैं। उनलोगों के विचार के अनुसार वैसे ही कार्य को उत्पादन कार्य कहेंगे, जिसमें उत्पादक अतिरिक्त आय (Surplus) उत्पन्न करता है। एक दो लेखकों ने खान में काम करने वालों के श्रम को उत्पादक कहा है। सोमदेव की यह विशेषता है कि कृषि की प्रधानता को मानते हुए भी उन्होंने, दूसरे धंधों को, बुरा नहीं बताया। गोपालन और वणिकों का कार्य भी लाभप्रद था। "सुमहच्च गोमण्डलं हिरण्याय युक्तं शुल्कं कोशवृद्धिहेतुः" (पृष्ठ १८६)

इस छोटे लेख में सोमदेव के समस्त अर्थ सम्बन्धी विचारों का पूर्ण वर्णन असम्भव है। निस्सन्देह वे केवल अर्थशास्त्रज्ञ ही नहीं थे। जैनधर्म पर बहुत से लोग असांसारिक तथा अव्यावहारिक होने का आक्षेप लगाते हैं; परन्तु देवसंघ के धर्माचार्य की लेखिनी से लिखी गई पुस्तक के थोड़े से सूत्रों के आधार पर ही लिखे गये इस लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त आक्षेप निर्मूल है। सोमदेव ने, अर्थ की महत्ता मानते हुए भी अनर्थ द्वारा अर्थ प्राप्त करने का परामर्श नहीं दिया। मर्यादा का उल्लंघन किये बिना ही अर्थोत्पादन करने की शिक्षा दी। "मर्यादातिक्रमेण फलवत्यपि भूमिर्भवत्यरण्यानी खर्च नहीं करने वाले राजा को उन्होंने महान अपराधी कहा है; यद्यपि राज्यकोश की वृद्धि पर काफी जोर दिया है। "न हि स्व द्रव्यमव्ययमानो राजा दण्डनीयः पृष्ठ (२१५) कि तेन जलदेन य काले न वर्षति"। उस समय जनसंख्या वृद्धि आवश्यक थी, अतएव धर्माचार्य होकर भी, इन्होंने साधारण जनता को विवाहादि करके सुखी जीवन बिताने का आदेश दिया। अविवाहित व्यक्ति के लिये धन अधिक रखना व्यर्थ बताया। "निवृत्तस्त्रीसंगमस्य धनपरिग्रहो मृतमण्डनमिव" सोमदेव अर्थ की महत्ता को मानते हुए यह भलीभाँति मानते थे कि निर्धन पुरुष सर्व गुण सम्पन्न होकर भी निर्गुणी हो जाता है। "न दारिद्र्यात्पर पुरुषस्य लाञ्छनमस्ति यत्सगेन सर्वे गुणा निष्फलतां यन्ति।

सोमदेव ने अर्थशास्त्र पर अलग पुस्तक नहीं लिखी। मध्य युग तक सब देशों में यही प्रचलन था कि अलग अलग राजनीति, अर्थशास्त्र आदि विषयों पर पुस्तकें नहीं लिखी जाती थीं। क्योंकि राजनीति की मूल भित्ति अर्थ को ही माना जाता था। सोमदेव की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि सूत्ररूप में इन्होंने बहुत-सी अर्थशास्त्र सम्बन्धी उपयोगी और आवश्यक बातें राजनीति के सिलसिले में ही कह दी हैं। इनमें संक्षेप में इतनी स्पष्टता से, अपने भावों को व्यक्त करना, उन्हीं जैसे विद्वान के लिये संभव था।

विविध-विषय

मथुरा से प्राप्त अंबिका की एक नवीन मूर्ति

जैन देवियों में तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षी अंबिका का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। मूर्तिकला एवं चित्रकला दोनों में इस देवी की अनेक प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। मथुरा कला में भी अंबिका की अनेक प्रतिमाओंका निर्माण हुआ। इनमें सबसे उल्लेखनीय मथुरा संग्राहालय की डी० ७ संख्यक मूर्ति है,[1] जिसमें एक वृक्ष के नीचे सिंह पर बैठी हुई द्विभुजी देवी अंकित की गयी है। देवी की बाईं गोद में एक बच्चा है और दूसरा दाईं ओर खड़ा है। ये दोनों बच्चे सिद्ध और बुद्ध हैं। मूर्ति के दायें किनारे पर हाथ में लड्डू लिये हुए गणेश बैठे हुए हैं और इसी प्रकार दूसरी ओर कुबेर हैं। देवी के ऊपर ध्यानमुद्रा में बैठे हुए तीर्थंकर की मूर्ति है, जिसके अगल-बगल देव, विद्याधर आदि दिखाये गये हैं। दुर्भाग्य से इस सुन्दर मूर्ति पर प्रहारों के कारण प्रायः सभी आकृतियों के चेहरे नष्ट हो गये हैं।

हाल में अंबिका की एक दूसरी मूर्ति मथुरा जिले से प्राप्त हुई है, जो यहाँ के प्रसिद्ध चित्तीदार लाल पत्थर की बनी हुई है। यह मूर्ति मथुरा नगर से लगभग ११ मील दक्षिण बेरी नामक गाँव में थी। जब मुझे इसकी सूचना मिली तो मैंने उस गाँव में पहुँचकर देखा कि मूर्ति एक पुराने चबूतरे पर औंधी पड़ी है। गाँववाले यह जानते थे कि यह किसी देवी की मूर्ति है पर खंडित होने के कारण उसे उन्होने किसी देवस्थान में प्रतिष्ठापित नहीं किया था। पूजा में न होने के कारण उन लोगोने उसे मथुरा संग्रहालय के लिये देने में आपत्ति नहीं की। मूर्तिको देखने से पता चला कि उसका दाईं ओर का कुछ भाग अवश्य खंडित था पर प्रधान प्रतिमा अभग्न थी, केवल उसका चेहरा घिस गया था।

यह मूर्ति (मथुरा संग्रहालय संख्या ३३८२) संभवत. किसी मन्दिर के बहिर्भाग में लगी हुई थी। देवी की प्रतिमा दो स्तम्भों के बीच में उत्कीर्ण है। वह ललितासन पर बैठी हुई हैं, दायाँ पैर एक कमल-पुष्प के ऊपर रखा हुआ है। बाईं गोद मे एक शिशु है, जिसे देवी दोनों हाथों से पकड़े हुए हैं, जो संभवतः स्नेहातिरेकका सूचक है। देवीका केशपाश बड़ी सुन्दरता से प्रदर्शित किया गया है। उसका कण्ठहार तथा गोल कर्णकुण्डल भी दर्शनीय हैं। मूर्ति के बाएँ किनारेपर;एक सिंह अंकित है, जिसके ऊपर नीचे एक-एक मकर है। इनका चित्रण केवल प्रसाधन के रूप में किया गया है। शिलापट्ट के दाईं ओर भी इसी प्रकार का अलंकरण था, जो टूट गया है। मूर्ति के ऊपर पत्र-रचना प्रदर्शित की गयी है। प्रस्तुत मूर्ति पूर्व मध्यकालीन मथुरा कला का एक सुन्दर उदाहरण है।

कृष्णदत्त बाजपेयी एम० ए०
क्यूरेटर मथुरा म्यूजियम

२ वादीभसिंहसूरि की अपूर्व कृति—स्याद्वादसिद्धि

यह जैनदर्शन का महत्त्वपूर्ण एवं उच्चकोटि का ग्रन्थ है। यह कारिकाओं में रचा गया है, इसकी प्रस्तुत प्रति अधूरी है, १३ प्रकरण पूरे और चौदहवाँ अपूर्ण है। इसमें ५०१ कारिकाएँ हैं।

इस ग्रन्थ की भाषा सरल, अर्थबोधगम्य और प्रशस्त है। हाँ, कुछ स्थल ऐसे अवश्य हैं, जहाँ पाठकोंको विषय समझने के लिये थोड़ी देर रुकना पड़ता है। लेखक ने इस दार्शनिक कृति में अपनी काव्यकला का भी पूर्ण परिचय दिया है। जीवसिद्धि, अनेकान्त न माननेवाले बौद्ध के प्रति कर्त्ता के लिये फलभोक्तृत्वाभाव सिद्धि, क्षणिकवादी के प्रति युगपदनेकान्त सिद्धि, क्षणिकवादी के प्रति क्रमानेकान्त सिद्धि, नित्यवादी के प्रति कर्तृत्व, भोक्तृत्वाभाव सिद्धि, नित्यैकान्त प्रमाण में सर्वज्ञाभाव-सिद्धि, सृष्टि कर्तृत्वाभावसिद्धि, अर्हत्-सर्वज्ञ-सिद्धि, अर्थापत्ति की अप्रमाणता, वेद की पौरुषेयता, अभावप्रमाण की सदोषता, तर्क प्रमाण की प्रमाणता और आत्मा की जड़ता का निषेध, आदि विषयों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

प्रथम प्रकरण में भौतिक वादियों की जड़ता का खण्डन करते हुए आत्मा की अकाट्य युक्तियों सहित सिद्धि की गयी है। दूसरे में क्षणिक सिद्धान्त का खण्डन करते हुए बताया है कि क्षणिक चित्तसन्तानरूप आत्मा धर्मादिजन्य स्वर्गादि फलका भोक्ता नहीं बन सकता। संसार का नियम है कि कर्त्ता ही फल भोक्ता होता है, अतः आत्माको सर्वथा नाशशील नहीं स्वीकार करना चाहिये। तीसरे और चौथे प्रकरण में वस्तुको युगपत् और क्रम से अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया है। तथा बौद्धाभिमत सन्तान एवं संवृत्ति की युक्तिपूर्वक मीमांसा करते हुए चित्तक्षणोंको निरन्वय और निरंश मानने में दूषणका उद्भावन करते हुए बताया है कि जब चित्तक्षणों में अन्वय नहीं है—वे सर्वथा भिन्न हैं तो दाताको ही स्वर्ग और वधकको नर्क हो, का नियम नहीं बन सकता है। बल्कि मनमाना विपरीत नियम भी बनाया जा सकता है।

पाँचवें प्रकरण में आत्माको नित्य माननेपर कर्त्ता के लिये भोक्तापन नहीं बन सकेगा, का विस्तार सहित प्रतिपादन किया है। छटवें में नित्यैकान्त माननेवाले के यहाँ कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है, का विवेचन किया है। सातवें प्रकरण में नाना युक्तियों और प्रमाणों से जगत्कर्तृत्व का निषेध किया है। आठवें में वीतरागी, हितोपदेशी अर्हन्त भगवान्‌को ही सर्वज्ञ सिद्ध किया है, इस प्रकरण का दार्शनिक विवेचन बहुत सुन्दर और तर्कपूर्ण है। नौवें प्रकरण में अर्थापत्ति की अप्रमाणता बतलाते हुए उसे अनुमान के अन्तर्गत ही साबित किया है। दसवें में वेद की रचना किसी पुरुष द्वारा हुई है, उसे ईश्वरने नहीं रचा है और न कोई परोक्षशक्ति ही उसकी रचयित्री है; प्रत्युत मनुष्य द्वारा रचा जाने से उसमें गुण-दोष दोनों ही वर्तमान हैं, आदि बातोंपर प्रकाश डाला गया है। ग्यारहवें में प्रमाण की प्रमाणता परतः सिद्ध होती है, का तर्कसंगत विवेचन है। बारहवें में अभाव प्रमाण में दूषण दिया है और तेरहवें में तर्क प्रमाण की प्रमाणता सिद्ध की गयी है। चौदहवें अधूरे प्रकरण में गुण-गुणी भेदादि और समवायादि वैशेषिकाभिमत पदार्थों की समालोचना की गयी है।

इस ग्रन्थ में कुमारिल्ल भट्ट, महाप्रशस्तकर, दिग्नाग और धर्मकीर्त्ति के पद वाक्यादि भी आये हैं। संक्षेपः यह जैनदर्शन की एक प्रौढ़ और अभिनव रचना है। जिन कुछ कृतियों से जैनदर्शनका वाङ्मयाकाश देदीप्यमान है और मस्तक उन्नत है, उन्हीं में यह कृति भी परिगणनीय है। साहित्यिक संस्थाओं से अनुरोध है कि इस अपूर्व कृतिको प्रकाशित कर, दार्शनिक जगत् को इस उज्ज्वलमणि की आभा से चमकनेका सुअवसर दें।

दरबारीलाल न्यायाचार्य,
वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा

कवि जोधराज गोदीका विरचित--हिन्दी सम्यक्त्वकौमुदी

कवि साह जोधराजगोदीका का जन्म सुप्रसिद्ध सेठ अमरचंद गोदीका के यहाँ हुआ था। आप जयपुर राज्य के निवासी थे। विद्याध्ययन के लिये आपको अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा था। तेरहपन्थ आम्नाय के अनुयायी थे, इसलिये तत्कालीन भट्टारकों की कृपा से आप वञ्चित थे। फलतः आपने पं० हरिनाम मिश्रको अपना मित्र बनाया और उन्हीं से शास्त्रज्ञान प्राप्त किया। आप हिन्दी साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। ज्ञानसमुद्र, कथाकोश, धर्मसरोवर, प्रवचनसार, प्रीतङ्करचरित्र और सम्यक्त्व कौमुदी आदि ग्रन्थ आपके द्वारा रचे गये हैं।

संस्कृत सम्यक्त्वकौमुदीका यह अनुवाद बड़ा ही सुन्दर हुआ है। इसमें दोहा, सवैया, सोरठा, छप्पय, चौपाई आदि हिन्दी के सभी छन्दोंका प्रयोग किया गया है। ग्रन्थ के अन्त मे ग्रन्थकार ने निम्न प्रशस्ति दी है—

पंडित चतुर सुजान है, यहै मिश्र हरिनाम।
ताकी संगति जोधको भयो सासतर लाभ॥
परमप्रजा पालै सदा सब भूपति सिरमौर।
रामसिंघ राजा प्रगट या सम नहिं कोऊ और॥
जाके राज सुचैन से कियो ग्रन्थ यह जोध।
नाम सम्यक्त्वकौमुदी दायक केवल बोध॥
सागानेर सुथान है देश ढुंढाहर मार।
या सम नाहिन अवरपुर देखे सहर हजार॥
अमरपूत जिनवर भगत योधराज कविनाम।
वासी सांगानेर को करी कथा सुखधाम॥
धरमदास को पुत्र लघु है जाति लुहाड्या जोय।
नाम कल्याण सुजानिये कवि का मामा सोय॥
ताके पढिवे कारनै रच्यौ ग्रन्थ यह जोध।
नाम सम्यक्त्वकौमुदी जो नर पढ़ै सुबोध॥

रचनाकाल—

संवत सतरहसै चौईस । फाल्गुन वदि तेरसि शुभदीस ॥
शुक्रवार संपूर्ण भई । यहै कथा सम्यक्ति गुनठई ॥

अतः स्पष्ट है कि कविने अपने मामा कल्याणदास को पढ़ाने के लिये सं० १७२४ फाल्गुन वदी १३ शुक्रवार को इसे पूर्ण किया है। प्रस्तुत भवन की प्रति अमरचन्दजी के मन्दिर में संवत् १८०० में भादों वदी १३ सोमवार को सेठ चुन्नीलाल द्वारा प्रतिलिपि की गयी है। श्लोक संख्या १५५० है।

कविता मध्यम दर्जे की है, कहीं-कहीं छन्दोभंग दोष भी है। फिर भी छप्पय और सवैये सुन्दर बन पड़े हैं।

छप्पय—

तबहि पावडी देखि चोर भूपति निज जान्यौ।
देखि मुद्रिका चोर तबै मंत्री पहिचान्यौ ॥
सूत जनेऊ देखि चोर प्रोहित है भारी।
पचनि लखि विरतान्त यहै मनमें जुविचारी ॥
भूपति यट मंत्री सहित प्रोहित युत काढोदयौ।
इहि भाँति न्याव करि भलीय विधि धर्म थापि जगजस लयौ ॥

४—उड़ीसा के गज़ेटियर में जैन उल्लेख

डब्लू-डब्लू-हन्टरने सन् १८७२ में उड़ीसा के गज़ेटियर को दो भागों में प्रकाशित किया है। प्रथम भाग में पृ० १८१, २२८, २३० और ३०२ पर जैनधर्म के सम्बन्ध में उल्लेख किया है।

पृ० १८१ पर खण्डगिरिका वर्णन करते हुए बताया है कि पश्चिम पहाड़ीपर एक जैन मन्दिर शोभित है, यह मन्दिर एक चबूतरे के ऊपर है, जिसके नीचे का समस्त प्रदेश अपनी प्राकृतिक शोभा से मानवमात्र की भावनाओंको पवित्र करता है। इस पवित्र पहाड़ी के चारो ओर जंगलों की मेखला वर्तमान है। किन्तु दक्षिण की ओर धान के लहलहाते खेत भी दृष्टिगत होते हैं।

पृ० २२८ पर बताया है कि यूनान से आये हुए यवन प्रथम बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए, पश्चात् उन्होंने जैनधर्मको ग्रहण कर लिया था। हन्टर साहबने लिखा है कि यूनान से जब यवन आये तो वे अपने साथ ग्रीक विज्ञान के साथ धार्मिक सुधार की भावना भी लेते आये, जोकि ईस्वी पूर्व के भारत के धार्मिक इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण है। ई० पू० २५०—१००० ई० स० तक यवनों का उदारधर्मों से काफी सम्बन्ध रहा। पुरातन सिक्कों से इस बातका पता चलता है कि उत्तरीय हिन्दुस्तान के यूनानी राजा बौद्धधर्म में दीक्षित हो गये, इसलिये मध्यभारत और दक्षिणभारत में यवन सुधारवादी धर्म के अग्रगामी या प्रतिनिधि माने जाते हैं। कुछ समय के बाद ये यवन बौद्धधर्म छोड़कर जैनधर्मानुयायी बन गये। पृ० २३०—

यद्यपि जैनधर्म के सिद्धान्त बौद्धधर्म की अपेक्षा शुष्क थे, फिर भी यवनोंने इसे स्वीकार कर लिया। क्योंकि बौद्धधर्मका पृष्ठाधार पौराणिक कथा-कहानियों से भरा था; मन्दिर, स्तूप और मठोंका पूर्ण प्रचार था; फिर भी जैनधर्मने यवनों को अपनी ओर आकृष्ट किया।

पृ० ३०२—हिन्दुओंने जब आदिम निवासियोंपर विजय प्राप्त कर ली तो कुछ आदिम निवासियोंने शैवधर्म को ग्रहण कर लिया, क्योंकि यह उनकी भयपूर्ण जंगली धार्मिक कृत्यों की भावना से मिलता जुलता था। किसान और सस्कृत अरण्य निवासियोंको कृष्णधर्म ने अपनी ओर खींचा। फिर भी जैनधर्म और बौद्धधर्म किसी न किसी रूपमें इन आदिम निवासियों में फैले रहे। आदिम निवासियोंका प्रारम्भिक धर्म जैनधर्म था, इनका रहन-सहन जंगली होते हुए भी ये भगवान् पार्श्वनाथ के पूजक थे।

इस गजेटियर के दूसरे भाग के अन्य उद्धरणों के पढ़ने से पता चलता है कि प्राचीनकाल में उड़ीसा में जैनधर्म व्याप्त था। दि० जैनधर्म का यहाँ ई० पू० कम-से-कम ६०० वर्ष पहले अत्यधिक प्रचार था, भगवान् पार्श्वनाथ की मान्यता यहाँ बहुत थी। उड़ीसा में आदिनाथ भगवान् की मूर्त्तियाँ भी मिली हैं, आदिम निवासी ऋषभदेव की मूर्त्ति की पूजा जंगलों में करते थे। टाइगरि[illegible] और वाम्व राज्य तथा बंकी और पिपली थाने में सराक जाति के सहस्रों घर हैं। यह सराक श्रावक शब्दका अपभ्रंश है। मध्य युग में वैष्णवोंका जोर अधिक होने के कारण जैन राजाओं के अजैन हो जाने से सहस्रों जैनियोंने धर्म परिवर्तन किया। जो अपने धर्मपर अडिग रहे वे सराक या श्रावक आज भी वर्तमान हैं।

हन्टर साहबने उड़ीसा में यवन सभ्यताका जिक्र करते हुए बतलाया है कि ये यवन जैन और बौद्धधर्म से अत्यधिक प्रभावित हुए तथा बहुत से लोग इन दोनों धर्मों में दीक्षित हो गये, जो आजतक चले आ रहे हैं। सन् १९०८ में जो सरकारी गजेटियर प्रकाशित हुआ है, उसमें उड़ीसा में जैनधर्म के सम्बन्ध में अधिक सामग्री संकलित की गयी है। प्राचीन जैनस्थान, मूर्त्तियाँ और जैन शिलालेखोंका भी संग्रह है। अशोक के पहले ही उड़ीसा कलिंग देश में शामिल था। मौर्य राज्यकाल में अनेक जैन मुनि खण्डगिरि और उदयगिरि की गुफाओं में निवास करते थे। यहाँ श्रावकों की बस्ती भी थी, जैन मन्दिर उस युग में यहाँ लगभग ४०० बताये जाते हैं। उड़ीसा में जैनधर्मका प्रचार ११-१२ शताब्दीतक खूब रहा है, खारवेल और उनके उत्तराधिकारी सभी जैन थे।

नेमिचन्द्र शास्त्री

साहित्य-समालोचना

श्री स्वर्णाचल महात्म्यम् (नंग अनंग कुमारों का पुण्य चरित)—

रचयिताः कवि श्री देवदत्त; अनुवादकः श्री बालचन्द्र जैन एम० ए०; प्रकाशकः श्री मानिकचन्द्र गंगवाल एम० ए०; मंत्री श्री दि० जैन सिद्धक्षेत्र सोनागिर संरक्षिणी कमेटी; साइजः डबलक्राउन सोलहपेजी; पृष्ठ संख्याः ६+१८६; मूल्यः दो रुपये आठआने।

इस महाकाव्य में सोनागिर से मुक्त होनेवाले नंग और अनंग कुमारों की पुण्य-गाथा वर्णित है। कवर पर दिये गये सोनागिर के मन्दिर का चित्र ग्रन्थ स्वाध्याय के पूर्व ही पाठकों के मनको पूत कर देता है। हृदय में भक्तिभावनाका संचार हो जाता है और लालसा होती है क्षेत्र के दर्शन की। अन्दर भी कई चित्र दिये गये हैं ग्रन्थारम्भ में अनुवाद दिया गया है और उत्तरार्ध में मूल ग्रन्थ। अनुवाद भावानुवाद है, शब्दशः नहीं; भाषा सरल और बोधगम्य है। भावानुवाद होते हुए भी मूलभावोंको अक्षुण्ण रखने का अनुवादक ने पूरा प्रयत्न किया है। बाहरी—छपाई-सफाई, कागज, गेटप आदि; और भीतरी—वर्ण्य विषय, कवि के मूलभावों की अक्षुण्णता और भाषा की रूप-छटा ये दोनों अंग प्रत्येक पाठक के मनको लुभाते हैं। प्रकाशन हृदयग्राही है।

हाँ, दो-एक बातें अवश्य खटकनेवाली है, वे ये है कि यदि इस पुस्तक के परिशिष्ट में सोनागिर के मन्दिरोंका संक्षिप्त परिचय रहता तो पुस्तक अधिक उपादेय हो जाती अगले संस्करण में वहाँ के मूर्तिलेख और मन्दिरों का ऐतिहासिक ढंग से परिचय भी रहना चाहिये। फिर भी पुस्तक संग्रहणीय है।

आत्मावलोकन—रचयिताः स्व० शाह श्री पं० दीपचन्दजी काशलीवाल। सम्पादकः श्री पं० श्रेयान्सकुमारजी शास्त्री, न्यायतीर्थ; प्रकाशकः रा० भू० सेठ मगनलालजी, पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला पो० मारोठ (मारवाड़); पृष्ठ संख्याः ७+१९८; मूल्यः मनन।

यह आध्यात्म विषयक रचना है। कविने ४० अधिकारों में देव, गुरु, धर्म, निश्चय, व्यवहार, तत्त्व, पदार्थ, भाव आदिका आध्यात्मिक दृष्टि से सुन्दर विवेचन किया है। श्री नेमिचन्द्र पाटनी ने ग्रन्थारम्भ में 'विषय-प्रवेश' शीर्षक में पुस्तक के विषयको काफी स्पष्ट किया है। आगे ग्रन्थ के देखने पर मुद्रणकला की दृष्टि से पाठकोंको निराश होना पड़ेगा, टाइप बेढंगा और स्थूलकाय है जिसने ग्रन्थ के सारे सौन्दर्यको विकृत कर दिया है। गाथाओं की अशुद्धि तो और भी खटकनेवाली है। भाषा पुरानी ढुंढारी है, जिसने आज के लोगों के लिये आध्यात्मिक विषय रसको खट्टा कर दिया है, यदि

आज की हिन्दी में इसका अनुवाद पृथक् दे दिया जाता तो निश्चय ही यह ग्रन्थ आध्यात्मिक दृष्टि से लुभानेवाला सिद्ध होता। आशा है अगले संस्करण में इस कमी की पूर्ति की जायगी। ग्रन्थ आध्यात्म प्रेमियों के लिये संग्रहणीय है।

स्तोत्रत्रयी सार्थ—अनुवादकः श्री पं० श्रेयान्सकुमारजी शास्त्री; प्रकाशकः दि० जैन पाटनी ग्रन्थमाला, मारोठ (मारवाड़); मूल्यः मनन।

इस पुस्तक में कल्याणमन्दिर, विषापहार और जिनचतुर्विंशतिका इन तीनों स्तोत्रों का भाषानुवाद किया गया है। अनुवादकने स्तोत्रों के प्रत्येक श्लोकको खुलासा करने का अच्छा प्रयत्न किया है। अर्थको जहाँतक हुआ है, स्पष्ट करनेका प्रयत्न श्लाघ्य है परन्तु कहीं-कहीं बोलचाल की भाषाको छोड़ क्लिष्ट भाषा का भी प्रयोग किया गया है जिससे विषापहार स्तोत्र के कई श्लोक खुले नहीं हैं। अगले संस्करण में इसे सरल और सरस बनाने की चेष्टा होनी चाहिये। स्वाध्यायप्रेमी, धर्मात्मा जिज्ञासुओंको इससे लाभ उठाना चाहिये। संस्कृत न जाननेवालों के लिये यह रचना अधिक उपादेय है।

युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि—लेखकः श्री अगरचन्द नाहटा और भँवरलाल नाहटा; प्रकाशकः श्री शंकरदान शुभैराज नाहटा, ४ जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता; पृष्ठ संख्याः लगभग दो सौ; मूल्य बारह आने मात्र।

इस पुस्तक की प्रस्तावना श्री दशरथ शर्मा ने लिखी है। आपने बारहवीं शताब्दी में श्री जिनदत्तसूरि द्वारा जैनधर्म के प्रसार के सम्बन्ध में किये गये कार्योंका उल्लेख किया है। मुनि श्री कान्तिसागरजी ने इसकी भूमिका में बारहवीं सदी की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियोंका उल्लेख करते हुए सूरिजी के कार्यकलापों पर प्रकाश डाला है

चरित्र नायक सूरिजीका जन्म सं० ११३२ में हुआ था, इनकी कुशाग्रबुद्धि और योग्यता से मुग्ध होकर सं० ११४१ में ही इन्हें दीक्षा दे दी गयी तथा इनका नाम सोमचन्द्र मुनि रखा गया। पश्चात चित्तौड़ में जिनबल्लभसूरि के पट्टपर सं० ११६९ में आसीन हुए, तभी से इनका नाम जिनदत्तसूरि प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने विहार कर श्वेताम्बर समाज में से अनेक कुरीतियोंको दूर किया तथा अपने उपदेशामृत से अजमेर के महाराज अर्णोराजको प्रभावित किया। आपके उपदेश से अनेक श्रावकों ने प्रतिबोध प्राप्त किया था। राजपूताने में पाशुपत, कापालिक, शाक्त, भागवत, आदि सम्प्रदाय उस युग में उन्नति पर थे। सूरिजी ने अपने विद्वत्तापूर्ण उपदेश से हिंसाको दूर कर अहिंसा की प्रतिष्ठा की थी। इन्होंने अन्धश्रावकों की परवाह न कर जैनधर्म का मार्ग सभी जातियों के लिये खोला था; श्वेताम्बर मन्दिर में होनेवाले वेश्यानृत्य को भी बन्द किया था।

इनके द्वारा रचे गये अनेक ग्रन्थ हैं। इस चरित ग्रन्थ से सूरिजी की जीवन घटनाओं के अतिरिक्त बारहवीं सदी की राजपूताने की जैनधर्म सम्बन्धी व्यवस्थाका भी पता लग जाता है। इतिहास और चरित प्रेमियों के लिये ग्रन्थ संग्रहणीय है, छपाई-सफाई साधारण है।

श्रीभावारिवारणपादपूर्त्यादिस्तोत्रसंग्रह—कर्ताः श्री पद्मराजगणि; संशोधकः मुनि विनयसागरजी; प्रकाशकः हिन्दी जैन आगम प्रकाशक सुमति कार्यालय, जैन प्रेस कोटा।

प्रस्तुत पुस्तक में भावारिवारण, श्रीपार्श्वनाथलघुस्तोत्र, और जिनस्तुति ये तीन स्तोत्र संकलित हैं। इन तीनों के रचयिता पद्मराज गणि हैं। प्रस्तावना में श्री अगरचंद नाहटा ने पादपूर्ति साहित्य पर प्रकाश डालते हुए भावारिवारणस्तोत्र की पादपूर्ति और उसके कर्त्ता की गुरुपरम्परा पर सुन्दर प्रकाश डाला है। ग्रन्थकर्त्ता के सम्बन्ध में भी पूर्ण विचार विनिमय किया है। इस संग्रहका प्रथम स्तोत्र सरल, सरस और सुन्दर है। नमूने के लिये एक पद्य नीचे उद्धृत किया जाता है—

संसारि काम परिपूरण कामकुम्भं,
संचारि हेमनवकंज परंपरासु।
सेवामि ते चरमदेव समन्तसेवि,
संघावली दामिगणं चरणं चरन्तम्॥

अतएव इस स्तोत्र की रम्य शब्दावली भक्ति की भावनाको जागृत करने में समर्थ है।

चतुर्विंशति-जिनेन्द्र-स्तवनानि—कर्ताः पुण्यशील गणि, प्रकाशकः हिन्दी जैनागम-प्रकाशक सुमति कार्यालय, जैन प्रेस कोटा (राजपूताना)॥

यह संगीतात्मक राग रागिनियों में रचा गया स्तोत्र है। इसमे राग के साथ देशिओं के नाम देकर राग से अनभिज्ञ जनताको भी गाने की सुगमता कर दी है। इसमें २५ स्तवन हैं। इस कृति की भूमिका सुप्रसिद्ध साहित्य सेवी श्री अगरचंद नाहटा ने विद्वत्तापूर्वक लिखी है। भूमिका में ग्रन्थकर्ता और ग्रन्थ के विषय पर पूरा प्रकाश डाला गया है। कहीं-कहीं पर एकाध श्लोक की सदोषता खटकती है। संगीत प्रेमियों को संस्कृत भाषा की राग-रागिनियोंका रसास्वादन करने के लिये इसे मँगाना चाहिये।

श्री चतुर्विंशति-जिन-स्तुतिः—रचयिताः महाकवि श्री सुन्दर गणि; सम्पादकः मुनि विनयसागर; प्रकाशकः हिन्दी जैनागमप्रकाशक सुमति कार्यालय जैनप्रेस कोटा (राजपूताना); मूल्य चार आने।

इसमें चौबीस भगवान् की स्तुति की गयी है। प्रारम्भ में श्री अगरचंद नाहटा की भूमिका है, जिसमें आपने स्तोत्रसाहित्य की प्राचीनता, विकाश और उसके वर्ण्य विषय पर प्रकाश डाला है। स्तवन प्रेमियोंको मंगाकर लाभ उठाना चाहिये। छपाई-सफाई अच्छी है।

बाहुबली (राष्ट्रीय-काव्य)—रचयिताः श्री 'हीरक';प्रकाशकः हिन्दी-प्रकाशन-भवन, बाँसफाटक, काशी; मँगाने का पताः सगुनचन्द चौधरी स्याद्वाद विद्यालय, भदैनी काशी; मूल्यः आठआने।

इस काव्य की भूमिका डा० श्रीकृष्णलाल एम० ए०, पी० एच० डी० ने लिखी है। काव्य की कथा ऋषभदेव के वैराग्य से आरम्भ होकर भरत के राज्याभिषेक पर समाप्त होती है। समस्त कथानक में भरत का दिग्विजय और भरत-बाहुबली का युद्ध ये दो घटनाएँ महत्वपूर्ण हैं। कवि ने राजमहिषी सुभद्रा और बाहुबली की धर्मपत्नी गुणमाला द्वारा युद्ध निवारण के लिये किये गये प्रयत्नों की कल्पना कर काव्यको नयी स्फूर्ति प्रदान की है। वैराग्यचिन्तन और युद्धवर्णन में अच्छी सफलता मिली है। साधारणतः प्रकृति का चित्रण भी अच्छा हुआ है।

इस काव्यको आद्योपान्त पढ़ने से ज्ञात होता है कि कविको वस्तुतः कवि हृदय की प्राप्ति नहीं हुई है; किसी प्रकार संस्कृत पदावली की छाया में भावों और वर्णनो की ठूंस-ठांस की गयी है। भाषा अलङ्कार युक्त विधवा के समान आन्तरिक रूप और शील से वञ्चित है। यदि 'हीरक' जी संस्कृत में इस काव्य की रचना करते तो उन्हें इससे अधिक सफलता मिलती। हम आधुनिक ढग से जैन साहित्यको सर्वसाधारण के समक्ष रखने के कारण अपने होनहार कविको धन्यवाद देते हैं और उनसे अनुरोध करते हैं कि आगे वे अपनी भाषाको सरस, सरल और मधुर बनाने की चेष्टा करेंगे। काव्य प्रेमियों के लिये पुस्तक उपादेय है। छपाई-सफाई साधारण है।

—नेमिचन्द्र शास्त्री

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XIV JANUARY, 1949. No. II

Eaited by

Prof. A N. Upadhya, M. A, D. Litt.
Prof. G Khushal Jain, M. A, Sahityacharya.
B. Kamata Prasad Jain, M R. A. S, D. L
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1/8

CONTENTS.

Om

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

[अकलंकदेव]

Vol. XV No II | ARRAH (INDIA) | January. 1949.

THE BIRTH PLACE OF DHAVALA & JAYADHAVALA.

By

(Jyoti Prasad Jain, M. A. LL. B.)

From the colophon given at the end of the Dhavala commentary of the Shat-khandagama-Sidhanta it is evident that Swami Virsen completed this work in the morning of the 13th day of the bright half of the month of Kartika in the year 838 of the Vikrama era, corresponding to Monday the 8th of October 780 A. D.[1] But the author himself gives no clue as to the place where he lived and wrote his works. It was, however, Jinsena the worthy desciple of Virsena, who, in the Colophon of the Jayadhavala, a commentary on the Kasaya Pahuda, which was left incomplete by Virsena, but was completed by Jinsena in 837 A. D. and which he, out of respect for his guru, called the Virseniya Tika, specifically mentioned the name of that place as Vāṭa-grāma-pure.[2] Besides, Indranandi, in his

1. Anekant—VII, 11-12 p. 207; JA—XII, 1, p. 1, In these articles the date arrived at by Prof. Hiralal (in Shat-Khandagama I, I, I, Introd) and accepted since by most of the scholars, has been proved to be incorrect.

2. Jayadhavala (Dig. Jain Sangha, Benares) Vol. I Introd

Shrutavatara[3] mentions that Virsena Guru came from Chitrakutapur and settled at Vāṭgrama where, in the ancient Jaina temple supposed to have been built by Aṇatendra (a king of the gods), he wrote his Dhavala and about a third of the Jayadhavala which was later on completed by his desciple Jayasena i. e (Jinsena). The Shrutavatara of Bibudha Sridhara, although corroborates this statement in other details, fails to mention the name of the place. An old manuscript of Pratikramana dated 1560 A. D[4], belonging to the Shastra-Bhandara of Karanja, has two verses in it, which refer to Virsena and mention that he wrote his works in the temple of Vāṭa (वाटे चैत्यवरे). The same two verses are, however, repeated verbatim even along with the corresponding numbers (i e 13 & 14) in a Pattavali of Senagana published by Dr. A. N Upadhye[5] It seems that the Pratikramana mss either contains this Pattavali in full or has borrowed certain verses from it. Thus these are the only sources so far discovered, which mention the name of the birth-place of Dhavala and Jayadhavala and give it as Vāta, Vātagrāma or Vātagrāmapur. It also appears that Virsena took his abode in an ancient Jain temple of this place, which was believsd to have been built by the gods in times immemorial, and consecrated probably in the name of Lord Chandraprabhu, the eighth Jaina Tirthankara whom Virsena salutes and eulogizes in the beginning of the Jayadhavala, paying special tribute to the धवल वर्ण (silvery white colour) of His body[6] The only other information about the place is that supplied by Jinsena in the colophon of that work, which says this Vātagrāmapur was, in his times, under the rule of the lord of Gurjara or Gujerat (वाटग्रामपुरे श्रीमद् गुर्जरार्यानुपालिते). And there is no doubt about the fact that these two scholars lived somewhere within the dominions of the Rashtrakutas, and at least Jinsena who was the religious preceptor of Emperor Amoghvarsha I was in direct contact with the emperor and his court

Of the modern scholars, Dr K. B Pathak was the first to make an attempt at identifying this place. He edited the famous Parswa-

---

3 श्लोक १७७-१८०

4 Mahabandha (Bh Gyana Pitha, Kasi, 1947)—Introd p. 13.

5. JA—Vol XIII no. 2 p. 4.

6. Jayadhavala, ibid.

bhyudaya-Kavya of Jinsena in 1909 A. D. In his introduction to that work, he discussed the colophon of the Jayadhavala, and being unable to make anything out of Vāta-grāmapur, he concluded that the name was wrongly spelt in the mss and that it should have been Maṭagrāmapure instead of Vātagrāmapure. And he seems to have believed that this Maṭagrāma was the same as Malkhed (or Manyakheta) the wellknown capital of the Rastrakutas. In his paper on 'Kumarila and Bharthari' also he wrote the name of the place as Maṭagrāmapur [7] Pt Nathu Ram Premi followed Dr Pathak and gave the name as Matgrāmapur, and even in quoting Indranandi, he corrected the original Vātagrāma into Mātgrama. He also belives it to be identical with Malkhed [8] Probably on the same authority Dr Belvelkar gave the name as Mathagrama.[9] Dr Hiralal, the worthy editor of the Dhavala (i e. the Shat khandagama) discusses in its introduction all available information about Virsen, and although he reads the name of the place of his residence as Vāṭagrama, he neither identifies it nor locates it. But the learned editors of the Jayadhavala have tried hard to fix its identity They uphold the correct version to be Vātagrāma or Vāṭgrāmapur, but misled by the adjective गुर्जरार्यानुपालिते they believe that it must be situated somewhere in Gujerat On referring the matter to Dr. Altekar the learned author of 'the Rashtrakutas and Their Times' they seem to have been told by him that the ancient name of Baroda (in Gujerat) was Vaṭapada (वटपद्) and that some Rashtrakuta copperplate grants have been discovered from near about that place, and so this Vaṭapada might have been the Vāṭagrāma of Virsen and Jinsena They further assert that the Gurjararya or Gurjaranarendra of the Jayadhavala colophon was none else than Amoghvarsa I himself, and that since he had quelled the rebellion of Dhruva of Gujerat in Saka 757 (i e 835 A. D.) and conquered back that province, he was called as such by Jinsena in 837 A D and that there is thus no doubt about Baroda being the place where Virsen and Jinsen

7. JBBRAS—XVIII p 226. He also identified the Gurjararya with Amoghvarsa.

8 ज० सा० इ०—पृ० ४६७, तथा विद्वद्रत्न माला पृ० २६, ३१

9 Jin-ratrna-kosa p. 133.

lived and compiled their works. In this way we have got so far only two suggestions regarding the identity of the place in question, the first saying it was Manyakhet and the other that tt was Baroda, but none of them is either suitable or even possible

Nowhere has this place been referred to as Mātgrāmapur, Māṭgrāma or Mathagāma, while in all the available mss. of the known sources it is given as Vātagrāmapur, Vāṭagrāma or simply Vāṭa. There is no reason why the spelling of the original name should be so drastically changed, when even the changed name bears no resemblence with Manyakhet or Malkhed. Moreover, Manyakheta was not the capital of the Rashtrakutas at the time when the Dhavala was finished (i. e. in 780 A D) Most probably it was not even in existence at that time. The city was founded and made the capital by Amoghvarsha I,[10] probably even after the completion of the Jayadhavala in 837 A. D When Amoghvarsa ascended the throne, he was only a child of about six years, and for more than two decades his reign was infested with rebellions and disorders By about 835 A. D the situation was finally brought in control and peace and security were restored, due mainly to the untiring efforts and unflinching loyalty of his kinsmen Karka, Govind and Dhruva, the viceroys of Gujerat And it seems to be on the advice of the Mahasamantadhip of Gujerat that he built the new city which had a more secure and central position, and shifted to it the capital sometime between 835-840 A D The earliest reference to Manyakhet seems to be that in the Konur plates issued by Amoghvarsa from Melkhed itself in 860 A. D Thus Manyakhet could never have been the place where Swami Virsen lived. Jinsen might have lived there in his later days, although it is also not quite likely And so there is absolutely no possibitity of Vāṭgrāma and Manyahhet being identical.

Similarly, it could not have been Baroda of Gujerat Even if Vaṭpad (वटपद) was the name used for Baroda in those days, it hardly bears sufficient resemblence with Vāṭgrāmapur (वाटग्रामपुर) to be identical with the same. A place could not be known by two

10. Karad plates of Karka II (IA-XII p. 263 ff), Rashtrakutas and their times p 47.

such different names in the same period. Moreover, Gujerat, and therefore Baroda, was not included in the Rashtrakuta empire in the times of Virsen (760-790 A D) It was Govind III who sometimes between 794-808 A. D conquered and annexed Gujerat to the Rashtrakuta empire, and appointed his favourite brother Indra as its viceroy, and on Indra's death his son Karka was appointed to his place. The earliest Rashtrakuta records discovered from Gujerat are the copper plate grants of Karka dated 811-12 A. D. Govinda had great faith in Karka, so much so that at the time of his death be appointed the latter as the guardian of his own son Amoghvarsa I who was then a mere child Karka discharged the trust faithfully, quelled all the rebellious elements and installed Amoghvarsha on the throne of his father, in 814-15 A D Even after that he could not afford to be absent from the capital and to facilitate his presence there he appointed his own brother Govind as deputy-viceroy of Gujerat After Karka's death, his son Dhruva succeeded him as Mahasamantadhip and governor of Gujerat. These Rashtrakutas of the Gujerat line remained ever faithful to the emperor Atleast there was no disaffection till the time of Dhruva's grants of 835 A D [11] The assertion of the editors of the Jayadhavala that in 835 A D Amoghvarsha suppressed the rebellion in Gujerat and conquered back that province thereon adopting the title of Gurjararya and Gurjara-narendra, is therefore erroneous and quite baseless. In fact, there was no such rebellion, and he had ever been the overlord and emperor of Gujerat since the beginning of his reign, while the immediate rulers of that province, the actual Gurjaryas were Indra, Karka and Dhruva. This subordinate branch ruled Gujerat from C. 794 to 900 A D, after which it was ruled directly from Malkhed.[11(a)] And so the Gurjararya of the colophon must have been Dhruva I of Gujerat, in whose territory was also included the Vātagrāma of Virsen and Jinsen, in 837 A D. This, however, does not mean that this place might as well have been in Gujerat. We have already seen that in Virsen's time Gujerat was not a part of the Rashtrakuta empire, and the place where he lived was in 780 A.D. under the immediate rule of Jagtunga, who was the governor of the

11. IA—XV p. 199.

11(a) Dr. Iswari Pd.—Hist of India p. 141.

province in which it was situated. Besides, although Virsen himself seems to have migrated from the north i e Chitrakutapur which I have reason to believe was none else but Chitor, all his later associations, colleagues and desciples belonged to South India. Digamber Jainism was never very popular in Gujerat which has ever been the stronghold of the Swetamber sect. No old Digamber monastery, college or library is known to have existed there. The oldest mss, of Dhavala and Jayadhavala also, which date 11th, 12th century A. D, have been discovered only from Karnataka. And no historical evidence or tradition associates Virsen and Jinsen with Baroda or any other part of Gujerat. There is thus no reason to imagine that Baroda might have been the Vāṭgrāmapur in question, purely on a remote semblence of the two names.

In order to discover the real place we should look for it somewhere in Maharastra proper, and more particularly in the vicinity of the pre-Malkhed capital of the Rashtrakutas Unfortunately the pre-Malkhed capital has also not been determined so far with certainty There are several suggestions Some say the fort of Mayurkhandi or Morakhanda in the Nasik district was the pre-Malkhed capital while some others think Nasik itself was the capital Some believe it to be Latur in Berar, which was the original home of the family Paithan, Elichpur and Elora have also been put forth as probabilities. Cousens suggested[12] that the place called as Sooloobunjun in the Indian Atlas sheets, which is just above the Plateu near the Elora caves may have been the actual lacality of the capital Dr. Altekar discusses[13] at length all these possibilities and comes to the conclusion "As it is, we have to admit that we have no definite knowledge as to the precise site of the capital before it was shifted to Malkhed Yet from the above discussion and available material, this can be safely concluded that the pre-Malkhed capital of the Rastrakutas was somewhere,not far off from Nasik and most probably it was Sooloo bunjun which is close to the Elora caves which were excavated and adorned with fine temples by Krisna I (756–772 A. D), and that Nasik itself was the seat of a viceroy who generally used to be the

12. The Chalukyan Architecture, p. I
13. Rastrakutas and their times p. 46-48.

prince next in importance to the emperor himself and that the fort of Mayurkhandi in the vicinity of Nasik was the chief military head-quarters of imperial Rashtrakutas in the pre-Malkhed days, and was in charge of the viceroy of Nasikdesa Thus the Pimperi[14] and Dhulia[15] plates of Dhruva Dharavarsa dated 775 and 779 A. D. respectively show that in the reign of Govind II his brother and successor Dhruva was the viceroy of Nasik, as he himself probably was in the reign of his father Krisna I. Similarly in the time of Dhruva, it was his son and successor designate Jagtunga who held the viceroyalty of Nasik and was incharge of the military head-quarters of Mayurkhandi. In his own reign, Govind III seems to have retained them in his own charge and not to have appointed a sepatate viceroy He seems to have spent much of his time in the fort of Morakhanda as several of his own grants, viz Radhanpur (808 A D. , Wani-Dindori (107-8), Kadba (814 A. D), were issued from this place His own son and successor was a small child, and the most trusted of his brothers was Indra May be, in the beginning of his reign he had entrusted the charge of these places to Indra, but after his conquest of Gujerat to the viceroyalty of which he appointed Indra, he might have taken Nasik and Morakhand in his own direct control But whan he died in 813 A. D , Karka the son of Indra who besides being viceroy of Gujerat was also the guardian of the boyking Amoghvarsa and was thus the first lord in importance, must have himself taken charge of the viceroyalty of Nasik and control of the fort of Mayurkhandi. Thereafter, for a long time, atleast upto Dhruva's time and certainly in 837 A D. the Nasikdesa was a part of the viceroyalty of the lord of Gujerat. Thus, supposing Vātgrāma was situated somewhere in the province of Nasik, the words गुर्जरार्यानुपालिते would simply mean 'under the direct government of the lord or governor of Gujerat'. As a matter of fact a comparison of the two colophons, those, of the Dhaval and the Jayadhaval, clearly shows that in both of them the immediate ruler of the province as well as the emperor overlord are mentioned. Thus the Jagtungdeva-raje of V. 7 of the Dhavala colophon refers

14 E I.—X p. 81 ff.
15. EI.—VIII p 182 ff.

to the immediate ruler of that province while the Vallaba-Ray-Narendra Narendra-Chandamani of V. 9 refers to Dhruva Raj the Rashtrakuta emperor himself, similarly the Gurjararya of V. 6 of the Jayadhavala colophon refers to the viceroy of Gujerat who was also the Governor of Nasikdesa (i.e. Dhruva I of Gujrat) and Amoghvarsha-Rajendra etc of V. 8 evidently refer to the emperor himself. In both the colophons the intervening verses contain information about the date and time of the completion of there works. The mode of mentioning the names of these two sets of dignitaries also clearly indicates that the former ones were of an inferior or subordinate position to the latter ones. The editors of the Dhavala as also those of the Jayadhavala committed the same mistake of believing two different persons, i e the immediate governor and the emperor overlord, mentioned in the colophons, to be one and the same person.

But these discussions do not help us much unless we succeed in locating our Vātgrampur in the region of Nasik, beyond any doubt. Fortunately, we have at least four copper plate grants of the Rashtrakutas, ranging from 775 A D. to 808 A. D., which throw important light on the identity of the place sought after The Pimperi Plates[16] of Dharavarsa Dhruvaraj Nerupama, dated 775 A. D. purport to have conveyed the grant of a village named Lilagrāma in the Vāṭnagarika Vishaya 84 of the Nasikdesa. Dhruva was at this time the viceroy of Nasik and Khandesh, with Nasik as his headquarter. The Dhulia plates[17] of Karkaraja dated 779 A. D. record the grant of a village named Rakhulagrama in the Nasik Vishaya (province), in the east of which was Chebhatika, in the south Godavari, in the west Vatmukhagrama and in the north Vatapuragrama. According to Dr D R Bhandarkar, the editor, of these plates, all these localities are situated in the Nasik district. The Wani-Dindori plates[18] of Govind III, dated 806-7 A D. were discovered from the village of Wani in the Dindori Taluka of Nasik

16 E. I—Vol. X p. 81-87, line 41 in the second of the three Pimperi plates (on p 87) contains—'वाटनगरिकारन्य चतुरशीत्यन्तर्गत लीलाग्रामे'

17 EI—VIII p. 182.

18. IA—XI p 156, line 39 of the plate has 'नासिकदेशीय वाटनगर विषय अन्तर्गता अम्बकाग्राम'

district, and were issued from Mayurkhandi, a hill fort to the north of Wani. It records the grant of the village of Ambakagrama in the Vaṭanagar Vishaya of Nasik desa, on the east of which was the village of Vadavura. The Radhanpur (808 A. D.) and Kadaba (813 A D.) plates of Jagtunga Govind III were also issued from Mayurkhandi. The latter record[19] states that the emperor made this grant infavour of a Jain Matha because its head had removed the evil influence of Saturn from which a feudatory Chalukya prince was suffering The donee was a Jain Guru Arkakirti the desciple of Vijayakirti

From the above records, it is evident that Nasik and the adjoining fortress of Marakhanda enjoyed in those days the importance next only to the capital which, if it was Saloobanjun, was only within fifty miles of these places, and Dhruva and Govind III seem to have spent much of their time there. At the same time, there was evidently an important town Vātanagar or Vāṭnagarika in the Nasikdesa, which was also a divisional headquarter. It was a Vishaya which was a smaller unit than a Desa or province and was a bigger unit than the Bhukti (a Tehsil), and was thus like the modern Division or atleast a district. In 775 A. D. it included 84 villages, but with expansion of the dominions this number must have increased much in the times of Govind III and Amoghvarsa I Dr. Bhandarkar and Dr. Altekar have identified most of the places mentioned in the Rashtrakuta plates, but they failed to identify Vāṭanagar. Dr Fleet the editor of the Wani-Dindori plates, thought it might be the modern village of Wani. But he was doubtful It was, however Mr. G K. Chandorkar, the gentleman who had in his possession the Pimperi plates before he gave them to Dr. K. B Pathak for editing and publishing them in the Epigraphica Indica, who definitely identified Vātanagar of the plates with village Vani of Dindori Taluka (Tehsil) in the district of Nasik[20]

Dindori is situated some 15 miles north of Nasik town. About five miles north of Nasik, and in between Nasik and Dindori are

19 EI—IV p 340, RTT—p 351, Leu—p. 38.

20. EI—Vol X p 85, Mr Chandorkar also identified the Vidagrama of the plate with the modern village of Nilagavan.

the Satmala or Chandor range of hills. On its peaks are the famous Jaina cave temples of Chāmbhār Leṇa. These Chāmbhār group of Jaina cave temples are among the ancient and important cave temples of India. They are cut in a hill 600 ft. above the plain, and are themselves 450 ft. from the base of the hill.[21] The village Vani is situated beyond these hills, near Dindori, and in those days when it was an important town, might have been stretching close to these hills. The famous Jain Tirtha Maungya Tunga hills with a number of ancient Jain caves containing Jina figures in small nitches and assigned to the 8th or 9th cent A. D [21(a)] as also the sacred Gajapantha hill another place of ancient Jaina pilgrimage, are situated in the Nasik district, rather close to the town The neighbourhood of Nasik is also sacred to the memory of Chandraprabhu Swami. It has been a Jain Tirtha associated with the Tirthankar Chandraprabhu from times immemorial. The ancient temple of that Lord here, being believed to have been built by gods.[22] This corroborates the Shrutavatara tradition and confirms the likelihood of its being the desired abode of Virsen and Jinsen In fact, Nasik and its neighbourhood has been a sacred place of all the three sects, the Jains, the Hindus and the Buddhists, atleast from the times of the Satwahanas and the western Kshatrapas i e from 100 B. C) And in the Rashtrakuta age too the whole neighbourhood was a centre of learning of the three faiths. The Buddhist Monastry of Kanheri was near Bombay within 50 miles of Vatnagar, the Shaiva establishment at the Kailash temple of Elora was also near at hand, while the Jain University of Navasari (Neosarika) was about 40 miles north west of this place, and the other Jain monastries of Dharmpuri, Vatapi and those of Karnatak were within easy reach The borders of North India were also not far from it. The place in itself was neither a small insignificant

21. Imp. Geog. of India, Bom. Pres, Vol I p 455, 480; also Bombay Gazet —Vol. XVI p 541, 639, 426-28.

21(a) ASI—1921-22 Pt. II p. 66-69, JB—140 (XXVI); MAR—1920 p 10

22. Vividha Tirthakalpa, ed. B C Law -JG 1938 p. 275; The Tirthakalpa of Jinaprabha, also quoted in Abhidhan Rajendra—45th Kalpa. The Jain Iconography by B C Bhattacharya—Vol II p. 30.—Nasik along with Chandravati and Vaiangi are the three Tirthas sacred to the memory of Chandraprabhu.

village, nor a very big city or a busy Capital town. Thus it was free from all the hustle-bustle of a big city, and as the seat of the district government was such a moderately good town which could provide all the necessary facilities for the centre of Jain learning set up by Swami Virsen, and also for the scholars working there to pursue their literary activities peacefully and conveniently. It is quite possible that a sort of establishment with an adequate library and other necessary equipment already existed there, and so when Virsen left Chitrakutapur, he chose this place for his life long work. Living at this place he composed at least one lac of Sloka size volumes (i. e. 72000 Slokas of Dhavala and about 20000 Slokes of Jayadhavala), and thus his total writing is wellingh equal the size of the Mahabharata which although is not a single man's work and took centuries to acquire that size It is therefore clear that the Vāṭagramapur of Virsen and Jinsen was the Vāṭnagar Vishaya of Nasik desa, which was the same as the Modern village of Vani or Wani. No doubt there were a few other places in that region, whose names also bear some resemblence to Vāṭagrāmapur, namely the Vaṭmukhgrāma and the Vatpurgrāma of the Dhulia plates and the Vadvurgrāma of the Wani Dindori plate. But they do not seem to be the likely places, because in the first place they were only small villages, and secondly they resemble much less with Vātagrāmapur than the Vātnagrika does, which is quite apparent from their spellings and pronunciation. The original and main part of name is Vāṭ (वाट) which is common only to Vāṭagrāmapur and Vāṭanagarika. The suffixes Grāma, Pur, Nagarika are only descriptive terms and may be indiscriminately used with any place names, atleast it was so in those days In some contemporary records the words Talvanpur and Talvananagar have been used for the place Talked in two different places in one and the same record as well as in different records [23]

Therefore, there remains no doubt that the birth place of Dhavala and Jayadhavala and the abode of Swami Virsen and Jinsen was Vāṭagrāmapur or Vāṭnagar Vishaya of Nasikdesa, and within a few miles of Nasik town, which was the same as the modern village of Vani in Dindori Taluka of Nasika district. And most probably,

the exact spot in that Vāṭnagar where this Jain Centre of leaving was accomodated was the ancient god-built temple of Chandraprabha Swami in the famous Jain cave temples of Chāmbhār Leṇa in the vicinity of that town.

---

23 MAR for 1921 p 31—Champanagar grant Kambhaaj. Also see MAR. 1933 p. 237-38—Iswar temple stone inscription of Sripurush, E C—Ig—I p 51—The Mercarra plates.

THE ORIGINAL HOME OF JAINISM.

By
Prof. S Srikantha Sastri, M. A.
302, D Subbaya Road, Mysore.

It has become customary to take granted the statements of certain historians that Jainism like Buddhism represents a reaction to the sacrificial cult of Vedic Āryans and in the case of Jainism many scholars are reluctant to take back the history of the faith before Parśva in about the 9th century B C Magadha which happened to be outside the pale of the Vedic sacrificial cults in the earliest times happened to be the birthplace of both Jainism and Buddhism and hence many have thought that these religions were perhaps of non-Āryan origin, Another theory is that there was at first a wave of non-Vedic but Aryan peoples who had spread all over Hindustan and that later on a new branch of the same Aryans but with Vedic cults, came and established themselves, driving out the earlier non-Vedic Āryans into Magadha, where Jainism and Buddhism arose. The Indus Civilisation of C, 3000–2500 B C. with its cults of nudity and Yoga, the worship of the bull and other symbols has resemblances to Jainism and therefore the Indus civilisation is supposed to be of non-Aryan or non-Vedic Āryan origin. The protagonists of the Non-Aryan theory are many and some of them call the civilisation definitely Dravidian. I have shown in my" Proto-Indic Religion" that the so-called non-Aryan characteristics are really those of Atharva Veda civilisation and that the Vedas themselves provide ample proofs of the worship of the mother goddess, the bull, serpent, Yoga etc Therefore the Indus civilisation is post-Vedic and an admixture of many Tāntrik practices. It is impossible to assign a Dravidian origin to the Jaina and Buddhist religions as the Tīrthankaras and Buddhas are clearly designated as Kṣatriyas and Āryas.

Jainism like Buddhism must therefore be traced to an earlier phase of Aryan culture I have shown that all Indian evidence is in favour of the original home of the Aryans being Bhārata-Varṣa in

Jambūdvîpa. Bharata-Varṣa according to our traditions was not confined to the modern geographical limits but extended up to the Hindu-Kush and Pamir Range, 40° degrees latitude It is this fact that has been embodied in the earliest Vedic and Jaina astronomical works and myths. It is well-known that the Vedānga Jyōtiṣa (C. 1380 B. C) Calendar is practically the same as in the Jaina astronomical works like Sūrya Prajñapti, Kālaloka-Prakāśa, Candra Prajñapti, etc. The Jaina theory of two suns, two moons and two sets of 27 nakṣatras can be properly understood in the light of Vedic literature. The Sūrya Prajñapti (19th Pāhuda p 271) refers to various opinions[1].

In the Vedic literature also we find numerous references to the number of the Ādityas as 1, 3, 7, 7½, 12, 14 upto 1000, these should be understood in terms of time measurements, like the cycles of the years or eclipses or *ayanas* according to the context and not literally. It is not our present purpose to deal exhaustively with the explanations of these astronomical statements. We are concerned only with definite statements indicating probably the original place of astronomical observations in both Vedic and Jaina texts The five years cycle or Yuga is found in the Vedic calendar and also in the Kālalokaprakāśa as pointed out by late Dr R Shama Sāstri (*Drapsa p. 115*). The Jaina work describes gnoman and its shadow measure during the two *ayanas*. The shadow of 24 aṅgulas is that of a Śaṅku of 24 aṅgulas in height on the first day of Dakṣināyana and it increases at the rate of 4 aṅgulas per solar month until it is exactly doubled on the Uttarāyana day after which it goes on decreasing at the same rate. The Kālaloka-Prakāśa says that in the cycle of 5 years the increase (from the first day of Dakṣināyana) will be as follows :

---

१ ता कति नं चन्दिमसूरिया सव्वलोय ओभासन्ति उज्जवन्ति तवेंति पभासेंति यहि तेत्ति वंदज्जा? तत्य खलु इमा ओ दुवालस पडिवित्ति ओ पण्णत्ताओ। त त्थेगेऽवमाहंसु। ताऽके चन्दे ऽगे सूरे सव्वलोय ओभासति उज्जोऽत्ति तवेत्ति पभासेत्ति। एगे एवं आहंसु। एगे पुण एवमाहंसु तातिण्णा चन्दा तिण्णा सूरा सव्वलोयं ओभासंति। एगे एवमाहंसु–ता आ उड्ढं चन्दा त, आ उड्ढं सूरा सव्वलोयं ओभासति उज्जोवेति तवेंति पभासेंति। एगे एवमाहंसु–ऽसेणा अभिलावेणा नेतव्वम्। सत्त चन्दा सत्त सूरा, दस चन्दा दससूरा, भारस चन्दा भारस सूरा ....

Surya Prajñapti 19th Prābhṛta.

I st year : Śrāvaṇa Bahuḷa 1—2 pādas (24 anguḷas).
Increase by 4 anguḷas per month
Māgha Bahuḷa 7—4 pādas (48 anguḷas).
II nd year : Śrāvana Bahuḷa 13—24 anguḷas.
Māgha Śuddha 4 - 48 „
III rd year : Śrāvana Śuddha 10—24 anguḷas
Māha Bahula 1—48 „
IV th year : Śrāvaṇa Śuddha 7—24 anguḷas.
Māgha Bahuḷa 13—48 „
V th year : Śrāvana Suddha 4—24 anguḷas.
Māgha Śuddha 10—48 „

In the Vedic literature the years of the cycle are called Samvatsara, Parivatsara, Anuvatsara, Idvatsara and Iḍāvatsara; or Samvatsara, Parivatsara, Idāvatsara, Idvatsara and Vatsara Further as I have shown, the Vṛṣākapi hymn which has been a puzzle to scholars, clearly refers to the four parts of a day-the dawn, noon, the twilight and night, the durations of these being indicated by symbols of Indrāṇī, Indra, Vṛsākapi and Vṛsākapāyi, (*Rg X-7-2, Atharva XX-126*). The long period of evening and twilight indicated here is possible only in the 40th degree latitude, this is supported by the statement in the Nidāna Sūtra (*IX-6*) that in the Agnisṭoma sacrifice that the twelve stotras leave three *muhūrtas* unmeasured Therefore the shortest day was only of 12 muhūrtas duration (only of 9 hours and 36 minutes) Correspondingly the Sūrya Prajñapti mentions that the longest day was of 18 muhūrta duration i e 14 hours and 24 minutes.

Again there is close analogy between the terms Kalyōja, Dvāpara Yugma, Tretā and Kṛtayugma used in Sūrya Prajñapti (p. 167) and the Vedic terms Kali, Dvāpara, Treta and Kṛta. Yuga and Parva were synonymous and meant a fortnight in this early calendar of the Āryans The Bhagavatī Sūtra which according to Jacobi must be assigned to the end of the fourth or the beginning of the third century B. C mentions Kṛta yugma. The Vedic year began in Māgha (most probably from the Ekāṣṭaka day Māgha Bahuḷa 8 according to the Sūtras) in the beginning of Varṣa Ṛtu as indicated in the Maṇḍūka Hymn (*Rg* VII, 103,7) and the hymn to Ekāṣṭaka

(*A. V.* III. 10). Now in Central Asia and Bokhāra region the rains commence at about the autumn equinox, whereas the rainy season in India begins with Dakṣiṇāyana. Jacobi assumed therefore that the year began with the Dakṣiṇāyana in Makha or in the Phalguṇis and Uttarāyaṇa occurred in the Bhādrapadas. Allowing for the unequal spacings of the Naksatras in the early Jaina and Vedic works, this roughly indicates a date between 2280 BC and 3240 or 4200 B. C. In the later Vedānga Jyōtiṣa and Jaina works mentioning Dakṣināyana as in the middle of Āśleṣa and Uttarāyana in Dhaniṣtha (1320 B. C) we confind indications of even for earlier dates According to the old Garga and Jaina systems Śravaṇa and Maghas were on the same colure of the equinoxes indicating a date of C. 8040 B C, when solistitial colure passed through Viśākha and Kṛttikas

The Sarasvati legends in the Vedas have, as I have pointed out elsewhere, a core of astronomical observations when the river Sarasvati still flowed into the sea and was considered more sacred than even the Gangā and Yamunā The Vedic sacrifices on the banks of the Sarasvati commenced perhaps when the Vernal equinox was in Mūlā, which nakṣatra is even now sacred to the goddess Sarasvati though it occurs during the Dasara Sarasvati in the Taittirīya Samhitā is identified with Amāvasyā and her consort Sarasvān with Paurnima Hence Amāvāsya in Mūlā Naksatra marked the Vernal equinox and the commencement of the sacrificial year, the Naksatras also being counted from Mūlā (the first or root) and subsequently from Jyesthā (the eldest) and so on until in the late Vedic period the Nakṣatra lists began with the Krttikas. Subsequently the Sarasvati river disappeared as also the Rājaputāna sea and its waters were mostly drawn into the Yamunā and Gangā. The date indicated by Vernal equinox in Mūla is C. 16680 B. C This geological and astronomical evidence therefore shows that the Aryans had already been long in the possession of the Sarasvati country, After the last Ice Age (Wurm) which according to the latest estimates based on the lead analysis extended from 80000 to 50000 years ago there came about a Pluvial Period upto 25000 years ago. This holds good only of Europe and in India the warmer climate must have commenced earlier. Even in Europe by this time Man had passed through the Eolithic, Lower, Middle and Upper

Palaeolithic periods and by 50000 B. C. the Mousterian, Gravettian and Magdaleman cultures of Europe had been passed. The earliest man (Homo Pekemunsis) is now assigned to the first Inter-Glacial period (C. 500000 years ago). Hence man's evolution must have been more rapid in the tropical regions. The antiquity of Āryan traditions-Vedic, Jaina and Buddhistic, thus goes back to atleast 20,000 B. C and the original home of the race must have been in Bharatavarṣa which extended up to the 4°th degree latitude It is urgently necessary that the students of Jainism should make a comparative study of the Susuma and Duṣsuma Kalpas and of the various legends narrated in the lives of the Tīrthaṁkaras.

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिन शासनम् ॥

A CRITICAL STUDY OF THE JAINA EPISTEMOLOGY.

By
Prof Rajendra Prasad, M A

The Jaina theory of knowledge possesses certain well-marked features in virtue of which it deserves a distinctive position in the history of philosophy, both eastern and western It is because of such characteristics that it deserves our special attention and requires a revaluation in the light of the past and present philosophical attainments. But before giving a detailed analysis of the Jaina epistemology it is incumbent upon us to know certain preliminary things about the nature and the foundation of knowledge

Knowledge or consciousness is, according to Jaina thinkers, the essence of the soul. The soul is constitutionally a conscious, knowing being The nature of this consciousness is such that it reveals itself as well as its object To know an object is also to know the knowing of the object Thus knowledge is of the nature of light which manifests itself as well as the object placed before it. In this way Jaina thinkers hold that to have the consciousness of an act of knowledge we donot require another act of knowledge. A single act of consciousness is sufficient for the awareness of itself as well as for that of the object towards which it is directed

This view of the Jainas is opposed by so many other Indian thinkers like the Naiyāyikas, the Bhāttas etc. The latter hold that a cognition cannot reveal itself just as the finger-tip cannot touch itself According to the Naiyāyikas a cognition is manifested by another cognition since in this case the former cognition is the object of the latter cognition The Jaina thinkers urge against the view of the Nyāya a number of objections of which we shall mention a few important ones.

The Jainas point out that we must accept the self-revealing nature of knowledge for if we adhere to the Nyāya view we shall be landed in an infinite regress. Every cognition will require another one to make it manifest but this manifesting cognition will also require stil

another to manifest it, and in this way we shall have to go on ad infinitum.

To avoid the infinite regress it may be urged here that the manifesting cognition does not require to be perceived by another cognition. Now if this be the case, then there can be two possibilities: either we know the manifesting cognition or we donot know it. The first possibility is not admissible because its self-cognisability has been rejected and its cognisability by another cognition has also exhypothesi been excluded. It is clear that there is no third course left. Now we are left only with the second possibility, namely, the *unknownness* of the illuminating cognition, and thus the Nyāya position is like this; we know a cognition not by itself but by another cognition which in itself is unknown. But it is absurd to say that an unmanifested cognition can manifest another cognition.

Further, if we stick to the Nyāya view we shall not be able to find out sufficient reasons for the arousal of the second cognition for the earlier one, If we call the manifesting cognition B and the cognition to be manifested A, then B cannot arise when A continues to exist because two cognitions cannot arise simultaneously, B cannot also arise when A has vanished for then there will be no object to be cognised by B. And if we admit that B can arise even in the absence of any object then B will be toutamount to an illusory cognition like the snake-rope illusion in which there is no objective snake.

As a result of all these criticisms, the Jainas reject the Nyāya view and hold the view that knowledge is known by itself. The Prābhākaras, the Vedāntins and some Buddhists also hold the same view as the Jainas with regard to the knowledge. A close parallel on this point is also found in the Itallian thinker, Bonatelli. According to Bonatelli, as Dr Radhakrisnan puts it, "in the knowledge of any fact there are given together the knowledge of the fact and the fact of knowledge."

A very important implication about the nature of the relation between *knowing* and the *known* follows from what has been said about the nature of knowledge. Knowledge, for the Jainas, is revelatory, it reveals itself and its object. To know an object is to reveal

that object just as the table-lamp reveals all the objects placed on the table without any prejudice. Therefore the object of knowledge is not modified by the knowing of it, it is only revealed and not altered. Hence the object of knowledge is independent of the knowledge-relation and there is no duelism between the object known and the object as it is. Here the Jaina position is in agreement with the epistemological monism of the contemporary neo-realistic thinkers of Great Britain and America.

After the nature and knowledge of knowledge another very important question concerns the validity of knowledge. The question of validity split up into three sub-questions: (a) What is the criterion of validity? (b) How does validity originate? and (c) How is it known?

In their answer to the first question the Jaina thinkers are at one with the Naiyāyikas. Valid knowledge is a representation of objects as what they are and is therefore practically useful It enables the knower to get what is good and to avoid what is bad as it represents the good as good and the bad as bad. Hence *the criterion of validity is practical utility.*

What follows from the above is only this that valid knowledge is practically fruitful. The Jainas stop here and do not proceed to commit the error of western pragmatists who equate validity with practical utility. To them practical efficiency is not only the criterion of validity but the sole constituent of validity. They declare that '*all valid knowledge is practically useful*' and from they conclude that '*all practically useful knowledge is valid*'. But in infering the latter from the former they violate the rules of conversion. An affirmative universal proposition cannot be converted into another affirmative universal one. Hence the proposition 'All practically useful knowledge is valid' which they get by converting 'All valid knowledge is practically useful' is a 'false converse' as Mr Hopkins has named it.

As regards the other two questions concerning the origin and knowledge of validity the answers given by the Jainas are quite unique and distinctive. According to the Nyāya both validity and invalidity are extrinsically constituted and known; according to the

Sāṅkhya both are intrinsic; according to the Mīmāṁsā validity is intrinsic while invalidity is extrinsic, and according to the Bauddhas invalidity is intrinsic and validity is extrinsic.

The Jaina view differs from all the four views stated above. According to the Jainas in the case of familiar as well as unfamiliar knowledge both validity and invalidity are extrinsically constituted, they depend for their origin upon conditions external to and other than the conditions of knowledge. As regards the awareness of validity or invalidity the Jainas point out that when we have a kind of knowledge which is accompanied by a feeling of familiarity or knownness its validity or invalidity is known intrinsically while in case of unfamiliar or new knowledge, both are known extrinsically. We are to take the help of external conditions in order to know the validity or invalidity of such a kind of knowledge

After these preliminary observations let us enter into the inner details of the Jaina epistemology. But in the coming discussions we shall deal elaborately only those aspects which are the unique and individual possessions of the Jaina philosophy and pass cur-ouisly upon the rest because an elaborate treatment of the entire epistemology of the Jainas will require so much of space as we cannot afford here.

The most fundamental classification of knowledge, according to the Jainas, is into immediate (प्रत्यक्ष) and mediate (परोक्ष). This two-fold classification has some well-marked advantages over other classifications. These advantages have been very clearly pointed out by Pt. Sukhalaljee Saṅghavī in his introduction to Hemcandra's Pramāṇa-Mīmāṁsā.

The Jaina classification says Pt Sukhalaljee, is free from the fallacy of over-lapping division. The terms immediate and mediate are so much opposed to and distinct from one another that what comes under one class inevitably falls outside the other. The second merit of this classification is that it is completely exhaustive. Whatever may be the number of pramānas admitted by a philosopher, all the pramānas can be comprehended under the above two classes without any violence to the pramānas themselves. It is a matter of common experience that a piece of knowledge is either

immediate or mediate, it must be one or the other; it cannot be both nor can it neither for there is nothing besides the two.

Besides, the Jaina classification has advantages over the classifications of pramāṇas made by other Indian philosophers It is superior to the cārvāka view in-as-much as it does not deny the validity of non-perceptual knowledges; it is superior to the Bauddha classification of pramānas into perception and inference in so far as it neither denies the validity of other pramānas like testimony etc. nor does it reduce them forcibly to inference. It is also more acceptable to the threefold classification of the Sāṅkhya, the fourfold classification of the Nyāya, the five-fold classification of the Prābhākaras, the six-fold classification of the Bhāttas etc inasmuch as it is not necessitated to deny any pramāna or to violently reduce it to the ones it admits in order to preserve the sanctity of its own pramānas whatever may be the number of pramānas, they are directly immediate or mediate The Jainas donot need either to deny or to effect a violent reduction because all the pramānas irresptively and naturally conform to the immediate-mediate classification.

The concepts of immediacy and mediacy have been accepted by almost all the philosophers of east and west but none has treated them with such logical aaccuracy and exactness as the Jainas. Immediate knowledge means, in Jaina logic, clear knowledge: विशदं प्रत्यक्षम्, clearness here means illumination without any other intermediate knowledge. Hence *clear knowledge* means the awareness of an object without an intermediate knowledge Immediate knowledge is, therefore, that in which ' the soul gets clear knowledge of an object without depending upon any other knowledge " There is complete absence of dependence upon anything except the soul itself, if is a knowledge depending upon the soul alone. Such a kind of knowledge the soul comes to have when the obstructions to clear knowledge, are destroyed or removed.

Now if by immediate knowledge we mean a knowledge depending only upon the soul, then sense-perception cannot be regarded as immediate and the Jaina logicians to deny the immediate character of ordinary perceptual knowledge. In sense-perception we have

the knowledge of an object through the mediation of senses, external or internal and hence it cannot be called really immediate though certainly it is nearer to immediacy than inference or testimony is. Thus, logically speaking, sense-perception is mediate in character. Some of the western thinkers, namely, the representationalists who hold that an object is known through a copy or mental representation of it and not directly, also deny the immediate character of such knowledge while the contemporary realists, the neo-realists and the critical realists, regard ordinary perception as the direct apprehension of the object. The neo-realist holds that in perceiving an object we perceive it directly, and though they recognise the mediation of senses they still regard it to be absolutely immediate. The critical realists, on the other hand, point out that we donot perceive an object directly but through a mental content of it which is diaphanous Just as a man with spectacles sees objects through his eye-glasses But even these thinkers regard such knowledge to be purely immediate. Here we point out that the position of these western realists is based upon a gross logical oversight and an incomplete realisation of the implications of the term 'immediate' or 'direct.'

Here a charge may be lavished against the Jaina logicians. It can be said that the Jaina view is highly sophisticated as it relegates what is commonly taken to be immediate to the category of mediate knowledge. But this charge is based upon an incomplete understanding of the Jaina epistemology. The Jainas distinguish between what is really immediate (पारमार्थिक प्रत्यक्ष) and what is relatively, or commonly taken to be, immediate (साव्यवहारिक प्रत्यक्ष). Under the better class is included the ordinary perceptual knowledge which is had through the mediation of the senses. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष is further classified into इंद्रियप्रत्यक्ष and अतीन्द्रियप्रत्यक्ष which correspond respectively to the external and internal perceptions of the Naiyāyikas and others.

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, that is, ordinary senseperception is charactrised by four stages. At first we have a bare awarness of the object without any consciousness of its details and specific properties. This stage is called avagraha (अवग्रह). In the second stage, which is called iha (ईहा), there arises the attempt, the questioning to know

the particulars and specific details, its similarities with and differences from other objects. In the third stage, avāya (अवाय) "there is a definite finding of the particulars which we desired to know in the second stage. The second stage is merely an attempt to know the particulars, while the third stage consists of the ascertainment of these particulars, ईहितविशेष निर्णयोऽवायः."[1] The fourth stage, which is known as dhāraṇā (धारणा), is the last one in which we have a retention of what is ascertained in the third stage, स एव दृढ़तमाव-स्थापन्नो धारणा.

This analysis of sense perception makes it clear why the Jaina logicians regard it to be mediate in character from the absolute point of view. "As in the case of Sāmvyarakārika Protyakṣa we recognise one knowledge after another (अवग्रह, ईहा, अवाय and धारणा) there are intermediate knowledges," and hence it cannot be called *clear* knowledge for clearness means 'bereft of intermediate knowledge'. Thus clearness being the characteristic of Pratyakṣa Pramāṇa "we see that it cannot apply to Sāmvyarahārika Protyaksa where four stages of knowledge arise one after another."[2]

Pārmārthika Pratyaksa is sub-divided into Sakala (सकल) and Vikala (विकल). Under the first we have kevala-jñāna which is, in words of Dr Radhakrisnan, "omniscience unlimited by space, time and objects and free from doubt, perversity and indefiniteness" It is the result of complete destruction of all Karmas that obstruct the natural consciousness of the soul It is a state in which the soul shines in its pristine purity, under the class of *Vikala* we have Awadijñāna and Manahparyāyajñāna In these two there is a partial distruction of the Jñānāvāranīya Karmas. In Awadhi we have a direct apprehension of the objects which are too minute or too distant and obscure for ordinary perception. Manaḥparyāja is the result of destroying hatered, jealousy etc. and in this there is an immediate awareness of the thoughts and feelings of others, past and present

1. Drarya-Saṁgraha, P. 15.
2. Mr. S. C. Ghoshal's commentaries on the Parīkṣāmukham.

Mediate knowledge is distinguished from immediate knowledge by the fact that "it is not clear by itself but has to depend upon some other kind of knowledge" for its clarity and existence as well. There are five kinds of mediate knowledge: Smaraṇa (memory), Pratyabhijñāna (recognition), Tarka, Anumāna (deference), and Agama (testimony).

I shall not discuss these varieties of mediate, knowledge in this article due to lack of space. The discussion of these topics may be taken up in another article in some other issue.

HEROES OF THE JAIN LEGENDS.

By
Dr. Harisatya Bhattacharya, M.A., B.L., Ph. D.

(*Contd. from Vol XIV No. I pp 8-21*).

'Hurrah!' cried Śāmba, being well pleased at its taste, 'where have you got it?'

"The companion brought Śāmba and his followers to the Kādambari cave, where the princes drank heavily and lost their senses.

"At the foot of the hill was the sage Dvaipāyana, lost in deep meditation and unconscious of the outside world. Prince Śāmba owing to his drunken condition was unable to walk properly He, however, moved towards the sage as best as he could and pointing towards him cried out,—'Is this the man who will destroy our fair city?' Atonce, the Yādava princes, all mad with wine, ran towards him and began to kick him, throw stones at him and strike him mercilessly with weapons. Unable to bear the onslaught any longer, Dvaipāyana fell down apparently dead; the princes laughed merrily and returned to Dvārakā.

"Being informed of this sad occurrence, Krishna hastened to the forest with Balabhadra and asked for the sage's pardon, falling at his feet, In the agonies of death, Dvaipāyana, however, could not cool down his mind He died saying, 'None in Dvāraka shall escape my wrath save and except you two The penances I have so long practised shall be fuel to the fire of my vengeance. Fire shall burn — Dvārakā shall be a heap of ashes,—all shall die,—and nothing shall be spared!'

"Krishna returned with a heavy heart and proclaimed the dire determination of the dying Dvaipāyana throughout his kingdom. He, however, advised his subjects to be pious in heart and deed. The people of Dvārakā accordingly began to do acts of morality with scrupulous care and Krishna used to go to the Raivataka hill to attend to the noble teachings of the omniscient Lord Nēminātha.

"On his death, Dvaipāyana re-incarnated as a demon. He recollected his vengeful vow and came to Dvārakā At that time, however, Dvārakā was practically flooded with sentiments and acts of strict piety and the vicious demon was utterly unable to harm it in any way, in the least. Dvaipāyana, baffled in his purpose, stayed in Dvārakā for eleven long years. The Yādavas did not swerve an inch from the path of righteousness and consequently

the wicked Dvaipāyana too could not injure them during that period

"After the practice of strict self-control for eleven years, the people of Dvārakā used often to have such talks among themselves,—

'We have been practising strict self-control'

'O. our austerities are too severe to be expressed in language. We are practically anchorites practising penances.'

'Do you know any thing about Dvaipāyana ?'

'O, he died long ago.'

'He can't do any wrong to us, can he ?'

'How can he ? The severe penances that we have been practising these eleven years have destroyed all his powers.'

'Well then, what is the good of our continuing to be pious any longer ?'

'We need not be so pious now'

'It would not be bad then, if we drink a little wine from time to time.

'Certainly not'

'And supposing we eat a little meat with it,—'

'O, absolutely harmless.'

It is needless to state immorality spread in Dvārakā and thereby the wicked Dvaipāyana found an opportunity to wreak his old vengeance.

"Suddenly the city of Dvārakā was startled by supernatural visitations. Shooting of stars on all sides, rumblings of thunder in cloudless sky, earthquakes every now and them, rise of dreadful comets and stars,—what a sad day for Dvārakā ! The solar disc appeared perforated, there were showers of ashes,—and all unknown the sun and the moon were eclipsed. Loud and weird laughters were heard in houses and jackals and other wild animals began to roam in the public streets, fearless The citizens dreamt bad dreams and they found in those dreadful days the demon Dvaipāyana wandering throughout the country, accompanied by ghosts and spectres.

"Wind blew furiously. Logs of wood, dry grass and huge trees were thrown into Dvārakā by the storm. The city was practically choked with dry grass and fuel. Suddenly, there blew up a terrible fire,—a fire that could not be extinguished in any way. Soon, Dvārakā was hopelessly on fire,—people could not save themselves

even by flying away. The dreadful Dvaipāyana by dint of his demoniac powers, overwhelmed the strength of all the Yādavas and threw them into that all-devouring fire. None was spared.

"When their dear city of Dvāraka was thus in the jaws of horrible ruin, the brothers, Rāma and Krishna were making their best attempts to save Basudēva, Dēvakī and Rōhinī. Basudēva, Dēvaki and Rōhinī found sure destruction in the dreadful fire that was blazing so furiously on all sides. They cried out in bitterness,—whereupon Rāma and Krishna ran towards them and put them in a chariot as soon as possible. They hoped to save the parents in any way possible. But the demoniac powers of Dvaipāyana had already deprived the horses of all their strength and so they stood motionless. Wild fire came to devour them,—where upon Balabhadra and Krishna began to draw the car themselves Suddenly, the parts of the car broke down and it stopped. Fire surrounded Busudēva and the two brothers completely by this time and they cried out in dismay, 'O Rāma, O Krishna !' The dutiful brothers took the parent to the gates of Dvārakā somehow through the hungry fire;—so that, a little space off and they would be safe in a place outside the burning city ! Suddenly, the gates of the city were violently closed before them and there appeared the terrible Dvaipāyana in front of them ! Balabhadra took no notice of the demon and broke the gates of Dvārakā with a kick But the car would not move,—its wheels were hopelessly embedded in the earth All hopes were gone by this time and Rāma and Krishna looked a piteous look towards Dvaipāyana. The stony heart of the wretch was not softened and he addressed them,—'What ! Did I not tell you before that none would be spared except you two brothers ? Don't you know that I have sacrificed my life-long goodness and patient practice of penances,—all for this ?

"In tears, Krishna and Balabhadra approached the parents,—it was too much for them to separate themselves from their beloved father and mothers. 'Dearest sons,' said now the parents, 'go away now, let us have what is inevitable; just try to save yourselves; for, the renowned name of the Yadu family clings only to you two, now. We now find shelter in the Arhats, the Siddhas, the Sādhus and the Dharma, as proclaimed by the Arhats.' There showered down a

rain of solid fire attended with deafening sound,—and Basudēva and the mothers were burnt down to ashes in no time!

"For six months, the fair city burned,—after which it was nothing but a heap of ashes. Then there was a great flood and no trace of Dvārakā was left.

"The imperial overlord of Dvārakā was now a street-beggar. Krishna and Balabhadra now resolved to spend the remaining days of their lives under the protection of the Pāndavas, their cousins and fast friends. With great difficulty, they passed their way through a long forest. When in the Kousāmba wood, Krishna was troubled by extreme thirst. Balabhadra went in search of water; when leaving him, the heart of Balabhadra, however, was seized by some unknown fear 'Brother,' said he accordingly, 'take special care of yourself,—so long as I do not return.' 'And, O gods of the forest', prayed his perturbed son, 'be pleased to protect my brother who was once the lord of the world and the best of men! Alas! he is thirsty to-day. I go to bring water for him; save him from all dangers till I come back!'

"Balabhadra went away with a troubled heart.

"His tongue was dry in extreme thirst and Krishna fell down under a tree. He covered himself in a cloth and was soon fast asleep. Only his red feet were visible and seeing them from a far, a hunter threw a sharp arrow towards them, thinking that there was a deer there! At this terrible wound, Krishna's sleep subsided and he became restless at the dreadful pain. 'Who are you', cried he 'that killed me thus? I did not do you any harm' 'I am Jarā-kumāra', said the anxious hunter, 'Son of Basudēva. I have been wandering in these dreadful forests for twelve long years lest my brother Krishna be killed by me I have never seen a man come here Who are you?' 'Come, brother, come,' said Krishna in a trembling voice, 'your dwelling in the forest for the last twelve years has been fruitless' Jarā-kumāra hastened towards Krishna and fell down unconscious at what he saw. He cried out piteously when he regained his senses. The high-souled Krishna was dying fast. He consoled Jarā-kumāra and said, 'Fly brother, fly soon. There will be no end to your dangers, as soon as Balabhadra arrives here. It may be that he will kill you in anger.'

"Jarā-kumāra went away.

"Seeing that his death was near, the son of Basudēva (Krishna) mentally bowed to the Lord Nēminātha and to the Siddhas. Suddenly, there blew a hard gale which broke the limbs of Krishna mercilessly. Troubled by thirst, grief, pain and storm, Krishna thought, 'None could defeat me, yet at last the wicked Dvaipāyana is the cause of so much misfortune If I get him once, I would avenge myself fully.' So thinking, Krishna breathed his last

"When Balabhadra came to Krishna with water in a pot of lotus-leaves, he bacame almost mad in grief at the sad demise of his brother. He took him in his lap and cried,—O how bitterly! It seemed that the trees were standing still in their sympathy for him The day passed away,—Rāma sat on with the dead brother on his lap,—he wept for the whole of the night. 'Brother,' said he in tears when the day was dawning, 'look,—the sun is about to rise, Low long will you sleep? We have to pass a long way yet.'

"The poor Balabhadra lost his senses and roamed for six months with that lean, dry and decomposed corpse of Krishna on his shoulders, in forests, caverns and caves. Some times he would burst out in tears and sometimes he would dress that corpse in wild flowers

"At last a celestial being came to him and convinced him that Krishna had died, that it was impossible to revive him and that there was no use in carrying his corpse in that way. So, he performed the last rites with regard to the dead body of Krishna and took to self-contemplation The omniscient Lord Nēmi-nātha understood the state of Rāma's mind and was kind enough to send a sage to him without delay. Balabhadra was initiated into the order by him and began to practise the sacred vows. When he died, he ascended the heaven, known as the Brahma-lōka.

"In Brahma-lōka, however, the soul of Rāma—very dearly attached to his brother,—could not find peace. He began to search for Krishna. With the help of Avadhi-jnāna or clairvoyant knowledge, he saw through all places in the heavens. Nowhere, however, he could see Krishna. He turned to the worldly regions; there also, he did not find him. Sad at heart, Balabhadra began to search for

him in the infernal regions. In the first hell, in the second hell too, —Krishna was nowhere. To his great dismay, however, Balabhadra found him at last amidst the intolerable pains, in the dreadful region of the third hell In hot haste Balabhadra went down into the third hell and clasping his brother close told him, 'Now, brother, come with me,—why should you suffer so much pains ?' Krishna was now an infernal being; his body slipped from the hold of Balabhadra, although he tried to keep him. Free from the grasp of Balabhadra, the limbs of Krishna were joined again With great difficulty, Krishna recognised his brother at last. He bowed to him and told him, 'I have got to suffer the infernal pains for many thousand years. For, at the time of my death, my mind was not calm and cool but in an extremely angry mood. Lord Nēmi also had predicted long ago that I would have to suffer infernal pains for a long, long time. His words were not to be false.

"Cannot these pains of yours be mitigated in any way ?' asked Balabhadra in tears.

"My own acts" said Krishna, have made these sufferings of mine inevitable. Yet the Lord spoke of some hopes. I shall be born in the human region again after staying in this hell for a long time. Then I shall have the status of a Vaimānika god When the happy Utasarpinī time will come round again, I shall be born as the son of the king Jita-śatru I shall be a Jina or conqueror in that life and shall be called *Amama* When I shall thus be a Tīrathamkara, you will attain the final Liberation too '

"Brother', said Balabhadra, 'will the memorable acts of ours be thus effaced from the earth ?'

"I have got to stay for a long time in this horrible hell, known as Bālukā-prabhā; said Krishna, 'yet, in order to perpetuate our fame in the human world, you may give out there that Rāma and Krishna were imperishable and indestructible beings and that they could move wherever they would. People will then remember us for ever and worship us in the belief that we were really the Divine Beings. They will think that we were all-powerful Gods, the creators, the preservers and the destroyers of this universe.

"In accordance with the instructions of Krishna, Balabhadra actually had those doctrines preached among the people of this world."

—Lord Arishtanēmi P. 67-81.

× × × × × ×

Notwithstanding remarkable differences,—as we have already stated, the Krishna-story in the Jaina Purānas is essentially similar to that of the Vēdic Purānas. The appearance of the Krishna-story in the Jain sacred books shows that Krishna of the Mahābhārata may not be a purely imaginary being but that in all probability he was a historic person, a high-souled powerful monarch. The Jaina account shows that the battle of Kurukshetra has a core of actual history. It was an actual national catastrophe in ancient India,—and not a poetic imagination. Even Hiuen-Stang, who, as a foreigner, could not understand that sad event in all its details and bearings, nevertheless refers to it in these words,—

"Dharma-khetra or Kuru-khetra is extended around the metropolis Sthāneswar. In ancient times, there were two kings there. They had constant wars among them To avoid further loss of lives, they settled that some men should be selected from both sides, who would fight duels and thus decide their quarrels finally But the people on the two sides did not agree to this. One of the two kings then hit upon a plan for gaining his object. He ordered a wise Brāhmana to write a religious book which was concealed in a cave Then the king gave out that he came to know of a book in a dream;—upon which, all people went there and found out the book. On reading the book, people began to believe that salvation would be attained, if one died fighting. People got ready to fight. A terrible fight ensued and there were dead bodies, heaped like sticks. From that time onward, that battle-field has been covered with skeletons even to this day."

CONTRIBUTION OF JAINS TO KANNAḌA LANGUAGE AND LITERATURE.

By

Prof. K. G. Kundangar, M. A.

Jains are the pioneers in the making of Kannaḍa language and in the production of Kannaḍa Literature. Their work is very vast in this direction. They have touched a number of subjects such as language, literature, grammar, poetics, philosophy, commentary, politics, mathematics and science. By their sincere efforts they have left for the posterity a rich legacy of literature for the which the Kannadigas (people in Karnāṭaka) are under a deep debt of obligation. The time was favourable for them to put in more and more effort; the ruling princes had freely extended their patronage; the learned were appreciating their work, the writers were well-versed in Kannada, Sanskṛta and Prākṛta (Ardha-Māgadhi) and lastly the people were religious minded and welcomed every sort of literary production. Thus increased Jain Literature in Kannada and captured the mind of the learned and the religious in Karnāṭaka. It will be presumption on my part to take a full survey of the Jain work in this field. For, vast as their work is I cannot in my effort touch even the skirts of it. My duty in this paper will, therefore, be to take a bird's eye view of their work in Kannada language and literature upto the beginning of the fourteenth century by which time their work was complete.

Migration of Jains under the leadership of Sruta-Kevali Bhadrabahu from the north to the south and his ultimate stay at Śravaṇa-Beḷgoḷa (श्रवण बेलगोल) marks the period of the spread of Jainism in the south. They have spared no pains in the propagation of their faith in the whole of the south. But the Coḷa (चोळ) princes in the Tamiḷ (तमिल) country persecuted them and therefore Jainism did not take root there. On the other hand the ruling princes of Ganga, Cālukya, Rāṣṭrakūṭa Kadamba, Hoysala and other dynasties in Karnāṭaka were sympathetic to all faiths and therefore they could easily take root and grow.

In propagating their faith and religion Jains like the Christians had made Kannada the medium of preaching for the better understanding of the tenets by the people. Buddhists also may have taken to the same recourse in the propagation of their religion For, the inscriptions of Aśoka (अशोक) and Buddhist vihāras (विहार) have been found in Karnātaka. But their literature in Kannaḍa has not been traced so far. From the fourth century B. C the advent of Jainism in the South down to the middle of the fourth century Kannaḍa language was not sufficiently developed as is evidenced by the inscription at Hālmidi (हाल्मिडि) It was not suited to preaching and writing. Jains had therefore to enrich it by borrowing words from Sanskṛta and Prākṛta. On the other hand they received into Prākṛta some Kannaḍa words under the name Deśi and they are given in Deśi-nāma-māla and Paiya-lacchi-nāma-mālā. Since this time Kannaḍa words have been ground-under three hands Tatsama, Tadbhava and Deśya. Tatsama words are pure Sanskṛta words and been current as if they were Kannaḍa ones For example :—कमल, कुसुम, कलि, वीर, बाल, काव्य, वृत्त, पत्र, पाद, दन्त, पक्षि, लोह, आसन, नाटक, देव, पुरुष, संगम, चक्र, बाण, मोक्ष etc. Not that Kannaḍa had no equivalents for these but to suit the campu style and diction they gave a currency to such words Tadbhavas are Sanskṛta words deformed in accordance with Prākṛta phonetic system and made current into Kannaḍa For example :—

Sanskṛta	Tadbhava	Sanskṛta	Tadbhava
क्रकच	करगस	श्री	सिरि
अर्ह्	अरुह्	रत्न	रतुन
अघ	अग्ग	वैशाख	बेसगे
स्थापन	तापणे	गाथा	गाहे
भिक्षा	बिक्के	प्रक्षाल	पक्खाळ
क्षेपण	केवण	शष्कुलि	चक्कुलि
नतका	नधणि	बिल्वपत्र	बेल्लवत्त
लेप्य	लेप्प	अन्याय	अन्नेय
प्रकृत	पागद	संस्कृत	सक्कद
कौपीन	कोवण	चक्रद्वार	चंकवार
चरुक	सरुग	अग्नि	अग्गि
व्यवहार	वेहार	चर्मकार	सम्मगार
कस्तूरि	कत्तुरि	कुस्तुंबुरु	कोत्तुंबरि

Sanskṛta	Tadbhava	Sanskṛta	Tadbhava
भांडागार	भंडार	मार्जार	मंजर
आर्य	अज्ज	यज्ञ	जन्न
त्वरित	तुरिह	अमृत	अमर्दु
शुक्ति	सुत्ति	सत्वर	चबर

Names also have been corrupted. For Example :—

Sanskṛta	Apabhraṁśa	Sanskṛta	Apabhraṁśa
दुर्योधन	दुज्जोधन	विद्याधर	बिज्जोदर
ब्रह्म	बम्म, बोम्म	यशोदा	जसोये
सौराष्ट्र	सोरठ	इंद्र	इंदिर
शशी	ससि	सरस्वती	सरसति

The following words are noteworthy —

Sanskṛta	Tadbhava	Deśya	Sanskṛta	Tadbhava	Deśya
आकाश	आगम	बान	परशु	परसु	कोडलि
पशु	पसु	आकळ्	शशी	ससि	लिगळ्, पेरे
तारा	तारे	अरिल	शीत	सीत	कोडु, कुळिर
औषध	ओसद	मर्दु	भाषा	बासे	मातु
व्याध	बिपद	बेड	लटभ	लटह	चडंगु
भ्रमर	बमर	तुंबि	वृद्धि	वड्डि	पेडपु
मृत्यु	मिळ्तु	बदु	व्याघ्र	बग्ग	पुलि

They also coined such words as .—

अगल (dish), भावरि (muni-bhikṣā), मेल् mel (eat), edevāḍu एडेवाडु (to take exercise), नडेपाडु (walking), तीरमे (completion) इल्लमे (nothing), तीर्के (completion, end) असियेरुकार (spy,) अगामियिले (harlot), कोल्लार (cow, cattle), तवग (raised-ground), वाड (vegetable), संबल (provision for journey), हेरिग (spy), अक्कुमे (indigestion), उडिगे (seal), एळिदिके (derision) ओळ्गु (secret), कडिकु (piece), नेनवि (memory), पसवु (famine), बय्के (deposit), मन्देवाल (intimacy), मुरव (a particle), मोसनि (harlot), मोदल् (sum, capital), रंदवणिग (a cook) etc Some of these words are current even now among Jains in Karnāṭaka They have freely used Sanskṛta technical words in Jaina philosophy to make them better understood by all.

They did not stop with the formation and coinage of words but gave to Kannada grammar also a tinge of Sanskṛta form The introduction of Sanskṛta alphabet, teriminology, the seven oblique cases, the relative pronouns, compounds, sati-saptami, the passive voice

etc. are due to the efforts of the Jains. This effort on their part has misled many a linguist to consider that the Kannada language is derived from Sanskṛta.

The Jains have also used the metres common to Sanskṛta and Prākṛta prosody. They have occasionally used such Dravidian metres as षट्पदि, त्रिपदि, रगळे, अक्कर etc. in their poetical works. So much for the development of the language to suit their purpose in the propagation of the religion.

Turning to the literary side one's attention is at once drawn to fact that the Kannada Jain poets and writers have invariably made mention of three great poet saints समंतभद्र, कवि परमेश्वर and पूज्यपाद. No-body knows whether these three have written any books in Kannada. But ancient Kannada commentaries have been found on the Sanskṛta and Prākṛta works of Samantabhadra. Śrivardhadeva, (श्रीवर्धदेव) also known as Tumbalūr-ācārya (तुंबलूराचार्य) (about 650 A. D.) is said to have been the author of चूडामणि a com-mentary on तत्त्वार्थमहाशास्त्र, शाम कुंदाचार्य a contemporary of श्रीवर्धदेव is said to have written Prābhṛta (प्राभृत) in Kannada This means that the language was by this time sufficiently developed to enable the authors to write philosophic works in it The श्रवणबेलगोल Inscrip tions with Nos. 27, 76 and 88 and the Bādāmi one (Indian Antiquary Vol. X P. 61) all of 700 A D bear evidence to show that the language was by that time fully developed to be fit for poetic expression. For, of these four inscriptions one is in शार्दूलविक्रीडित, two in मत्तेभविक्रीडित and the fourth in त्रिपदि metre It is not necessary for the purpose of this paper to find out when poetry was first composed in Kanada. But suffice it to say that it was the privilege of the Jains to have composed these four inscriptions. From this period onwards down to नृप तुंगदेव (814-877 A. D.) an important राष्ट्रकूट emperor, no Kannada work have so far been traced. That emperor in his कविराजमार्ग a work on poetics makes mention of some important Kannada prose and poetry writers of whom he is so very proud. For his subject matter the author of कविराजमार्ग mainly depends on काव्यलंकार of भामह and काव्यादर्श of दंडी, differing from them whenever possible to suit the language and poetry. His उत्तर and दक्षिणमार्ग mark the beginning of the study of linguistics in Kannada. From 877 to 940 apparently there seems to be a lull

in the literary production. For, no works and authors of this period have been noticed till now. But recent researches have brought to light two authors of note belonging to this period. One is Guṇavarma and the other is Nemicandra. The former is said to have been the author of हरिवंशपुराण and शूद्रक verses from the latter of which have been quoted in काव्यसार of अभिनववादि विद्यानंद a poetic anthology. Nemicandra has written a commentary on नीतिवाक्यामृतम् of सोमदेव in Kannaḍa.

Then we approach an important period of Jain literary production. The authors, their dates and their works are given in the following table.

Name of the author	Approximate date	Works
Pampa (पंप)	940	आदिपुराण, भारत
Poona (पोन्न)	950	शांतिपुराण, जिनाक्षरमाले
Cavundarāya (चावुंडराय)	978	त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण
Ranna (रन्न)	993	अजितपुराण, गदायुद्ध

पंप, पोन्न and रन्न are the preeminent poets of their times. Their poetic skill, their fancy and imagination, their master mind, and their power of expression have captivated and held spell bound the minds of Kannada readers to this day. Nāgacandra (नागचंद्र) a poet at the beginning of the twelfth-century has assumed the title अभिनवपंप from the popularity of Pampa and his works. Their style is high pitched to suit campu form Ponna is superb in his style as is Bāna (बाण) in Sanskṛta. Ranna is as modern in his delineation of characters and depicting sentiments तीर्थंकरपुराण and have in them a curious combination of शृंगाररस and शांतरस. In the भवावलि which forms nearly and sometimes even more than half of the works depicts शृंगाररस, whereas in the latter portion शांतरस is predominant. Other rasas support these two according to the requisites of the story. The philosophy is so very neatly and appropriately interwoven that one is not able to separate the unmixed story from it Beauty of Jain purānas lies in this harmonious blending of the two. For this very reason they defy every attempt of scholars to abridge them. Attempts have been made by Kannaḍa scholars to abridge lengthy poetical works for the use of students reading in Universities. They have not been successful in trying a hand at Jain works.

The modern principles of criticism cannot be applied to them inasmuch as the ideal of life was quite different in those days. Enjoyment, mental peace, and final beatitude were the only predominant factors in life and our poets have been successful in depicting them. Over and above this the Jain writers and poets have specialised themselves in painting tragic characters. Karna (कर्ण) of Pampa, Damitāri (दमितारि) of Ponna and Duryodhana (दुर्योधन) of Ranna are the examples of this art. They were poets of high order. With the lapse of a thousands years their works are as new. For their excellence they were patronised by चालुक्य and राष्ट्रकूट emperors and were given high sounding titles as कविचक्रवर्ति etc. चावुंडराय the author of त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराण has borrowed the subject matter of his work from पूर्वपुराण and उत्तरपुराण of Jinasenācārya जिनसेनाचार्य and his disciple Guṇabhadrācārya गुणभद्राचार्य respectively, and is found to quote some verses from त्रिषष्ठिशलाकापुरुषपुराण of कविपरमेश्वर. He was not only a literary artist but a soldier, a statesman and a great builder. He was the prime minister and commander in chief in the reign of गंग king राचमल्ल. On the other hand he has got such titles as सम्यक्त्वरत्नाकर for his truthfulness and self sacrifice. Śri Bāhubali श्रीबाहुबलि image at श्रवणबेलगोल was a work of his construction His त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराण occupies a pre-eminent position as the first prose work in Kannaḍa literature. Another prose work of the same period is really a piece of literary art. The work goes by the name वड्डाराधने. Some say its author is रेवाकोट्याचार्य, some say it is शिवकोट्याचार्य and there are others who say that the author is unknown. The controversy need not be tackled here The work contains short stories meant to convince people about the excellence of Jainism Though modern technique of short story cannot be applied for its critical estimation it has got all the excellences of जातककथा, देवी आराधना, धूर्ताख्यान etc. It is very unfortunate that Kannaḍigas (कन्नडिग) have been deprived of the knowledge of the life of such a great writer in their language

We now come to two important poets of the beginning of the eleventh century namely Nāgacandra (नागचंद्र) known as अभिनवपंप and कंति a poetess. Nāgacandra had the titles भारतीकर्णपूर, कवितामनोहर साहित्यविद्याधर, चतुरकविजनास्थानरत्नप्रदीप, साहित्यसर्वज्ञ, सूक्तिमुक्तावतंस etc. These high sounding titles speak of his greatness as a poet. In his

Rāmāyaṇa he has followed पउम चरियम् of विमलसूरि. It is strange for a दिगम्बर Jain नागचंद्र to have followed a श्वेतांबर Jain poet. In this work the tragic character of रावण has been depicted with great skill, and psychological effect. The रामायण is an outstanding work of the time. He built a temple to Mallinātha Jina at Bijapur (विजयपुर) and wrote his Mallinātha-purāṇa (मल्लिनाथपुराण) Nāgacandra himself has admitted the poetical superiority of कंति. A work known as कंतिहंपरसमस्ये is available. Beyond this it is not known what books have been written by her.

The other poets of note and outstanding merit, their date and works are given in the table below :

Poets	Date	Works	
कर्णपार्य	1140	नेमिनाथपुराण	(Poetry)
नेमिचंद्र	1170	लीलावति, अर्धनेमिपुराण	"
अगाळ	1189	चंद्रप्रभपुराण	"
बंधुवर्म	1200	हरिवंशाभ्युदय, जीवसंबोधने	"
आचण्ण	1195	वर्धमानपुराण	"
पार्श्वपंडित	1205	पार्श्वनाथपुराण	"
जन्न	1209	अनंतनाथपुराण, यशोधर चरिते	"
शिशुमायण	1233	त्रिपुरदहनसांगत्य, अंजनाचरिते	"
गुणवर्म	1235	पुष्पदंतपुराण, चंद्रनाथाष्टक	"
कमलभव	"	शान्तीश्वरपुराण	"
अंडय्य	"	कब्बिगर काव	"
कुमुदेन्दु	1275	रामायण (षट्पदि)	
हस्तिमल्ल	1290	आदिपुराण (Prose)	

Karṇapārya flourished in Kolhapur territory under the patronage of Śilāhāra (शिलाहार) गंडरादित्य. His work नेमिनाथपुराण a चंपूकाव्य is classical work of outstanding merit. Nemicandra's लीलावति is a fiction. शृंगार is the predominant रस Though the story is very short the work has enormously increased by lengthy descriptions of scenes and sentiments. But he is true to his principle that a poet notices what is impossible for the sun to see and a poet's power of creation is unsurpassing and unlimited. Such a critic and a poet must be a man of great merit and achievements. The titles कलाकांत, शृंगारकारागृह, विद्यावधूवल्लभ, सुकविकंठाभरण, भारती-चित्त-चोर, चतुर्भाषा-कवि-चक्रवर्त्ति etc. he bears are befitting his merits and poetical skill. His नेमिनाथपुराण is unfinished बंधुवर्म, आचण्ण, पार्श्वपंडित, गुणवर्म and

कमलभव are poets of equal merit. In both of his works Janna जन्न not shown any play of imagination as has been expressed by himself, but has tried with success at simplicity. His यशोधरचरिते preaching as it does अहिंसा will always remain a real work of art treating secular as well as religious side of the subject. Both of his works are famous as classic of great merit. It is no wonder therefore if the ruling prince of Hoysala Yādava (होय्सळ-यादव) dynasty were to decorate him with the title कविचक्रवर्तिःसाहित्यरत्नाकर, विनेयजनमुखतिलक, राजविद्वत्सभाकलहंस, कविवृंदारकवासव etc. are his other titles.

Anḍayya (अंडय्य) has written a mythical story of कामदहन in the form of a खंडकाव्य. He has given it the colour of a fiction. This short poem has brought to him all the fame of a great poet. It evinces his love and zeal for his language and country.

शिशुमायण and केमुदेन्दु have gone out of the way and taken to Sāngatya (सांगत्य) and Ṣaṭpadi (षट्पदि) metres to suit the popular taste and to tone down the high flown Campu (चंपु) style with a clear idea of bringing pauranic literature within the reach of the popular understanding.

All the poets mentioned in the above table were masters of three languages Sanskṛta Prākṛta and Kannaḍa and as such wrote to please the pandits only. Their writings were full of Sanskṛta words A complaint that Kannaḍa poetical works cannot be composed without the use of Sanskṛta words was lodged at the door .of the poets. Anḍayya took up the challenge and wrote in pure Kannaḍa His attempt may have been praiseworthy. But the ardent desire of the general public to know and learn was not satisfied by any of these classical poets and writers. The neglect of the general public kindled a fire which remained smouldering for a long time untill at last it broke out in the form of religious and literary revolution after the middle of the twelfth century. It was led by बसव who established वीरशैव faith and preached his philosophy in his sayings (वचन) written in simple style to be understood by all. The signs of the revolution were noticed by the classical writers as is hinted at by नयसेन in his धर्मामृत about 1112 A. D. He revolted against the Sanskṛtised style and wrote his own work in pure and simple Kannḍa. Knowing this state of things they did not follow any pre-

meditated plan to avert the calamity and to meet the popular demand but left it to its own fate which ultimately proved detrimental to the interest of the Jains and their religion. However, individual writers had to face this and bring round the public to put faith in Jainism by their propagandistic works The poets and writers working in this field and their works are given in the table below :

Poets	Date	Works
ब्रह्मशिव	1 25	समयपरीक्षे, त्रैलोक्यचूडामणिस्तोत्र
वीरनन्दि	1153	आचारसार and its commentary in Kannada
वृत्तविलास	1170	Commentaries to प्राभृतत्रय, तत्त्वार्थ and परमात्मप्रकाशिके
माघनन्दि	1260	शास्त्रसारसमुच्चय
नागराज	1300	पुण्यास्त्रव
कनकचंद्र	1500	Commentary to मोक्षप्राभृत of कौंडकुंदाचार्य

Brahmaśiva's समयपरीक्षे contains the treatment of आप्तागम and अनाप्तागम धर्म. He further points out the defects occurring in Hindu Purāṇas and Dharma-śāstras and proves that Jainism is the best religion. But his work is in classical campu (चंपु) form It was not therefore fit to appeal to the popular mind It was overshooting its mark. Vṛttavilāsa's (वृत्तविलास) धर्मपरीक्षे also is of the same type. It is the rendering of (संस्कृत) धर्मपरीक्षे of अमितगति into Kannḍa and चंपु form.

Māghanandi's (माघनन्दि) शास्त्रसारसमुच्चय treats the Jain philosophy in details. It is in the form of (संस्कृत) सूत्रs and Kannaḍa commentary copiously illustrated from Kannaḍa Jain puranas especially from आदिपुराण of पंप.

These sporadic efforts were not sufficient to meet the popular demand and to quench their thirst for knowledge. For, language and literature must move on with the time They must change day by day, otherwise they will stagnate. This principle was not taken notice of by the lovers of classical literature such as मल्लिकार्जुन 1245, नागवर्म II 1145 and केशिराज 1260 To impress the beauty of classical literature on the popular mind मल्लिकार्जुन prepared his सूक्तिसुधार्णव an anthology selecting beautiful portions from classical works of poets irrespective of their religious faith This also was not sufficient to convince the public नागवर्म has written his काव्यावलोकन treating therein grammar, alankāras rasas and poetic conventions and केशिराज

in his शब्दमणिदर्पण has amplified the grammatic portion. This शब्दमणिदर्पण has been a standard Kannada grammar to this day. The efforts of all these were of no avail. For, within a period of a hundred years after them षट्पदि age of simpler style and language was ushered in and चंपु lost its ground.

The authors on scientific subjects, their dates and works have been given in the following tables:

Author	Date	Works
श्रीधराचार्य	1049	जातकतिलक, a work on फलितज्योतिष
राजादित्य	1120	व्यवहारगणित, क्षेत्रगणित, लीलावति, चित्रहसुगे, जैनगणितसूत्रटीकोदाहरण—all mathematical works
कीर्तिवर्म	1125	गोवैद्य
जगद्दळसोमनाथ	1150	कर्णाटक-कल्याणकारक—a rendering of पूज्यपाद's कल्याणकारक
रट्टकवि	1300	रट्टमत, a work on फलितज्योतिष Some of these are in चंपु form.

I request the readers not to misunderstand me by the mention of a few authors and saying too much about them. I request them to believe that I have selected some representative authors from each group to serve the purpose of this short paper The number of poets and writers upto the end of the thirteenth century is very large and therefore I had to take recourse to this method of selection

From what has been said it is clear that Jains have built up and enriched the Kannada language They have supplied to the Kannada reading public classical poetry, fiction, short-story, works on philosophy and science for every day use They have neglected drama. But the dramatic merit and skill can be noticed in गदायुद्ध etc They were fond of fine arts such as music, dancing, sculpture architecture and painting as can be noticed in all their purāṇas. In short They have left for us Kannadigas a rich legacy of literary and scientific works of which each one is proud

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ५) और विदेश के लिये ५॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख टिप्पणी आदि को पूर्णत: अथवा अंशत: स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैनधर्म की उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं:—

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम ए., डी. लिट्.

प्रो० सी० खुशाल जैन एम० ए०, साहित्याचार्य

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD. ARRAH.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १६ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol XV No 1

Edited by

Prof A N Upadhya, M. A., D Litt

Prof G. Khushal Jain M A Sahityacharya

B Kamata Prasad Jain, M R A S, D L

Pt Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY

(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)

Inland Rs 3 Foreign 4s. 8d Single Copy Rs. 1/8.

JUNE, 1949.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १६ | जून १९४९ | किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.
प्रोफेसर गो० खुशाल जैन एम. ए., साहित्याचार्य
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.
पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) | विदेश में ३।) | एक प्रति का १।।)

विषय-सूची

श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १६ | जून १९४९। ज्येष्ठ, वीर नि० स० २४७५ | किरण १

पंचस्तूपान्वय

[ले०—प्रो० आ० ने० उपाध्ये एम० ए०, डी० लिट्, कोल्हापुर]

जन मुनियों के नाम निर्देशों के साथ कभी कभी संघ, गण, गच्छ, अन्वय, संभोग, शाखा और वलय इत्यादिकों का निर्देश रहता है। इन शब्दों का निश्चित अर्थ क्या था, इन समूहों का परस्पर क्या सम्बन्ध था, और ये विशिष्ट शब्द[1] किस दृष्टि से रखे गये थे, इत्यादि प्रश्न अभी विचारणीय ही है। इसमें संदेह नहीं है कि, ये विभाग मुख्यतया मुनिगण के साथ सम्बद्ध थे। श्रावकों के साथ उनका सम्बन्ध शायद बहुत दूर ही से था। कर्मसिद्धान्त के बड़े विद्वान् वीरसेन ने अपनी धवला टीका शक ७३८ या ई० स० ८१६ में समाप्त की थी। उन्होंने अपने अन्वय का नाम 'पचस्तूपान्वय'[2] दिया है। इस अन्वय के बारे में हमें जो कुछ बातें ज्ञात होती है, उन सभीको एकत्रित करना और इस परसे ऐतिहासिक दृष्टि से कौन-सा प्रकाश मिलता है, इन बातों का विचार करना यही इस निबन्ध का उद्देश्य है।

गुप्त सं० १५९ या ई० स० ४७९ में खुदे हुए पहाड़पुर (जि० राजशाही, बंगाल)

१ इस तरह के अभ्यास के लिये शिलालेखों मे और वाङ्मय में खूब मसाला मिलता है। देखो, गेरेनो—रिपोर्त्वायर एपिग्राफिये जैन, पेरिस १९०८, प्रस्तावना पृ० ३५-६८, उपाध्ये—यापनीयसंघ, जर्नल आफ दी युनिव्हर्सिटी आफ बॉंबे १, ६, मे। १९३३

२ षट्खण्डागम, भाग १, प्रस्तावना पृ० ३६ इ०, अमरावती १९३९.

के ताम्रपत्रों में[३] पचस्तूप निकाय का उल्लेख दो बार आया है। वह लेखांश इस प्रकार है[४]—

युष्माकमिहाधिष्ठानाधिकरणे द्वि दीनारिक्क्य-कुल्य-वापेन शश्वत्कालोपभोग्याक्षयनीवी-समुदयबाह्यापतिकरखिलक्षेत्रवास्तु-विक्रयो (ऽ*) नुवृत्तस्तदर्हथानेनैव क्रमेणावयोस्सकाशा-द्दीनारत्रयमुपसङ्गृह्यावयो (*) स्व-पुण्याप्यायनाय वटगोहाल्यामवास्याङ्काशिक-पञ्चस्तूप-निकायिक-निग्रन्थ श्रमणाचार्य-गुहनन्दि-शिष्यप्रशिष्याधिष्ठित-विहारे भगवतामर्हतां गन्ध-धूप-सुमनो-दीपाद्यर्थन्तलवाटक-निमित्तञ्च अ (त *) एव वटगोहालीतो वास्तु-द्रोणवापमध्यर्द्धं जम्बुदे-वप्रावेश्यपृष्ठिमपोत्तके क्षेत्र द्रोणवाप-चतुष्टय गोषाटपुञ्जा-द्रोणवापचतुष्टयम् मूलनागिरट्ट-प्रावेश्य-नित्वगोहालीत: अर्द्ध त्रिकद्रोणवापानित्येवमध्यर्द्धं क्षेत्र-कुल्यवापमक्षयनीव्या दातुमि [ति] [।*] यत. प्रथमपुस्तपालदिवाकरनन्दि-पुस्तपालधृतिविष्णु-विरोचन-रामदास हरिदास-शशिनन्दि [सु] प्रभ-मनुद [त्ताना] मवधारणयावधृतम अस्त्यस्मदधिष्ठानाधिकरणे द्वि-दीनारिक्क्य कुल्यवापेन शाश्वत्कालोपभोग्याक्षयनीवी-समुदयबाह्याप्रतिकर-[खिल*] क्षेत्रवास्तु-विक्रयो (ऽ*) नुवृत्तस्तद्युष्मान्ब्राह्मण-नाथशर्म्मा एतद्भार्य्या रामी च पलाशाट्ट-पार्श्विक-वटगोहाली-स्था [य] [काशि*] क पञ्चस्तूपकुलनिका-यिक-आचार्य्य-निग्रन्थ-गुहनन्दि-शिष्यप्रशिष्याधिष्ठितसद्विहारे अरहतां गन्ध [धूपा] द्युपयोगाय [तल-वा] टक-निमि-त्तञ्च तत्रैव वटगोहाल्यां वास्तु द्रोणवापमध्यर्द्धं क्षेत्रञ्जम्बुदेव- प्रावेश्य-पृष्ठिमपोत्तके द्रोणवाप-चतुष्टयं गोषाटपुञ्जा द्रोणवाप-चतुष्टय मूलनागिरट्ट-प्रावेश्य-नित्वगोहालीतो द्रोणवाप-द्वयमाढवा [प द्व] याधिकमित्येवमध्यर्द्धं क्षेत्रकुल्य-वापम्प्रार्थयते (ऽ*) त्र न कश्चिद्विरोध: गुणस्तु यत्परम भट्टारक पादानामर्थोपचयो धर्म्म षड्भागाप्यायनञ्च भवति [।*]

इस पत्र से ज्ञात होता है कि, वटगोहाली के विहार के अधिष्ठाता गुहनन्दी आचार्य के शिष्य तथा प्रशिष्य थे। 'निग्रन्थ श्रमणाचार्य' या 'आचार्य निग्रन्थ' गुहनन्दीका विशेषण है। वे पचस्तूप (कुल) निकाय के थे, और शायद काशी से उनका कुछ सम्बन्ध था। यह भी सूचित किया गया है कि, पचस्तूप यह एक स्थान का नाम है। शायद वह आधुनिक पाचथूपी होगा। 'काशिक' यह पाठ अनिश्चित है। इसलिये पंचस्तूप निकाय का सम्बन्ध काशी से जुटाना यह तर्कमात्र ही है।

श्रवणबेल्गोल में[५] एक त्रुटित शिलालेख मिलता है। इसका काल लगभग शक

३ पुण्ड्रवर्धन प्रान्तका मुख्य स्थान था, वहाँ से यह लेख प्रचारित किया गया है। शायद वह बगाल के बोग्रा जिलेका महास्थान होगा।

४ के० एन्० दीक्षित—एपिग्राफिया इंडिका, २०, पृ० ६१ इ० यहाँ शिलालेखका मूल (पंक्ति ४-१७) सिलेक्टइन्स्क्रिप्शन भाग १, पृ० ३४६-४९, परसे दिया गया है।

५ एपिग्रेफिया कर्नाटिका २, नं० ७५, पृ० ३८ (मूल), ४०-४१ (भाषांतर) इ० उपवासपर यह विशेषण है। किसी व्यक्ति का नाम नहीं है।

५७२ या ई० स० ६५० निर्णीत किया गया है। वह अंकित शिलालेख इस प्रकार है—

समास्तूपान्व..... स-कले ....गद्गुरुः।
ख्यातो वृषभनन्दीति तपो-ज्ञानाब्धि-पारगः॥
अन्तेवासी च तस्यासीदुपवासपरो गुरुः।
विद्या-सलिल-निर्धूत-शेमुषीको जितेन्द्रियः॥
···स · ततपो···तपसैर्योग-प्रभावोऽस्य तु
वन्द्योऽनाहित-कामनो निरुपमः ख्यात्या स ना।
द्रष्टा ज्ञानविलोचनेन महता स्वायुष्यमेवं पुनः
पू ..गृहं गुरुरसौ यो ...स्थित...वशः॥
· कटवप्र शैल-शिखरे सन्यस्य शास्त्रक्रमात्
ध्यान...दा...मणिमुखे प्रक्षिप्य कर्म्मेन्धनं।
···दिव्य-सुखं प्रशस्तकर्धिया सम्प्राप्य सर्व्वेश्वर-
ज्ञानं .. न्तमिदं किमत्र तपसा सर्वं सुखं प्राप्यते॥

इसमें कोई सदेह नहीं है कि, समास्तूपान्व . इ पढ़े हुए पाठ 'पचस्तूपान्वय' ऐसे ही होने चाहिये। अक्षर अस्पष्ट होने से वे भूल से 'समास्तुपान्वय' पढे गये है।

इसके बाद ई० स० ७१६ में समाप्त की हुई अपनी धवला[६] टीका में वीरसेनाचार्य पचस्तूपान्वय का इस तरह निर्देश करते है—

अज्जज्जणंदिसिस्सेणुज्जुव-कम्मस्स चंदसेणस्स।
तह णत्तुवेण पंचत्थूहण्णय भाणुणा मुणिणा॥४
सिद्धंतछंदजोइसवायरणपमाणसत्थणिवुणेण।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण॥५॥

वीरसेनाचार्य के शिष्य जिनसेनाचार्य शक ७५९ या ई० स० ७३७ में समाप्त की हुई अपनी जयधवला टीका में अपने गुरु वीरसेन के पचस्तूपान्वय का निर्देश इस तरह करते हैं[७]—

यस्तपोदीप्तकिरणैर्भव्याम्भोजानि बोधयन्।
व्यद्योतिष्ट मुनीनेनः पञ्चस्तूपान्वयाम्बरे॥२५॥

---

६ षट्खण्डागम, अमरावती १९३९, प्रस्तावना पृ० ३५-३६, प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४९७ इ०

७ उपरोक्त पृ० ३७; कसायपाहुड भा० १ प्रस्तावना पृ० ६९-७०

प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य यः शिष्योऽप्यार्यनन्दिनाम् ।
कुलं गणं च संतानं स्वगुणैरुदजिज्वलत् ॥२६॥
तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेनः समिद्धधीः ।
अविद्धावपि यत्कर्णौ विद्धौ ज्ञानशलाकया ॥२७॥

शक सं० ८२० या ई० स० ८९८ के पूर्व ही में गुणभद्र ने अपना महापुराण,[८] जो कि जिनसेन ने अधूरा छोड़ा था, पूर्ण किया है। इसमें उन्होंने पंचस्तूपान्वय का कुछ भी उल्लेख नहीं किया है, किन्तु स्पष्टतया वीरसेन और जिनसेन दोनों ही को मूलसंघ सेनान्वय मे निगडित किया है।

मूलसंघवाराशौ मणीनामिव सर्चिषाम् ।
महापुरुषरत्नानां स्थानं सेनान्वयोऽजनि ॥२
तत्र वित्रासिताशेषप्रवादिमदवारणः ।
वीरसेनाग्रणीर्वीरसेनभट्टारको बभौ ॥३
अभवदिव हिमाद्रेर्देवसिन्धुप्रवाहो
ध्वनिरिव सकलज्ञात्सर्वशास्त्रैकमूर्तिः ।
उदयगिरितटाद्वा भास्करो भासमानो
मुनिरनु जिनसेनो वीरसेनादमुष्मात् ॥८

इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में[९] संघादिकों के बारे में कुछ वृत्तांत दिया है। पंचस्तूपान्वय के बारे में उनका कहना विचारणीय है।

(अ) पुण्ड्रवर्धन के[१०] अर्हद्बलीने पंचस्तूप्य निवास से आनेवाले कुछ मुनियों के नाम सेनान्त और कुछ के भद्रान्त रख दिये।

पञ्चस्तूप्यनिवासादुपगता येऽनगारिणस्तेषु ।
काँश्चित्सेनाभिख्यान् काँश्चिद्भद्राभिधानकरोत् ॥९३

(ब) इन्द्रनन्दीने नीचे दिये हुए श्लोक उक्तं च रूप से उल्लिखित किये हैं। शायद वे श्लोक प्राचीन होंगे, और उनपर उनका अभिप्राय आधारित होगा।

---

८ उत्तरपुराण पृ० ७५४-७५५, कलकत्ता स० १९७५.

९ देखो तत्त्वानुशासनादिसंग्रह मा० दि० जै० ग्र० नं० १३ पृ० ७४-८९, मुंबई सं०१९७५

१० पंचस्तूपका सब से प्राचीन उल्लेख हिंदुस्तान के पूर्व प्रदेश में मिलता है। और अर्हद्बली भी उसी प्रदेश के हैं। अर्हद्बलीका जन्म पुण्ड्रवर्धन में हुआ था और उसी जगह से यह ताम्रपत्र प्रचारित हुआ है।

आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटाद्
देवाश्चान्योऽपराद्दिजित इति, यतिपौ सेनभद्राह्वयौ च ।
पञ्चस्तूप्यात्, सगुप्तौ गुणधरवृषभः शाल्मलीवृक्षमूलात्,
निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात् ॥९६

(क) इन्द्रनन्दी और भी एक मत की ओर निर्देश करते हैं। शायद वह अधिक प्राचीन होगा।

अन्ये जगुर्गुहाया विनिर्गता नन्दिनो महात्मानः ।
देवाश्चाशोकवनात् पञ्चस्तूप्यास्ततः सेनः ॥९७

(ड) और भी एक श्लोक में पञ्चस्तूप्यका निर्देश किया गया है; लेकिन इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता है—

पञ्चस्तूप्यास्तु सेनानां वीराणां शाल्मलीद्रुमः ।
खण्डकेसरनामा च भद्रः सिंहोऽस्य संमतः ॥१००

इन्द्रनन्दीका काल विक्रम सवत् की ग्यारहवीं सदी माना गया है। वे जिनसेन और शायद गुणभद्र से भी पीछे हुए है। उनके श्लोक पर से एक बात स्पष्ट होती है कि, सेनान्त या भद्रान्त नामवाले मुनियोंका सम्बन्ध साम्प्रदायिक रीत्या पञ्चस्तूप से निगडित किया जा रहा था।

जहाँतक हम जानते है, पञ्चस्तूपान्वयका उल्लेख पहली बार पहाडपुर के लेख में आता है। और अन्तिम उल्लेख श्रुतावतार में मिलता है। शायद यह अन्वय मूलतः उत्तर देश में प्रचलित होगा। ई० स० ४७९ में वह प्रसिद्ध था। और ज्ञात मुनियों में गुहनन्दी ही उस अन्वय के पहले मुनि थे। बाद ईसा की सातमी सदी के मध्य में इस अन्वय के मुनिलोगों ने दक्षिण देश में भी विहार किया। उन्हीं में से वृषभनन्दी के एक शिष्य का श्रवणबेलगोल में सल्लेखना विधि से देहान्त हुआ। ई० स० ७१६ में वीरसेन अपना वर्णन 'पञ्चस्तूपान्वय भानु' ऐसा करते हैं। इनके गुरुका नाम आर्यनन्दी था, और दादागुरुका नाम चन्द्रसेन था। मिले हुए साधनों से यह मालूम होता है कि वीरसेन के बाद 'पचस्तूपान्वय' की जगह 'सेनान्वय' नाम प्रचलित हुआ। हम देखते भी हैं कि, गुणभद्र ने सिर्फ जिनसेन ही का नहीं वीरसेनका भी सेनान्वय के नाम से उल्लेख किया है। इसमें कुछ आश्चर्य नही कि, गुणभद्र के बाद के इन्द्रनन्दीने सेनान्त और भद्रान्त दोनों ही नाम पंचस्तूपान्वय से सम्बन्धित किये हों। प्राचीन उल्लेखों पर से पंचस्तूपान्वय के मुनियों के नाम मुख्यतया नन्द्यन्त ही मालूम पड़ते हैं।

धवला टीका पर से यह स्पष्ट विदित होता है कि, वीरसेनाचार्य सिद्धान्त के अद्वितीय विद्वान् थे। वे आर्यनन्दी के शिष्य थे। यह बात विदित ही है कि, दक्षिण से आये हुए

दो शिष्योंको गिरनार में रहनेवाले धरसेनाचार्य ने सिद्धान्त का ज्ञान वितरण किया। धरसेनका नाम सेनान्त है; लेकिन उनके अन्वयका हमें कुछ भी पता नहीं है। सिद्धान्त ज्ञान के संरक्षण और संपदान में पंचस्तूपान्वयके मुनियोंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है; ऐसा मालूम होता है।

उपलब्ध शिलालेख देखने पर यह मालूम होता है कि, ई० स० ९०३ के[११] मुलगुन्द शिलालेख में प्रथम बार सेनगण का उल्लेख मिलता है। इस पर से हम कह सकते हैं कि जिनसेनाचार्य ही से सेनान्वय और सेनगण की (पंचस्तूपान्वय के स्थान में) विशेष प्रसिद्धि हुई। इन्द्रनन्दी के बाद पंचस्तूपान्वय की ओर विशेष रूपसे किसीका ध्यान ही आकृष्ट नहीं हुआ।

पंचस्तूपान्वयका निश्चित अर्थ कहना कुछ कठिन है। जहाँ पाँच स्तूप थे ऐसे स्थान के नाम पर से ही वह आया होगा। फिर भी यह केवल तर्कमात्र है।[१२] पाचथपी नाम के ग्रामका उल्लेख हमने ऊपर किया ही है। इसकी स्वीकृति हो जाय तो हमें कहना पड़ेगा कि, इस अन्वयका मूल बंगाल ही में हुआ और इस अन्वय के मुनियों ने[१३] श्रवणबेलगोलतक विहार किया। साथ ही सिद्धान्त ज्ञान की दीक्षा लेगये और वे उग्र तपश्चरण भी करते रहे।[१४]

---

११ रिपोर्त्वायर एपिग्रेफिया जैना, न० १३७, पृ० १०६ १०७

१२ देखो बृहत्कथाकोश प्रस्तावना पृ० ९० टिप्पणी पृ० ३७८-३७९

१३ पंचस्तूपान्वयके अबतक ज्ञात मुनियों की नामावली काल क्रम से नीचे दी गयी है— गुहनंदी, वृषभनंदी, चन्द्रसेन, आर्यनंदी और वीरसेन। वीरसेन के शिष्य जिनसेन ने अपने अन्वय का नाम नहीं दिया है। जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने अपने और गुरुके अन्वय का नाम सेनान्वय दिया है। इसी कारण से वीरसेन के बाद नामावली नहीं दी गयी है।

१४ इसका मूल अंग्रेजी लेख दरभंगा के ओरिएंटल कान्फ्रेन्स में पढ़ा गया था। यह सारानुवाद है। शब्दशः भाषांतर नहीं है।

दक्षिण भारतीय इतिहास का एक क्रान्तिपूर्ण अध्याय

—चालुक्यवंश-पुनरुत्थान

[ले०—श्रीयुत बा० ज्योति प्रसाद जैन एम० ए०, एल-एल० बी०]

दशवीं शताब्दी ईस्वी का चतुर्थपाद दक्षिणी भारत के इतिहास में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तनों का युग था, इस काल में देश ने एक महान् राजनैतिक क्रान्ति का प्रत्यक्षीकरण किया। नाग, पल्लव, कदंब, चालुक्य आदि प्राचीन शक्तिशाली राज्यवंश अब सुदूर अतीत की घटनाएँ हो चुके थे, उनमें से केवल गंगवंश ही विगत आठ शताब्दियों से अपना अस्तित्व बनाये चला आ रहा था, सो भी पिछली २-३ शताब्दियों से गौण और एक प्रकार से अधीनस्थरूप में ही। ८ वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में राष्ट्रकूट साम्राज्य का अभ्युदय प्रारम्भ हुआ था और शनैः शनैः उसकी शक्ति, प्रभाव एवं विस्तार उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम, सम्पूर्ण देश व्यापी हो गया। लगभग ढाई-सौ वर्ष तक उत्तर अथवा दक्षिण भारत में कोई भी अन्य राज्य राष्ट्रकूट साम्राज्य का प्रतिद्वन्दी या प्रतिस्पर्द्धी नहीं था। अरब आदि देशों के तत्कालीन यात्रियों ने उक्त साम्राज्य की शक्ति और वैभव का बड़ा आकर्षक वर्णन किया है। राष्ट्रकूट इतिहास के विशेषज्ञ डा० अल्तेकर के शब्दों में[1] उपर्युक्त कदंब, चालुक्य, गंग आदि राज्यवंशों की भाँति कितने ही राष्ट्रकूट नरेश स्वयं जैन-धर्मानुयायी थे और उनके अनेकों वायसराय, सेनापति, सामन्त आदि भी जैनधर्म के परम भक्त थे। (वास्तव में, दक्षिण भारत में ईस्वी सन् के प्रारम्भ से ही और विजयनगर साम्राज्य के पतन तक लगभग पन्द्रह-सोलह सौ वर्ष पर्यन्त अधिकाश राज्यवंशोंका कुल एवं राज्यधर्म प्रायः जैनधर्म ही रहा।)† किन्तु इस महान् शक्तिशाली राष्ट्रकूट साम्राज्य का उत्कर्ष उतना आश्चर्यजनक नहीं था जितना कि इसका पतन, देखते ही देखते एक कागजी महल की भाँति वह ढेर हो गया। उसका नाटकीय पटाक्षेप रोचक होने के साथ ही साथ स्तम्भित कर देनेवाला है, दिसम्बर सन् ९६७ ई० में सम्राट् कृष्ण तृतीय महान नर्मदा के दक्षिणवर्ती समस्त भूभाग का एकच्छत्र स्वामी था किन्तु दिसम्बर सन् ९७३ ई० मे वह सम्पूर्ण राज्य उसके भतीजे के हाथों से अकस्मात् छिन गया और राष्ट्रकूट साम्राज्य मात्र एक स्मृति की चीज रह गया[2] सम्राट् कृष्ण महान की मृत्यु सन् ९६८ ई० में हुई थी, उसे पॉच वर्ष बीतते न बीतते उसका विशाल साम्राज्य एक साधारण एव अप्रसिद्ध चालुक्य सरदार तैलप के हाथों का सहज शिकार हो गया, और दिलचस्पी यह कि किस सरलता के साथ एक हाथ से दूसरे हाथ में चला गया! इसमें संदेह नहीं कि राष्ट्रकूट साम्राज्य के पतन के बीज स्वय कृष्णमहान के जीवन काल में ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। उसके स्वय के कार्य द्रुतगति से छिन्न भिन्न होनेवाले साम्राज्य की आन्तरिक अशान्ति को

1 Altekar—Rashtrakutas and their Times p 272

† देखिये—'भारतीय इतिहास का जैनयुग'—अनेकान्त

2 Altekar—Abid p 126

सूचित करते हैं। कृष्ण की युद्ध प्रिय नीति, विजयाकांक्षा, दक्षिणी युद्धों में व्यस्त रहने के कारण उत्तरी परमारोंको शक्ति सञ्चय का अवसर देना, चेदियोंको अपना विरोधी बना लेना, गंगोंको बनवासी १२०००, बेलवोला ३००, पुरिगेरि ३००, किसुकड ७०, बगेनाद ७० आदि प्रदेश प्रदान कर देना, जिससे कृष्णा नदी के दक्षिण का अधिकांश भाग उनके आधीन हो गया और राज्यकोष को भारी क्षति हुई, उन्नतिशील महत्वाकांक्षी शिलाहारों, रट्टों और यादवों का अर्धस्वाधीन हो जाना और साम्राज्य के जुए से निकल जाने के लिये प्रयत्नशील रहना ऐसे कारण थे, जिनसे साम्राज्य[3] का पतन अवश्यम्भावी था।

राष्ट्रकूटों के अधीनस्थ नरेशों में केवल गंगराज मारसिंह (गुत्तिमगंग, नोलम्ब कुलान्तक) ही सम्राट् वंश के सच्चे मित्र और सहायक रहे। साम्राज्य की रक्षा के हित वे उत्तर तथा दक्षिण दोनों ही दिशाओं में सम्राट के शत्रुओं के विरुद्ध प्रबल आक्रमणों द्वारा प्रयत्न करते रहे। उत्तरवर्ती शत्रुओंको पराजित करने के उपलक्ष में सम्राट् कृष्ण III ने उन्हें 'गुर्जर नरेन्द्र' की उपाधि प्रदान की थी।* तापीतट की विजय द्वारा उन्होंने किरातों के उन जंगली समूहोंको जो विंध्याचल के बाह्य भागों में रहते थे, तितर बितर कर दिया था[4]। मारसिंह की श्रवण बेलगोलस्थ इस प्रशस्ति से यह भी स्पष्ट है कि 'गंगमार्त्तंड' (कृष्ण III शुभतुङ्ग तुडिगदेव वल्लभार्य) के सिंहासन एवं राज्यच्छत्र की रक्षा महाराज मारसिंह की शक्ति तथा उद्योग द्वारा ही हो सकी थी। कृष्ण राष्ट्रकूट वंशका अन्तिम शक्तिशाली सम्राट् था, उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा भाई रट्टकंदर्प खोट्टिगदेव, जो उसीकी भाँति जैनधर्मानुयायी था, राष्ट्रकूट साम्राज्य का अधिपति हुआ। किन्तु वह एक निर्बल शासक था। उसने सन् ९६८ से ९७२ ई० तक राज्य किया। यद्यपि उसके प्रति भी गंगनरेश ने अपनी भक्ति पूर्ववत बनाये रक्खी तथापि वह परमारों के प्रबल आक्रमण से खोट्टिग तथा उसकी राजधानी मान्यखेट की रक्षा न कर सका। परमार राज सीमक (श्रीहर्ष अथवा सिंहभट) ने खोट्टिग को बुरी तरह हराया और सम्भवतया इस युद्ध में लड़ते-लड़ते उसकी मृत्यु भी हो गयी। इसी अवसर पर परमार सेना ने देवपुरी के समान सुन्दर मान्यखेट नगरीको भी विध्वंस कर दिया बताया जाता है।[5] कवि धनपाल अपने 'पाइलच्छी' ग्रन्थ में सूचित करते हैं कि उनका यह ग्रन्थ धारानगरी में वि० सं० १०२९ अर्थात सन् ९७२-७३ ई० में उस समय रचा

3 'Rise of Tailapa II Ahavamalla—by V Vehkatacharya, puli in proceedings of I H C VII serrion, Madras, p 211

प्रस्तुत लेखान्तर्गत तैलप के इतिवृत्त में श्री वेंकटाचार्य महोदय के इस लेख का बहुत कुछ अनुसरण किया गया है।

* Altakar--Ibid p 126.

4 E. I., V—18.

5 Ibid.

6 E. I, In 235

गया था जबकि मालवा नरेश मान्यखेट को लूट रहे थे।[1] सदैव से राष्ट्रकूटों द्वारा पराजित होते आये। परमारों द्वारा स्वयं मान्यखेट की यह लूट[2] राष्ट्रकूट साम्राज्य के निकट अन्त की सूचक

1 E. I., XIII p 180, तथा 'पाइलच्छी नाममाला' गाथा "विक्कम कालस्स गए अउणुत्तो सत्ते सहस्सम्मि। मालवणरिंदधाडीए लूडिए मण्णखेडम्मि" ॥२७६॥

२ सम्राट कृष्ण III के जिनभक्त महामन्त्री भरत तथा उनके पुत्र गृह मन्त्री नन्न के आश्रित महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपने अपभ्रंश महापुराण (त्रिषष्टि महापुरुष गुणालंकार) के ५० वें सन्धि वाक्य (प्रशस्ति श्लोक ३६) में मान्यखेट की इस भीषण लूट का उल्लेख किया है। वह कहते हैं कि जो महानगरी—'दीनानाथधनं सदाबहुजनं प्रोत्फुल्लवल्लीवनं,

मान्यखेटपुरं पुरंदरपुरी लीलाहरं सुन्दरम्।' थी वह अब
'धारानाथनरेन्द्रकोपशिखिना दग्धं विदग्धप्रियं,
क्वेदानीं वसतिं करिष्यति पुनः श्री पुष्पदन्तः कविः ॥

—(महापुराण- द्वि० खं०, पृ० १३६ नोट)

महापुराण के सम्पादक डा० वैद्य के अनुसार इस उल्लेख से यह भी ध्वनित होता है कि नगरी के साथ साथ मन्त्री नन्न का घर और दफ्तर भी नष्ट हो गये थे, और कवि भी स्वयं गृह एवं आश्रय हीन हो गये थे। (Intro to Vol III p. XVIII) किन्तु महापुराण के इस कथन में एक आपत्ति है। महापुराण की रचनारम्भ तिथि सन् ९५९ ई० तथा समाप्तिकाल सन् ९६५ ई० सुनिश्चित प्रतीत होते हैं (म० पु०—Vol III-Intro. p XIX तथा हिन्दी भूमिका पृ० २०-२८) प्रो० हीरालाल जी ने अपने पुष्पदन्त समय विचार सबंधी लेखों में यह अंत तिथि ११ जून सन् ९६५ निश्चित की है, और उस पर से यह निष्कर्ष निकाला है कि परमारों द्वारा मान्यखेट की महापुराण कथित लूट ९७२ में नहीं हो सकती, वह सन् ९६२ में हुई होगी (शारदाश्रम वार्षिक पृ० ६) परन्तु डा० अल्तेकर ने पाइलच्छी के उपर्युक्त स्पष्ट उल्लेख, मालवानरेशों की उदयपुर प्रशस्ति जिसमे श्रीहर्ष द्वारा खोट्टिगदेव की लक्ष्मी के हरण का कथन है, मारसिंह द्वितीय की श्रवणबेलगोलस्थ प्रशस्ति जिसमें मान्यखेट की पुनर्विजय का उल्लेख है, तथा अन्य ऐतिहासिक आधारों से यह निर्विवाद सिद्ध कर दिया है कि यह लूट सन् ९७२ ई० में ही हुई। (Altekar-Ibid p 124-25, 422) इस पर डा० वैद्य का अनुमान है कि कवि ने अपने आश्रय दाता की सहायता से अपने ग्रंथ की दो तीन प्रतियाँ कराली होंगी, और ग्रन्थ समाप्ति के बाद समय समय पर ये प्रशस्ति वाक्य अपने अवकाशानुसार रचे होंगे, जिन्हे उन्होंने किसी प्रति के हाशिये आदि पर या बीच में स्थान मिला तो वहाँ लिख दिया, इसीलिये ये प्रशस्ति वाक्य सभी प्रतियों में एकसे नहीं मिलते। प्रस्तुत वाक्य ही एक प्रति मे तो उपलब्ध ही नहीं है और दो में ही विभिन्न स्थानो में है। अतः संभावना यही है कि यह वाक्य सन् ९७२ के पश्चात् किसी प्रति में प्रविष्ट किया गया है (म० पु० Vol I-Intro p XVI-XVII) प० नाथूराम जी प्रेमी ने भी महापुराण (ख० ३) में अपने 'महाकवि पुष्पदंत' शीर्षक के अन्तर्गत (पृ० २३-२४) इस उलझन का यही समाधान किया है। और स्वयं प्रो० हीरालाल जी ने भी यही समाधान स्वीकार कर लिया है (म० पु०, ख० १, हिन्दी भूमिका पृ० XXXIX) अस्तु, धारानरेश सीयक परमार द्वारा मान्यखेट की यह प्रसिद्ध लूट और विनाश निश्चितरूप से सन् ९७२ ई० में हुए थे।

ही थी। किन्तु एक बार फिर गंगनरेश मारसिंह की बली भुजाओं ने ही मान्यखेट की पूर्ण विनाश से रक्षा की। उसकी प्रशस्ति से विदित होता है कि उसने उक्त राजधानीको कृष्णमहान के वंशजों के लिये फिर से विजय द्वारा प्राप्त कर लिया था।[1] तथापि साम्राज्य की दशा बिगड़ती ही जा रही थी। महाकवि पुष्पदंत के 'जसहरचरिउ' से पता चलता है कि खोट्टिग के राज्यकाल में एक भयंकर दुष्काल भी पड़ा था।[2] प्रो० हीरालालजी का अनुमान है कि यह दुर्भिक्ष सन् ९७२ में मान्यखेट की लूट के पश्चात् किसी समय पड़ा।[3] यद्यपि इस दुर्भिक्ष की निश्चित तिथि निर्णय करने के लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, तथापि डा० वैद्यका मत है कि यह दुर्भिक्ष ९७२ के पूर्व ही, ९६८ से ९७२ तक किसी समय पड़ा होगा, उसके पश्चात् इसके पड़ने की संभावना नहीं है।[4] अस्तु, खोट्टिगदेव नित्यवर्ष के ४-५ वर्ष के राज्यकाल में मान्यखेट नगरी व राष्ट्रकूट साम्राज्य एक भयंकर दुर्भिक्ष तथा परमारों की विजय एवं लूटपाट के शिकार हुए।

मारसिंह राजधानीको, उसके द्वारपर नित्यप्रति आक्रमण करनेवाले शत्रुओं से रक्षा करता था, सम्राट् वंश शक्तिहीन हो चुका था, केवल मारसिंह ही नगर और साम्राज्य के रक्षार्थ अत्यन्त साहसिक प्रयत्न करता चला जा रहा था। खोट्टिग की मृत्यु परमारों के साथ युद्ध में अथवा उस पराजय के तुरंत बाद ही हो गयी प्रतीत होती है, क्योंकि सन् ९७२-७३ में हम गद्दी पर उसके उत्तराधिकारी कर्क द्वितीयको पाते हैं और उसका राजतिलक भी उसके पूर्वजों की राजधानी में ही हुआ प्रतीत होता है। मारसिंह द्वारा राजधानी की रक्षा एवं पुनः प्राप्ति का उल्लेख तथा बाद की घटनाएं इस बातका समर्थन करती है। किन्तु बावजूद मारसिंह के रक्षा प्रयत्नों के कर्कने अपनी राजधानी, राज्य और जीवन बहुत शीघ्र ही गँवा दिये। चालुक्य सरदार तैलप ने उसे तथा उसके सहायक रणकंभको बुरी तरह परास्त किया। कर्क ने संभवतया एक वर्ष के लगभग राज्य किया, तथापि उसके 'खर्दा' दानपत्र का कथन है कि वह पाण्ड्योंको भयभीत करता था, हूणों से लड़ा और उसने चोलों तथा गुर्जरों की सेनाओंको परास्त किया।[5] इससे मालूम होता है कि उसका अल्प जीवन बराबर लड़ते ही बीता और युद्ध क्षेत्र में ही उसका अन्त हुआ। मारसिंह की प्रशस्ति के अनुसार, कर्क की मृत्यु के पश्चात् उस गंगनरेश ने मान्यखेट से शत्रुको बाहर निकाल कर कृष्णमहान के पोते इन्द्र चतुर्थको उसी राजधानी मे बड़े समारोह के

1 E C—X.

2 Jasaharachariu—IV:31, 7-10

3 Nayakumarchariu—Introd p XVIII-XIX

4 Mahapurana-Vol III Introd p XVIII-XIX.

5 I A.—XII p 263 डा० अल्तेकर के अनुसार उसने अधिक से अधिक १८ महीने राज्य किया और संभव तया वह इस युद्ध में मारा भी नहीं गया।—Altekar-Ibid p 125-513।

साथ सिंहासनासीन किया।[1] यह शत्रु जिसे राजधानी से बाहर निकालने की बात कही गयी है, तैलप ही प्रतीत होता है। ऐसा जान पड़ता है कि सन् ९७२ में मान्यखेट की लूटपाट और यथा शक्य विध्वंस करके परमार लोग वापस मालवेको लौट गये होंगे, विशेषकर राजधानी की सहायतार्थ गंग सेनाओं के आ जाने के कारण। उसके पश्चात् खोट्टिग की मृत्यु, कर्क का राज्य, तैलप द्वारा उसकी पराजय मृत्यु तथा मान्यखेट पर अधिकार हुआ, और तब मारसिंह ने तैलपको मान्यखेट से निकाल कर सन् ९७३ ई० में इन्द्र चतुर्थका राज्यतिलक किया।

जैसा कि ऊपर कथन किया जा चुका है, कर्कको अपने लगभग एक वर्ष के राज्यकाल में अनेक शत्रुओंका मुकाबला करना पड़ा, किन्तु इन सब में सर्वाधिक महत्वपूर्ण शत्रु तैल ही था। सन् ९५७ मे वह राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण के आधीन तरडवाडी १००० प्रान्त का एक साधारण श्रेणी का, बिना किसी उपाधि के, अज्ञात कुल सरीखा, तैलप नामक शासक था।[2] सन् ९६५ में वह उसी प्रान्तको एक अग्रगर्जीवित (जागीरदार सामन्त) के रूप मे भोगते हुए—सत्याश्रयवंशी महासामन्ताधिपति चालुक्यराम आहवमल्ल तैलपरस के रूप मे दृष्टिगोचर होता है।[3] इस ८ वर्ष के समय मे ही उसका महत्व इतना बढ गया।

तैल के पूर्वज कहाँ रहते थे या राज्य करते थे इसका कुछ पता नहीं चलता। पश्चातवर्ती चालुक्य अभिलेखों मे तैलका सम्बन्ध प्राचीन पश्चिमी चालुक्य नरेश विजयादित्य तथा उसके पौत्र कीर्त्तिवर्मन II के साथ स्थापित किया गया है। उसे कीर्त्तिवर्मन II के चचेरे भाई कीर्त्तिवर्मन तृतीय की छठी पीढी में हुआ बताया गया है, किन्तु डा० अल्तेकर के मतानुसार यह वंशक्रम विश्वसनीय नहीं है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि उसके पूर्वज बहुत ही गौण एवं सामान्य स्थिति के व्यक्ति थे जिन्हे 'राजा' जैसी साधारण उपाधि भी प्राप्त नहीं थी।[5] किस तरह तैल अकस्मात् इतना बलवान हो गया कि वह शक्तिशाली राष्ट्रकूट साम्राज्यको भी चुनौती दे सका, और कौन उसके सहायक थे यह अभीतक रहस्यपूर्ण है।[6] इतना अवश्य है कि उसकी माँ बोंथा देवी चेदि नरेश लक्ष्मण की पुत्री थी। कृष्ण तृतीय ने चेदियोंको अपने विरुद्ध कर लिया था, अतः संभव है समकालीन चेदिनरेश युवराज द्वितीय ने अपने भानजे तैल की सहायता की हो। सुदेन देश का यादव नरेश भिल्लम II तथा पूर्वी चालुक्य नृप बद्दिग II भी सभवतया तैल के सहायक रहे थे। तैल की पत्नी महारानी लक्ष्मी अथवा जकब्बे भी एक राष्ट्रकूट राजकुमारी—राष्ट्रकूटवंशी भम्मह (बम्महाह) की पुत्री थी। प्रसिद्ध राज्यवंशों के साथ इन वैवाहिक सम्बन्धों ने भी उसकी

1 E. I—V no 18
2 B. K I 113 of 1929-30
3 B K I-I-140
4 Altekar—Ibid-p 127-128
5 Ibid p 129
6 Ibid p 130

स्थितिको दृढ़ किया हो। राष्ट्रकूट साम्राज्य के द्रुतवेग से होते हुए अनिवार्य पतन को देखकर वह अपनी सत्ता स्थापित करने का लोभ संवरण न कर सका। उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों का कथन है कि उसने आदि वराह की भाँति विपत्ति से पृथ्वी की रक्षा की। कुछ भी हो, डा० सालेतोर के शब्दों में गंग और राष्ट्रकूट एक हारती हुई बाजी खेल रहे थे। वे उस प्राचीन राज्य शक्ति के पुनरुत्थान पर लक्ष्य न कर पाये जो नव सचारित शक्ति के साथ एक अजेय शत्रु के रूप में सामने आयी। लगभग २०० वर्ष पर्यन्त अन्धकाराच्छन्न रहने के उपरान्त पश्चिमी चालुक्य वंश अकस्मात् तैलपदेव की अध्यक्षता में पुनर्जीवित हो उठा। और उसने सन् ९७३ में कक्क (कर्क II) के आधीन राष्ट्रकूटोंको बुरी तरह पराजित करके राष्ट्रकूट शक्तिका वस्तुत: अन्त कर दिया।[1] महाराष्ट्र एवं कर्णाटक की राज्य सत्ता फिर एक बार हस्तान्तरित हो गयी और पश्चिमी चालुक्य वंशका एकाधिराज्य स्थापित हो गया।

तैलप की इस सफलता में उसे कृष्ण III तथा मारसिंह के कुछ शत्रुओं से भी सहायता मिली प्रतीत होती है। इनमें नलराजमल्ल (कृष्ण) के विरोधी धल्ल का नाम विशेष उल्लेखनीय है।[2] कहा जाता है कि धल्ल एक बली व्यक्ति था जो कृष्ण के विरुद्ध प्रतिमल्ल के रूप में खड़ा हुआ था। इस धल्ल नामक ब्राह्मण मन्त्री का तैलप से घनिष्ट सम्बन्ध था, वस्तुतः वह उसके राज्य की नीव था। वाजीवंशका यह ब्राह्मण एक महान योद्धा एवं विचक्षण राजनीतिज्ञ के रूप में प्रसिद्ध हुआ। वह तैलप के महकर्म माल का अध्यक्ष हुआ और 'महामन्त्र अक्षय पटल अधिपति' कहलाता था। उसकी शक्ति इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि उसमें और महाराज तैलप में मात्र यही अन्तर था कि राजा सिंहासनारूढ़ था।[3] अपने स्वामी के लिये समस्त देशको अधिकृत करके उसने 'मंगलसिद्धि' की उपाधि प्राप्त की, एक चतुर राजनीतिज्ञ के नाते वह 'विवेक बृहस्पति' कहलाया, तथा 'सचिवोत्तम' नाम से इस चालुक्य साम्राज्य का प्रधान मन्त्री हुआ, उपाध्याय चतुष्क द्वारा वह सर्व प्रकार निर्दोष पाया गया, और सम्राट् तैलप के दर्बारका प्रबन्ध करने में अत्यन्त योग्य एवं बुद्धिमान सिद्ध हुआ।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि धल्ल कृष्णका शत्रु होने के कारण गंगराज मारसिंह द्वारा पराजित हुआ, फलस्वरूप वह तैलप से मिल गया और उसे राष्ट्रकूट साम्राज्य का अन्त करने में यथाशक्य सर्वाधिक सहायता दी। कुछ ही पीछे उसका समस्त परिवार तैलप के आधीन उच्च पदों पर आसीन हुआ दीख पड़ता है। कृष्ण के अन्य अधीनस्थों

1 Saletore—Med J.—p 41, Rice-Mysore & Cg-p 72.

2 E. I—V-18, II-89 डा० फ्लीट के अनुसार इस व्यक्ति का नाम अछ था और राइस साहिब उसे दल्ल बताते हैं (E. C. II, 28), किन्तु इस युग में अछ नामक किसी व्यक्ति के होने का पता नहीं चलता जबकि धल्ल एक प्रसिद्ध व्यक्ति था (वकटाचार्य-Ibid p 213 f note.)

3 B K 1—1—52.

४ महाकवि रत्नकृत-अजितपुराण की भूमिका।

में जो तैल से मिल गये एक सोव्वनरस नामक व्यक्ति था जिसकी उपाधि 'कन्नमनन्न, (कृष्ण का अनुचर) थी।

तैलप और उसके मन्त्री भल्लको दुर्बल राष्ट्रकूट साम्राज्य के अन्त करने का अवसर मान्यखेट की लूट (९७२ ई०) के पश्चात् ही मिला, क्योंकि तैलप के राज्य का प्रथम वर्ष 'श्रीमुख' था।[१] और यह शक संवत् ८९५ मे पड़ता है अतः कर्क की पराजय मार्च सन् ९७३ तथा मार्च ९७४ के बीच किसी समय हुई।[२] तैल और कर्क का यह युद्ध बड़ा भयंकर था, अत्यन्त पराक्रम द्वारा ही तैल इसमें विजयी हो सका।[३] इस युद्ध में कर्क के प्रधान सहायक और सेनापति उसके दो राष्ट्रकूट सम्बन्धी थे, जिनमें से एकका रणकंभ नाम से उल्लेख हुआ है। विजयी चालुक्य वंश के कौथम दानपत्र में इन दोनोंको अत्यन्त निर्दयी, प्रचंड और उच्छृङ्खल तथा साक्षात् काली के दोनों पैरों के समान वर्णित किया है। ये दोनों ही उस युद्ध में काम आये। किन्तु इनका विशेष परिचय तथा किस स्थान मे युद्ध हुआ यह ज्ञात नहीं। कर्कका स्वयं क्या हुआ यह भी निश्चित नहीं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि कर्क II इसी युद्ध में मारा गया, किन्तु डा० अल्तेकर सोराब तालुके से प्राप्त दो शिलालेखों के आधार पर यह अनुमान भी करते हैं कि सम्भव है वह बचकर भाग निकला हो और सुदूर दक्षिण में कोई छोटा-सा राज्य स्थापित करके कुछ समय तक और जीवित रहा हो।[४]

इधर गंगराज मारसिंह इन घटनाओंको चुपचाप देखते रह सकता था। उसने राष्ट्रकूट इन्द्र चतुर्थ का पक्ष लिया जो कि उसका स्वयं का भानजा था और सम्राट् कृष्ण III का पोता था। मान्यखेट तो तैलप के अधिकार मे था ही, अब नोलम्बों ने भी जो कि राष्ट्रकूटों के अधीनस्थ सामन्त थे, विद्रोह कर दिया और मारसिंह की भी अवहेलना की। मेनोलम्ब अनेक राजाओं का सुसंगठित समूह था जिन्हें अपने भुजबल और पराक्रम का बड़ा गर्व था, उनकी गज सैन्य भी उनके घमंड का कारण थी। इसी बूते पर मतान्ध होकर उन्होंने यह विरुद्धाचरण किया।[५] गोनूर नगर के बाहर खुले मैदान में भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध में मारसिंह के प्रसिद्ध मन्त्री परम जिनभक्त राजा चामुण्डराय ने अद्भुत शौर्य प्रदर्शित किया और फलस्वरूप 'वीरमार्तण्ड' की उपाधि प्राप्त की।[६] तैलप की ओर से इस युद्ध में वीर पोनमय्य तथा नागदेव (नागमय्य)

---

1 Gadag inscription of Vikramaditya VI—I. A.-XXI p. 167

2 Altekar-Ibid p. 125.

3 Mangoli luse—E. I.-V p. 23, & kharepatan plate-E. I.-III p. 292' Kauthem plates-I. A. XVI p. 15.

4 Altekar-Ibid p. 131.

5 E. C.-II-281

६ चामुंडराय पुराण।

ने भाग लिया था, रन्न ने अपने 'अजित पुराण' में इन वीरों के पराक्रम का सजीव वर्णन किया है। पोनमय्य ने इस महायुद्ध में जो कि 'कुमार नोळंब समर' (राजकुमारों का युद्ध) कहलाता है बड़ी वीरता दिखायी और अपने स्वामी भल्लपुत्र नागदेवको प्रसन्न किया, शत्रुओं के हाथियों को खंड खंड कर डाला, उनके अगरक्खों (अंगरक्षकों) से जा भिड़ा और उन्हें मार कर खदेड़ भगाया।[1]

इस प्रसंग में कुमार शब्द का अर्थ वास्तविक राजपुत्र नहीं है, वरन् सामान्यतः अभिजात कुलोत्पन्न क्षत्रिय पुत्र ही है जो कि कुमार नामक विशिष्ट पद पर प्रतिष्ठित कर दिये जाते थे। अगुग तथा लेंका भी कुमार कहलाते थे, ये उच्च राज्यवंशों के व्यक्ति होते थे और नरेशों के अंगरक्षक रूप में रहते थे। नोळम्ब लोगो के पास उनके राज्य की सेवा के लिये ऐसे अगरक्षकों की एक सुदृढ़ सेना सुरक्षित रहती थी। सोमेश्वर प्रथम त्रैलोक्यमल्ल आहवमल्ल के शासन काल में नोळम्बों के पास ऐसे १००० लेंकाओं की सेना होनेका उल्लेख मिलता है। दण्डनायक टिक्कन उस समय उनका सेनाध्यक्ष था और वह सेना पल्लव राज्य (नोळम्ब लोग प्राचीन पल्लव वंश की ही एक शाखा थे) की सुरक्षा का साक्षात् स्तंभरूप ही मानी जाती थी। मारसिंह के साथ युद्ध में ये कुमार लोग जो नोळम्बों का प्रधान बल थे, वीरता के साथ लड़ते प्रतीत होते हैं। इनके नाम पर ही यह युद्ध 'कुमारयुद्ध' कहलाया, अतः नोळम्बयुद्ध अथवा 'कुमारनोळंब समर' एक ही चीज हैं, इसमें सन्देह नहीं। इस युद्ध में तैलप ने संभवतया उन्हीं का पक्ष लिया था और अपने सर्वश्रेष्ठ वीर उनकी सहायतार्थ लड़ने भेजे थे, क्योंकि कुछ ही काल पीछे हम नोळम्बोंको चालुक्य के आधीन देखते है और उनके साथ परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध भी करते हुए।

उपर्युक्त मारसिंह प्रशस्ति के अनुसार गंगनरेश ही इस युद्ध में अन्ततः विजयी रहा, विशेष कर चामुण्डराय की वीरता के कारण, और इसके पश्चात् उसने मान्यखेट से शत्रुओंको बाहर निकाल कर उसी स्थान में इन्द्र चतुर्थ का राज्यतिलक किया। मारसिंह की समाधिमरणपूर्वक मृत्यु जुलाई सन् ९७४ में हुई, अतः इन्द्र का राज्यारोहण उसके पूर्व ही हुआ होना चाहिये।[3] कर्क II की अन्तिम ज्ञात तिथि जून ९७३ है,[4] अस्तु ये सर्व घटनाएँ बहुत जल्दी-जल्दी हुई। किन्तु बावजूद मारसिंह के इन सब प्रयत्नों के राष्ट्रकूटों के प्रति विद्रोह प्रवृत्ति शान्त नहीं हुई। राज्यतिलक के अवसर पर ही राजादित्य नामक एक चालुक्य राजकुमार ने इन्द्र का खुल्लमखुल्ला विरोध किया।[5] इस पर मारसिंह के आदेश पर चामुण्डराय ने अकेले ही उसका पीछा किया और उच्छ्गी के किले में जाकर उसे परास्त करके बंदी किया।[6]

१ रन्नकृत-अजितपुराण।
2 S I I—IX-I, 101, 104
3 E. C—X Mle 684
4 I A—XII p 270
5 E C—II 281
६ चामुंडराय पुराण

इन घटनाओं के पश्चात् कुछ समय तक शान्ति रही प्रतीत होती है, जिसका लाभ उठाकर नोलंबांतक महाराज मारसिंह प्राचीन धर्मात्मा जैन नरेशों की भाँति धर्मसाधनार्थ राजपाट त्याग कर श्रवणबेलगोल तीर्थ के पवित्र जैनमठ में चले गये और बंकापुर में आचार्य अजितसेन भट्टारक के समक्ष जुलाई सन् ९७४ में उसके धर्मात्मा नरेश ने तीन दिन तक सल्लेखना व्रतका पालन करके अपनी इहलीला समाप्त की।[1] अब स्थायी शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित हो गयी है यह समझ कर ही ऐसा किया, और समस्त कार्यभार अपने विश्वस्त सुयोग्य मन्त्री एवं सेनापति वीर मार्तण्ड चामुण्डरायको सौंप दिया। प्रशस्ति मे महाराज मारसिंहको गंगचूड़ामणि, नोलम्बान्तक, गुत्तियगंग, मंडल तिलक, गंगत्रिनेत्र, गंगविद्याधर, गंगकन्दर्प, वज्र गंगसिंह, सत्य वाक्य, ज्योङ्कणिधर्म-धर्म, महाराजाधिराज आदि पदवियों से विभूषित बताया गया है, और उसमे उनकी अनेक विजयों पराक्रमों और धार्मिक कार्यों का उल्लेख है।

किन्तु, इन्द्र II की स्थिति किसी प्रकार भी सुरक्षित नहीं थी। महाराज मारसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसका वैसा हितचिन्तक कोई और न रह गया था। चामुण्डरायको उसका ध्यान अवश्य था किन्तु स्वयं गंगराज्य की व्यवस्था एवं सुरक्षा में व्यस्त रहने तथा बाद में उत्पन्न हुई राजकीय परिस्थितियों ने उन्हें भी इन्द्रको अपने स्वयं के भाग्य भरोसे ही छोड़ देनेपर मजबूर कर दिया। राज्यपद प्राप्ति के समय उसकी आयु भी अधिक नहीं थी और संसार का अनुभव भी कम रहा प्रतीत होता है। यद्यपि उसकी श्रवणबेलगोलस्थ प्रशस्ति[1] के अनुसार कृष्णमहाराज के पौत्र, गङ्गगेय (भुतुग) के दौहित्र, महाराज मारसिंह के भानजे और राजचूड़ामणि के दामाद इन इन्द्र चतुर्थको रट्टकन्दर्प, राजमार्त्तण्ड, चलङ्करव, चलदग्गलि, कीर्त्तिनारायण, एलेवबेडेंग, गेंडेगलाभरण, कलिगलोल्गंड, वीररवीर आदि उपाधियों से विभूषित बताया गया है और गेंद के एक विशेष खेल (सम्भवतया पोलो) मे निपुण कहा गया है, तथापि इसमे संदेह नहीं कि ये चारों ओर से भयानक शत्रुओं द्वारा घिरे हुए थे, इनके परम सहायक महाराज मारसिंह की साया इनके ऊपर से उठ चुकी थी, मित्रों और सहायकों का प्रायः अभाव था, इनकी स्थिति बड़ी नाजुक थी और उसका बनाये रखना इनके लिये असम्भव था। मान्यखेट तो फिर शीघ्र ही इनके हाथ से निकल गया प्रतीत होता है। किन्तु बंगलौर जिले के दसहरहल्लि से प्राप्त सन् ९८० के एक वीरगल के अनुसार वह प्रदेश इनके आधीन था यह स्पष्ट है।[2] अपनी वंशपरिपाटी के अनुसार यह जैनी तो थे ही किन्तु अपने मामा मारसिंह की भांति कट्टर धर्मात्मा भी थे, अतः इन्होंने भी श्रवणबेलगोल की गंधवारण वस्ति में मंगलवार ता० २० मार्च सन् ९८२ ई० को सल्लेखनापूर्वक ही मरण किया।

1 E. C — II Sb 38, E. C - X Bb 84

2 E C Rice-Insc. 56 no 57.

3 E C XI Bangalore no 37

इधर, मारसिंह की मृत्यु होते ही चामुण्डराय ने मारसिंह के छोटे भाई गोविन्द का पक्ष लिया और उसके विरोधी त्रिभुवनवीरको मारकर बगेयर के गढ़ मे उसका निष्कंटक प्रवेश कराया। इस उपलक्ष में उन्हें 'वैरीकुलकालदंड' की उपाधि प्राप्त हुई।[1] गोविन्द के नाम के साथ 'नीतिमार्ग' तथा नरेन्द्र शब्द लगे मिलते है जिनसे सिद्ध है कि उसने कुछ कालतक अवश्य राज्य किया।[2] यह गोविन्द भी तैलप का शत्रु था। महाकवि रन्न के शब्दों मे जब परम द्रोहियों से युक्त गोविन्द तैलपदेव से युद्ध करने आया तो ब्राह्मण महावीर पोनमय्य जोर से तैलप का जयघोष करता हुआ रण में कूद पड़ा, और कावेरी तट के इस भीषण युद्ध मे अनेको शत्रुओ का संहार करके उसने वीरगति प्राप्त की।[3] इसके पश्चात गोविन्द का कुछ पता नही चलता है, संभवतया इस युद्ध ही मे अथवा उसके बाद शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गयी। गंगवंशका ही एक अन्य व्यक्ति मुदुराचय्य भी राज्य हस्तगत करना चाहता था, और वह शायद सफल भी हो जाता यदि चामुण्डराय का प्रबल विरोध न होता, अन्तत उन्होंने उसे मारकर उसके विश्वासघात का दण्ड दिया।[4] मुदुराचय्य के विद्रोह के साथ ही साथ एक अन्य व्यक्ति—पांचालदेव ने जो कि संभवतया गंगवशी ही था और महाराज मारसिंह के आधीन एक महासामन्त था तथा सन् ९७२ मे पुलिगेरे और बेलगोला का शासक था।[5] मारसिंह के राज्य त्याग तथा राष्ट्रकूट साम्राज्य गत गड़बड़ एव चालुक्य राज्य क्रान्ति से लाभ उठाकर इसी बीच मे (९७४-७५ के लगभग) शक्ति हथियाने के लिये एक भारी प्रयत्न किया प्रतीत होता है।[6] उसके फर्वरी सन् ९७५ के मूलगुड शिलालेख के अनुसार वह अपने उस विशाल राज्यपर शान्तिपूर्वक शासन कर रहा था, जिसकी पूर्व पश्चिम तथा दक्षिणी सीमायें सागर थी और उत्तरी सीमा महानदी (कृष्णा) थी। किन्तु जैसा कि डा० अल्तेकर का मत है कि यह कथन नितान्त अतिशयोक्ति पूर्ण है, तथापि यह स्पष्ट है कि वह पर्याप्त शक्ति सम्पन्न था।[7] उसकी उपाधि 'चालुक्य पंचानन' यह सूचित करती है कि वह सम्राट् पद के लिये तैलप का प्रतिद्वन्दी था और चालुक्यो का उच्छेद करके स्वयं राष्ट्रकूट साम्राज्यको हस्तगत करना चाहता था। डा० अल्तेकर के मतानुसार वह गंगनरेश मारसिंह का उत्तराधिकारी था, किन्तु राचमल्ल चतुर्थ नही।[8] जबकि कुछ अन्य विद्वान्

१ चाबुण्डराय पुराण I V 20
2 E C—VIII Nagar 35
३ अजितपुराण-I-36.
४ चाबुण्डराय पुराण-V-21
5 I A.-XII 225.
6 E I.-VI 257, 260
7 Altekar-Ibid p. 132,
8 Ibid.

उसे राचमल्ल ही बताते हैं।[1] परन्तु यह भ्रम है। प्रथम तो सन् ९७५ के पश्चात् उसके विषय में कुछ नहीं सुन पड़ता और राचमल्ल गंगसिंहासन पर आसीन मिलते हैं। दूसरे उसी वर्ष तैलप के साथ युद्ध में उसके मारे जाने का भी उल्लेख मिलता है।[2] तीसरे वह अपने सर्व अभिलेखों में अपने आपको एक महासामन्त ही लिखता है, कहीं भी स्वाधीन राजा के रूप में उल्लेख नहीं करता। चौथे, उसके गंगसिंहासन पर बैठने या गंगवंश के प्रति विद्रोह करने के भी प्रमाण नहीं मिलते। अतः यह निश्चित है कि वह गंगराज्य सिंहासन का स्वामी तो कभी रहा ही नहीं, हाँ यह संभव है कि तैलप के विरुद्ध वह चामुण्डराय का सहयोगी रहा हो।[3] अस्तु, ज्यों ही पांचालदेव ने अपनी सत्ता और इरादा व्यक्त किया कि तैलप उसके ऊपर टूट पड़ा। धल्लपुत्र वीरसेनापति नागदेव की अध्यक्षता में तैलप की सेना ने पांचालदेव के हाथियों और घुड़सवारोंको तितर बितर कर दिया और नागदेव ने शत्रु सैन्यको पशुओं की नई हाँक का भगा दिया।[4] किन्तु संग्राम भीषण था, पांचालदेव डटा रहा, युद्ध का पांसा पलटता-सा दीख पड़ा, चालुक्य सेना के पैर कुछ उखड़ चले कि नागदेव के सहकारी भूटेपदेव ने स्थितिको सँभाला, उसने पांचालदेव पर ही सीधे आक्रमण किया और रणभूमि में ही उसका वध कर दिया। इस उपलक्ष में भूटेपदेवको 'आहमल्ल' की उपाधि मिली और वह एक 'महामंडलेश्वर' बना दिया गया।[5] तैलप के इतिहास सम्बन्धी चालुक्य, अभिलेखों में तैलप द्वारा पांचालदेव की इस पराजयको एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में उल्लेखित किया गया है।[6]

उपर्युक्त घटनाएँ मारसिंह की मृत्यु (जुलाई ९७४) तथा राचमल्ल के राज्यारोहण (९७५ के अन्त में) लगभग डेढ़वर्ष के बीच घट गयीं। इसके उपरान्त चामुण्डराय गंगसिंहासन पर राचमल्ल चतुर्थ सत्यवाक्य को स्थापित कर निश्चिन्त हुए। तैलप ने गंगोंको फिर नहीं छेड़ा, कम-से-कम जबतक चामुण्डराय जीवित रहे वह गंगोंको नहीं जीत सकता था। वस्तुतः चामुण्डराय कोई सामान्य व्यक्ति नहीं थे उनकी 'समरधुरंधर', वीरमार्तण्ड रणरङ्गसिंह, वैरिकुलकालदण्ड, भुजविक्रम, समरपरशुराम आदि उपाधियाँ व्यर्थ नहीं थीं वे एक प्रचण्डयोद्धा, विख्यात सेनानी और महान् राजनीतिज्ञ थे, साथ ही अपनी सत्यनिष्ठा के कारण वे 'सत्य युधिष्ठिर' कहलाते थे, उनका स्ववंश प्रेम और स्वामिभक्ति तो आदर्श थी ही वह अपनी जननी के भी परम भक्त थे, माता की इच्छा पूर्ति के लिये ही उन्होंने श्रवणबेलगोल में गोम्मटेश्वर—बाहुबलि स्वामी की वह संसार प्रसिद्ध अत्यन्त मनोरम विशाल मूर्ति निर्मित एवं प्रतिष्ठित कराई थी,

1 H I S I,
2 I A-XII p 98
3 Venkatacharya-Ibid p 215.
4 Ajita Purana-Ib 41
5 Torgala inscription-I A XII p 98
6 Gadag record-I A-XXI p 167.

जिसकी गणना विश्व के महान् आश्चर्यों मे की जाती है। वे साहित्यकार भी थे और साहित्य-रसिक एवं गुणानुरागी भी। प्रसिद्ध चामुण्डराय पुराण उनकी स्वयं की कृति है, और शान्ति-पुराण के कर्त्ता महाकवि पोन्न तथा कविरत्न रन्न जैसे कितने ही विद्वानों को उन्होंने आश्रय एवं प्रोत्साहन प्रदान किया था। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने उन्ही की प्रेरणा से और उन्हीं के हित गोम्मटसारादि महान् दिगम्बरागम ग्रन्थों की रचना की थी, राजा चामुण्डराय का एक नाम गोम्मट भी था और उसी के अनुसार आचार्य ने अपने ग्रन्थ का नाम गोम्मटसार रक्खा था और इसी कारण बाहुबलि स्वामी की प्रतिमा भी गोम्मटेश्वर नाम से प्रसिद्ध हुई।[1] श्रवणबेलगोल मठ के आचार्य अजितसेन भट्टारक उनके गुरु थे। वीर शिरोमणि चामुण्डराय की यह विशेषता थी कि कट्टर जैनधर्मानुयायी होते हुए भी वे युद्ध, राजनीति, साहित्य, कला, आदि सर्व ही क्षेत्रों मे अपने युग के एक सर्वोपरि व्यक्ति थे। वीरता और नीति कुशलता, विद्वत्ता और धार्मिकता, उदारता और दानशीलता, सहिष्णुता और कर्त्तव्यपरायणता उनके विशिष्ट गुण थे।

अस्तु, सन् ९७५ के पश्चात् यदि तैलपदेव ने चामुण्डरायको न छेड़ा तो उन्होंने भी उसका विरोध नहीं किया, अत उसी समय से तैलप की स्थिति बहुत कुछ सुरक्षित हो गयी प्रतीत होती है। भाव संवत्सर (सन् ९७६ ई०) मे वह परम भट्टारक परमेश्वर महाराजाधिराज तैलपदेव द्वितीय, आहवमल्ल सत्याश्रय, चालुक्य सूर्य आदि राजकीय उपाधियों से विभूषित दृष्टिगोचर होता है।[2] जबकि इसके पूर्व के अभिलेखों मे ये उपाधियाँ उपलब्ध नहीं होतीं। कर्कको पराजित करने के समय से ही उसे निरन्तर युद्ध क्षेत्र में व्यस्त रहना पड़ा था, किन्तु अब आकर वही अपनी अधिकाश कठिनाइयों पर पार पा सका था। इस समय श्रीहत राष्ट्रकूटों में स्वय ही फूट थी अथवा वे उसकी बृद्धिगत शक्ति और प्रताप के सन्मुख झुक गये थे। तैलप की महारान जकब्बे राष्ट्रकूट बम्महरह की पुत्री थी और यह सम्बन्ध भी उसके सिहासनाधिकार में सहायक हुआ। फिर भी, उसके उत्तराधिकारियों का तो यही कथन है कि उसने राज्यापहरणकर्त्ता राष्ट्रकूटोंको पराजित एव बहिष्कृत करके प्राचीन चालुक्य वंश की साम्राज्य लक्ष्मीको पुनः प्राप्त एव प्रतिष्ठित किया।[3]

तैलप की आकांक्षा सम्पूर्ण राष्ट्रकूट साम्राज्य को अपने आधीन करने की थी, उसे समस्त राष्ट्रकूट सामन्तो और अधीनस्थ राजाओं से भी अपनी सत्ता स्वीकार करानी शेष थी। कोकंण के शिलाहारों ने जिनका प्रदेश पश्चिमी घाट और अरबसागर के मध्य स्थित था, प्रायः सुरक्षित था, आसानी से उनकी अधीनता स्वीकार नहीं की। शिलाहार महामंडलेश्वर अपराजित

1 A. N Upadhya—
2 S. I I—IX 1-73
3 Rice-My & Cg p. 72

कर्क II के पतन और तैलप के उत्कर्ष को सहन नहीं कर सका।[1] तैलप ने अपने सुयोग्य वीर पुत्र युवराज सत्याश्रय के आधीन उसके विरुद्ध सेना भेजी। शिलाहारों की सेना पश्चिमी सागर और सत्याश्रय के सैन्य समुद्र के बीच घिर और भिड़ गयी, चालुक्यों ने अपरादित्य की राजधानीको भस्म कर दिया।[2] चालुक्यों की यह विजय एक भारी एवं महत्वपूर्ण विजय थी। इस युद्ध में सत्याश्रय के प्रधान सहायक माधवराज और उसका पुत्र केशवराज थे।[3] सौंदत्ती के रट्ट, वह दूसरी शक्ति थी जिसने तैलप का विरोध किया, रट्टराज शान्तिवर्मन सन् ९८० तक तैल का विरोधी बना रहा और उसकी उपेक्षा करता रहा।[4] किन्तु उसके उत्तराधिकारियों ने इस नवीन वृद्धिगत साम्राज्य शक्तिकी आधीनता स्वीकार कर लेने में ही अपनी गति समझी, उन्होंने तैलप की सत्ता के सामने अपना सिर झुका दिया। यादवों ने तैलप का कोई विरोध नहीं किया दीख पड़ता, वे प्रारम्भ से ही उसके साथ रहे, स्यूनदेश का यादव महासामंत भिल्लम द्वितीय उसका एक अधीनस्थ राजा उत्साही और समर्थक था, अपने स्वामी तैलप के लिये उसने परमारराज मुंज का वध किया कहा जाता है।[5] रन्न के 'गदायुद्ध' के अनुसार तैलप की एक उपाधि 'यादवांबर द्युमणि' थी। नोलम्ब-पल्लवों ने भी तैलप से मेल कर लिया था और उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी, संभवतया राष्ट्रकूटों के पतन के पश्चात ही, अथवा नोलम्ब युद्ध के समय। सन् ९८१ में जब तैलप नोलम्ब प्रदेश के बेलारी जिलान्तर्गत कुछ धार्मिक दानों (स्थानोमन्या) की स्वीकृति दे रहा था तो वीर नोलम्बपल्लव परमार की रानी रेवलदेवी ने भी तैलप के समक्ष ही उक्त स्थान के देवालयों के हित भूमि दान की थी।[6]

वैदेशिक नीति में तैलप ने राष्ट्रकूटों का ही अनुसरण किया, दक्षिणी चोलों और उत्तरी परमारों के साथ हुए उसके युद्ध इस बात के साक्षी हैं। चालुक्यों पर चोलों के आक्रमण का सर्व प्रथम उल्लेख सन् ९८० में मिलता है।[7] कहाँ और कैसे यह युद्ध हुआ कुछ ज्ञात नहीं। राजराजा के राज्यारोहण के पश्चात् चोल शक्ति पुनर्जीवित होने लगी थी। गंगवाड़ी और नोलम्बवाड़ी दोनों चोल और चालुक्यों के मध्य दुतरफा धक्का सम्हालनेवाले राज्यों के रूप में विद्यमान थे। चामुण्डराय की मृत्यु हो चुकी थी। अत. गंग राज्यशक्ति भी अब अवनत्योन्मुख थी। नोलम्ब भी पूर्ववत् बलवान न रह गये थे। अस्तु, राजराजा ने नोलम्बों और गंगों पर आक्रमण कर दिये जो कि उसके वर्ष ८ व ९ के अभिलेखों में वर्णित हैं।[8]

---

1 E I III p 269-Bhadona grant
2 Raun's gada-yudham-I V. 22, 23, 24, 25
3 B K I-I 76
4 E I-XVI p I, J. B. B R A S—X p 204
5 D.K. D p 430
6 E C. IX-Hh III
7 Socal Iuse —E. I.-XVI p I
8 97 of 1921 Colas I. p 207

यह स्पष्ट नहीं है कि राजराजा का उद्देश्य क्या था, हो सकता है वेंगि के पूर्वी चालुक्य राज्य में जो घटनाएँ घट रही थी उन्होंने उसे प्रभावित किया हो। कर्नूल जिलान्तर्गत पेडकल्लू के शासक जटाचोड़ भान (भीम) ने दानार्णवको युद्ध मे मारकर सन् ९७३ में अर्थात् उसी वर्ष जबकि तैल ने कर्क को पराजित किया था, वेंगि, रेनाद और पातापी पर अपना अधिकार कर लिया था। स्वभावतः, दानार्णव के पुत्र शक्तिवर्मन और विमलादित्य सहायता प्राप्त्यर्थ चोल दर्बार में पहुँचे। महत्वाकांक्षी राजराजा ने सहर्ष उनका पक्ष लिया। इसके अतिरिक्त उसे अपने खोये हुए प्रान्त टोंडेयमडलको भी पुनः प्राप्त करना था। तैलप तथा जटाचोड़ भीम दोनो उसके शत्रु थे। और टोंडेयमडल, नोलंबवाड़ी एव गगवाड़ी पर अधिकार होने से राजराजा की स्थिति ही सुदृढ़ नहीं होती वरन् तैल और भीम के बीच समझौता होने में भी भारी बाधा पड़ती। तैल और भीम की मित्रता के भी कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलते, किन्तु इस बात के स्पष्ट संकेत उपलब्ध हैं कि तैल के अफसर वेंगि मे हस्तक्षेप करते थे। महामन्त्री धल्ल ने वेंगिको आतंकित कर दिया था और उसके पुत्र नागदेव ने अन्ध्रको युद्ध मे बन्दी बना लिया था।[1] सन् ९९३ मे जब रन्न ने अपना अजितपुराण सम्पूर्ण किया। यह नागदेव मर चुका था, बल्कि उसमे इसका उल्लेख एक भूत कालीन घटना के रूप मे हुआ है। नागदेव का पुत्र पदुवेल तैल अपने पिता की मृत्यु के समय बालक था, किन्तु सन् ९९३ मे हम उसे एक वीर युवक के रूप मे एक उच्च राजकीय पद पर प्रतिष्ठित देखते है।[2] अतः नागदेव की मृत्यु सन् ९८० के पश्चात और सन् ९९३ से पर्याप्त पूर्व किसी समय हुई। सोगल अभिलेख के अनुसार सन् ९८० मे तैल ने चोलो पर विजय प्राप्त की थी। अतः नागदेव द्वारा अन्ध्र के बन्दी बनाने की घटना उसके पूर्व ही हुई होगी, किन्तु यह पता नही चलता कि कथित चोल कोई तैलुग चोल सरदार था या प्रसिद्ध चोल साम्राज्य से सम्बन्धित। बाद के इतिहास से स्पष्ट विदित होता है कि चोलो का ध्यान बटाने के लिये पश्चिमी चालुक्य सदैव वेंगि पर आक्रमण किया करते थे या वेंगिनरेश के किसी राज्यप्रतिद्वन्दी के पक्ष का समर्थन करते थे।

1 Attimabbe's Record-B.K I-I 52—(धालियोल आन्ध्रानाम पिड्दियेम)
2 Ajitaparana I-V-47 etc.

क्रमशः

जैन संस्कृत साहित्य का विकाश

[ले०—श्रीयुत बा० अगरचन्द नाहटा, बीकानेर]

आसन्नोपकारी चरम तीर्थङ्कर भ० महावीर ने तत्कालीन लोकभाषा-अर्द्धमागधी में अपना कल्याणकारी प्रवचन प्रचारित किया था। तब से वर्तमान जैनवाङ्मय का प्रारम्भ होता है उससे पूर्ववर्ती तीर्थङ्कर भ० पार्श्वनाथ के प्ररूपित प्रवचन, भ० महावीर के केवल २५० वर्ष पहले के होनेपर भी हमें प्राप्त नहीं है। बहुत बार सखेद आश्चर्य अनुभव होता है कि २५० वर्ष जैसी छोटी सी अवधि मे उनका सर्वथा लोप कैसे हो गया ? भ० महावीर के समय भ० पार्श्वनाथ के अनुयायी सैकड़ों मुनिगण थे जिनका उल्लेख श्वे० जैनागमो मे मिलता है, अतः उस समय तक उनके प्रवचन परम्परा से मौखिकरूप में अवश्य प्रचलित होंगे, पर भ० महावीर के प्रवचनों में उनका सार भाग आ जाने से उन्हें आगे के लिये सुरक्षित रखना आवश्यक नहीं समझा गया होगा। हमारे प्राचीन ग्रन्थो में १४ पूर्वो के होने का उल्लेख मिलता है और वे आचार्य भद्रबाहु के समय तक सार्थ एवं उसके पश्चात् स्थूलभद्रको १० पूर्व सार्थ एवं ४ मूलमात्र स्मरण थे, आचार्य जम्बूस्वामी १० पूर्व के पाठी थे। इसके पश्चात वीर सं० ७०० के लगभग वह पूर्वो का ज्ञान विच्छेद-सा हो गया। कई विद्वानों की धारणा है कि ये पूर्व ही भ० पार्श्वनाथ का (परम्परागत ज्ञान रूप) साहित्य था एव इसकी भाषा संस्कृत होने को भी कहा[1] जाता है। पर उनके विद्यमान न होने से एवं संतोषप्रद प्राचीन प्रमाणो के अभाव मे इस सम्बन्ध में कुछ निश्चिततया कहा नही जा सकता। परवर्त्ती ग्रन्थो में कुछ सिद्धान्त ग्रन्थ उन पूर्वों के आधार से रचित कहे जाते है। पर वह कहाँतक ठीक है ? नहीं कह सकता। उपलब्ध साहित्य के आधार से जैन संस्कृत साहित्य का प्रारंभ प्रथम शताब्दी के आचार्य उमास्वाति के तत्वार्थ सूत्र से होता है। यह ग्रन्थ कुछ पाठ भेद के साथ दि०, श्वे० दोनों सम्प्रदायों मे समानरूप से वर्तमान है। श्वे० परम्परा के अनुसार इसका भाष्य स्वोपज्ञ है एवं इनके अन्य ग्रन्थ प्रशमरति, पूजाप्रकरणादि प्राप्त हैं। यद्यपि आपके ५०० प्रकरण रचे जाने का उल्लेख श्वे० ग्रन्थों में पाया जाता है पर वह गणना किस प्रकार की है पता नहीं; संभवतः तत्त्वार्थ के १-१ सूत्रको १-१ अलग प्रकरण मान लिया गया हो। श्वे० आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थों की १४४४ संख्या भी कुछ ऐसी ही परिपाटी की प्रतीत होती है। अस्तु, आ० उमास्वाति से लेकर अबतक का २ हजार वर्ष जितना दीर्घ काल, जैन संस्कृत साहित्य के प्रणयन का समय है।

---

१ प्रभावक चरित्रादि।

गत २ शताब्दियों से प्रादेशिक लोक भाषाओं का महत्व बढ़ता जा रहा है। अतः संस्कृत साहित्य का निर्माण दिनोंदिन घटता जा रहा है। २० वीं शताब्दी में उल्लेख योग्य संस्कृत ग्रन्थों का निर्माण बहुत ही कम हुआ है और २० वीं शताब्दी के मुद्रण युग में तो बहुत से प्रधान व उपयोगी संस्कृत ग्रन्थों के हिन्दी व गुजराती अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं और अब तो राष्ट्र भाषा हिन्दी के जोर पकड जाने से संभवतः संस्कृत भाषा मे नवीन रचना करने की लेखकों को प्रायः अन्तर्प्रेरणा ही नहीं होगी। अतः संस्कृत मे साहित्य निर्माण की समाप्ति ही समझिये। पर पूर्वकालीन भारतीय ज्ञान विज्ञान से परिचित होने के लिये उसका अध्ययन चालू रहेगा ही। यद्यपि उसके विद्यार्थियों की संख्या घटती चली जाना सभव है।

हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्य से परिचित होने के लिये संस्कृत साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है। जैन विद्वानों ने भी विगत दो सहस्राब्दियों में बहुत विशाल साहित्य का संस्कृत भाषा में निर्माण किया है। पर उसका समग्र परिचय संस्कृत साहित्य सम्बन्धी इतिहास ग्रन्थों से पा लेना सभव नहीं, अतः हमें जैन संस्कृत साहित्य का इतिहास तैयार करवा के प्रकाशित करना परमावश्यक है। इसके सम्बन्ध में मैं अपने अन्य लेख[1] मे प्रकाश डाल चुका हूँ। यद्यपि मैंने संस्कृत का अध्ययन नहीं किया, अतः संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में कुछ कहने का अधिकारी नहीं हूँ। पर जैन साहित्य से मेरा अत्यधिक अनुराग है एवं विगत २० वर्ष उसीके अन्वेषण में बिताये हैं। अतः उसके प्रारंभिक विकाश पर ऐतिहासिक दृष्टि से संक्षेप में प्रकाश डाल देना चाहता हूँ जिससे पाठकों को उसके विकाश की कथा का यत् किञ्चित् परिचय हो जाय और अधिकारी विद्वान् जैन संस्कृत साहित्य के इतिहास लिखने की प्रेरणा प्राप्त कर उसके प्रणयन में प्रवृत्त हों।

दो हजार वर्ष का जैन संस्कृत साहित्य बहुत विशाल है उस पर प्रकाश डालने का यह स्थान नहीं है। वह तो एक बड़े ग्रन्थ की अपेक्षा रखता है। अतः यह कार्य तो भविष्य में होगा। मुझे तो यहाँ केवल उसके प्रारंभिक विकाश पर सिंहावलोकन कर लेना ही अभीष्ट है। अतः ११ वीं शताब्दी से जैन संस्कृत साहित्य का अभ्युदय काल प्रारम्भ होता है वहीं तक का संक्षिप्त परिचय देते हुए इसे समाप्त कर दिया जायगा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है आचार्य उमास्वामि ही उपलब्ध जैन संस्कृत साहित्य के प्रथम पुरष्कर्ता हैं। उनका युग दार्शनिक-सूत्र युग था। प्रायः सभी दर्शनों

[1] म० खंडेलवाल जैनहितेच्छु।

के आचार्यों ने अपने सिद्धान्तोंको स्वल्पाक्षरी सूत्रों रूप गागर में (जिनमें अर्थ की बड़ी गंभीरता रहती है) सागर के समान भरने का प्रयत्न किया है। तत्त्वार्थ सूत्र भी उसी कोटि का जैन सिद्धान्तों का परिचय देनेवाला महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके सूत्रों में जैनदर्शन सम्बन्धी सभी ज्ञानव्य बातों का दिग्दर्शन करा दिया गया है। सूत्रों की अर्थ गंभीरता का परिचय इन पर बनी हुई विस्तृत टीकाओं से भलीभाँति मिल जाता है। आपका प्रशमरति ग्रन्थ भी बड़ा सुन्दर आध्यात्मिक ग्रन्थ है।

आपके परवर्त्ती संस्कृत साहित्य निर्माता जैन विद्वानों में श्वे० आचार्य पादलिप्तसूरि का नाम आता है। आपका चरित्र प्रभावक चरित्रादि मे प्रकाशित है। इनका रचित दीक्षा प्रतिष्ठा विधि का सबसे प्राचीन ग्रन्थ निर्वाणकालिका है जो प्रकाशित हो चुका है। आपके ज्योतिष पर प्रश्न प्रकाश एवं काल ज्ञान ग्रन्थों के निर्माण का उल्लेख पाया जाता है, पर वे प्राप्त नहीं है। आपका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ तरंगवती कथा भी मूलरूप मे कई शताब्दियों से उपलब्ध नही है। इनका समय पुरातत्त्व विद् मुनि कल्याण विजयजी ने वि० तृतीय शताब्दी बतलाया है। तीसरी शती में आचार्य मानदेव ने शांतिस्तव बनाया, जो श्वे० जैन समाज में बहुत प्रसिद्ध है।

पादलिप्तसूरि के पश्चात जैन न्याय को सुव्यवस्थित रूप देने वाले महान दार्शनिक समंतभद्र द्वय सिद्धसेन दिवाकर व विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इन दोनों आचार्यों मे से सिद्धसेन की प्रसिद्धि श्वे० समाज मे व समन्तभद्र की दि० समाज में अधिक है वैसे दोनो संप्रदाय दोनों ही विद्वानों को बड़े ही आदर की दृष्टि से देखते हैं। इनकी अगाध विद्वत्ता का परिचय आपकी प्राप्त कृतियों से भली भाँति मिल जाता है। आ० सिद्धसेन का प्राकृत भाषा का न्याय ग्रन्थ सम्मति तर्क तो अनुपम है ही पर बत्तीस संस्कृत द्वात्रिंशिकायें बड़ी ही गभीर है। न्यायावतार नामक आपका न्याय ग्रन्थ भी इन्हीं में सम्मिलित है। अब ३२ में से २१ द्वात्रिंशिकायें ही प्राप्त है एवं न्यायावतार को छोड़, दुरुह होने से किसी पर भी कोई टीका नहीं पाई जाती। प० सुखलाल जी ने आ० सिद्धसेन की प्रतिभा पर समुचित प्रकाश डाला है एवं वेदवाद द्वात्रिंशिका विवेचन के साथ प्रकाशित की है। कल्याण मंदिर स्तोत्र भी आपका माना जाता है जो संस्कृत स्तोत्रों में प्राचीन है। परम्परानुसार आपका समय वि० प्रथम शती माना जाता है। पर मुनि कल्याण विजय जी व पं० सुखलाल जी आदि ने काफी विचार व प्रमाणों के साथ वि० ४-५ शती सिद्ध किया है।

आ० समंतभद्र की उपलब्ध कृतियों में आप्तमीमांसा, स्वयंभूस्तोत्र, युक्त्यानुशासन जिनस्तुतिशतक, जीवसिद्धि, रत्नकरण्डश्रावकाचार, तत्वानुशासन, प्रमाण पदार्थ

हैं। ये रचनायें भी बड़ी महत्वपूर्ण है। आपका समय प्रथम शताब्दी माना जाता है।

शत्रुंजय माहात्म्य नामक संस्कृत ग्रन्थ धनेश्वरसूरि द्वारा वि० ४७७ में बनाने को कहा जाता है पर संशोधन प्रेमी विद्वानों की राय मे वह बहुत परवर्त्ती समय का है।

सुप्रसिद्ध आचार्य वराहमिहर के भ्राता के रूप में प्रसिद्ध आ० भद्रबाहु ने भद्रबाहु-संहितानामक ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की। पर अप्रकाशित दि० भद्रबाहुसंहिता को पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने १७ वीं शती की रचना प्रमाणित की है। यद्यपि इसी नाम वाले ग्रन्थ की १६ वीं शती की प्रति भा० इ० पूने में प्राप्त है पर उसकी परीक्षा कर समय निश्चित करना अभी शेष है। उ० मेघविजय के मेघमहोदय ग्रन्थानुसार भद्रबाहु संहिता प्राकृत भाषा मे थी। अतः पूने वाली भद्रबाहु संहिता वास्तव में ५ वीं शती के भद्रबाहु रचित होने मे संदेह है।

विक्रम के समकालीन आचार्य कालक ने कालक संहिता बनाई थी, पर वह उपलब्ध न होने से प्राकृत भाषा में थी या संस्कृत में कुछ कहा नहीं जा सकता।

और भी बहुत से ग्रन्थ इन शताब्दियों मे संस्कृत में बने होंगे पर उस समय तक लेखन का विशेष प्रचार न होने से नष्ट हो गये प्रतीत होते हैं।

५ वी ६ ठी शती का केवल एक ही संस्कृत न्याय विषयक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्राप्त है जिसके रचयिता बौद्ध वादि विजेता मल्लवादि नामक श्वे० आचार्य हैं। इनका द्वादशारनयचक्र ग्रन्थ दार्शनिक ग्रन्थों मे बहुत महत्व रखता है। पर अभी तक इसके अप्रकाशित होने के कारण उतना प्रसिद्धि मे नहीं आया। स्व० मुनि चतुरविजय जी बड़ौदा ओरियन्टल सीरीज मे प्रकाशनार्थ इसका सम्पादन कर रहे थे पर बीच में ही स्वर्गवासी हो जाने से वह पूरा न हो सका। अभी मुनि जम्बूविजय जी ने सम्पादन कार्य हाथ में लिया है, और आत्मानंद जैन सभा भावनगर से प्रकाशित होगा। इस ग्रन्थ के महत्व के सम्बन्ध में मुनि श्री ने आत्मानंद प्रकाश के २ अंकों में विस्तृत निबन्ध प्रकाशित किया है। विद्वानों को उसे पढ़कर लाभ उठाने का अनुरोध है। यह ग्रन्थ मूल रूप से अब प्राप्त नहीं है इसपर सिंहगणि क्षमाश्रमण की १८००० श्लोक की विस्तृत टीका ही प्राप्त है जिसका समय ७ वीं शती का अंत है। इसकी एक प्रति हमारे संग्रह में भी है। आ० मल्लवादि का चरित प्रभावक चरित्र में द्रष्टव्य है। इन्होंने सम्मति तर्क की टीका भी बनाई थी, पर वह प्राप्त नहीं है।

इसी समय के आसपास पात्र केशरी ने त्रिलक्षकदर्शन ग्रन्थ बनाया पर वह प्राप्य नहीं है। मानतुंगाचार्य ने ७ वीं शती में भक्तामर स्तोत्र की रचना की जो दोनों

सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य है एवं दोनों सम्प्रदाय वालों की लगभग १० टीकायें व कई पादपूर्ति काव्य उपलब्ध है।

६-७ वीं शती में श्वे० समाज में चूर्णिसाहित्य का निर्माण हुआ है जिसकी भाषा प्राकृत सस्कृत मिश्रित है। दि० समाज के सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार पूज्यपाद का समय भी ६ ठी शती है जिन्होंने तत्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि टीका बनाई व सर्वप्रथम जैनेन्द्र व्याकरण नामक जैन व्याकरण की रचना की। आपका समाधितन्त्र (१०० श्लोक) अध्यात्म विषय का सुन्दर ग्रन्थ है एवं इष्टोपदेश (श्लोक ५१) और दस भक्ति नामक रचनाये भी सर्वविदित है। वास्तव में यह सस्कृत साहित्य के धुरन्धर विद्वान् थे। दर्शन, व्याकरण, वैद्यक और ज्योतिष पर इनका समान अधिकार था।

मुनि जंबू विजय जी के मतानुसार तत्त्वार्थ के श्वे० टीकाकार सिद्धसेन भी ७ वी शती के पूर्वार्ध के है। जिनभद्रगणि के विशेपावश्यक भाष्य पर कोट्याचार्य की महत्वपूर्ण टीका के निर्माण का भी लगभग यहीं समय प्रतीत होता है।

८ वी शताब्दी मे दोनो सम्प्रदायो में दो महान-तेजस्वी नक्षत्रों का उदय हुआ। वे है अकलंक और हरिभद्र। मुनि जम्बू विजय जी आचार्य हरिभद्रसूरि से आचार्य अकलक को कुछ पहले का (वि० स० ७००) बतलाते है। अकलक ने बौद्ध धर्मकीर्ति व उनके शिष्य धर्मोत्तर एव प्रज्ञाकर गुप्त का खंडन कर जैन दर्शन की प्रतिष्ठा बढ़ाई। आपके रचित आप्तमीमांसा की अष्टशती टीका, तत्वार्थ की राजवार्तिक टीका लघियस्त्रय, न्याय विनिश्चय, प्रमाण संग्रह एव सिद्धि विनिश्चय ग्रन्थ है। अकलंक प्रसिद्ध तार्किक दार्शनिक विद्वान् थे। इन्होंने जैन न्याय में एक नवीन युग का श्रीगणेश किया था। बौद्ध दार्शनिकों की मान्यताओं का खण्डन कर जैन न्याय की श्रेष्ठता प्रदर्शित की थी।

आचार्य हरिभद्रके तो १४४४ प्रकरण रचने का कहा जाता है, जिनमें से शास्त्र वार्ता समुच्चय, षट्दर्शन समुच्चय, षोडशक, अष्टक, लोकतत्वनिर्णय, योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगविंशिका आदि मौलिक ग्रन्थ एवं न्याय प्रवेश, तत्त्वार्थसूत्र, आवश्यक आदि की टीकाये उल्लेखनीय है।

इसी ८ वीं शताब्दी में सर्व प्रथम संस्कृत में जैन कथा ग्रन्थ दि० रविषेण ने पद्मचरित्र बनाया। इसके परवर्ती कथा ग्रन्थ जटासिंहनंदि का वरांगचरित्र, डा० आदिनाथ उपाध्याय द्वारा सम्पादित, माणिक्यचंद जैन ग्रन्थ-माला से प्रकाशित हो चुका है एवं प्रभंजन के यशोधर चरित्र की प्रति दक्षिण के दि० भंडारों मे है। इसका उल्लेख श्वे० उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला कथा (सं० ८३५) में भी किया है। परवर्ती

सभी यशोधर चरित्रों का मूल होने के कारण इसका शीघ्र ही प्रकाशन होना आवश्यक है।

पं० नाथूराम प्रेमी के मतानुसार यापनीय संघ के अपराजितसूरि भी ८ वीं शती के है जिनके द्वारा रचित भगवती आराधना की विजयोदय टीका प्राप्त है।

९ वीं शती के विद्वान ग्रन्थकारों में दि० आचार्य वीरसेन, जिनसेन, एवं गुणभद्र आदि विशेषरूप से उल्लेखनीय है। आ० वीरसेन ने सुप्रसिद्ध महान् ग्रन्थ षट्खंडागम पर धवला नामक विशद—व्याख्या ७२००० श्लोक की सं० ८७३ मे पूर्ण की। फिर कषायप्राभृत की जयधवलावृत्ति का निर्माण करते हुए (२०,००० श्लोक निर्माण कर) उनका स्वर्गवास हो गया। अतः उसे आपके विद्वान् शिष्य जिनसेन ने (४० हजार श्लोक में) सं० ८९४ में पूर्ण किया। आपकी अन्तिम रचना आदि पुराण एवं प्रथम रचना पार्श्वाभ्युदय काव्य—३६४ वृत्त (सं० ८३० लग) है। इनमें से आदि पुराण की रचना करते हुए जिनसेन का स्वर्गवास हो जाने से इनके शिष्य गुणभद्र ने पूर्ण किया व उत्तरपुराण की रचना की। गुणभद्र का आत्मानुशासन २७२ श्लोक का सुन्दर ग्रन्थ है यह आत्मा पर शासन करने का उत्तम साधनभूत कार्य अबाध गति से चलता रहा।

इसी समय पुन्नाटगण मे अन्य जिनसेन नामक आचार्य हुए उन्होंने १२ हजार श्लोक का हरिवंशपुराण नामक ग्रन्थ वि० सं० ८४० मे बनाया। आ० विद्यानन्द भी ९ वी शती में हुए जिन्होंने तत्त्वार्थ पर श्लोकवार्तिक, व आप्तमीमांसा पर अष्ट सहस्री टीका और प्रमाण परीक्षा, आप्त परीक्षा, पत्र परीक्षा, सत्यशासन परीक्षा, युक्त्यनुशासन टीका आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ बनाये। प्रेमीजी के मतानुसार द्विसंधान काव्य आदि बावन प्रबन्ध बनाने का उल्लेख प्रभावक चरित्र में आया है पर वे प्राप्त नहीं है। दि० अनंतवीर्य ने अकलंक के सिद्धिविनिश्चय की टीका बनायी जिससे उक्त दुर्बोध ग्रन्थ सुबोध हो गया। यह लगभग तीन सौ वर्षों का काल संस्कृत साहित्य के विकास के लिये विशेष महत्त्व का है। दिगम्बराचार्यों ने इस काल में संस्कृत साहित्य का निर्माण प्रचुर मात्रा मे किया।

सं० ९०० के लगभग प्रसिद्ध शाकटायन व्याकरण व उसकी स्वपज्ञ अमोघवृत्ति के रचयिता शाकटायन आचार्य यापनीय संघ में हुए जिनके स्त्रीमुक्ति, एवं केवली भुक्ति प्रकरण भी जैन साहित्य संशोधक में प्रकाशित हो चुके हैं।

१० वी शताब्दी के प्रारंभ मे श्वे० आचार्य जयसिंहसूरि ने धर्मोपदेश माला की वृत्ति(सं० ९१३ नागोर में) बनायी। आचारंग व सूत्रकृताग नामक प्राथमिक अंगद्वय

व जीव समास पर टीका करनेवाले सिलांगाचार्य भी इसी समय (सं० ९१५-३३) में हुए। अपूर्व आध्यात्मिक रूपक ग्रन्थ उपमितिभवप्रपंचा कथा का प्रणयन आचार्य सिद्धर्षि ने सं० ९६२ श्रीमालनगर में पूर्ण किया। इनके रचित श्रीचन्द्र केवली चरित्र (सं० ९७४) उपदेशमाला वृत्ति एवं न्यायावतार वृत्ति उपलब्ध हैं। स० ९८९ में दि० हरिसेन ने कथाकोष नामक विशाल कथा ग्रन्थ का निर्माण किया है। जिसमें १५७ कथायें है व जिसका परिमाण १२५०० श्लोक का है। प्रस्तुत ग्रन्थ डा० आदिनाथ उपाध्याय से सम्पादित होकर सिंघी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो चुका है। जैनेन्द्र व्याकरण की शब्दार्णव टीका के रचयिता गुणनंदि भी प्रेमीजी के मतानुसार वि० स० ९९७ के लगभग हुए हैं। सर्वज्ञसिद्धि व बृहत् सर्वज्ञसिद्धि के प्रणेता अनन्त कीर्त्ति भी सम्भवतः इसी शताब्दी में हुए। परीक्षामुखके रचयिता आचार्य माणिक्यनंदि भी इसी समय के विद्वान है। न्यायबिन्दु के टीकाकार मल्लवादि ९-१० वीं शती के ज्ञात होते है।

इस प्रकार लगभग १ हजार वर्ष के जैन संस्कृत साहित्य के विकाश की कथा पाठकों के सम्मुख उपस्थित की गयी है। ११ वी शती मे संस्कृत भाषा मे ग्रन्थ रचनेवाले अनेक जैन विद्वान हुए। उसके पश्चात तो वह सिलसिला और भी जोरों से बढ़ता ही चला गया, जिस पर प्रकाश डालने के लिये यह लेख उपयुक्त नही है। अतः यहाँ ११ वीं शताब्दी के कतिपय ग्रन्थकारों की सूची देकर ही प्रस्तुत लेख समाप्त किया जा रहा है।

समय	ग्रन्थकार	ग्रन्थ
सं० १००५	जम्बू	जिनशतक
सं० १०१६	सोमदेवसूरि	यशस्तिलकचम्पू, नीतिवाक्यामृत
सं० १०२५	साम्ब	जिनशतकटीका
११ वीं शताब्दी	हरिश्चन्द्र	धर्मशर्माभ्युदय
सं० १०३१-६६	महासेन	प्रद्युम्नचरित्र
सं० १०३५	वीरनंदि	चंद्रप्रभचरित
सं० १०५०	मल्लिसेन	महापुराण, नागकुमार काव्य भैरव पद्मावती कल्प, सरस्वती कल्प मंत्रकल्प, ज्वालमालिनी कल्प।
सं० १०५५	वर्द्धमानसूरि	उपदेशपद टीका, उपमिति भव

		प्रपंचा सारोद्धार, उपदेशमाला बृहद् टीका।
सं० १०५० से ७३	अमितगति	सुभाषितरत्नसंदोह, धर्मपरीक्षा श्रावकाचार, आराधना, पंच-संग्रह सामायिक पाठ, भावना द्वात्रिंशिका।
सं० १०७३	जिनचन्द्रसूरि	नवपदप्रकरणवृत्ति
सं० १०८०	बुद्धिसागरसूरि	बुद्धिसागर व्याकरण
सं० १०२५-०	धनपाल शोभन	तिलक मंजरी, शोभनस्तुति वृत्ति चतुर्विंशतिका
सं० १०८२	वादिराज	पार्श्वनाथ चरित्र, न्याय विनिश्चय विवरण, यशोधरचरित्र, एकीभाव स्तोत्र, प्रमाणनिर्णय, त्रैलोक्य दीपिका, अध्यात्म अष्टक।
सं० १०८०-८७	श्रीचन्द्र	पद्मचरित्र टिप्पण, महापुराणटिप्पण
११ वीं	दयापाल	शाकटायन की रूपसिद्धि टीका

इसी शताब्दी में सन्मतितर्क की वाद महार्णव नामक विशिष्ट टीका के रचयिता अभयदेवसूरि, उत्तराध्यन के टीकाकार थारापद्रीय शान्ति सूरि व समयसार आदि पर टीकाओं के रचयिता अमृतचद्र सूरि, इन्द्रनंदि, कनकनंदि, माधवचद्र आदि हुए है।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्रभाचंद्र' भी ११ वीं के अन्त और १२ वीं के प्रारंभ मे हुए है। इसी प्रकार गद्यचितामणि के रचयिता वादीभसिंह एवं नवांग वृत्तिकार अभयदेव-सूरि आदि अनेक विद्वान हुए है। चंद्रप्रभ, अनन्तवीर्य आदि अनेक ग्रन्थकार १२ वीं शताब्दी के प्रारंभ मे हुए प्रतीत होते है। पर अब उनकी नामावली देने का लोभ संवरण करना ही उचित प्रतीत होता है।

मैंने न तो संस्कृत भाषा का अध्ययन किया है और न मेरी स्मृति ही तेज है। अतः संभव है लेख मे कई ग्रन्थकारो के नाम छूट गये है व उल्लिखित विद्वानों के कई ग्रन्थो के नाम न दिये गये है। ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों का महत्त्व भी लेख के विस्तार भय से यहां प्रदर्शित नहीं किया जा सका। वास्तव में प्रस्तुत लेख केवल मार्ग प्रदर्शन के लिये ही लिखा गया है। जो विद्वान् इस दिशा मे काम करना चाहें उन्हें कुछ प्रेरणा एव मार्ग इसके द्वारा मिल सका तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूँगा। खाका मैंने खींच दिया है रंग भरना कुशल कलाकार का काम है।

एक बात का स्पष्टीकरण कर देना यहाँ अत्यन्त आवश्यक है कि हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों के समय के सम्बन्ध में बहुत मतभेद पाया जाता है। इस लेख में जहाँ तक हो सका है इसके सम्बन्ध मे मान्य विद्वानों के निर्धारित समय का ही उपयोग किया गया है पर उसे अन्तिम निर्णय नहीं समझना चाहिये। कई ग्रन्थकारों के समय के सम्बन्ध में मुझे भी शंका है पर अभी इसके सम्बन्ध में विशेष विचार करना अनावश्यक है।

प्रस्तुत छोटे से निबन्ध के लिखने में प्रायः दर्जन से अधिक ग्रन्थो का सहारा लिया गया है जिनका उल्लेख कर देना भी यहाँ अत्यन्त आवश्यक है। इससे विशेष जिज्ञासुओं को विशेष जानकारी एवं संदेहस्थलो के निर्णय करने में सुगमता उपस्थित होगी। सहायक ग्रन्थ इस प्रकार हैं।

१-२-३ प० सुखलालजी के द्वारा सम्पादित संमतितर्क, तत्त्वार्थसूत्र विवेचन एवं भारतीय विद्या में प्रकाशित अन्य लेख।

४ मुनिकल्याण विजय जी लिखित प्रभावक चरित्र पर्यालोचन।

५ स्वर्गीय मोहनलाल देसाई लिखित 'जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास'।

६ प० दलसुख मालवणिया का जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन निबंध जो कि प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ में प्रकाशित है।

७ मुनि जम्बू विजय जी लिखित द्वादसार नयचक्र के सम्बन्ध में लिखित निबन्ध जो कि आत्मानंद प्रकाश में प्रकाशित है।

८ प० नाथूराम प्रेमी लिखित जैन साहित्य और इतिहास।

९ पं० जुगल किशोर मुख्तार लिखित "समंतभद्र"

१०-११ प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य लिखित अकंलक ग्रन्थत्रय एवं न्यायकुमुदचंद्र की प्रस्तावना।

१२ जैन-सिद्धान्त-भास्कर में प्रकाशित प० भुजबली शास्त्री का "जैन संस्कृत वाङ्मय" नामक लेख

कविवर बनारसीदास की रस-कल्पना

[ले०—श्रीयुत बा० जमनालाल जैन, साहित्य-रत्न]

आज से तीन शती पूर्व कवि-शेखर बनारसीदासजी ने इस आर्य-भूमि को अपनी पदधूलि से पवित्र किया था। उनकी विचारसरणि, भाव-भंगी एवं मौलिक साहित्यिक विधानों से हिन्दी संसार उनका सदैव ऋणी रहेगा। अपने ५५ वर्ष संवत १६४३ से १६९८ तक के जीवन-काल की आत्म-कथा लिखकर तो उन्होंने हमारी हिन्दी को एक अनुपम और अभिनव कृति सर्व प्रथम प्रदान की। जीवन के जितने विविध उतार-चढ़ाव इस कवि ने अनुभव किये और घात प्रतिघातों को समता से सहता चला गया, उतने कटु और कोमल अवसर बहुत कम साहित्य-स्रष्टाओं के जीवन में अवतीर्ण होते हैं। तीन पत्नियों और नौ बालकों का वियोग, व्यावसायिक असफलता, कुष्ठ-रोग की असह्य व्यथा, इश्कबाजी का चस्का, भावुकता एवं भोलेपन के कारण अव्यावहारिकता—इन सबके कारण कवि का मानस अत्यन्त पवित्र, दृढ़ एवं विवेकपूर्ण बन गया था। अपने यहाँ—

> नानी मरन, सुता जनम, पुत्र-बधू आगौन।
> तीनों कारज एक दिन, भये एकही भौन॥

देखकर कवि आश्चर्य चकित तथा दुःखित-हर्षित नहीं हुए [illegible] नहीं गये। उनका अन्त-विवेक उस समय जाग्रत हो उठा और वे कह ही गए।

> यह संसार विडम्बना, देखि प्रगट दुख खेद।
> चतुर चित्त त्यागी भये, मूढ़ न जानहिं भेद॥

जीवन के अनेक भले-बुरे दृश्य देखने के उपरान्त उनके मुख से जो वाणी निकली थी, उसमें अनुभव का पुट था इसीलिए वह युग-युगीन और चिर-सनातन है। जौहरी का पुत्र होकर जो व्यक्ति अपनी भावुकता, सरलता और सहज-स्निग्धता के वशीभूत होकर दस-पांच लोगों की मीठी बातों में आकर, समस्त रत्नों से अ-परिग्रही हो, मृगावती तथा मधुमालती की प्रेम-गाथाएँ सुना-सुनाकर सात मास पर्यन्त कचौड़ी वाले से उधार खाता रहा और अन्त में छल से श्वसुर द्वारा घर बुला लिए जाने के पश्चात जो भावुक-हृदय चिढ़ गया था, उसकी निष्कपटता एवं फक्कड़ता के विषय में क्या कहा जाय।

उनकी आत्म-कथा (=अर्धकथानक) केवल कथा ही नहीं है, वह जीवन का रंगीन तथा मनोरंजक नाटक, भावुकता का भाण्डार, अनुभवों का निचोड़, तत्कालीन यथार्थ राजनैतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का दर्पण भी है; हास्य, वात्सल्य, शृंगार, करुण, शान्ति, वीभत्स तथा अद्भुत रसों का अनुपम सम्मिश्रण है। यदि इस कवि-शिरोमणि की इसके सिवा और कोई रचना न होती, तब भी वह अमर साहित्यिक के सिंहासन का पात्र रहता।

यह तो हुई व्यावहारिक तथा अनुभव-क्षेत्र की बात, आध्यात्मिकता की अन्तर्दृष्टि भी उनकी अद्भुत थी। बनारसीदासजी की अन्य धार्मिक कृतियों में 'नाटक-समयसार' एक प्रमुख रचना है। अध्यात्म-रस और आत्मानुभव की जितनी अनूठी बातें इस ग्रन्थ में वर्णित हैं, उतनी कला पूर्ण धार्मिक सामग्री अन्यत्र कठिनता से ही प्राप्त हो सकती है। नाटक समयसार में कवि की प्रतिभा साम्प्रदायिक वातावरण से सर्वथा उन्मुक्त होकर, सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् के पुनीत आदर्श पर श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र का विवेचन करने में प्रस्फुटित हुई है। उसके एक-एक छन्द और पद का एक-एक शब्द कवि के मर्म की आवाज है। जब वह नाटक समयसार लिखने बैठा तब उसे स्वयं कहना पड़ा—

ग्यान कला उपजी अब मोहि, कहौं गुन नाटक-आगम केरो।
जासु प्रसाद सधै सिव मारग, वेगि मिटै भव-वास बसेरो॥

यह उसका अभिमान और गर्वोक्ति नहीं, शिव-मार्ग साधने की महत्वाकांक्षा की पूर्ति का प्रयास मात्र था और इसे प्रारम्भ कर वह अपने को सौभाग्यशाली समझ रहा था। जैसा कि समीक्षा से सिद्ध होता है :—

भारतीय साहित्य मे नव रस माने गये है और यही परम्परा अबतक चल रही है। हमारे कविवर को भी यही मान्यता स्वीकार थी, जिसका विचार निम्नदृष्टियो से किया जा सकता है—

(१) स्थायी भाव (२) वास्तविक रस सख्या (३) सर्वोत्कृष्ट रस (४) रसों का आत्मा से सम्बन्ध (५) रसो का लौकिक और पारमार्थिक स्थान (६) रसोत्पत्ति का मूल (७) एक विषय में कई रसों की युगपत अनुभूति।

भारत के साहित्य-शास्त्रियों ने अभिनय तथा लौकिकता को ही ध्यान मे रखकर रसों के स्थायी भावों की व्यवस्था की है, उन्होंने इसके आत्मिक पक्ष पर किंचित् भी लक्ष्य नही दिया। आजतक हम रसो के स्थायीभाव क्रमशः रति (शृंगार), हास (हास्य), शोक (करुण), क्रोध (रौद्र), उत्साह (वीर), भय (भयानक), जुगुप्सा (वीभत्स), विस्मय (अद्भुत), शम (शान्त) पढ़ते आए हैं, लेकिन बनारसीदासजी ने प्राचीन परम्परा पर विश्वास न कर स्वतन्त्र विचारों द्वारा शोभा (शृंगार), आनन्द (हास्य), कोमलता (करुणा) क्रोध (रौद्र), पुरुषार्थ (वीर) चिन्ता (भयानक) ग्लानि (वीभत्स) आश्चर्य (अद्भुत) और वैराग्य (शान्त) को स्थायी भाव स्वीकार किया है। इससे पता लगता है कि कविवर बनारसीदासजी का साहित्यिक-पाण्डित्य कितना पैना तथा मर्मस्पर्शी था—वे एक मौलिक चिन्तक थे। यद्यपि रौद्र, अद्भुत तथा कुछ-कुछ वीभत्स एवं शान्त रसो के स्थायी भाव प्राचीन परम्परानुसार ही उन्होंने भी स्वीकार किये हैं, तथापि इस विषय में यह नहीं भूलना चाहिये कि इन रसों का विषय ही उनके नामानुरूप है और इनकी उद्भावना ऐसे ही भावों को प्रस्तुत करती है। देखना यह है कि जिन रसो के स्थायी भावों मे उन्होंने अन्तर प्रदर्शित किया है, वे कहां तक उपयुक्त तथा मौलिक है।

रति-शोभा—शोभा शब्द में जो गूढ़ अर्थ और व्यापक दृष्टिकोण निहित है, वह रति में नहीं। केवल रति को शृंगार रस का स्थायी भाव कैसे माना जाए ? शरीर और आत्मा में जो अन्तर होता है, वही इन दोनों में है। शृंगारिक विषय-भोग सम्बन्धी चित्र को देखकर मुनि, कामुक और चित्रकार के हृदय में एक ही प्रकार के विचार उद्भूत नही हो सकते, अतएव एकमात्र रति को शृंगार रसका स्थायी भाव नही माना जा सकता। शोभा का सम्बन्ध मानसिक वृत्ति से होने के कारण उसे व्यापक अर्थ में ग्रहण करना होगा। शोभा (साज, सजावट और सौन्दर्य) की ओर प्रवृत्त होने के लिये चित्त-वृत्तिका उस ओर तल्लीन और प्रफुल्लित रहना आवश्यक है। त्रियोग (मन-वचन-तन) की उस ओर एकनिष्ठता होने पर ही शृंगार रसकी अनुभूति हृदय में सम्भव है।

हास—आनन्द—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य बुरी तथा हानिप्रद प्रवृत्तियो और अपने चरम सीमा पर पहुंचे हुए अनिष्ट सयोग से भी थक या ऊबकर हँस देता है तथा दूसरों को अवांछनीय पथ पर जाते देख, दुःख की स्थिति मे भी हँस देता है या हँसने पर विवश हो जाता है। इस हँसी मे एक टीस होती है, आह और चिनगारी होती है। दुःख जब असह्य हो उठता है, तब प्रायः हँसी-सी आती है। साइकिल पर से गिरते हुए व्यक्ति को देखकर अथवा किसी विद्वान् या सुसंस्कृत व्यक्ति को चित्त-भ्रम की अवस्था मे सड़को पर अस्त-व्यस्त, नङ्ग-धड़ङ्ग घूमते देखकर हम दुखी तो होते हैं, किन्तु कुछ न कहकर हम भी देते हैं और एक कुतूहल की भावना को लिये देखते रहते है। इतने पर से यह नही कहा जा सकता कि उस समय हमे हास्यानुभूति होती है, वास्तव मे हमें उस समय करुणा आती है और यो कह सकते है कि करुण रसकी अनुभूति होती है। किन्तु आनन्द का स्थायी भाव स्वीकार करने मे यह बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। जिन मनोरंजक भोलेपन से परिपूर्ण शुभ संवादों की ध्वनि हमारे कानों में पड़ती है और जिन प्रवृत्तियों के द्वारा किसी का कुछ नुकसान तो नहीं होता, या फिर शत्रुका नुकसान होता है और थोडे समय के लिये मन-बहलाव का वातावरण तैयार हो जाता है उस समय आनन्द की अवस्था मे हास्यरस की अनुभूति होती है। वास्तव मे देखा जाय तो हास्यरस का सम्बन्ध आनन्द से है, केवल हास्य से नही। वह आनन्द मन-वचन-काय की प्रवृत्तियो अथवा भावनाओं पर अवलम्बित है। हम जिस बात मे आनन्दानुभव करें, वही हास्य रसोत्पत्ति मानना समुचित है।

शोक—कोमलता—शोक के मूल मे चिन्ता है और चिन्ता से भय की उत्पत्ति होती है। इसलिये शोक को करुण रसका स्थायी भाव मानना, भ्रम से खाली नही है। करुणा का अर्थ है दया। दया उसी व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न होगी, जिसका अन्तःकरण कोमलता से भरा हुआ हो। शोक में तो एक प्रकार से अपनी ही असमर्थ एवं दयनीय स्थिति की सूचना मिलती है, किन्तु दया में एक प्रकार की उदारता और समरसता का दर्शन होता है। शोक के पीछे

मनुष्य को पागल होते पाया गया है, परन्तु दयालु कभी विवेक-विहीन होता हुआ नही देखा गया। शोक मे अवश्य आदमी अपने को असमर्थ पा रो देता है, क्योंकि भविष्य की चिन्ता उसे भयभीत बना देती है, परन्तु कोमलता मे यह बात नही होती। कोमलता अपने आप में सरल, निर्मल और निष्कलुष है। अतएव यहाँ भी बनारसीदासजी का विधान मनोवैज्ञानिक तथा समीचीन ज्ञात होता है।

उत्साह—पुरुषार्थ—कबीरदासजी की यह पंक्ति सर्व विश्रुत है कि—"कथनी मीठी खांडसी, करनी विषकी लोय।" उत्साह देनेवाला पीछे हट सकता है और उत्साह ठंडा भी हो सकता है, परन्तु पुरुषार्थ आगे की ओर बढ़ता ही चलता है। किसी कवि के वीर-रस सम्बन्धी काव्य को पढ़ या सुनकर उत्साह आये और न भी आये—इसका कोई निश्चित नियम नहीं है। परन्तु समर भूमि में वीर-पुत्र को शस्त्र चमकाते देख और रणभेरी गूंजते सुन रण-रत पुरुष अपने कर्त्तव्य से मुख नही मोड़ सकता—उसका उद्यम उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा। पुरुषार्थ स्वयं सजीव है, उत्साह दूसरों पर अवलम्बित रहनेवाली वस्तु है।

भय—चिन्ता—भय स्थायी नही होता, स्थायी चीज़ होती है चिन्ता। किसी भयानक वस्तु या दृश्य को देखकर भय उत्पन्न हो ही या किसी के द्वारा भय बताने पर भय की भावना जाग्रत हो ही, इसका कोई निश्चय नहीं है। जबतक किसी के प्रति चिन्ता नही होती तबतक भय का कोई स्थान नहीं है। इस सम्बन्ध मे चिन्ता शब्द भय की अपेक्षा अधिक व्यापक है, इसे न भुलाते हुए भी कहना होगा कि दोनों एक-दूसरे के पुष्ट पोषक है।

यह तो रसों का लौकिक विषयों तथा पदार्थों सम्बन्धी स्वरूप है, परन्तु उनका आत्मा से भी सम्बन्ध है और वही महत्वपूर्ण है। आत्मा अजर-अमर, शुद्ध-बुद्ध अविनाशी द्रव्य है। अनादि काल से कषाय, मिथ्यात्व एवं प्रमादों के वशीभूत होकर उसकी शक्ति दबी पड़ी है और इस तरह वह अष्ट-कर्मों के आधीन है। कर्मों से जकड़ा होने के कारण ही यह आत्मा चिरकाल से संसार में भटक रहा है और अपने स्वरूप-प्रकाश से वञ्चित है। आत्मा की शक्ति अनन्त है और वह व्रत, सयम तथा तपश्चरण से परमात्मा तक हो सकता है। इसी परमात्म स्वरूप की प्राप्ति के लिये आत्मा मे नौ रसो की सुन्दर कल्पना की गयी है। बनारसीदासजी कहते है—

गुन विचार सिंगार, वीर उद्यम उदार रुख।
करुना समरस रीति, हास हिरदै उछाह सुख॥
अष्ट करम दल मलन, रुद्र बरतै तिहि थानक।
तन विलेच्छ बीभच्छ, दुन्द मुख दसा भयानक॥
अद्भुत अनंत बल चिन्तवन,
सांत सहज वैराग ध्रुव।

नव-रस विलास परगास तब,
जब सुबोध घट प्रगट हुव ॥

अर्थात्—आत्मा को ज्ञान गुण से विभूषित करने का विचार 'शृंगाररस' है, कर्म-निर्जरा का उद्यम वीररस है, सब जीवों को अपने ही समान समझना करुणरस है, हृदय में उत्साह और सुख का अनुभव हास्यरस है, अष्ट कर्मों को नष्ट करना रौद्ररस है, शरीर की अशुचिता का विचार करना वीभत्सरस है, जन्म-मरणादि का दुःख चिन्तवन करना भयानकरस है, आत्मा की अनन्त शक्ति का चिन्तवन अद्भुतरस है और दृढ़ वैराग्य का धारण करना, तल्लीन रहना शान्तरस है। आत्मानुभव या सम्यक् ज्ञान होनेपर ही इस प्रकार का विचार उत्पन्न हो सकता है। *

अन्तर्मुखी प्रवृत्ति तथा पुरुषार्थ ही रसों का पारमार्थिक स्थान है और बाह्य आडम्बर की ओर अपने उपयोग को लगाना लौकिक स्थान है। जबतक हमारी प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी नहीं होतीं, आत्मानुभव की ओर हम प्रवृत्त नहीं होते, तबतक आत्म-ज्योति प्रज्वलित नहीं हो सकती एकता और समरसता की भावना जाग्रत नहीं हो सकती। लोकाचार की समस्त क्रियाएँ, समस्त विषय और वस्तुएँ अनित्य, क्षण-भंगुर तथा नष्ट हो जाने वाली हैं और ऐसी सामग्री के प्रति ममता पूर्ण होकर प्रवृत्ति करना स्वाभाविक कैसे कहा जा सकता है। यह तो वैभाविक और चञ्चल वृत्ति ही कही जा सकेगी। बाह्य-जगत् में एक ही वस्तु और विषय जहाँ एक के लिए हर्ष और सुख-प्रद होते हैं, दूसरे के लिए वही सामग्री उसी समय विषाद और दुख-प्रद सिद्ध होती है। इसलिए वस्तुतः ना रसों का आत्मा से ही घनिष्टतम सम्बन्ध है। और उनका स्थायी महत्व भी उसीके निकट, उसीमें, उसीके लिए है। अलग होकर जगत में ये रस, विरसता उत्पन्न कर देते हैं और इस प्रकार संसार परम्परा का कारण बनते हैं। इसलिए दृढ़ता पूर्वक कहा जा सकता है कि रसों का पारमार्थिक (आत्मिक) स्थान सर्वोत्कृष्ट, सर्वप्रथम एवं सुख-प्रद है और उनका लौकिक स्थान क्षण-क्षण में क्षीण होने वाला अस्थायी है।

भारतीय साहित्य-परम्परा में रसों की सख्या के विषय में बड़ा मत-भेद पाया जाता है। नाट्याचार्य भरत ने शान्त-रस को छोड़कर आठ ही रस स्वीकार किए हैं। इसका कारण तो यही प्रतीत होता है कि वस्तुतः शान्त-रस की प्रवृत्ति का अभिनय सफलता अथवा सजावट दिखाने के रूप में नहीं किया जा सकता, इसीलिए अभिनय के उपयुक्त न समझ कर उन्होंने इसे छोड़ दिया। भवभूति सब रसों को ओर से विरक्ति धारण कर 'एकोरसः करुणकेव' का जयघोष करते हैं। कविवर बनारसीदास शान्त-रस का प्रतिनिधित्व स्वीकार कर 'नवमो सान्त रसनि कौ नायक' का राग आलापते हैं। इस प्रकार के विचार भेदों को देखकर एक विचारक के लिए यह आवश्यक हो

* बुधिजन श्रावक।

जाता है कि वह सब मतों का यथोचित परीक्षण कर, सु-बुद्धि की कसौटी पर कसकर इस विषय का निर्णय करें।

क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, मोह आदि परिणामों के वशीभूत होकर ही यह मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थ और अंहकार की पूर्ति एवं रक्षा के लिए अनेक प्रकार के अनर्थ एवं दुष्कृत्य करने को प्रवृत्त होता है और यह सब अपने ऐहिक सुख और शान्ति के लिए ही करता है।

जे त्रिभुवन मैं जीव अनन्त, सुख चाहैं दुःख तैं भयवन्त। (दौलत राम)

इस जगत में जितने भी प्राणी हैं, सब सुख और शान्ति ही चाहते हैं, अपना भला ही चाहते हैं, क्षण-मात्र के लिये भी वे दुख-प्राप्ति की कल्पना नहीं कर सकते। ठीक भी है, स्वाभाविक तो स्वाभाविक रहेगा ही, मनुष्य यहां शान्ति के उपाय करता अवश्य है, परन्तु निरन्तर उपायों के करते करते थक जाने पर भी उसे लव-मात्र शान्ति प्राप्त नहीं होती। इसका कारण हमें तो यही विदित होता है कि संसार के समस्त विषय और वस्तुएं अथिर, अशुभ, अशरण तथा दुख स्वरूप हैं, केवल आत्मा ही शाश्वत, अखण्ड और ज्ञान-दर्शन लक्षणों से समन्वित है। अतः यह सहज ही सोचा जा सकता है कि क्षण-स्थायी और दुख-स्वरूप वस्तुओं और विषयों में अखण्ड-शान्ति किस प्रकार प्राप्त हो सकती है।

आतम को हित है सुख, सो सुख, आकुलता बिन कहिये।

(दौलतराम कृत छहढाला)

उन्होंने तो खोजकर यही निष्कर्ष निकाला है—

वस्तु विचारत ध्यावतें, मन पावै विसराम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव याको नाम॥

—नाटक समयसार।

यह सुख और कुछ नहीं, अखण्ड शान्ति का अनुभव ही है जो आत्म रसिक को हुआ करता है। अतएव यही कहा जा सकता है कि अखण्ड और चिर-शान्ति, समता सर्वभूतेषु तथा 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' का अनुभव कराने में शान्त रस ही एकमात्र सहायक है। इसीलिए कविवर बनारसीदास जी ने उसे रसों का नायक कहा है।

जो स्वाभाविक है, उसका विनाश कभी नहीं होता। मानसिक, वाचनिक और कायिक विकार जीव के विभाव हैं, स्वभाव नहीं। रसों का उद्भव भी योग की शुभा-शुभ प्रवृत्ति-परिणति के अनुसार विविध रूपों में होता रहता है और उनका विनाश भी होता ही है इसीलिए लौकिक रूप में रसों को विरस कहा गया है। बनारसीदास जी ने कहा है कि—

जब सुबोध घट में परगासै, नव रस-बिरस विषमता नासै॥
नव रस लखै एक रस माही, तातै विरस भाव मिटि जाही॥

—जब हृदय में सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान का प्रकाश होता है तब रसों की विरसता और विषमता का नाश हो जाता है वहाँ तो निरन्तर आत्मानुभूति ही होती है वह अपने सहज स्वाभाविक आत्म रस (शान्त) में तल्लीन होकर गुनगुनाता है कि—

……………सदा मैं एक हौं।
अपने रस सौं भयो आपनी टेक हौं।
मोह कर्म मम नाहीं, नाहि भ्रम कूप है॥
सुद्ध चेतना सिन्धु, हमारो रूप है॥

स्पष्ट है कि कविवर बनारसीदासजी के मत में शान्त रस ही सर्वोत्कृष्ट, रसाधिराज और आत्म वस्तु है। कषाय सहित योग की प्रवृत्ति अनेक रूपों में प्रस्तुत होकर एक ही रस में अनेक प्रकार के भावों की अनुभूति करवा सकती है क्योंकि शान्त को छोड़ शेष सब रस बाह्य हैं इसलिए पर और अस्थिक हैं।

॥ श्री पार्श्वनाथ स्तुति ॥

[ये पद्य हमें मुनि श्री कान्तिसागर जी के सौजन्य से प्राप्त हुये हैं। विभिन्न छन्दों में भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति की है। कविवर रूपचन्द ने एक ही भाव को कवित्त, दोहा, सोरठा, सवैया, अडिल्ल आदि में बड़े सुन्दर ढंग से प्रकट किया है। ऐतिहासकों को इन पुरातन पद्यों द्वारा प्राचीन जैन-हिन्दी-काव्य-शैली का बहुत कुछ आभास मिल सकेगा।

—नेमिचन्द्र शास्त्री

॥ सवईयौ २३ छंद संग्रह ॥

१

श्री जिनपास जिनंद युं राजह नूर है लाबन हीरनु जासी,
सीस है छत्र फुनंद युं छाजह भूर है भावन नीर कूं जासी।
फेड़त है सब फंद युं दाजह सूरही भाजत सीतमनासी,
भासत कैरवचंद युं आजह तूरही वाजत जीत मरासी ॥१॥

॥ दूहौ ॥२॥

श्री जिनपास जिनंद यु, सीस छत्र फुनंद।
फेडत है सब फंद यु, भासत कैकव चंद ॥२॥

॥ दूहो सोरठो ॥३॥

श्री जिनपासजिनंद, सीस है छत्र फुनंद युं।
फेडत है सब फंद, भासत कैकव चंद युं ॥३॥

॥ दूहौ बडौ ॥४॥

श्री जिनपासजिनंद, सीस है छत्र फुनंद युं।
फेड़त है सब फंद युं, भासत कैकव चंद ॥४॥

॥ गाहा सोरठी ॥५॥

श्री जिनपासजिनंद, सीस है छत्र फुनंद युं छाजह।
फेडत है सब फंद, भासत कैकव चंद युं आजह ॥५॥

॥ हणमत छन्द ॥६॥

श्री जिन्न पास्स जिन्नंद, सीस है छत्त फुन्नंद।
फेडत है सब फंद, भासत कैकव चंद ॥६॥

॥ छंद पारजात का ॥७॥

श्री जिन्न पास जिनंद युं, सीस है छत्र फुनंद युं।
फेडत है सब फंद युं, भासत कैकव चंद युं ॥७॥

॥ छंद चौवी ॥८॥

श्री जिन पासजिनंद युं राज, सीस है छत्र फुनंद युं छाज ।
फेड़त है सब फद यु दाज, भासत कैकव चंद युं आज ॥८॥

॥ छंद परहा ॥६॥

श्री जिन पास जिनंद युं राजह नूर है,
सीस है छत्र फुनंद युं छाजह भूर है ।
फेड़त है सब फंद युं दाजह सूरही,
भासत कैकव चंद युं आजह नूरही ॥६॥

॥ छंद अडिल्लह ॥१०॥

श्री जिन पास जिनंद युं राजह, सीस है छत्र फुनंद युं छाजह ।
फेड़त है सब फन्द युं दाजह, भासत ककव चद युं आजह ॥१०॥

॥ छद मुडिल्लह ॥११॥

श्री जिन पास जिनंद युं राजह नूर, सीस है छत्र फुनंद युं छाजह भूर ।
फेडत है सब फन्द युं दाजह, भासत कैकव चंद युं आजह ॥११॥

॥ छद पाधा ॥१२॥

जिनंद यु राजह नूर है लावन, फुनद यु छाजह भूर है भावन ।
फंद यू दाजह सूर ही भाजन, चद यु आजह नूरही वाजन ॥१२॥

॥ छद डिल्ला ॥१३॥

पास जिनन्द यु, छत्र फुनद युं ।
है सब फंद युं, कैकव चंद युं ॥१३॥

॥ छद मोदका ॥१४॥

ह नूर है लावन हीरऊ जासी, ह भूर है भावन नीरकूं जासी ।
सूर ही भाजत सीनमनासी, ह नूरही वाजत जीन मरासी ॥१४॥

॥ छद मोती दाम ॥१५॥

युं राजह नूर है लावन हीर, यु छाजह भूर है भावन नीर ।
युं दाजह सूर ही भाजन सीन, युं आजह नूरही वाजत जीन ॥१५॥

॥ छंद दीपक ॥१६॥

पास जिनंद युं राज, छत्र फुनंद युं छाज ।
है सब फंद युं दाजह, कैकव चंद युं आजह ॥१६॥

॥ छंद हंसा ॥१७॥

पास जिनंदं, छत्र फुनंदं, है सब फंदं कैकव चंदं ॥१७॥

॥ छंद स्रजा ॥१८॥

स जिनंद युं, छत्र फुनंद युं । सब फंद युं, कैकव चंद युं ॥१८॥

॥ छंद शख नारी ॥१९॥

वन हीर युं जा, वन नीर कूं जा (तसी तम नासी) तजी तम रासी ॥१९॥

॥ छंद रासा ॥२०॥

न पास जिनंद ऊँ, है छत्र फुनंद ऊँ ।
व फंद युं दाजह, व चंद युं आजह ॥२०॥

॥ छंद धारा ॥२१॥

स जिनंद, त्र फुनंद । सब फद, कवचंद ॥२१॥

॥ छंद दोहका ॥२२॥

राजह नूर हैं लावन हीरा, छाजह भूर है भावन नीरा ।
सूर ही भाजत सीत मनासी, तूरही बाजत जीत मरासी ॥२२॥

॥ छंद मैनावर्ता ॥२३॥

श्री जिन्न पास जिनंद यु राज, सीस है छत्र फुनंद युं छाज ।
दाजह सूरह भाजत सीत, आजह नूरह बाजत जीत ॥२३॥

॥ छंद कामनी मोहन ॥२४॥

पास जिनद युं राजह नूर है, छत्र फुनंद्र युं छाजह भूर है ।
है सब फंद युं दाजह, कैकव चंद युं आजह तूरही ॥२४॥

॥ छद दउनया ॥२५॥

पास जिनंद युं राजं, छत्र फुनद युं छाजं ।
है सब फंद युं दाजं, कैकव चंद युं आजं ॥२५॥

॥ छद चंद्रायणा ॥२६॥

पास जिनंद युं राजह, छत्र फुनंद युं छाज ।
है सब फंद युं दाजह, कैकव चंद युं आज ॥
पास जिनंद युं राजह नूर है, छत्र फुनंद युं छाजह भूर है ।
है सब फंद युं दाजह सूरही, कैकव चंद युं आजह तूरही ॥२६॥

॥ छंद झमाल ॥२७॥

श्री जिनपास जिनंद युं, सीस है छत्र फुनंद ।
फेड़त है सब फंद यु, भासत कैकवचंद ॥
श्री जिनपासजिनंद युं राजहनूर है, सीस है छत्र फुनंद युं छाजहभूर है
फेड़त है सब फंद युं दाजह सूरही, कैकव चंद युं आजहतूरही ॥२७॥

॥ छंद विजोहा ॥२८॥

राजह नूर है, छाजह भूर है । दाजह सूरही, आजह तूरही ॥२८॥

॥ छंद झमकाणा ॥२६॥

हीर ऊं जासि, नीर कूं जासि । सीतमनासि, जीतमरासि ॥२६॥

॥ छंद भिन्ना ॥३०॥

युं राजह नूर है, युं छाजह भूर है । यु दाजह सूरही, यु आजह तूरही ॥३०॥

॥ छंद ओटक ॥३१॥

स जिनंद युं राजह नूर है ला, त्र फुनद यु छाजह भूर है लाभा ।
सब फद युं दाजह सूरही वाभा । कवचंद यु आजह तूरही वा ॥३१॥

॥ छंद मारसी ॥३२॥

श्री जिन्न पास जिनंद राजह नूर लावन हीरसी,
सीस है छत्र फुनंद छाजह भूर भावन नीर सी ।
फेड़त है सब फंद दाजह सूर भाजन सीत सी,
भासन कैकव चंद आजह तूर वाजत जीत सी ॥३२॥

॥ छंद उधोर ॥३३॥

पास जिनंद राजह नूर, छत्र फुनंद छाजह भूर ।
है सब फंद दाजह सूर, कैकव चंद आजह नूर ॥३३॥

॥ अथ दुवालो ॥३४॥

श्री जिन पास जिनद ऊं राजह, सीस है छत्र फुनद युं छाज ।
फेड़त है सब फंद युं दाजह, भासत कैकव चंद युं आज ॥३४॥

॥ छंद संकर ॥३५॥

श्री जिन्नपास जिनंद राजह, नूर लावन हीर ।
सीस है छत्र फुनंद छाजह, भूर भावन नीर ॥

फेड़त है सब फंद दाजह सूर भाजत सीत।
भासत कैकव चंद आजह तूर बाजत जीत ॥३५॥
इति छंद संग्रह कामधेनु सवईयो चित्र संपूर्ण।

सवईयो ३३

प्रथम ही सवईयौ दौहौ सोरठौ बड़ो गाहा हणू पारजात का चौपी परहा अडिल्ल है,
सुडिल्ल है घाता डिल्ला मोदक मोती दाम दीपक हंसाखंजा संखनारी राला धारा भिल्ल है ।१
दोहक मैनावली कामनी मोहन डंडउलया चंद्राणा भमाल बिजोहा भमकाणा बिल्ल है,
भिन्ना त्रोटक छंद सारर्सा उयोर द्वालौ संकर हो सवैया मांहि रूपचंद काहि मिल्ल है।

॥ दुहौ ॥

सवईयौ छंद संग्र चित्र, सत्र रूपक सिरदार।
सुरता हूवै सो सोध ल्यो, जात पैंतीस मभार ॥२॥

॥ सवईयौ २४ पारश्वनाथ जीरौ सर्वतो भद्र चित्र ॥

जन पाम पती जगराज अही तप धार अजी धव रूप धरी,
गन वास जती सगमाज गही जप सार भजी कवलुष करी।
तन तास दुती खगदाज मही रिपहार सजी भव दुःष हरी,
फन जास छती अग भाज दही वपधार जजी सिव सुष वरी।

। सवईयौ नारी कुँजर। ३१, २३

रूप रत्ति राज जित्त पाम समनो दि हर छत्र ते धराको धर शीस पै धर्यौई है,
सूर जितवंतन है मैनवसी मूक रत बेन वसु धात्री कर सोहित हर्योई है।
कंतवदि वारीकर तेज क्यो छिपेतो जिनराज मोछिये है सुर इदतो तर्योइ है,
वदनित है कवि रूपचंद नौजि भव सिंधु सो तिरी नै सिव सुख सो वर्योई है ॥१॥

॥ सवईयो २२ गत,गन ॥

यानिध तैज भनै स दुखी सु सुखी दुसनै भजतै धनिया,
या तन मान विरानिक है सुसुहक निगं विनमांन तिया।
या मिल लोभ गमावत है सुसु है तव भाग भलौ लभिया,
या मिस या निज माने त्रीयाग गया त्रिन भोजि निया समिया।१।

॥ दौहरौ ॥

नारी कुंजर नाउ रो, चित्र सवईयौ चारू।
इगतीसौ तेइसौ इह, सब रूपक श्रृंगारू ॥१॥

॥ इति चित्र सत्रईया क्यार संपूर्ण ॥

जैन एवं जैनेतर ज्योतिष-मण्डल

आकाश की ओर दृष्टि डालते ही मानव-मस्तिष्क में उत्कण्ठा उत्पन्न होती है, कि यह ज्योतिष मण्डल क्या वस्तु है ? ग्रह, नक्षत्र यहाँ से कितनी ऊंचाई पर हैं ? सूर्य हमें दौड़ता हुआ क्यों दिखलायी पड़ता है ? जैन एवं जैनेतर आगम में क्या आज ही के समान ज्योतिष-मण्डल की व्यवस्था बतलायी गयी है ? इन सभी प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने के लिये प्राचीन ग्रन्थों को टटोलना पड़ेगा।

जैनेतर पुराणों में ज्योतिष-मण्डल की व्यवस्था बतलाते हुए लिखा है कि भूमि से एक लाख योजन की ऊंचाई[1] पर सूर्यमण्डल, उससे एक लाख योजन की ऊंचाई पर चन्द्रमण्डल, चन्द्रमण्डल से एक लाख योजन की दूरी पर नक्षत्रमण्डल, इससे दो लाख योजन की दूरी पर शुक्र, शुक्र से दो लाख योजन की ऊंचाई पर मंगल, मंगल से दो लाख योजन की दूरी पर बृहस्पति, इससे एक लाख योजन की दूरी पर शनि, शनि से एक लाख योजन की ऊंचाई पर सप्तऋषिमण्डल और सप्तऋषिमण्डल से एक लाख योजन की ऊंचाई पर ज्योतिश्चक्र के नाभिस्वरूप ध्रुवमण्डल[1] है।

भागवत में बतलाया है कि सप्तर्षिमण्डल से तेरह लाख योजन दूरवर्ती जो स्थान है, वह विष्णु का परम पद या ज्योतिर्लोक है। उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव कल्पान्तर्जीवियों के उपजीव्य होकर इस स्थान में वास करते हैं। अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, काश्यप और धर्म इनकी परिक्रमा करते हैं। ग्रह नक्षत्र भी ध्रुव के चारों ओर घूमते हैं।

ज्योतिष के आचार्यों ने इस मान्यता में संशोधन कर भूमि, चन्द्रमा, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, बृहस्पति, शनि और नक्षत्र कक्षा का क्रमोल्लेख किया है। किन्तु जैन-मान्यता में भूमि से सातसौ नव्वे योजन की ऊंचाई पर तारे, तारों से दस योजन की ऊंचाई पर सूर्य, सूर्य से अस्सी योजन की ऊंचाई पर चन्द्रमा, चन्द्रमा से चार योजन की ऊंचाई पर नक्षत्र, नक्षत्रों से चार योजन की ऊंचाई पर बुध, बुध से चार योजन की ऊंचाई पर शुक्र, शुक्र से तीन योजन की ऊंचाई पर बृहस्पति, और बृहस्पति से तीन योजन की ऊंचाई पर शनैश्चर है। ग्रहों की संख्या अठासी मानी गयी है, पर इतर ज्योतिष में सातग्रह और दो उपग्रह इस प्रकार नवग्रह माने हैं। आजकल के पाश्चात्य ज्योतिर्विदों ने चार-पाँच और नवीन ग्रह निकाले हैं, पर स्वरूप और लक्षण के अनुसार वे जैन ज्योतिष के धूमकेतु, तिलपुच्छ, कालकेतु, जलकेतु और

---

१ विष्णु पुराण

अग्निज्वाल ही प्रतीत होते हैं। अठासी ग्रहों में से प्रधान नवग्रह ही कर्मफल द्योतक माने गये हैं। जैन मान्यतानुसार ज्योतिष-मण्डल का विवरण निम्न प्रकार है—

सूर्य—जिसके गमन के निमित्त से समय, मुहूर्त, घड़ी, घण्टा, दिनादिक का व्यवहार हो, उसे सूर्य कहते है।[1] सूर्य ज्योतिषी देवों मे प्रधान माना गया है। इसका विमान लोहित एवं तपनीय स्वर्ण के समान कान्तिवाला होता है। इसका व्यास ४८/६१ योजन, इससे कुछ अधिक तिगुनी परिधि एव २४/६१ योजन मुटाई है। विमान का आकार अर्ध गोलाकार है, सोलह हजार देवों के द्वारा यह वहन किया जाता है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा में चार-चार हजार देव विमान वाहक रहते हैं। इन सब देवों के ऊपर सूर्य नामक देव रहता है। इसके सूर्यप्रभा, सुसीमा, अर्चमालिनी, और प्रभंकर नामकी देवियाँ रहती है।[2] जैन ग्रन्थों में सूर्य को भ्रमणशील और पृथ्वी को स्थिर माना गया है।

इसकी गणित क्रिया गगन खण्डात्मक और कलात्मक इन दो गतियों द्वारा की गयी है। प्राचीन मान्यता में गगन खण्डात्मक गति का उल्लेख निम्न प्रकार है—१८३५—१८३० = ५ गगन खण्ड मध्यम गति बतायी गयी है, जो कि आजकल की ५९/८ कलात्मक गति के तुल्य सिद्ध होती है। सूर्य की भ्रमणात्मक वीथियों की परिधि की हीनाधिकता अथवा भ्रमणात्मक राशियों की वक्रता के कारण कभी तेज और कभी मन्द गति हो जाती है। मध्यकालीन जैन ज्योतिष में बताया गया है कि सूर्य जिस दिन जिस स्थान से भ्रमण करना आरम्भ करता है, ७८ वर्ष पीछे उसी दिन उसी समय उसी निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है।

दसवों और ग्यारहवों शती के जैन ज्योतिष ग्रन्थों मे सूर्य की दो प्रकार की गतियाँ बतलायी गयी हैं—पूर्वाभिमुखी और पश्चिमाभिमुखी। महेन्द्रगुरु[3] ने यन्त्रराज नामक ग्रन्थ में कलात्मक सायन सूर्य की गति सिद्ध करते हुए बताया है कि नतांश एवं उन्नतांश लेकर यन्त्र द्वारा रवि की गति सिद्ध करनी चाहिये। इन्होंने अनेक यन्त्रों द्वारा रवि के भुजांश, क्रान्त्यंश और विषुवांश सिद्ध किये है। कुछ जैन गणितज्ञों ने सूर्य का सूक्ष्म गणित भी किया है।

---

१ सरति आकाशे सुवति कर्माणि लोके प्रेरयतीति सूर्य —व्युत्पत्तिः

२ तप्ततपनीयसमप्रभाणि लोहिताश्ममणिमयानि अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागबाहुल्यान्यर्द्ध-गोलकाकृतीनि षोडशभिर्देवसहस्रैरुह्यमानानि सूर्यविमानानि ...... राजवार्तिक अ० ४, सू० १२, १० वा

३ मध्यदिनांशास्तपनीयस्य विध्वा ते मध्यरेखोपरि चिन्हनीया।

सम्यक्तदूर्ध्वस्थितभाशकोयः स सायनार्कस्य सदा स्फुटः स्यात्॥

—यन्त्रराज पृ० १९

चन्द्रमा—सूर्य के समान चन्द्रमा को भी स्वतः प्रकाशमान माना है। सूर्य के समान इसके भी संवत्सर, मास आदि बताये गये हैं। कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष में चन्द्रमा के अप्रकाशमान और प्रकाशमान रहने का कारण उसीके वृद्धि-ह्रास को बताया है। चन्द्रमा अपने बिम्ब का सोलहवाँ भाग प्रतिदिन कृष्ण अथवा शुक्ल होता है। इस कृष्णत्व और शुक्लत्व का कारण चन्द्रमा के विमान के नीचे रहनेवाला राहु का विमान है।[1] अर्थात् राहु के निमित्त से चन्द्रमा प्रतिदिन अपने बिम्ब का $\frac{१}{१६}$ भाग कृष्ण या शुक्ल होता है।

सैद्धान्तिक ग्रन्थों में चन्द्रमा का वर्णन करते हुए बताया है कि "निर्मल तन्तु के समान स्वच्छ वर्णवाले चन्द्रविमान का व्यास $\frac{५६}{६१}$ योजन और मोटाई $\frac{२८}{६१}$ योजन है; इस विमान को खींचनेवाले देवों की संख्या सोलह हजार है। प्रत्येक दिशा में चार-चार हजार विमान वाहक देव रहते हैं। चन्द्रमा की चन्द्रप्रभा, सुसीमा, अर्चिमालिनी और प्रभंकरा ये चार पट्ट देवियाँ हैं। इसकी किरणों की संख्या बारह हजार है।"

जैन मान्यता में मेरु को केन्द्र मानकर ग्रह भ्रमण करते हुए बताये गये हैं तथा ढाई द्वीपतक ही इनकी गतिशीलता मानी गयी है। अतः इतर ज्योतिष की अपेक्षा जैन ज्योतिष की गणित क्रिया में मौलिक अन्तर है। चन्द्रशृंगोन्नति, जो कि आज भी दैवज्ञों के लिये रहस्यमय बनी है, मेरु की केन्द्रवाली प्रक्रिया से सहज में अवगत की जा सकती है। इसके बीज ज्योतिष्करण्डक में उपलब्ध हैं। आज भी कुछ लोग चन्द्रगणित का विकास यवन सम्पर्क के पश्चात् भारत में हुआ मानते हैं, किन्तु ठाणाङ्ग[1] और समवायाङ्ग में जो गणित का विवेचन है, उसके देखने से उक्त धारणा भ्रान्त प्रतीत होती है। नौवें समवाय के तीसरे सूत्र में चारों दिशाओं से योग करनेवाले नक्षत्रों का जो सर्वाङ्गपूर्ण निरूपण किया है, उससे स्पष्ट है कि भारत में चन्द्र सम्बन्धी विचार पर जैन ज्योतिष का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। आश्चर्य नहीं कि चन्द्रशृंगोन्नति के गणित को यवनों ने भी जैनों से लिया हो।

मंगल, बुधादि सप्तग्रह—प्रश्नव्याकरणाङ्ग में स्पष्ट और संक्षिप्त रूप में मंगल, बुध आदि सप्तग्रहों का निरूपण किया गया है। यद्यपि कुछ लोग अंग ग्रन्थों का संकलनकाल छठी शती मानते हैं, अतः ग्रहों के उक्त वर्णन को भी इसी समय का कहेंगे; पर तह में प्रवेश करने पर तथा उसकी परम्परा की छान-बीन करने पर यह

---

१ चंदो णियसोलसमं किण्हो सुक्को य पणरदिवसोत्ति।
हेट्ठिल्ल णिच्च राहूगमणा विसेसेण वा होदि ॥

—त्रि० सा० गा० ३४२

अवगत हुए बिना नहीं रहेगा कि ग्रहों की मान्यता जैनों को बहुत प्राचीन है। एक अकाट्य प्रमाण, जिसके आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है, कि जैनों ने ग्रहों के सम्बन्ध में छान-बीन यूनानियों के आने के पहले ही पर्याप्त कर ली थी, वह है चन्द्रमा की प्रधानता तथा चन्द्रमा के ही अनुसार आकाश का बँटवारा। बैबीलोनियों और यूनानियों ने सूर्य की गतियों को दृष्टि में रखकर ही आकाश का सत्ताईस नक्षत्रों में विभाजन किया है। जैन परम्परा में चन्द्रमा को जितनी प्रधानता है, उतनी सूर्य को नहीं। एक चन्द्रमा के परिवार की संख्या जम्बूद्वीप में अठाईस नक्षत्र, छयासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोड़ाकोडी तारिकाएँ, अठासी महाग्रह, मानी गयी है। सूर्य भी एक तरह से चन्द्रमा के परिवार का ही एक सदस्य है। वैदिक ज्योतिष में चन्द्रमा की प्रधानता जैनों के प्रभाव से आयी है। अतः ग्रह सम्बन्धी जैन मान्यता यूनानियों के भारत में आने के पहले ही नवग्रहों की मान्यता को सिद्ध करती है।

प्रश्नव्याकरण में मंगलादि के सम्बन्ध में लिखा है कि ग्रहों में बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र, शनि, राहु, धूमकेतु, बुध, और मंगल ये नव हैं। इनके विमानों का रंग तपे हुए स्वर्ण के समान लाल होता है। अभिजित् आदि अठाईस नक्षत्रों के विमान अनेक संस्थानवाले हैं तथा तारा, नक्षत्र प्रभृति ज्योतिषियों के विमान अढ़ाई द्वीप से बाहर अवस्थित हैं, किन्तु जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध द्वीप में नित्य भ्रमण करनेवाले है।[1]

फलित ग्रन्थों में इन नवग्रहों के स्वरूप, संचार, प्रकृति, रस, जाति, आकार, वर्ण, कद आदि बातों का निरूपण किया गया है। यह स्वभाव, गुण, जाति इत्यादि का वर्णन मध्यकालीन प्रतीत होता है तथा इसमें विदेशियों का आदान-प्रदान भी अवश्य हुआ है। हाँ, गणित क्रिया तथा मौलिक सिद्धान्तों में जैन ज्योतिर्विद् सदा पृथक् रहे है।

नक्षत्रमण्डल—नक्षत्रों की आह्निक गति होती है। आचार्यों ने अभिजित् नक्षत्र के ६३० गगनखण्ड; शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, एवं ज्येष्ठा

१ विमलमृणालवर्णान्यंकमयानि चन्द्रविमानानि षट्पंचाशद्योजनैकषष्ठिभागविष्कम्भायामान्यष्टाविंशतियोजनैकषष्टिभागबाहुल्यानि प्रत्येकं षोडशभिर्देवसहस्रैः पूर्वादिदिक्षुक्रमेणसिंहकुंजरवृषभाश्वरूपविकारिभिरूढानि। तेषामुपरि चन्द्राख्यादेवास्तेषां प्रत्येकं चतुर्देवीरूपसहस्रविकरणपटवस्ताभिः सह सुखमुपभुंजंतश्चन्द्रमसोऽसंख्येय विमानशतसहस्राधिपतय विहरन्ति।

—राजवार्तिक अ० ४, सू० १२ वा० १०

इनके १८०५ गगनखण्ड और रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा एवं उत्तराभाद्रपद इनके ३०१५ गगनखण्ड और अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, हस्त, चित्रा, अनुराधा, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढा, पूर्वाभाद्रपदा, मूल, श्रवण, धनिष्ठा एव रेवती इनके २०१० गगनखण्ड माने है। अधिकांश नक्षत्र उदित होकर क्षुद्र वा बृहत्खण्डाकार पथ मे भ्रमण करते हुए पश्चिम दिशा मे अस्त होते है और कुछ नक्षत्र खमध्य के उत्तरवर्त्ती किसी एक बिन्दु के चारो ओर भ्रमण करते है। जैनाचार्यों ने नक्षत्रों की स्वयंगति मानी है। गणित क्रिया से सिद्ध किया है कि आज एक नक्षत्र को जिस आकाश प्रदेश मे उदित देखते है, कल वही नक्षत्र चार मिनट पहले उसी स्थान मे नजर आयेगा और एक वर्ष बाद एक ही नक्षत्र को उससे पहले स्थान मे देखेगे। हर्षकीर्त्ति और महेन्द्रसूरि ने नक्षत्रो के अशात्मक लक्षण भी बतलाये है। प्रसिद्ध नक्षत्रो मे जितने नक्षत्र रवि मार्ग के निकट रहते है, उनका प्रभाव जातक के ऊपर अधिक पड़ता है। इन्होने मध्यमखण्ड, उत्तरखण्ड और दक्षिणखण्ड मे नक्षत्रो की सख्या क्रमशः १०१६, १४६० और ८८४ मानी है, किन्तु अन्य भारतीय ज्योतिषग्रन्थो मे सिर्फ मध्यखण्ड की ताराओं की सख्या का ही उल्लेख है। लेकिन आजकल के पाश्चात्य विद्वानों ने तीनों खण्डों की ताराओं की सख्या बतायी है। आचार्य श्रीधर ने नक्षत्रों के देवताओं की नामावली बताते हुए लिखा है कि कृत्तिका के अग्नि, रोहिणी के प्रजापति, मृगशिरा के सोम, आर्द्रा के रुद्र, पुनर्वसु के दिति, पुष्य के देवमत्री, आश्लेषा के सर्प, मघा के पितर, पूर्वाफाल्गुनी के भग, उत्तराफाल्गुनी के अर्यमन, हस्त के दिनकर, चित्रा के त्वष्टा, स्वाति के अनिल, विशाखा के इन्द्राग्नि, अनुराधा के मित्र, ज्येष्ठा के इन्द्र, मूल के नैऋत, पूर्वाषाढा के जल, उत्तराषाढ़ा के विश्व, अभिजित के ब्रह्मा, श्रवण के विष्णु, धनिष्ठा के वसु, शतभिषा के वरुण, पूर्वाभाद्रपद के अज, उत्तराभाद्रपद के अभिवृद्धि, रेवती के पूषा, अश्विनी के अश्व और भरणी के यम देवता होते है। नक्षत्रो की ताराओं का वर्णन आचार्यों ने निम्न प्रकार किया है—

कृत्तिका नक्षत्र की ६ ताराएँ, रोहिणी की ५, मृगशिर की ३, आर्द्रा की १, पुनर्वसु की ६, पुष्य की ३, आश्लेषा की ६, मघा की ४, पूर्वाफाल्गुनी की २, उत्तराफाल्गुनी की २, हस्त की ५, चित्रा की १, स्वाति की १, विशाखा की ४, अनुराधा की ६, ज्येष्ठा की ३, मूल की ३, पूर्वाषाढा की ९, उत्तराषाढ़ा की ४, श्रवण की ४, धनिष्ठा की ५, शतभिषा की १११ एवं पूर्वाभाद्रपद की ५ ताराएँ होती है। इनका आकार बीजना एवं शकटादि का बताया है। ताराओं का परस्पर अन्तर बतलाते

हुए लिखा है कि तिर्यक् ताराओं का जघन्य अन्तराल $\frac{1}{7}$ कोस, मध्यम पचास योजन और उत्कृष्ट एक हजार योजन है। तारिकाओं के विमानों का जघन्य व्यास $\frac{1}{4}$ कोस, मध्यम व्यास $\frac{1}{2}$ कोस और उत्कृष्ट १ कोस है तथा तारिकाओं के विमान की मोटाई अपने-अपने व्यास की आधी बतलायी गयी है।'

ध्रुवनक्षत्रमण्डल—सूर्य और चन्द्रमा के गमन के अनुसार कालविभाग बताया गया है। अढ़ाई द्वीप मे ज्योतिर्षादेव मेरु को केन्द्र मानकर भ्रमण करते हैं। अढाई द्वीप के बाद सभी ज्योतिर्षादेव स्थिर अर्थात् ध्रुव हैं। अढाई द्वीप मे ध्रुवतारों की संख्या निम्न प्रकार बतायी है:—

जम्बूद्वीप में ३६; लवणसमुद्र में १३६, धातकीखण्ड में १०१०, कालोदधिसमुद्र में ४११२० और पुष्करार्द्धद्वीप मे ५३२३० स्थिर तारे है।[२] स्थिर नक्षत्रमण्डल के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। अजैन ज्योतिष के अनुसार दक्षिणध्रुव और उत्तरध्रुव के मध्य धुरे पर सम्पूर्ण भपंजर भ्रमण करता है तथा केन्द्रांशादि भी ध्रुववश ही सिद्ध होते है। गणितज्ञों ने उन्नतांश एवं नतांशादि का साधन भी ध्रुव से ही किया है, लेकिन जैन ज्योतिष के गणित में ध्रुवनक्षत्रों का कोई विशेष स्थान नहीं है। इसका प्रधान कारण मेरु को केन्द्र मानकर ही भपंजर का चलना है। जहाँ पर ज्योतिर्षीदेवों का गमन नहीं होता है वहाँ केवल नक्षत्रमण्डल ही ध्रुव नहीं है अपितु सूर्य, चन्द्र एवं भौमादिग्रह भी स्थिर बताये गये है।

राशिमण्डल—ज्योतिश्चक्र का २४ वाँ भाग राशि कहलाती है। आचार्यों ने ज्योतिषमण्डल को दो भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग के १८० अंश में १२ राशियाँ और दूसरे भाग के १८० अंश में पुनः वे ही १२ राशियाँ मानी है; ग्रहगण इसी राशिचक्र में भ्रमण करते है। जैन ज्योतिष के अनुसार प्रथम १८० अंशवाले भाग में १ सूर्य, १ चन्द्र एवं २८ नक्षत्र होते है, दूसरे भाग में भी इसी प्रकार की स्थिति है। अतः राशियों की नामावली २४ न मानकर १२ ही मानी गयी है। इन राशियों के नाम मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन है।

---

१ तिरियवासी पंचविहा जोइसीया देवा वहस्सती, चद, सूर, सुक्क सणिच्छरा, राहू, धूमकेउ, बुद्धाय, अगारगाय ततत्तवणिज्जकणगवण्णा जेयगहा जोइसियंमि चार चरंति, केतुयगतिरतीया। अट्ठावीसति विहाय णक्खत्तदेवगणा णाणासट्ठाणसंठियाओय तारगाओयि लेस्सा चारिणोय ·······

—प्रश्नव्याकरणाङ्ग पृ० १२०

२ विशेष के लिये त्रिलोकसार गाथा ४३४–४३५।

मिथुन, कन्या, धनु, कुंभ और तुला ये राशियाँ मनुष्यसंज्ञक है। मकर और मीन अन्त्योदयराशि हैं शेष अपने-अपने स्वभाव के अनुसार हैं। मेष, वृष, सिंह और धनु ये चतुष्पद, कर्क और वृश्चिक ये बहुपाद; मकर और मीन ये क्षीणपाद एवं कुंभ, मिथुन, तुला और कन्या ये द्विपाद राशि हैं।[१] इसी प्रकार वीथियों का विभाग करते हुए राशियों की वीथियाँ निम्न प्रकार कही है वृष, मिथुन, कर्क और सिंह ये मेषवीथी में, वृश्चिक, धनु, मकर और कुंभ मिथुनवीथी में एवं मीन, मेष, तुला और कन्या वृषवीथी में भ्रमण करती हुई बतायी गयी है।

राशियों के बलाबल का विचार करते हुए बताया है कि मेषादि द्वादश राशियाँ अपने स्वामी, मित्र, शुभग्रह अथवा उच्चस्थ शुभाशुभग्रह इनमें से किसी एक या दो के युक्त या दृष्ट होने से पूर्णबली, अन्य ग्रहों के द्वारा दृष्ट व युक्त होने से स्वल्पबली, स्वामी और शत्रुग्रह दोनों से युक्त व दृष्ट होने से मध्यबली एवं किसी भी ग्रह के द्वारा युक्त व दृष्ट न होने से हीनबली होती है। नवग्रहराशि विचार और पद्मप्रभाचार्य के ग्रहभावप्रकाश में बताया है कि द्विपदराशियाँ केन्द्रस्थ (१।४।७।१०) होकर बलवान, चतुष्पदराशियाँ केन्द्रस्थ होकर रात्रि को बलवान् एवं कीट राशियाँ केन्द्रस्थ होकर संध्याकाल में बलवान होती है। नारचन्द्राचार्य के मत से केन्द्राश्रित राशियाँ पूर्णबली, पणफराश्रित राशियाँ मध्यबली और आपोक्लिमस्थित राशियाँ हीनबली होती है।[२] इन १२ राशियों का विशेष विवरण होल होरा, द्रेक्काण, नवांश, द्वादशांश और त्रिंशांश इन ६ प्रकारों से किया है। यद्यपि ग्रहगण द्वादशराशियों मे परिभ्रमण करते है फिर भी किसी-किसी राशि मे स्थिति एवं तदन्तर्गत नक्षत्रयोग आदि क विशेषता से राशि व्यवस्था मे बलाबलपना आता है।

क्षेत्र—मेष और वृश्चिक का मंगल, वृष और तुला का शुक्र, कन्या और मिथुन का बुध, कर्क का चन्द्रमा, कुम्भ और मकर का शनि, धनु और मीन का गुरु एवं सिंह का सूर्यक्षेत्र है।

होरा—विषम राशि में १५ अंशतक सूर्य की होरा पश्चात १६ से ३० अंशतक चन्द्रमा की होरा होती है। इसी प्रकार समराशि में १५ अंशतक चन्द्रमा की होरा पश्चात् १६ से ३० अंशतक सूर्य की होरा बतायी गयी है।

१—उदीर्यन्तेऽजवीथ्यां तु चत्वारो वृषभादयः ॥
युग्मवीथ्यामुदीर्यन्ते चत्वारो वृश्चिकादयः।
अधःवीथ्यामुदीर्यन्ते मीनमेषतुलास्त्रियः ॥

२ विशेष जानने के लिये नारचन्द्र ज्योतिष पत्र ५-७ तथा व्यवहारचर्या पृ० ६७-७०

द्रेष्काण—प्रथम द्रेष्काण उसी राशीश का, द्वितीय द्रेष्काण उस राशि से पंचम राशीश का, तृतीय द्रेष्काण उस राशि से नवम राशीश का होता है।

त्रिंशांश—समराशियों में शुक्र, बुध, गुरु, शनि और मंगल इन पाँचों ग्रहों का ५, ७, ८, ५, ५, अंशतक क्रम से त्रिंशांश समझना चाहिये। जैसे शुक्र समराशियों में ५ अंशों का स्वामी, बुध आगेवाले ७ अंशों का स्वामी, गुरु इससे आगेवाले ८ अंशों का स्वामी, शनि इससे आगेवाले ५ अंशों का स्वामी होता है। किन्तु विषम राशियों में विपरीत स्वामी समझना चाहिये। जैसे: प्रथम ५ अंशों का स्वामी मंगल, इससे आगेवाले ५ अंशों का स्वामी शनि, इससे आगेवाले ८ अंशों का स्वामी गुरु, इससे आगेवाले ७ अंशों का स्वामी बुध और इससे आगेवाले ५ अंशों का स्वामी शुक्र होता है।

नवमांश—एक राशि में ९ नवांश होते हैं और प्रत्येक नवांश का मान ३ अंश २० कला है। मेष में मेष से, वृष में मकर से, मिथुन में तुला से, कर्क में कर्क से, सिंह में मेष से, कन्या में मकर से, तुला में तुला से, वृश्चिक में कर्क से, धनु में मेष से, मकर में मकर से, कुम्भ में तुला से और मीन में कर्क से नवांश की गणना होती है।

द्वादशांश—एक राशि में १२ द्वादशांश होते हैं। प्रत्येक द्वादशांश का मान २ अंश ३० कला है। जिस राशि के द्वादशांशों का विचार किया जाता है उसी राशि से लेकर क्रम से १२ राशियों के द्वादशांश होते हैं। जैसे: मेष में पहला द्वादशांश मेष का, दूसरा वृष का, तीसरा मिथुन का, इत्यादि।

ज्योतिश्चक्रविचार और नवग्रहराशिविचार इन जैन ज्योतिष ग्रन्थों में राशियों के नाम की सार्थकता बतलाते हुए लिखा है कि ६६ ताराओं का एक मेषाकार नक्षत्रपुंज ज्योतिषमण्डल में विद्यमान है। इसलिये उस आकारवाले प्रदेश की मेषसंज्ञा, १४१ ताराओं युक्त वृषाकार नक्षत्रपुंज की वृषसंज्ञा, ८५ तारिका युक्त स्त्री-पुरुषाकार नक्षत्रपुंज की मिथुनसंज्ञा, ८३ तारिका युक्त कर्कट के आकार नक्षत्रपुंज की कर्कट या कर्कसंज्ञा, ९५ तारायुक्त सिंहाकार नक्षत्रपुंज की सिंहसंज्ञा, ११० तारिका युक्त सस्य और अनलधारी कन्याकार नक्षत्रपुंज की कन्यासंज्ञा, ५१ तारिकायुक्त तुलादण्डाकार नक्षत्रपुंज की तुलासंज्ञा, ४४ तारिका युक्त वृश्चिकाकार नक्षत्रपुंज की वृश्चिकसंज्ञा, ९९ तारिका युक्त ऊर्ध्वार्ध्वनराकार निम्नार्धघोटकाकार धनुर्धारी के समान नक्षत्रपुंज की धनुसंज्ञा, ४१ तारिका युक्त मकराकार नक्षत्रपुंज की मकरसंज्ञा, १०८ तारिका युक्त

घटधारी मानवाकार नक्षत्रपुंज की कुम्भसंज्ञा और ११३ तारिकायुक्त परस्पर पुच्छाभिमुख मीनाकार विशिष्ट नक्षत्रपुंज को मीनसंज्ञा कही गयी है।

भूमण्डल—जैन मान्यता में पृथ्वीमण्डल को स्थिर माना गया है। इसका वर्णन करते हुए बताया गया है कि जम्बूद्वीप, धातकीखण्डद्वीप, पुष्करवरद्वीप, वरुणिवरद्वीप, क्षीरवरद्वीप, घृतवरद्वीप, एवं अरुणवरद्वीप आदि असंख्यात द्वीप हैं। इन द्वीपों में सबसे अन्तिम द्वीप स्वयंभूरमण है। इन द्वीपों के मध्य में एक-एक समुद्र है। ये द्वीप और समुद्र आपस में एक-दूसरे को वलयाकार चूड़ी की तरह घेरे हुए हैं। जम्बूद्वीप मे ७ क्षेत्र और षट् कुलाचल बताये हैं इन्हीं की ऊंचाई एवं निचाई के कारण सूर्य के उदय आदि में अन्तर बताया गया है। जैनाचार्यों ने द्वीपो का विस्तार बतलाते हुए लिखा है कि वृत्ताकारवाले जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन है। आगे-आगे वाले द्वीप और समुद्रों का विस्तार (व्यास) दूना-दूना होता गया है। द्वीप और समुद्रों के सूचीव्यास, वलयव्यास एवं घनक्षेत्रादि का विस्तार से वर्णन किया है। तत्त्वार्थश्लोक-वार्त्तिक में पृथ्वी की स्थिरता को सिद्ध करते हुए स्वामी विद्यानन्दी ने लिखा है कि भूभ्रमणवादियों ने पृथ्वी को भ्रमणशील सिद्ध करने के लिये जो यह प्रमाण दिया कि ध्रुवतारिकाओं को केन्द्र मानकर भ्रमण करनेवाले ज्योतिषीदेव ऊर्ध्वाधरूप से भ्रमण करते है तथा यदि भूभ्रमण न माना जायगा तो अक्षांश, लम्बांश के तुल्य कदापि नहीं हो सकेगा, यह प्रमाण भी 'नृलोक' इस वचन से खण्डित हो जाता है क्योंकि ध्रुवतारिकाओं के ऊर्ध्वाधरूप में ज्योतिषीदेवों का भ्रमण नहीं होता। दार्शनिक ढंग से भी आचार्यों ने पृथ्वी को स्थिर सिद्ध करते हुए लिखा है कि प्रत्यक्ष से भूभ्रमण नहीं मालूम होता है, बल्कि प्रत्यक्षरूप से स्थिर पृथ्वी का ही अनुभव होता है। यह अनुभव भ्रान्त भी नहीं है क्योंकि सकल देशों और भिन्न-भिन्न समयों में रहनेवाले मनुष्यों को अभ्रान्तरूप से स्थिर पृथ्वी का ही अनुभव हो रहा है। अनुमान से भी भूभ्रमण सिद्ध नहीं हो सकता है, अविनाभावी हेतु का अभाव होने से और न स्थिर भचक्ररूप हेतु भूभ्रमण सिद्ध कर सकता है प्रमाण बाधित होने से। इस प्रकार जैनाचार्यों ने प्रबलयुक्तियों से पृथ्वी को स्थिर एवं सूर्यादिग्रहो को भ्रमणशील सिद्ध किया है।
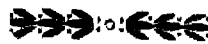
सोमदेव सूरिका राजनैतिक दृष्टिकोण

[ले०—श्रीयुत प० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न]

जैनधर्म में जहाँ आत्मसुधार और आत्मशोधन की ओर ध्यान दिया गया है, वहाँ लौकिक समस्याओं को सुलझाने का भी पूर्ण प्रयत्न किया है। इस धर्म के आचार्यों ने केवल पारलौकिक कल्याण का निरूपण करनेवाले साहित्य का ही निर्माण नहीं किया है, किन्तु इस लोक की आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक बातों पर पूर्ण प्रकाश डालते हुए आध्यात्मिकता की तरंग मे इस लोक की प्रत्यक्ष भौतिक—शारीरिक बातों की अवहेलना करना या उपेक्षा करना सर्वसाधारण के लिये असंभव-सा है, अतः शारीरिक आवश्यकताओं से सम्बद्ध विषयो पर भी अपनी लेखनी चलायी है।

सोमदेव सूरि व्यावहारिक जीवनोपयोगी विषयों का निरूपण करनेवाले आचार्य है; यों तो इन्होंने आध्यात्मिक विषयो का भी सूक्ष्म प्रतिपादन किया है। इनके आर्थिक दृष्टिकोण पर श्री० प्रो० रमेशचन्द्र एम० ए० का भास्कर की गत किरण में निबन्ध प्रकाशित हो चुका है, अतः प्रस्तुत निबन्ध में इनके राजनैतिक विचारों पर प्रकाश डाला जायगा।

सोमदेव सूरि ने राजतन्त्र का निरूपण किया है। इनके मतानुसार शासन की बागडोर ऐसे व्यक्ति के हाथ मे होती है, जो वंश परम्परा से राज्य का सर्वोच्च अधिकारी चला आ रहा हो। राजा राज्य को स्थायी समझ कर सब प्रकार से अपनी प्रजा का विकास करता है। राजा की योग्यता और गुणों का वर्णन करते हुए बताया गया है कि "जो[1] मित्र और शत्रु के साथ शासन कार्य मे समान व्यवहार करता है, जिसके हृदय में पक्षपात या अपनेपने का भाव नही रहता और जो निग्रह—दण्ड, अनुग्रह—पुरस्कार में समानता का व्यवहार करता है, वह राजा होता है,। राजा का धर्म[2] दुष्ट, दुराचारी, चोर लुटेरे, आदि को दण्ड देना एवं साधु, सत्पुरुषों का यथोचित रीति से पालन करना है। सिर मुड़ाना, जटा धारण करना, व्रतोपवास करना राजा का धर्म नहीं है। वर्ण, आश्रम, धान्य, सुवर्ण, चाँदी, पशु आदि से परिपूर्ण पृथ्वी का पालन करना राजा का कर्म राज्य[3] है। राजा की योग्यता के सम्बन्ध में

१ योऽनुकूलप्रतिकूलयोरिन्द्रयमस्थानं स राजा—विद्यावृद्धिसमुद्देशः सू० १

२ राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं च धर्मः; न पुनः शिरोमुण्डनं जटाधारणादिकम्—विद्यावृद्धिसमुद्देशः, सू० २, ३

३ वर्णाश्रमवती धान्यहिरण्यपशुकुप्यवृष्टिप्रदानफला च पृथ्वी; राज्ञः पृथ्वीपालनोचितं कर्म राज्यम्—विद्यावृद्धिसमुद्देशः सू० ५, ४

सोमदेव सूरि ने लिखा है कि राजा को शस्त्र और शास्त्र का पूर्ण पंडित होना आवश्यक है। यदि राजा शास्त्रज्ञान रहित हो और शस्त्र विद्या में प्रवीण हो तो भी वह कभी न कभी धोखा खाता है तथा अपने राज्य से भी हाथ धो बैठता है। जो शस्त्र विद्या नहीं जानता, वह भी दुष्टों द्वारा पराजित किया जाता है, अतएव पुरुषार्थी होने के साथ-साथ राजा को शस्त्र, शास्त्र का पारगामी होना अनिवार्य है। मूर्ख राजा से राजाहीन पृथ्वी का होना श्रेष्ठ[1] है, क्योंकि मूर्ख राजा के राज्य में सदा उपद्रव होते रहते हैं, प्रजा को नाना प्रकार के कष्ट होते हैं। अज्ञानी नृप पशुवत् होने के कारण अन्धाधुन्ध आचरण करते हैं, जिससे राज्य मे अशान्ति रहती है।

राज्य प्राप्ति का विवेचन करते हुए बताया है कि कहीं तो यह राज्यवंश परम्परा से प्राप्त होता है और कही पर अपने पराक्रम से राजा कोई विशेष व्यक्ति बन जाता है, अतः राज्य का मूल क्रम—वंश परम्परा और विक्रम—पुरुषार्थ, शौर्य है[2]। राज्य के निर्वाह के लिये क्रम, विक्रम दोनों का होना अनिवार्य है, इन दोनों में से किसी एक के अभाव में राज्य-संचालन नहीं हो सकता है।[3] राजा को काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष इन छः अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना आवश्यक[4] है, क्योंकि इन विकारों के कारण नृपति कार्य-अकार्य के विचार से रहित हो जाता है, जिससे शत्रुओं को राज्य हड़पने के लिये अवसर मिल जाता है। राजा के विलासी होने से शासन प्रबन्ध भी यथार्थ नहीं चलता है, जिससे प्रजा मे भी गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है; और राज्य थोड़े दिनो में ही समाप्त हो जाता है। शासक की दिनचर्या का निरूपण करते हुए बताया है कि उसे प्रतिदिन राजकार्य के समस्त विभागों—न्याय, शासन, आय-व्यय, आर्थिकदशा, सेना, अन्तर्राष्ट्रीय तथा सार्वजनिक निरीक्षण, अध्ययन, संगीत, श्रवण, नृत्य अवलोकन और राज्य की उन्नति के प्रयत्नो की ओर ध्यान देना चाहिये। राजा को स्वयं सहसा किसी पर विश्वास नहीं करना चाहिये, बल्कि समस्त कर्मचारियों मे अपना विश्वास उत्पन्न करने की ओर लक्ष्य देना चाहिये।

सोमदेव सूरि ने राजा की सहायता के लिये मंत्री तथा अमात्य नियुक्त किये जाने पर जोर दिया है। मत्री, पुरोहित, सेनापति आदि कर्मचारियों को नियुक्त करनेवाला नृप

---

१ वरमराजकं भुवनं न तु मूर्खो राजा, न ह्यज्ञानादपरः पशुरस्ति—विद्यावृद्धिसमुद्देशः, सू० ३७, ३६

२ राज्यस्य मूलं क्रमो विक्रमश्च—विद्या० स० सू० २६

३ क्रमविक्रमयोरन्यतरपरिग्रहेण राज्यस्य दुष्करः परिणामः—विद्या० स० सू० २९

४ अयुक्तितः प्रणीता। काम-क्रोध-लोभ-मद-मान-हर्षाः क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः—अरिषड्वर्ग-समुद्देशः, सू० १

आहार्य बुद्धि—राज्य संचालक प्रतिभा सम्पन्न होता है।[1] जो राजा मंत्री या अमात्य वर्ग की नियुक्ति नहीं करता उसका सर्वस्व नष्ट हो जाता है। राज्य का संचालन मंत्री वर्ग की सहायता और सम्मति से ही यथार्थ हो सकता है[2]। जो शासक ऐसा नहीं करता वह अपने राज्य की अभिवृद्धि एवं संरक्षण सम्यक् रूप से नहीं कर सकता है। शासन में आयी हुई शिथिलता को मंत्रीगण ही दूर कर सकते है, वे अपनी बुद्धि द्वारा राज्य की अभिवृद्धि में सब प्रकार से योगदान देते हैं। मंत्रियों के गुणों का वर्णन करते हुए बताया है कि पवित्र, विचारशील, विद्वान्, पक्षपात रहित, कुलीन, स्वदेशज, न्यायप्रिय, व्यसन रहित, सदाचारी, शस्त्र विद्या निपुण, शासनतंत्र के विशेषज्ञ को ही मंत्री बनाना चाहिये[3]। मंत्रिमंडल राज्य व्यवस्था का अविच्छेद्य अंग माना गया है। भारतीय नीतिशास्त्र में मंत्री, अमात्य या सचिव परिषद् पर सर्वत्र जोर दिया गया है। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में भी राज्य व्यवस्था का कर्त्ता-धर्त्ता मंत्रिमंडल माना गया है।

मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की संख्या निर्दिष्ट करते समय आचार्य सोमदेव सूरि ने ३, ५ अथवा ७ से अधिक मंत्रिसंख्या होने की राय नहीं दी है[4]। मंत्रिमंडल के सदस्यों की संख्या के सम्बन्ध मे मध्यकालीन साहित्य में मत भेद है; बार्हस्पत्य १६, औशनस २०, शुक्र १० और मानवसम्प्रदाय ने १२ मंत्रियों की संख्या बतायी है। सोमदेव सूरि ने राज्य की आवश्यकतानुसार ३ से ७ तक संख्या बतायी है, उनका कथन है कि अधिक संख्या के रहने से शासन व्यवस्था मे गड़बड़ी होने की संभावना है।

---

१ मन्त्रिपुरोहितसेनापतीनां यो युक्तमुक्तं करोति स आहार्यबुद्धिः—मन्त्रि-समुद्देश, सू० १

२ व्याधिवृद्धौ यथा वैद्यः श्रीमत्सामाहितोद्यम ।
व्यसनेषु तथा राज्ञः कृतयत्ना नियोगिनः ॥
नियोगिभिर्विना नास्ति राज्यं भूपे हि केवले ।
तस्मादमी विधातव्या रक्षितव्याश्च यत्नतः ॥

—यशस्तिलकचम्पू आ० ३ श्लोक० २५-२६

३ शुचय स्वामिनि स्निग्धा राजराद्धान्तवेदिन । मन्त्राधिकारिणो राज्ञामभिजाताः स्वदेशजाः यशस्ति ल० आ० ३ श्लो० ११०

ब्राह्मणक्षत्रियविशामेकतम स्वदेशजमाचाराभिजनविशुद्धमव्यसनिनमव्यभिचारिणमधीताखिलव्यवहारतंत्रमस्त्रज्ञमशेषोपाधिविशुद्धं च मंत्रिणं कुर्वीत ।—नीतिवा० मंत्रिस० सू० ५

४ एको मंत्री न कर्त्तव्य. एको हि मंत्री निरवग्रहश्चरति मुह्यति च कार्येषु कृच्छ्रेषु; द्वावपि मंत्रिणौ न कार्यौ; त्रयः पंच सप्त वा मंत्रिणस्तैः कार्याः; बहवो मंत्रिणः परस्परं स्वमतीरुत्कर्षयन्ति

—नीतिवा० मंत्रिस० सू० ६६, ६७, ६८, ७१, ७२

मंत्रियों का कार्यक्षेत्र शासन के अतिरिक्त नयी नीति निर्धारण करना, राज्य के आय व्यय के सम्बन्ध में नीति बनाना, राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करना, उनके राज्याभिषेक में भाग लेना, परराष्ट्र नीति निर्धारण करना एवं साम्राज्य के समस्त कार्यों की देखरेख करना उनके कार्यों में परिगणित थे। यद्यपि सोमदेव सूरि ने मंत्रियों के कार्यों का विभाजन नहीं किया है किन्तु यशस्तिलक मे उन्होंने यशोधर राजा के मंत्रिमण्डल का जो कार्यविभाजन किया है, उससे मालूम होता है कि मंत्रियों के कार्य पृथक् पृथक् थे।

मध्ययुग में धर्म राज्य से पृथक् नहीं माना जाता था, अतः राजा की परिषद् में एक पुरोहित भी रहता था, जिसका कार्य शत्रु के अनिष्टकारक अनुष्ठानों का प्रतीकार करना, पौरोहित्य कर्म द्वारा राज्य की अभिवृद्धि करना, आधि-व्याधि को नष्ट करना, सेना को मौलिक शक्ति द्वारा बल प्रदान करना एवं प्रजा के धार्मिक कार्यों का निरीक्षण करना आदि बताया है। इसे शस्त्र, शास्त्र, दण्डनीति, ज्योतिष, मंत्रतंत्र आदि का पूर्ण पण्डित होना अनिवार्य[1] है। पुरोहित की गणना मंत्रिमण्डल मे नहीं की है, बल्कि राजवृद्धि के लिये शुभ मुहूर्त्तों एवं अन्य भविष्य के निरूपण के लिये उसका सम्मान्य पूर्ण पृथक् स्थान बताया है। पुरोहित के स्थान पर ब्राह्मण जाति का ही व्यक्ति नहीं नियुक्त किया जाना चाहिये, बल्कि कोई भी कुलीन सदाचारी व्यक्ति जो नीतिशास्त्र और ज्योतिष का विद्वान हो, इस पद पर आसीन किया जा सकता है।

सोमदेव सूरि का शासक परिषद् मे पुरोहित को सम्मिलित करना परम्परा निर्वाह का द्योतक ही प्रतीत होता है क्योंकि राजा के यहाँ ऐसे चतुर गुणज्ञ विद्वान और भी रहते थे, जो प्रजा में धार्मिकता का प्रचार एवं राजा के लिये भविष्य फल का प्रतिपादन कर सकते थे। फिर भी इन्होंने पुरोहित के पद मे पर्याप्त संशोधन किया है, उसकी गणना मंत्रिमण्डल में गौणरूप से की है अर्थात् मंत्रिमण्डल में पुरोहित का रहना इनके मत से आवश्यक नहीं है, हाँ भविष्यफल जानने के लिये एक ऐसे विद्वान् को राजा को अवश्य नियुक्त करना चाहिये जो राज्य के धार्मिक स्वास्थ्य की देखरेख कर सके। सोमदेव सूरि अपने समकालीन सभी नीतिकारों में यह मौलिकता लाये है। पुरोहित के पद, गुण, योग्यता आदि बातों में उन्होंने परम्परा का निर्वाह नहीं किया, बल्कि इस सम्बन्ध मे अपने मौलिक विचार रखे हैं।

---

१ पुरोहितमुदितोदितकुलशील षडंगवेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यामभिविनीतमापदां दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्तारं कुर्वीत ॥ राज्ञो हि मंत्रिपुरोहितौ मातापितरौ अतस्तौ न केषुचिद्वाञ्छितेषु विसूरयेत् ॥ अमानुष्योऽग्निरवर्षमतिवर्षं मरकी दुर्भिक्षं सस्योपघातो जंतुसर्गो व्याधिर्भूतपिशाच-शाकिनीसर्पव्यालमूषकाश्चेत्यापदः ॥—नीतिवा० पुरोहित समुद्देश, सू० १-३

अन्तर्राष्ट्रीय विभाग—इसका प्रधान उद्देश्य राज्य को सुदृढ़ करना, सोमदेव सूरि ने बताया है। इस विभाग का प्रधान राजा या 'सान्धि-विग्रहिक' को होना चाहिये। यह नियुक्त व्यक्ति राजा से मन्त्रणा कर युद्ध या मित्रता करने की नीति निर्धारित करे। इस विभाग में दूत नामक एक कार्यकर्ता नियुक्त किया जाना चाहिये जो अन्य राज्यों में राजदूत का कार्य भलीभाँति सम्पादन कर सके[1]। दूत[2] को चतुर, सदाचारी, अव्यसनी, उदार, प्रत्युत्पन्नमति, प्रतिभावान्, विद्वान्, वाचाल, कुलीन, सहिष्णु, शूरवीर एवं स्वामिभक्त होना चाहिये। इस दूत का निर्वाचन भी मंत्रिमण्डल द्वारा ही होना आवश्यक है[3] तथा इस पद के लिये कई व्यक्ति खड़े होने को लिखा है। राजदूत का समस्त प्रबन्ध और व्ययभार राज्य को उठाना पड़ेगा।

राजदूत तीन प्रकार के बताये गये हैं[4]— निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहर। जो दूत राजा का प्रतिनिधि होकर सन्धि, विग्रह आदि सभी कार्य करने में स्वतन्त्र हो, जिसे राज्य की ओर से समस्त अधिकार प्राप्त हों और जो अन्य राज्य में अपने राज्य की अभिवृद्धि के लिये समस्त साध्य-प्रयत्न स्वतन्त्र होकर कर सके वह निसृष्टार्थ, जो केवल अपने राजा की बात को ही कह सके, अन्य अपनी ओर से कुछ करने या कहने का अधिकारी न हो वह परिमितार्थ एवं जो राज्य के लिखित सन्देश को अन्य राजा को पढ़कर सुनावे और जो लिखित राजाज्ञा प्राप्त किये बिना कुछ भी कार्य करने का अधिकारी न हो वह शासनहर कहलाता है। प्रधान राजदूत निसृष्टार्थ को ही माना गया है। यद्यपि इसको भी राज्य का आदेश कार्य करने के लिये प्राप्त करना आवश्यक होता है, तो भी यह दौत्य कार्य में स्वतन्त्र ही रहता है।

---

१ अनासन्नेष्वर्थेषु दूतो मंत्री—नीतिवा० दूत स० सू० १

२ स्वामिभक्तिरव्यसनिता दाक्ष्यं शुचित्वममूर्खता प्रागल्भ्यं प्रतिभानवत्त्वं क्षान्तिः परमर्मवेदित्वं जातिश्च प्रथमे दूतगुणाः ॥—नीतिवा० दूत स० सू० २

दक्षः शूरः शुचिः प्राज्ञः प्रगल्भः प्रतिभानवान्।
विद्वान्वाग्मी तितिक्षश्च द्विजन्मा स्थविरः प्रियः ॥

—यश० आ० श्लो० १११

३ कदाचित्सततसम्मानदानाह्लादितसमस्तमित्रतन्त्रः सचिवलोकमतिसमुद्धृतमन्त्रः श्रीविलासिनी-मूर्त्तितैश्वर्यवरेषु वसुमतीश्वरेषु खलु दूतपूर्वाः सर्वेऽपि सन्ध्यादयो गुणा इत्यवधार्या कार्याः। इति गुणविशिष्टमशेषमनीषिपुरुषपरिषदिष्टमखिल प्रयाणसामग्रीसुविधेय ………॥

—यश० आ० ३ पृ० ३९५

४ स त्रिविधो निसृष्टार्थः परिमितार्थः शासनहरश्चेति।
यत्कृतौ स्वामिनः सन्धिविग्रहौ प्रमाणं स निसृष्टार्थः ॥

—नीति० दूतस० सू० ३-४

सेना विभाग—का निरूपण करते हुए बताया गया है कि राज्य को सुरक्षित रखने एवं शत्रुओं के आक्रमणों से बचने के लिये एक सुदृढ और बहुत बड़ी सेना की आवश्यकता है[1]। यह विभाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बताया गया है, राज्य की आय का अधिकांश भाग इसमें खर्च होना चाहिये। इस विभाग की आवश्यक सामग्री एकत्रित करने एवं सेना सम्बन्धी व्यवहार के संचालन के लिये एक अध्यक्ष होता है, जिसे सेनापति या महाबलाधिकृत कहा गया है। गजबल, अश्वबल, रथबल और पदातिबल ये चार शाखाएँ सेना की बतायी हैं। इन चारों विभागों के पृथक् पृथक् अध्यक्ष होते हैं, जो सेनापति के आदेशानुसार कार्य करते है। चारो प्रकार की सेना मे गजबल सबसे प्रधान बताया हैं,[2] क्योंकि एक-एक सुशिक्षित हाथी सहस्रों योधाओं का संहार करने में समर्थ होता है। शत्रु के नगर को ध्वंश करना, चक्रव्यूह तोड़ना, नदी, जलाशय आदि पर पुल बनाना एवं अपनी सेना की शक्ति को दृढ़ करने के लिये व्यूह रचना करना आदि कार्य भी गजबल के है[3]। गजबल का निर्वाचन बड़ी योग्यता और बुद्धिमत्ता के साथ करना चाहिये। मन्द, मृग, संकीर्ण और भद्र इन चार प्रकार की जातियों के हाथी तथा ऐरावत, पुण्डरीक, कामन, कुमुद, अञ्जन, पुष्पदन्त, सार्वभौम और सुप्रतीकान इन आठ कुलों के हाथियों को ही ग्रहण करना इस बल के लिये आवश्यक है। गजों के चुनाव के समय जाति, कुल, वन और प्रचार इन चारों बातों के साथ शरीर, बल, शूरता और शिक्षा पर भी ध्यान रखना आवश्यक[4] है। अशिक्षित गजबल राजा के लिये धन और जन का नाशक बताया गया है[5]।

अश्वबल की शक्ति भी सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी गयी है, इसे जंगम सैन्यबल बताया है। इस सेना द्वारा दूरवर्त्ती शत्रु भी वश में हो जाता है; शत्रु की बढी-चढ़ी शक्ति का दमन, युद्धक्षेत्र में नाना प्रकार का रणकौशल एवं समस्त मनोरथ

---

१ द्रविणदानप्रियभाषणाभ्यामरातिनिवारणेन यद्धितं स्वामिनं सर्वावस्थासु बलोऽर्न्वृणोतीति बलम्।—नीति० वा० बलस० सू० १

२ बलेषु हस्तिनः प्रधानमङ्गं स्वैरवयवैरष्टयुधा हस्तिनो भवन्ति।

—नीतिवा० बलस० सू० २

३ हस्तिप्रधानो विजयो राज्ञां यदेकोऽपि हस्ती सहस्रं योधयति न सीदती प्रहारसहस्रेणापि॥ सुखेन यानमात्मरक्षा रिपुपुरावमर्दनमरिव्यूहविघातो जलेषु सेन्तुबन्धा वचनादन्यत्र सर्वविनोदहेतव-श्चेति हस्तिगुणा.।—नीनिवा० बलस० सू० ३, ६

४ जाति. कुल वन प्रचारश्च न हस्तिनां प्रधानं किन्तु शरीरं बलं शौर्यं शिक्षा चदुचिता। सामग्रीसम्पत्तिः॥—नीतिवा० बलस० सू० ४

५ अशिक्षिता हस्तिन केवलमर्थप्राणहरा.—नीति वा० बलस० सू० ५

सिद्धि इस बल द्वारा होती है।[1] अश्वबल के निर्वाचन में भी अश्वों के उत्पत्ति स्थान,[2] उनके गुणावगुण, शारीरिकशक्ति, शौर्य, चपलता आदि बातों पर ध्यान देना चाहिये। रथबल का निरूपण करते हुए उसकी आवश्यकता, कार्य, अजेय शक्ति आदि बातों पर पूर्ण प्रकाश डाला है[3]। इस बल के निर्वाचन में धनुर्विद्या के ज्ञाता योद्धाओं की उपयुक्तता का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। पदातिबल में पैदल सेना का निरूपण किया है, पैदल सेना को अस्त्र-शस्त्र में पारंगत होने के साथ-साथ शूरवीर, रणानुरागी, साहसी, उत्साही, निर्भय, सदाचारी, अव्यसनी, दयालु होना अनिवार्य बताया है। जबतक सैनिक में उपर्युक्त गुण न होंगे, वह प्रजा के कष्ट निवारण में समर्थ नहीं हो सकता है। सेवाभावी और कर्त्तव्य परायण होना प्रत्येक प्रकार की सेना के लिये आवश्यक बताया है।

सेनापति की योग्यता और गुणों का कथन करते हुए सोमदेव सूरि ने कहा है कि कुलीन, आचार-व्यवहार सम्पन्न, पण्डित, प्रेमिल, पवित्र क्रियवान, पराक्रमशाली, प्रभावशाली, बहु कुटुम्बी, नीतिविद्या निपुण, सभी अस्त्र-शस्त्र सवारी-लिपि भाषाओं का पूर्ण जानकार, सभी का विश्वास और श्रद्धा भाजन, सुन्दर, कष्टसहिष्णु, साहसी युद्धविद्या निपुण तथा दया, दाक्षिण्यादि नाना गुणों से विभूषित सेनापति होता है। इसमें कायरता, वासना, निष्ठुरता, असहयोगिता, निन्दा, ईर्ष्या, व्यसन-प्रवृत्ति, असमयज्ञता, अनावश्यक व्यय आदि दुर्गुणों का अभाव रहना अनिवार्य बताया है। सेनापति की गणना राजा के प्रधान अधिकारियों में की गयी है। इसका निर्वाचन राजा को मंत्रियों की सहायता से बहुत सोच-समझ कर करना चाहिये। सोमदेव सूरि ने इस विभाग का बड़ाभारी उत्तरदायित्व बताया है। राज्य की रक्षा और उसकी अभिवृद्धि करना इस विभाग का ही काम माना है।

पुलिस विभाग—की व्यवस्था के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सोमदेव सूरि ने कोट्टपाल—दण्डपाशिक को इस विभाग का प्रधान बताया है। चोरी, डकैती, बलात्कार आदि के मामले पुलिस द्वारा सुलझाये जाते थे। पुलिस को बड़े-बड़े मामलों में सेना की सहायता भी लेने को लिखा है। इस विभाग को सुदृढ़ करने के लिये गुप्तचर नियुक्त

१ अश्वबलं सैन्यस्य जंगम प्रकारः। अश्वबलप्रधानस्य हि राज्ञः कदनकन्दुकक्रीडाः प्रसीदन्ति, भवन्ति दूरस्था अपि करस्थाः शत्रवः आपत्सु सर्वमनोरथसिद्धयस्तुरंगमा एव शरणमवस्कन्दः परानीकभेदनं च तुरंगमसाध्यमेतत्॥—नीति० ब० सू० ९

२ तर्जिका स्थलाणा करोखरा गाजिगाणा केकाणा पुष्टाहारा—इत्यादि बलस० सू० १०

३ रथैरवमर्दितं परबलं सुखेन जीयते मौल-भृत्यक-भृत्य-श्रेणी मित्राटविकेषु-पूर्वं पूर्वं बलं यतेत—बल स० सू० १२

करना आवश्यक है। गाँवों में मुखिया को ही पुलिस का उच्चाधिकारी बताया है। धन सम्पत्ति, पशु आदि के अपहरण की पूरी तहकीकात मुखिया को ही करनी चाहिये। मुखिया अपने मामलों की जाँच में गुप्तचरों से भी सहायता ले सकता है। पुलिस विभाग की सफलता बहुत कुछ गुप्तचर—सी० आई० डी पर ही आश्रित मानी गयी है[1]। गुप्तचर के गुणों का निरूपण करते हुए बताया है कि संतोषी, जितेन्द्रिय, सजग, निरोगी, सत्यवादी, तार्किक और प्रतिभाशाली व्यक्ति को इस महत्त्वपूर्णपद पर नियुक्त करना चाहिये। जो राजा गुप्तचर नियुक्त नहीं करता है, वह अपनी प्रजा पर ठीक तरह से शासन नहीं कर सकता है। गुप्तचर के लिये कपटी, धूर्त्त, मायावी, शकुन-निमित्त-ज्योतिष-विशारद, गायक, नर्तक, विदूषक, वैतालिक, ऐन्द्रजालिक होना चाहिये[2]। यों तो ३४ प्रकार के व्यक्तियों को चर नियुक्त करने पर जोर दिया है। पुलिस विभाग की व्यवस्था के लिये अनेक कानून भी बताये गये हैं तथा शासन के लिये अनेक पदों एवं उनके कार्यों का प्रतिपादन किया गया है। यशस्तिलक में गुप्तचरों के साथ या उनके नीचे कुछ ऐसे व्यक्तियों का नाम भी बताया गया है जो आजकल आई० जी० के पद के तुल्य होता था। पुलिस के अधिकार आज की अपेक्षा सोमदेव सूरि ने कम ही बताये हैं। हाँ, सेनापति का आदेश लेकर पुलिस अफसर स्वतन्त्रतापूर्वक भी मामलों की जाँच कर सकता है। कई धाराएँ ऐसी निर्धारित की गयी हैं जिनमें पुलिस को चोरी, बलात्कार, पशुधनापहरण के मामलों की जाँच का पूरा अधिकार है।

कोश विभाग—का वर्णन करते हुए सोमदेवसूरि ने राज्य संचालन के लिये कोश पर बड़ाभारी जोर दिया है। जो राजा सम्पत्ति, विपत्ति के समय के लिये कोश संचय करता है, वही अपने राज्य का विकास कर सकता है। कोश में सोना, चाँदी, द्रम्म—मुद्राएँ धान्य का संग्रह होना चाहिये[3]। इन आचार्य ने कोश की महत्ता दिखाने के लिये कोश को ही राजा बताया है, क्योंकि जिसके पास द्रव्य है वही तो संग्राम में

१ स्वपरमण्डल कार्याकार्यावलोकने चराः चक्षूंषि क्षितिपतीनाम् ॥—नी० च० सू० १

२ अलौल्यममान्द्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्व चारगुणाः । छात्रकापटिकोदास्थितगृहपतिवैदेहिकतापसिकरातयमपट्टिकाऽहितुण्डिकशौण्डिकशौभिक पाटच्चर विटविदूषकपीठमर्दननर्तकगायकवादकवाग्जीवनगणकशाकुनिकभिषगैन्द्रजालिकनैमित्तिकसूदारालिकसंवाहकतीक्ष्णक्रूरजडमूकबधिरान्धच्छद्माऽवस्थायियायिभेदेनावसर्पवर्गः ॥— नीति वा० चार स० सू० २, ८

३ यो विपदि सम्पदि च स्वामिनस्तंत्राभ्युदयं कोशयतीति कोशः ॥

सातिशयहिरण्यरजतप्रायोव्यावहारिकनाणकबहुलो महापदि व्ययसहश्चेति कोशगुणाः

नीतिवा० कोश स० सू० १-२

विजय प्राप्त कर लेता है[1]। धनहीन को संसार में कुटुम्बी—स्त्री पुत्रादि भी छोड़ देते हैं अतः राजाओं की सबसे बड़ी शक्ति धन ही है। इस एक चीज के होने से ही समस्त वस्तुओं का प्रबन्ध किया जा सकता है। कोश संग्रह में प्रमुख धान्य संग्रह को बतलाया[2] है, क्योंकि सबसे अधिक प्रधानता इसी की है। धान्य के होने से ही प्रजा और सेना की जीवन यात्रा चल सकती है। युद्धकाल मे भी धान्य की विशेष आवश्यकता पड़ती है। रस संग्रह में लवण—नमक को प्रधानता दी गयी है,[3] क्योंकि लवण के बिना भोजन में स्वाद नहीं आ सकता है। कोश की वृद्धि और संचय के समय रस और धान्य के संग्रह पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

आय-व्यय—की व्यवस्था करने के लिये पाँच प्रकार के अधिकारी नियुक्त करने चाहिये, जिनके नाम आदायक, निबन्धक, प्रतिबन्धक, नीवीग्राहक और राजाध्यक्ष बताये हैं।[4] आदायक का कार्य दण्ड आदि के द्वारा प्राप्त द्रव्य को ग्रहण करना; निबन्धक का कार्य विवरण लिखना, प्रतिबन्धक का रुपये देना, नीवीग्राहक का भाण्डार में रुपये रखना और राजाध्यक्ष का कार्य सभी आय-व्यय के विभागों का निरीक्षण करना होता है। राज्य की आमदनी व्यापार, कर, दण्ड आदि से तो करनी चाहिये, पर विशेष अवसरों पर देवमन्दिर, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का संचित धन, वेश्याओं, विधवा स्त्रियों, जमीन्दारों, धनियों, ग्रामकूटों, सम्पन्न कुटुम्बों एवं मंत्री, पुरोहित, सेनापति, प्रभृति अमात्यों से धन लेना चाहिये।[5]

व्यापारिक उन्नति—के लिये बताया गया है कि जिस राज्य मे कृषि, व्यापार और पशु पालन की उन्नति नहीं होती वह राज्य नष्ट हो जाता है। राजा को अपने यहाँ के माल को बाहर जाने से रोकने के लिये तथा अपने यहाँ बाहर के माल को न आने

१ कोशो राजेत्युच्यते न भूपतीनां शरीरं। यस्य हस्ते द्रव्यं स जयति। धनहीनकलत्रेणापि परित्यज्यते किं पुनर्नान्यैः। न खलु महान् कुलीनश्च यस्यास्ति धनमनूनं।—

नीति वा० कोश स० सू० ७-११

२ सर्वसङ्ग्रहेषु धान्यसंग्रहो महान्। यतस्तन्निबन्धनं जीवितं सकलप्रयासश्च॥ न खलु मुखे क्षिप्तः खरोऽपि द्रम्मः प्राणत्राणाय यथा धान्यम्॥—नीति० अमात्य समुद्देश सू० ६५

३ लवणसंग्रहः सर्वरसानामुत्तमः। सर्वरसमयमप्यन्नमलवणं गोमयायते॥

नीतिवा० अ० स० सू० ६९-७०

४ आदायकनिबन्धकप्रतिबन्धकनीवीग्राहकराजाध्यक्षाः करणानि।—नीति० अ० सू० ४९

५ देवद्विजवणिजां धर्माध्वरपरिजनानुपयोगिद्रव्यभागैराढ्यविधवानियोगिग्रामकूटगणिकासंघपाखण्डि विभवप्रत्यादानैः समृद्धपौरजनपदद्रविणसंविभागप्रार्थनैरनुपक्षयश्रीका मन्त्रिपुरोहितसामन्तभूपालानुनयग्रहागमनाभ्यां क्षीणकोशः कोशं कुर्यात—नी० को० सू० १४

देने के लिये अधिक कर लगाना चाहिये।'[1] अपने यहाँ व्यापार की उन्नति के लिये राजा को व्यापारिक नीति निर्धारित करना, यातायात के साधनों को प्रस्तुत करना एवं वैदेशिक व्यापार के सम्बन्ध में कर लगाना या अन्य प्रकार के नियम निर्धारित करने चाहिये। राज्य की आर्थिक उन्नति के लिये वाणिज्य और व्यवसाय को बढ़ाना, माल के आने-जाने पर कर लगाना प्रत्येक राजा के लिये अनिवार्य बताया है।

युद्धनीति—का वर्णन करते हुए सोमदेवसूरि ने बताया है कि सर्व प्रथम शत्रु को वश में करने के लिये नीति का प्रयोग करना चाहिये। जब शत्रु कूटनीति से वश में न हो तो उसके साथ वीरतापूर्वक युद्ध करना चाहिये। कभी-कभी बुद्धिमान राजा अपनी कुशाग्र बुद्धि द्वारा बलवान् शत्रुको भी वश मे कर लेते हैं। जिस कार्य को सहस्रों की तदाद में एकत्रित चतुरंग सेना नहीं कर पाती है, उसीको प्रज्ञा के बल से नृपति कर लेता है। युद्ध के लिये जाते समय की व्यवस्था का वर्णन करते हुए बताया है कि राजा को दुर्ग में जल और खाद्य पदार्थों की व्यवस्था कर दुर्ग से आगे शत्रु के साथ युद्ध करना चाहिये, जिससे समय पड़ने पर जल और खाद्य पदार्थों का उपयोग दुर्ग मे प्रवेश कर किया जा सके। यदि शत्रु युद्ध द्वारा वश में न किया जा सके तो उसके साथ ऐसी नीति का व्यवहार करना चाहिये जिससे वह कपट द्वारा वश में हो सके। शत्रु की सेना में फूट डालना, शत्रु सैनिकों को अपनी ओर मिलाना, अपनी सेना को सब प्रकार संतुष्ट करना, अमात्य और सेनापति को धन-धान्य द्वारा प्रसन्न करना, प्रजा में सब प्रकार शान्ति रखने की चेष्टा करना, शत्रु के राज्य के ऊपर अन्य किसी राजा द्वारा आक्रमण करा देना, शत्रु सेना की खाद्य सामग्री नष्ट कर देना, शत्रु द्वारा अधिकृत अपने देश की सम्पत्ति नष्ट कर देना आदि नीति का प्रयोग करना आवश्यक बताया है। युद्धों के लक्षण और भेद बतलाते हुए कूटयुद्ध, तूष्णीयुद्ध आदि भेदों का सुन्दर विवेचन किया है, जिससे युद्ध सम्बन्धी नीति का पूर्ण परिचय मिल जाता है। कूटयुद्ध[3] में बताया है कि एक ओर से छोटी-सी सेना की टुकड़ी लेकर शत्रु सेना पर आक्रमण करे तथा दूसरी ओर से

---

१ कृषि: पशुपालनं वाणिज्या च वार्ता वैश्यानाम्। वार्तासमृद्धौ सर्वाः समृद्धयो राज्ञः॥ शुल्कवृद्धिर्बलात्पण्यग्रहणं च देशान्तरभाण्डानामप्रवेशे हेतुः॥

—नीति वा० वार्ता स० सू० १, २, १९

भूम्यर्थं नृपाणां नयो विक्रमश्च न भूमित्यागाय॥ बुद्धियुद्धेन परं जेतुमशक्तः शस्त्रयुद्धमुपयुञ्जीत॥ न तथेषवः प्रभवन्ति यथा प्रज्ञावतां प्रज्ञाः। प्रज्ञा ह्यमोघं शस्त्रं कुशलबुद्धीनां॥

—नीति० युद्ध स० सू० १, ४, ५, ६

३ अन्याभिमुखं प्रयाणकमुपक्रम्यान्योपघातकरणं कूटयुद्धं॥—नीति वा० युद्ध स० सू० ३०

दूसरी टुकड़ी द्वारा, जिसका शत्रु को पता भी न लगे धावा कर दे, जिससे शत्रुसेना अपने आप अस्त्र-शस्त्र छोड़कर भाग जायगी। यह आक्रमण इतनी बुद्धिमानी और दूरदर्शिता के साथ करना चाहिये, जिसमें विरोधी सेना में भगदड़ मच जाय और मैदान खाली हो जाय। इसी प्रकार तूष्णी युद्ध में बताया गया है कि विष प्रयोग, विषैली वेश्याओं का प्रयोग, खाद्य पदार्थों में विषमिश्रण, राजा या प्रधान सेनापति को कर्त्तव्य च्युत करने के लिये व्यसनों का उपयोग करना, जिससे बिना युद्ध किये ही शत्रुवश में हो जाय, तूष्णीयुद्ध है[1]।

राजा को युद्धक्षेत्र में काम आये सैनिकों के परिवार के भरण-पोषण का प्रबन्ध करना आवश्यक है। जो राजा ऐसा नहीं करता वह उस सैनिक के परिवार का ऋणी है।[2] इसी तरह सैनिक को युद्धक्षेत्र में युद्ध को अश्वमेध के समान कल्याणकारी समझना चाहिये। जो रणक्षेत्र से भागता है, उसका इस लोक और परलोक में कल्याण नहीं हो सकता[3]। युद्ध क्षेत्र के लिये गमन करने की विधि का निरूपण करते समय बताया है कि राजा को आधी सेना रणक्षेत्र में भेजनी चाहिये और आधी सेना दुर्ग में सुरक्षित रखनी चाहिये तथा नवीन सैनिकों को शिक्षा भी आरम्भ कर देनी चाहिये। युद्धकाल में कृषि और पशुओं की वृद्धि का भी पूर्ण ध्यान रखना आवश्यक है। सैनिकों के परिनिष्क्रमण के सम्बन्ध में भी कई नियम निर्धारित किये हैं, जो कि आजकल की युद्धनीति से बहुत कुछ साम्यता रखते हैं।[4]

न्यायालय की व्यवस्था—और उसके लिये नियमों का निर्धारण करते हुए सोमदेव सूरि ने अनेक नियमोपनियम बताये हैं तथा राजनीति की अनेक पेचीदी बातों का वर्णन किया है। इन्होंने जनपद—प्रान्त, विषय—जिला, मण्डल—तहसील, पुर—नगर और ग्राम इनकी शासन प्रणाली संक्षेप में बतलायी है। राजा की एक परिषद् होनी चाहिये, जिसका राजा स्वयं सभापति हो और यही परिषद् विवादों—मुकद्दमों का फैसला करे। परिषद् के सदस्य राजनीति के पूर्ण ज्ञाता, लोभ, पक्षपात से रहित और न्यायी हों। वादी एवं प्रतिवादी के लिये अनेक प्रकार के

१ विषविषमपुरुषोपनिषद्वाग्योपजापैः परोपघातानुष्ठानं तूष्णीयुद्धः ॥

नीति वा० यु० स० सू० ९१

२ राजा राजकार्येषु मृतानां सन्ततिमपोषयन्नृणभागी स्यात् साधुनोपचर्यते तन्त्रेण ॥

—नी० यु० सू० ९३

३ स्वामिनः पुरःसरणं युद्धेऽश्वमेधसमं । युधि स्वामिनं परित्यजतो नास्तीहामुत्र च कुशलं ॥

नी० यु० सू० ९४-९५

४ देखें—नीतिवाक्यामृतं युद्धसमुद्देश सू० ९६-१०६

नियम बतलाते हुए कहा है कि जो अपना मुकद्दमा दायर कर समय पर उपस्थित न हो, जिसके बयान में पूर्वापर विरोध हो, जो वादी या प्रतिवादी बहस द्वारा निरुत्तर हो जाय या स्वयं प्रतिवादी को छल से निरुत्तर कर दे वह सभा द्वारा दण्डनीय है। वाद-विवाद के निर्णय के लिये लिखित, साक्षी, भुक्ति—अधिकार जिसका बारह वर्ष तक उपयोग किया जा सका है, प्रमाण हैं। न्यायालय में साक्षी के रूप में ब्राह्मण से सुवर्ण और यज्ञोपवीत के स्पर्शन रूप शपथ, क्षत्रिय से शस्त्र, रत्न, भूमि, वाहन के स्पर्शनरूप शपथ, वैश्य से कान, बाल, और काकिणी—एक प्रकार का सिक्का के स्पर्शन-रूप शपथ एवं शूद्रों से दूध, बीज के स्पर्शनरूप शपथ लेनी चाहिये। इसी प्रकार जो जिस काम को करता है, उससे उसी कार्य के छूने की शपथ लेनी चाहिये। इस तरह गुण-दोषों का विचार कर यथार्थ न्याय करना चाहिये। राज्य व्यवस्था के लिये अनेक धाराओं का निरूपण किया है। मुकद्दमे के निर्णय के लिये राजा को प्रत्यक्ष, अनुमान, लिखित, इन तीनों प्रमाणों का उपयोग करना चाहिये[1]। इस प्रकार तन्त्र—शासन व्यवस्था सम्बन्धी नियमों का वर्णन सोमदेवसूरि ने किया है।

अवाय—नीति का वर्णन करते हुए सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीकरण और संश्रय इन[2] छः गुणों का तथा राजनीति के साम, उपदान, दण्ड और भेद इन चार अंगों का विस्तार सहित प्रतिपादन किया है।

सन्धि—"पणबन्धः सन्धि" अर्थात् जब राजा को यह विश्वास हो जाय कि थोड़े ही दिन में उसकी सैन्य संख्या बढ़ जायगी तथा उसमें अपेक्षाकृत बल अधिक आ जायगा तो वह क्षति स्वीकार कर भी सन्धि कर ले अथवा प्रबल राजा से आक्रान्त हो और बचाव का उपाय न हो तो कुछ भेंट देकर सन्धि कर ले।

विग्रह—"अपराधो विग्रहः" अर्थात जब अन्य राजा अपराध करे, राज्य पर आक्रमण करे या राज्य की वस्तुओं का अपहरण करे तो उस समय उसे दण्ड देने की व्यवस्था करना, विग्रह है। विग्रह के समय राजा को अपनी शक्ति, कोश और बल—सेना का अवश्य विचार करना चाहिये।

---

१ नाविचार्य कार्यं किमपिकुर्यात्। प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतुर्विचारः।

नीति वा० वि० स० सू० १-२

२ सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यं ॥—नीति० वा० सू० ४५

अष्टशाखं चतुर्मूलं षष्टिपत्रं द्वयेस्थितम्।

षट्पुष्पं त्रिफलं वृक्षं यो जनाति स नीतिवान् ॥

—यशस्तिलक आ० ३ श्लो० २५९

यान —,"अभ्युदयो यानं"—शत्रु के ऊपर आक्रमण करना या शत्रु को बलवान समझ कर अन्यत्र चला जाना यान है।

आसन—"उपेक्षणमासनं"—यह एक प्रकार विराम सन्धि का रूपान्तर है। जब उभयपक्ष की सामर्थ्य घट जाय तो अपने-अपने शिविर में विश्राम के लिये आदेश देना अथवा मंत्री परपक्ष और स्वस्वामी की शक्ति एवं सैन्य संख्या समान देखकर अपने राजा को एकभावस्थान लेने का जो आदेश देता है, वह आसन है।

संश्रय—"परस्यात्यार्पणं संश्रयः"—शत्रु से पीड़ित होने पर या उससे क्लेश की आशंका कर किसी अन्य बलवान राजा का आश्रय लेना संश्रय है।

द्वैधीकरण—"एकेन सह सन्ध्ययान्येन सह विग्रहकरणमेकेन वा शत्रौ सन्धानपूर्वं विग्रहो द्वैधीभावः"—जब दो शत्रु एक साथ विरोध करें प्रथम एक के साथ सन्धि कर दूसरे से युद्ध करें और जब वह पराजित हो जाय तो फिर प्रथम के साथ युद्ध कर उसे भी हरा दे, इस प्रकार दोनों को कूटनीतिपूर्वक पराजित करना या मुख्य उद्देश्य गुप्त रखकर बहिरंग में शत्रु से सन्धि कर अवसर प्राप्त होते ही अपने उद्देश्य के अनुसार विग्रह करना द्वैधीकरण है। यह कूटनीति का एक अंग है, इसमें बाहर कुछ और भीतर कुछ भाव रहते हैं।

भेद—जिस उपाय द्वारा शत्रु की सेना में से किसी को बहका कर अपने पक्ष में मिलाया जाय या शत्रुदल मे फूट डाल कर अपना कार्य साध लिया जाय भेद है। इसी प्रकार चतुरंग राजनीति का भी भेद-प्रभेदों सहित वर्णन किया है। राजा अपनी राजनीति के बल से ब्रह्मा, विष्णु और महेश बन जाता है। जनता के जान-माल की रक्षा के लिये विधान भी राजा को बनाना चाहिये। राजा को प्रधानतः नियम और व्यवस्था, परम्परा और रूढियों का संरक्षक होना अनिवार्य है।

सोमदेव सूरि ने राज्य का लक्ष्य धर्म, अर्थ, और काम का संवर्धन माना है। धर्म संवर्धन से उनका अभिप्राय सदाचार और सुनीति को प्रोत्साहन देना तथा जनता में सच्ची धार्मिक भावना का सचार करना है। अर्थ संवर्धन के लिये कृषि, उद्योग, और वाणिज्य की प्रगति, राष्ट्रीय साधनों का विकास, कृषि विस्तार के लिये सिंचाई और नहर आदि का प्रबन्ध करना आवश्यक बताया है। काम संवर्धन के लिये शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित कर प्रत्येक नागरिक को न्यायोचित सुख भोगने का अवसर देना एवं कलाकौशल की उन्नति करना बताया है। इस प्रकार राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापन के लिये जनता का सर्वाङ्गीण नैतिक, सांस्कृतिक,

आर्थिक और शारीरिक विकास करना राजा का परम कर्त्तव्य है। इसलिये राजा को निम्न प्रकार नीतिज्ञ अवश्य होना चाहिये अर्थात् जो अरि, विजिगीषु, मध्यम, उदासीन इन चारों के अरि और मित्र के भेद से युक्त आठ शाखावाले, साम, दान, भेद और दण्ड से युक्त चतुर् मूलवाले, अरि, विजिगीषु, अपने मित्र के साथी, शत्रु के मित्र, स्वमित्र, आक्रन्द अरिमित्र, पार्ष्णिग्रह,[1] आक्रान्द,[2] आक्रान्दमित्र[3] और दो मध्यस्थ इन बारह को अमात्य, राज्य, दुर्ग, कोश और बल इन पाँच से गुणा करने पर साठ पत्रवाले, सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीकरण इन छः पुष्पवाले एवं स्थान, क्षय और वृद्धि इन तीन फलवाले राजनीति वृक्ष को जानता है, वही नीतिवान नृप है।

राज्याधिकार—[4]का निरूपण करते हुए बताया है कि सबसे प्रथम पुत्र का, अनन्तर भाई का, भाई के अभाव में विमाता के पुत्र—सौतेले भाई का, इसके अभाव में चाचा का, इसके अभाव में सगोत्री का, सगोत्री के न रहने पर नाती—लड़की के पुत्र का एवं इसके अभाव में किसी आगन्तुक का अधिकार होता है। इस प्रकार सोमदेव सूरि ने राजनीति का विस्तृत वर्णन किया है।

१ यो विजिगीषौ प्रास्थितेपि प्रतिष्ठमाने वा पश्चात्कोपं जनयति स पार्ष्णिग्राहः।

२ पार्ष्णिग्राहाद्यः पश्चिमः स आक्रन्दः।

३ पार्ष्णिग्राहमित्रमासार आक्रन्दमित्रं च।—नी० वा० स० सू० २६-२८

४ सुतसोदरसपत्नपितृव्यकुल्यदौहित्रागन्तुकेषु पूर्वपूर्वाभावे भवत्युत्तरस्य राज्यपदावाप्तिः॥

नीति० राजा स० सू० ८६

कलिङ्गाधिपति खारवेल

[श्री प्रो० गोरावाला खुशाल जैन एम० ए०, साहित्याचार्य, आदि]

मूल

पंक्ति ४

कारयति [।] पनति साहि सत सहसेहि पकातीयो[1] च रंजयति [।] दि (दु) तिये चु[2] वसे अचितयिता सातकणि[3] पच्छिमदिस हय गज-नर-रध-बहुलं दड पथापयति [।] कसपनां[4] खतियं च सहाय विनोपति[5] मुसिक नगरं[6] [।] ततिये पुन वसे

पंक्ति ५

गंधव[7]-वेदबुध दंप-नत गीत-वादित संदसनाहि उसव-समाज-कारायनाहि च कीडापयति नगरि [।] इत्थ चवुथे[8] वसे विजाधराधिवास अहत[9] पुव कलिगयुवराज निवेसितं[10] ... वितध[11] -मकुटे सबिलम ढिते च निखित[12] छत

भाषा

तथा पैंतीस सौ सहस्र प्रकृतियों[1] को प्रसन्न करता है [।] द्वितीय वर्ष में सात करणी[2] की चिन्ता न करके घोडा हाथी पदाति रथों की विशाल सेना पश्चिम दिशा में भेजता है [।] तथा काश्यप क्षत्रियों[3] की सहायता के लिए मूशिकों की राजधानी[4] का ध्वंस कराता है [।] पुन. तीसरे वर्ष में—

गंधर्व विद्या विशारद (नृपति) दंप[5] नृत्य-संगीत वादित्र के प्रदर्शनों (तथा) उत्सवों एवं समाजों[6] के आयोजनों द्वारा कलिंग नगरी का मनोविनोद कराता है [।] इस प्रकार[7] चौथे वर्ष में विद्याधर निवास[8] (। जिनपुर) न तो पहिले अघात ही हुआ था ; (तथा) पहिले के कलिंगधिपतियों ने . ....

---

१ ल्यू० 'पकातियो', जैस० 'पकतियो'।

२ ल्यू० बन० सर्वत्र 'च' पढते हैं।

३ ल्यू० सातकनि से जैस० सातकं णि ही उपयुक्ततर है।

४ ल्यू० ल्यू० 'कुसंबन', बन० 'कसबनां', जैस० 'कसहबेनां'।

५ ल्यू० बन० 'सहाय-वता-पात', तुप् अघाते के आधार पर, जैस० 'वितापति'।

६ ल्यू० ने इसे नहीं पढा था, ल्यू० संदिग्ध रहे। मुशिक विख्यात जन थे।

७ जैस० 'गंधबा'।

८ जैस० तथा 'विवधे।

९ ल्यू० 'अहतं,।

१० ल्यू० के समय में 'नंमंसितं, पढा जाता था। यह पाठ जैस० का है।

११ 'वित' जैस० ने ही पढा था।

१२ ल्यू० 'पूजित' पहिले जैस० 'सबिच्छिद्दते' पर

१ यदि ल्यू० 'पनत्तिसाहि' के पहिले विराम को देखते तो इसका पूर्व वाक्य से सम्बन्धन करते।

२ ल्यू० का "पश्चिमाधिपति सातकरणी ने सेना भेजी" अर्थ 'सातकणि' ही भ्रान्त सिद्धकर देता है।

३ ल्यू० के 'कौशम्ब' क्षत्री दुरुह हैं।

४ स्थान एकीकरण भी मृशिक नगर का समर्थक है

५ कोष तथा साहित्य में 'दप' का अर्थ अब तक अप्राप्य है।

६ थोमस के मत में ये युद्ध प्रदर्शन थे। भण्डारकर इन्हें विशेष नाटक कहते हैं।

७ 'तथा' की अपेक्षा 'इत्थ' भी प्रकरण में ठीक बैठता है।

८ जैन साहित्य में विजयार्ध (विन्ध्याचल) विद्याधरों की बस्तियों के वर्णन हैं।

पंक्ति ६

भिंगारे हित-रतन सा[1] पतेवे सबराठिक **भोजके** पादे वंदाप्यति [।] पचमे च दानी वसे[2] **नंदराज**-तिवसमसत ओघाटितं तनसुलि-य वाटापनाडिं नगरं पवेस [य] ति[3] [।] सो [4]...वि च[5] राजसेय सड[6] सग तो सब-भरावणं [7][।]

पंक्ति ७

अनुग्रह-अनेकानि सत सहसानि विसजति पोरं[8] जानपदं [।] सतमं च वंस पसासतो च [ज र घ र ख त ??][9] घरिन [इ] सवितु उपादपुं [ग़ी] स [।] अठमे च वसे [,] [मनतिनो?] [घ म ति ??][10] गोरधगिरि[11]

स्थापित किया था (वहीं पर) प्रभाव हीन व्यर्थ राजमुकुट[1] (तथा) पतित नष्ट छत्रों—भृगारक वाले (चौदह) रत्न हीन राशिको तथा भोजकों के समस्त प्रमुखों द्वारा चरणों में नमस्कार करता है[2] [।] इसके बाद पांचवे वर्ष में तनसुलिय बाट से नहर को राजधानी में लाता है (जिसे) तीन शती[3] पहिले नन्द राजा ने खुदवाया था [।] अभिषिक्त होने के छठे वर्ष में...... समस्त दुखियों[4] पर राज कीय कृपा दिखलाता हुआ

[वह] पौर जानपदों [संस्थाओं][5] पर सैकड़ों हाजार विविध अनुग्रह करता है [।] सातमे वर्ष में शासन करते हुए ..पत्नी मातृत्व[6] ...[।] आठवे वर्ष में ..गोरधगिरि को[7]

---

१ ज्यू० 'भिगारेहि त (ति) रत्नास' पढ़ा था जिसका 'त्रिरत्न की प्राप्ति के लिये उद्यत था' ऐसा अप्राकरणिक अर्थ किया था।

२ नन्दराज के पहिले स्थान छूटा है जो कि सज्ञा का द्योतक है।

३ 'पवेसयति' पाठ उचित है।

४ ज्यू० ने 'इभिहिनो च' आनुमानिक पाठ दिया है।

५ यह ज्यू० के समय मे पढा जाता था।

६ ज्यू० 'कारवण', बन० 'भरावन' 'भ' को 'क' समान मानकर जैस० भी इससे सहमत थे।

७ पूर्ण विराम आनुमानिक है।

८ ज्यू० 'पोर' ही पढते हैं।

९ ज्यू० 'सवोतुकुलं' 'सवितु उप' के बाद खाली स्थान है। जैस० बन० ने यदि कुछ अधिक पढ़ा था किन्तु स्वरों की अस्पष्टता के कारण उससे अधिक स्पष्टता नहीं आयी।

१० 'मा' से 'ति, पर्यन्त जैस० द्वारा पढ़े गये अक्षर कोई स्पष्ट अर्थ नहीं देते।

११ यह बन० की महत्त्वपूर्ण शोध है।

१ नाट्यशास्त्र के अनुसार 'मकुट' छोटे राज मुकुट थे।

२ विविध विमर्श के बाद जैस० बन, इस अर्थ को निश्चित कर सके थे। रत्न का अर्थ उत्तम वस्तु से है, प्रसिद्ध खनिजादि से नहीं।

३ ज्यू० का त्रैवार्षिक दान शालाएँ तथा ज्यू० का 'जो १०३ वर्ष से उपयोग में नहीं आ रही थी।' अर्थ प्रकरणोपात्त एवं सुसंगत नही श्री बन० का विशेष विवेचन दर्शनीय है।

४ यह शब्दार्थ अनुमानिक ही सा है।

५ उस समय इस प्रकार की जनतंत्रात्मक संस्थाएं थी यह प्राप्त पुरातत्व, साहित्य आदि सामग्री से सिद्ध हैं।

६ यतः 'वसासतो च' से आगे जैस० बन० ने 'घजिर घरवि धुसि ति घरिनी स-मातुक पद-पुंन सुकुमार [T]...... (।) पढ़ा था अत: यह अर्थ किया जाता है। संभवतः राजपुत्र का नाम तथा क्रिया मिट गयी है।

७ 'अठमे च वसे' के बाद भी जैस०, महति

पंक्ति ८

घातापयिता राज-गहं-नपंपीडापयति एतिनं च कमुपदान[1] पनादेन सबत सेन-बहते विपमु-चित[2] मधुरं अपयातो [।] नवमे च[3] वसे ......(मो य ञ ति ??) ...पलवरि को[4]

पंक्ति ९

कपरुखो हय-गज-रथ-सह-यते[5] सब-घरा-वास धं ......ने .....य सव[6] गहनं च कारयितु बमनानं जठरं भि[7] पर ददाति[8] [।] अरह[9] त .... व .....न गिय[10]

पंक्ति १०

उभय प्राची तट[11] राज निवास[12] महाविजय

विनष्ट करके (वह) राजगृह के राजा का दमन करवाता है जो (खारवेल की) अग्रिम दिग्विजय के समाचार सुनकर यत्र तत्र अपनी सेना तथा वाहन छोड़कर मथुरा को भगाया गया था[1]। नौवीं वर्ष में .... देता है[2]

सपल्लव सहित कल्पवृक्ष[3] (तथा)चालक[4] युक्त घोड़ा-हाथी-रथ, घर तथा शरणालय सब को देता है, इन भेटों को विधिवत् स्वीकार कराने के लिये ब्राह्मणों को पुष्कल भोजन कराता है[5] अरहत ....

प्राची[6] नदी के दोनों किनारों पर अड़तीस सौ हजार (३८०००००) मुद्रा व्यय करके 'महाविजय प्रासाद' बनवाता है। दशम वर्ष

---

१ व्यू० 'कमपदान' पढ़ते हैं।

२ 'विपमुचितु' सा लगता है। व्यू 'विप-मुचितु'।

३ 'च वसे व्यू० के समय में पढ़ा जाता था

४ व्यू० 'पवरको' यह बहुत धुंधला हो गया है बाद में जैस० "राजगहं उपपीडापयति एतिना च कम पदान पनादेन संवित-सेन-वाहिनी विपमुंचितु मधुरा अपयातो येन नरिंदो (नाम) ...(मो ?) यवराति (विष)...पलव भरं" पढ़ा है।

५ व्यू० सहयत जैस० सह-यते ?

६ व्यू ,य सवा' जैस० "सब-घरास परि-वसने-स अगिण किये"। ७ भि = अधि।

८ व्यू० जम्हिरढि मार ददाति बन० तथा जैस० को सहमत प्रकृत पाठ है। बाद में जैस० ने "ब्राह्मणानं जाति पंति परिहारं ददाति" पढ़ा है।

९ व्यू० के समय में पढ़ा जाता था।

१० केवल जैस० ने स्वयं पढ़ा था।

११ इतना भाग जैस० ने पढ़कर जोड़ा है। व्यू० ने इसे तथा 'राजा' को नहीं पढ़ा था। बाद में जैस० ने "......(क) ि(मा) नेहि राज', भी पढ़ा है।

१२ जैस० 'संनिवासं'।

सेनाय मह (त्त-भित्ति) गोर-धगिरिं' पढ़ा था। प्राचीन पटना-गया मार्ग पर स्थित वर्तमान बरबर पहाड़ ही गोरध गिरि था।

१ यद्यपि लेख प्रेरणात्म (कर्म भाव) क्रिया-ओं से प्रारम्भ होता है। तथापि इधर कर्तृवाच्य का भी प्रयोग है।

२ नवमे वर्ष के आगे त्रुटित होने से अर्थ की सुसगति नहीं बैठायी जा सकती।

३ यद्यपि जैस० ने व' के ऊपर 'ल' पढ़ कर 'कल्परुखे' पाठ दिया है तथापि भाषा को देखते हुए 'य' के ऊपर 'प' की अधिक संभावना है। तब कल्परुखे पाठ अधिक सगत होगा।

४ स्वर्ग कल्प वृक्ष दान प्रथानुसार सब वाहन चालक के साथ ही दिये जाते है। व्यू० का यतृ के लिये यति भ्रम मय था। सहायते का ही अर्थ 'चालक युक्त' होता है।

५ जैस० के परिवर्तित पाठानुसार समस्त दान स्वीकार कराने के लिये जाति पांति का भेद मिटाकर ब्राह्मणों को देता है, होगा।

६ वर्तमान भुवनेश्वर के पास की नदी।

पासादं कारयति अठ तिसाय-सत-सह-सेहि [।] दसमे च ब द [-] डस[1] .... नदस[2] भरधवस पठान[3] ...... कारापयति ....पुन च मनोरधानि उपलभता[4] [।]

पंक्ति ११

......य[5] युवराज निवेसितं पार्थ = उद्ग डभ[6] -नउले नेकासयति जन-पद-[7] भावन च तेरस-वस-सत-केतु भद-तित्[8] आमर[8]-देह-संघात [।] वारसमे च वसे .. .. सेहि[9] वितासमय नो उतरापध[10] राजानो .....

पुनः सैन्यका[1] ... .भारतवर्ष[2] की ओर प्रस्थान कराता है ....फिर(उसके) मनोरथ पूर्ण होते[3] हैं।

[ग्यारहवें वर्ष में[4] [वह] तेरह सौ वर्ष पहले हुए श्रीमन्त केतुभद्र[5] की निम की लकड़ी से बनी[6] मूर्तिका जुलूस निकलता है .. .. जिसकी पूर्व राजाओं ने पृथ-उदक-दर्भ[7] पुरी मे स्थापना करायी थी तथा जो देश को प्रमुदित करती है । बारहवें वर्ष में उत्तरा पथ के राजाओं मे त्रस्त-व्यस्तता उत्पन्न करता हुआ ....

१ उदस बन० ने पढा था, जैस० भी सहमत थे।

२ 'नदस' ल्यू० के पाठ मे नही था। इनके अनुसार अलग शब्द भी 'भीरड' था ।

३ जैस० ने "महाधीत भी समयो पथान महि-जयनं ... . ति " पढा है। बन० 'पछान'।

४ 'उपले भति' हो सकता है।

५ 'य' अथवा 'घ' सा प्रतीत होता है यद्यपि मुखभाग 'अ' अथवा 'ज संभव है। बाद में जैस० 'मडे' पढते है।

६ ल्यू० 'पाथुड' गदरभ ल्यू० 'पिथुड' य सगत नहीं लगते । जैस० पिथुडग-ड (ल) प-नंगले पढ़ते है।

७ ल्यू० इसका 'तन-पद' अनुवाद करते है। ल्यू० बन० 'जिन-पद' पढते है। किन्तु जैस० और भण्डारकर की समीक्षा वह (ि) को नहीं पाता है।

८ ल्यू० 'बस-सताक-दृतामर' बन० दत के पहिले 'भ' तथा जैस० सतक के बाद 'त' और मद' के बाद 'ति' पढ़ते हैं।

९ ल्यू० केवल 'हि' बाचते है। तथा 'वस' और सोहि के बीच में 'इस' पढते थे जो अब नही है।

१० ल्यू० 'पथ' बन० जैस० 'पध' पढ़ते हैं।

१ 'धार्मिक विधि से युद्ध का सकल्प करके' अर्थ होगा यदि जैस० का पाठान्तर माना जाय।

२ जैन शास्त्रानुसार भारत के छह खण्डों में अयोध्या वाले खड की प्रधानता है अत केवल उसके लिए भी 'भारत' शब्द का प्रयोग होता है

३ जैस० के पाठानुसार अनिष्टाकांशा से रहित होकर आकान्त लोगों के रत्न तथा बहुमूल्य पदार्थों को स्वीकार करता है अर्थ होगा।

४ अगली पंक्ति में बारहवें वर्षमे वर्णन होने से यह जोड़ा जा सकता है।

५ जैस० पाठानुसार "पूर्व राजाओं द्वारा बनवाये गये ऊचे मोटे पहियों तथा छत युक्त विमान पर राष्ट्रीय भक्ति के विषय ..... अर्थ होगा।

६ 'अमर देह सघात' पर आश्रित फ्लीट आ० के समय तथा अन्य कल्पनाएं निराधार है।

७ कहीं कलिंग मे हो रही होगी।

धारावाही

धर्मामृत और उसका कर्त्ता

[लि० आचार्य श्री १०८ देशभूषण जी महाराज]

[आचार्य श्री १०८ देशभूषण जी महाराज जैन साहित्य के धुरन्धर विद्वान् हैं आपका कन्नड़ भाषा पर पूर्ण अधिकार है। आप संघ सहित इस समय (मई मास में) आरा में विराजमान हैं। साहित्यिक अभिरुचि के व्यक्ति होने के कारण श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा के शास्त्रागार का आपने विलोडन किया है ताड़पत्रीय कन्नड़ ग्रन्थों का आप पूरा पारायण कर रहे हैं। मेरे अनुरोध पर आपने यह छोटी-सी रचना भास्कर के पाठकों के लाभार्थ लिखने की कृपा की है, इसके लिये भास्कर आपका आभारी रहेगा।] —नेमिचन्द्र शास्त्री

यह ग्रन्थ श्रावकाचार का है। इसके रचयिता नयसेनाचार्य हैं। इनका जन्मस्थान धारवाड़ जिले का मूलगुन्दा नामक तीर्थस्थान है। इस कवि के उत्तरवर्ती कन्नड़ कवियों ने 'सुकविनिकरपिकमाकन्द' सुकवि जनमनःसरोजराजहंस, वात्सल्यरत्नाकर, आदि विशेषणों से इसे विभूषित किया है। इन्होंने धर्मामृत में अपने गुरु का नाम नरेन्द्रसेन सूरि बताया है। इनका त्रैलोक्यचक्रेश्वरम्, परमश्रीजिननिष्ठदैवममलम्, श्रीजैनयोगीश्वरम् परमार्थम् तगान्नडसत्तम् विनयरबन्धुवर्गम्,, (१५६) आदि विशेषणों द्वारा स्तवन किया है। नरेन्द्रसेन मुनि उच्चकोटि के तपस्वी द्वादशाग शास्त्र के पारगामी थे। इनको नयसेन ने सिद्धान्त शास्त्र में जिनसेनाचार्य के समान, व्याकरण और आध्यात्मिक शास्त्र के पाण्डित्य में पूज्यपाद के समान एवं षट्तर्क में प्रवीण सुप्रसिद्ध दार्शनिक श्री समन्तभद्राचार्य के समान बताया है। इन्हें त्रैविद्यचक्रवर्ती भी कहा गया है।

नयसेनाचार्य संस्कृत, तामिल और कन्नड़ के धुरन्धर विद्वान् थे। इन्होंने धर्मामृत के अलावा कन्नड़ का एक व्याकरण ग्रन्थ भी बनाया है। इनके धर्मामृत के अवलोकन से पता चलता है कि यह धर्मामृत के रचना काल में मुनि या क्षुल्लक अवश्य थे। इन्होंने अपने को तर्कवागीश भी कहा है। अपने गुरु को चालुक्यवंशी भुवनैकमल्ल (सन् १०६९—१०७६) नुतपादाम्भोज:—चालुक्यवंश के भुवनैकमल्ल द्वारा वन्दनीय कहा है तथा यह राजा इनकी सेवा में सदा तत्पर रहता था।

नयसेनाचार्य का समय ईस्वी सन् की बारहवीं शती का पूर्वार्द्ध है। धर्मामृत में निम्न पद्य आया है जिससे इनके समय पर पूरा प्रकाश पड़ता है।

गिरि शिखिवायुमार्गशशिसंख्यथोः लावगगमिन्दो वर्तिपस्तिरे।
ववुकालमुन्नतिय नन्दवत्सरदो मुकुत्सवं विवशशिरद भाद्रपदमास लमद
शुक्लपक्षदल निरुपमप्य हस्तयुतार्कवारदोल् ॥

अर्थात्—शक संवत् १०३७ भाद्रपद शुक्लपक्ष में रविवार के दिन हस्त नक्षत्र में इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। इस शक संवत् में ७८ जोड़ने पर १११५ ईस्वी सन आता है किन्तु नन्दसंवत्सर ईस्वी सन् १११२ में आता है तथा हस्तार्क भी भाद्रपद शुक्लपक्ष में इसी संवत् में पड़ता है। अत इनका समय १११२ ईस्वी मानना पड़ता है। अब प्रश्न यह उठता है कि गिरि शब्द का प्रसिद्ध अर्थ ७ त्याग कर ४ क्यों ग्रहण किया गया है? जैन परम्परा में गिरि का अर्थ ४ कहीं भी देखने को नहीं मिला है। हो सकता है कि ४ के अर्थ में ही गिरि शब्द को प्रयुक्त किया हो।

धर्मामृत में सागार या गृहस्थ के आचरण योग्य सम्यग्दर्शन, अष्टाङ्ग एवं पञ्चाणुव्रतों का निरूपण किया गया है, जो अष्टांग सम्यग्दर्शन पालने वालों तथा पञ्चाणुव्रतों के धारियों में सदाचार पालन द्वारा प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं या सद्गति को पाये हैं, उनकी कथाएँ इस ग्रन्थ में दी गयी हैं। मगध सम्राट् श्रेणिक विपुलाचल पर श्री वीर प्रभु के समवशरण का समाचार प्राप्त कर रानी चेलना सहित वहाँ पहुँचा और भगवान् की वंदना कर मनुष्यों के कोठे में बैठकर गौत्तम गणधर से प्रश्न किया कि हे स्वामिन ऐसी कथाएँ कहिये जिनसे धर्माचरण की शिक्षा प्राप्त कर सम्यग्दर्शन उत्पन्न किया जा सके, क्योंकि कथाओं द्वारा मन्दमति भी धर्म में श्रद्धा बुद्धि उत्पन्न कर सकता है। उदाहरण के सामने रहने पर ही मानव की प्रवृत्ति धर्म में हो सकती है। मगध सम्राट् के इस प्रश्नानुसार गौत्तम स्वामी ने सम्यग्दर्शन, अष्टांग और पञ्चाणुव्रत के पालने वालों एवं इनके आचरण द्वारा कल्याण प्राप्त करने वालों की कथाएँ कहीं हैं। कवि ने इस काव्य को कर्म निर्जरा का कारण बताया है।

ग्रन्थारम्भ में महावीर स्वामी, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इन पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार करने के उपरान्त यक्ष, गजमुख यक्ष, वाक् सुन्दरी—सरस्वती का स्तवन किया है। ९वें पद्य से लेकर ३८ वें पद्य तक अर्हद्बल आचार्य से लेकर अकलंक देव पर्यन्त गुरुपरम्परा को स्मरण किया है। इस गुरु परम्परा में कालक्रम का कोई ध्यान नहीं रखा गया है। इसके पश्चात् प्रसिद्ध कवि पम्प, असगगुणदेशी, नन्द, गुणवर्म आदि कवियों का स्तवन किया है। कुकवि और दुष्टों की निन्दा की है, जो कि प्रशस्त काव्य में भी दोष लगाते हैं तथा जिनका स्वभाव छिद्रान्वेषण का

होता है और लोगों के कार्य में अकारण ही बाधक बनते हैं अनन्तर विषय वर्णन किया गया है।

यह एक महाकाव्य है, इसमें १४ आश्वास हैं प्रत्येक में एक-एक रत्न—सम्यग्दर्शन, अष्टांग और पंचाणुव्रत में से एक-एक का निरूपण किया गया है। इस में शार्दूल, भुजंग प्रयात स्रग्धरा, पृथ्वी, चामर और कन्द इत्यादि छन्दों का प्रयोग किया है। इसकी भाषा प्रौढ कन्नड़ है, यों तो इसमें संस्कृत और तामिल का भी कहीं कहीं प्रयोग किया है। यदि इसकी भाषा को संस्कृत मिश्रित प्रौढ कन्नड़ कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। इस काव्य में कवि ने गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग किया है। गद्य भाग में विशुद्ध नवीन कन्नड़ के साथ संस्कृत के शब्द भी मिश्रित हैं, पद्य भाग में प्रचलित कन्नड़ और तामिल के शब्दों के साथ संस्कृत के शब्दों की बहुलता है, क्रिया-पद प्रायः कन्नड़ के ही हैं, कचित् संस्कृत के क्रिया-पद भी रखे गये हैं। काव्य का माधुर्य और प्रसाद गुण विशेष प्रशंसनीय है, लालित्य और उपमा, उत्प्रेक्षा एवं रूपक अलंकारों की छटा पाठकों के मन को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

यह काव्य वर्ण्य विषय की श्रेष्ठता के साथ अर्थ रमणीय और शब्द रमणीय भी है। काव्यशास्त्रियों ने काव्य की चरम कसौटी रस को माना है, इसमें शान्त रस का परिपाक बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। अर्थ की नवीनता तो प्रतिक्षण प्रतीत होती है तथा इसके अध्ययन और चिन्तन में अपूर्व आनन्द मिलता है। यों तो कन्नड़ साहित्य में पम्प, रन्न आदि कवियों की रचनाएँ उत्कृष्ट है ही, पर यह काव्य अपनी मर्यादा के अनुसार अद्भुत आनन्द प्रद है। कवि ने अपनी सच्ची अनुभूति प्रत्येक विषय में दिखलायी है। इस काव्य के सौन्दर्य ने हमें आकृष्ट किया है, अतः हम इसका अनुवाद हिन्दी भाषा में जनता के हितार्थ कर रहे हैं, जो शीघ्र ही प्रकट होने वाला है। अतः इसके विषय पर विशेष प्रकाश नहीं डाला जा रहा है।

साहित्य-समीक्षा

न्यायविनिश्चय विवरणम् (प्रथम भाग)—कर्त्ताः श्री वादिराज सूरि, सम्पादकः श्री प्रो० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य; प्रकाशकः भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; पृष्ठ संख्याः ६६+५४५; मूल्यः पन्द्रह रुपये।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्राध्यापक श्री पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य की विस्तृत प्रस्तावना है, जिसमें आपने ग्रन्थ और ग्रन्थकर्त्ता के ऊपर पूरा प्रकाश डाला है। दर्शन की व्याख्या और उसके सामान्य विवेचन के अनन्तर भारतीय षट् दर्शनों का सामान्य परिचय विद्वत्तापूर्वक कराया है। बौद्धदर्शन और जैनदर्शन का दिग्दर्शन भी भूमिका में कर दिया गया है। स्याद्वाद के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्त मतों का खण्डन करते हुए श्री डा० देवराज, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन प्रभृति दार्शनिक विद्वानों के भ्रामक मतों की विद्वत्तापूर्वक निष्पक्ष समीक्षा की है। अनेकान्त दर्शन का सांस्कृतिक आधार बताते हुए लिखा है कि श्रमणधारा का सारा तत्त्वज्ञान या दर्शन विस्तार जीवन-शोधन या चारित्र्य के लिये हुआ है। वैदिक परम्परा में जहाँ तत्त्वज्ञान को मुक्ति का साधन माना है, वहाँ जैन परम्परा में चारित्र को। अतः अनेकान्त का सांस्कृतिक आधार अहिंसा है, यह विचारों की अहिंसात्मक सरणि है। अहिंसा की तह तक पहुँचने के लिये स्याद्वाद एक प्रशस्ततम मार्ग है।

विषय परिचय में आपने श्री अकलंकदेव के न्याय विनिश्चय की मूलकारिकाओं का परिचय ऐतिहासिक ढंग से कराते हुए ग्रन्थ में प्रतिपादित प्रत्यक्ष प्रमाण का तुलनात्मक सुन्दर विवेचन किया है। आपकी इस प्रस्तावना के द्वारा ही ग्रन्थ के विषय को हृदयंगम किया जा सकता है।

श्री वादिराज सूरि ने अकलंकदेव के न्याय विनिश्चय पर यह टीका लिखी है। मीमांसक, संवेदनाद्वैत, शून्याद्वैत, कारकसाकल्य, ज्ञान का ज्ञानान्तरवेद्यत्व, भ्रमवाद, ब्रह्माद्वैत, चित्राद्वैत, समवायसम्बन्ध प्रभृति विषयों की समीक्षा दार्शनिक ढंग से ग्रन्थकर्त्ता ने की है। कारिकाओं के मूलार्थ को विवरणकार ने स्पष्ट ही नहीं किया है, बल्कि भाष्य लिखकर सम्बद्ध सभी विषयों की सुन्दर आलोचना की है।

इस ग्रन्थ का सम्पादन नयनाभिराम और चित्ताकर्षक होने के साथ-साथ ज्ञान-वर्द्धक सामग्री से संयुक्त हुआ है। श्री प्रो० महेन्द्रकुमारजी दर्शन के ख्यातिप्राप्त विद्वान् हैं, अतः इस सर्वाङ्गसुन्दर ग्रन्थ के सम्पादन में कोई त्रुटि नहीं दिखलायी पड़ती है। ऐसे सुन्दर और महत्त्वपूर्ण प्रकाशन के लिये ज्ञानपीठ के संचालक, व्यवस्थापक और कार्यकर्त्ता सभी साधुवादार्ह हैं। दर्शन से प्रेम रखनेवाले महानुभावों से साग्रह

अनुरोध है कि इस ग्रन्थ को मँगाकर अवश्य अध्ययन करें, इसके अध्ययन से जैन-दर्शन की ही नहीं, बल्कि भारतीय दर्शन की अनेकानेक बातों को सहज में जाना जा सकेगा। ग्रन्थ की छपाई-सफाई और सम्पादन बहुत सुन्दर हुए हैं।

न्यायावतारवार्तिक-वृत्ति—रचयिता: पूर्णतलगच्छीय श्री शान्तिसूरि, सम्पादक: प्राध्यापक श्री दलसुख मालवाणिया, प्रो० हिन्दू विश्वविद्यालय काशी; प्रकाशक: भारतीय विद्याभवन बम्बई, पृष्ठ संख्या: २६+१५१+३३२, मूल्य: सोलह रुपये आठआने।

यह सिंघी जैन ग्रन्थमाला का २० वाँ ग्रन्थ है। अबतक इस ग्रन्थमाला से अनेक लोकोपयोगी कथा, दर्शन, इतिहास एवं चरित्र सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में सम्पादकीय के अनन्तर १५१ पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना है, जिसमें आगम युग के जैनदर्शन शीर्षक में उस युगीन प्रधानतः प्रमेयतत्त्व, प्रमाणतत्त्व, वाद और वाद-विद्या पर पूरा प्रकाश डाला है। आगमोत्तर साहित्य मे जैनदर्शन का निरूपण करते हुए उमास्वाति, कुन्दकुन्दाचार्य के प्रमाण, प्रमेय, नय का विस्तृत विवेचन किया है। पश्चात् न्याय वार्त्तिक के कर्त्ता आचार्य सिद्धसेन और वार्त्तिक के कर्त्ता शान्त्याचार्य इन दोनों के समय, प्रतिभा और इनकी जैनदर्शन को देन पर अच्छा प्रकाश डाला है। जैनदर्शन की संक्षिप्त और प्रामाणिक रूपरेखा सम्पादक ने अपनी भूमिका मे निबद्ध की है, जिसके अध्ययन से कोई भी व्यक्ति जैनदर्शन का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

सिद्धसेनाचार्य के न्यायावतार वार्त्तिक पर दी गयी वृत्ति मे श्री शान्त्याचार्य ने न्यायावतार के विषय को स्पष्ट किया है। आपने इसमें मूलगत सभी बातों पर पूरा प्रकाश डाला है। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध मे हिन्दी मे टिप्पणियाँ दी गयी है, जिनके अध्ययन से न्याय. विषय के समझने में बड़ी सहायता मिलती है। साधारण पाठक का भी इस ग्रन्थ के अध्ययन से न्याय विषय में प्रवेश हो सकता है तथा जो न्याय के अध्ययनशील पाठक हैं, वे भी इस ग्रन्थ से बहुत कुछ लाभ उठा सकते है।

इसका सम्पादन सुन्दर हुआ है, सम्पादक महोदय ने ग्रन्थ को सरलतम बनाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। सिंघी ग्रन्थमाला से अबतक जितने भी ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है, वे सभी अन्तरंग और बहिरंग उभयतः सुन्दरतम है, अतः इसकी छपाई-सफाई एवं गेटप आदि के सम्बन्ध में स्वतः स्पष्ट है। दर्शन प्रेमी पाठकों को इसका स्वाध्याय करना चाहिये।

●

ज्ञानपञ्चमी कथा—रचयिताः श्री महेश्वर सूरि; सम्पादकः प्राध्यापक डा० अमृतलाल स० गोपाणी; प्रकाशकः सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई; पृष्ठ संख्याः १५+४४+७६, मूल्यः सात रुपये चार आने।

यह प्राकृत भाषा में रचित कथा ग्रन्थ है। सम्पादक ने नागरी लिपि और गुजराती भाषा में ४४ पृष्ठ की प्रस्तावना लिखी है, जिसमे कथा साहित्य पर प्रकाश डालते हुए ज्ञानपञ्चमी कथा का माहात्म्य बतलाया है तथा भविष्यदत्त कथा का सारांश भी गुजराती भाषा में दिया है। प्रस्तावना में और भी अनेक ज्ञातव्य बाते लिखी गयी हैं; ज्ञानपंचमी कथा मे आये हुए सुभाषितों पर सुन्दर प्रकाश डाला है। सुभाषित गाथाओं के साथ गुजराती भाषानुवाद भी दिया गया है।

जयसेन कथा, नन्द कथा, भद्रा कथा, वीर कथा, कमला कथा, गुणानुराग कथा, विमल कथा, धरण कथा, देवी कथा और भविष्यदत्त कथा ये दस कथाएँ ज्ञानपचमी कथा के अन्तर्गत है। यदि सम्पादक महोदय प्रत्येक कथा का सारांश अथवा अनुवाद हिन्दी या गुजराती भाषा में दे देते तो अत्युत्तम होता। सामान्य पाठक जो प्राकृत भाषा नहीं जानते है, वे भी इन कथाओं का रसास्वादन कर सकते थे। यों तो कथाओं की भाषा सरल है, थोड़ा प्राकृत जाननेवाले भी इनसे लाभ उठा सकते है। प्रचार की दृष्टि से यदि ऐसी कथाए हिन्दी मे भावानुवादित हो प्रकाशित की जायें तो भारतीय कथा साहित्य मे इनका उचित मूल्याङ्कन हो सकता है। सम्पादन अच्छा हुआ है, छपाई-सफाई अच्छी है।

पउमसिरीचरिउ (पद्मश्री चरित)—रचयिताः दिव्यदृष्टि कवि धाहिल; सम्पादकः साक्षर श्री मधुसूदन मोदी तथा प्रा० श्री हरिवल्लभ भायाणी; प्रकाशकः उपर्युक्त सिंघी ग्रन्थमाला, पृष्ठ संख्याः १५+४०+४७, मूल्यः चार रुपये बारह आने।

यह अपभ्रंश भाषा में रचित कथा ग्रन्थ है। नागरी लिपि और गुजराती भाषा में ४० पृष्ठों की विस्तृत प्रस्तावना है। प्रारम्भिक १६ पृष्ठो मे प्रास्ताविक वक्तव्य श्रीमधुसूदन मोदी ने लिखा है, अनन्तर पद्मश्री चरित का सार श्री हरिवल्लभ भायाणी ने दिया है। इस ग्रन्थ में चार सन्धियाँ हैं, इन चारों का सारांश गुजराती भाषा में दिया गया है। ग्रन्थ के काव्यत्व पर भी गुजराती में प्रकाश डाला है, प्रस्तावना महत्त्वपूर्ण है, इसके पढ़ने से आलोचनात्मक ढंग से ग्रन्थ में प्रयुक्त छन्द, अलंकार, ध्वनि एवं अपभ्रंश के व्याकरण सम्बन्धी अनेक बातें जानी जा सकती हैं।

मूलग्रन्थ का संशोधन भी ठीक हुआ है। फुटनोट में पाठान्तर दिये गये हैं। सम्पादक महोदय ने कई प्रतियों का आश्रय लेकर ग्रन्थ का संशोधन किया है।

परिशिष्ट में शब्दकोश दिया है जिसमें कठिन शब्दों के अर्थ गुजराती में लिखे गये हैं। ग्रन्थ को सर्वसाधारण के स्वाध्याय करने के योग्य बनाने का पूरा प्रयत्न किया है। छपाई-सफाई, गेटप आदि उत्तम हैं।

तत्त्वार्थवृत्तिः (हिन्दीसार सहिता)—रचयिताः श्रुतसागर सूरि, सम्पादकः श्री प्रो० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य बौद्धदर्शनाध्यापक, संस्कृत महाविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी, सहायकः श्री पं० उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्य, बी० ए०; प्रकाशकः श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय, मंत्री भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड काशी; पृष्ठ संख्याः १०६+५४८, मूल्यः सोलह रुपये।

उमास्वामी आचार्य के प्रसिद्ध तत्त्वार्थ सूत्र पर श्री श्रुतसागर आचार्य ने यह वृत्ति रची है। इसके प्रारम्भ में श्री प्रो० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य की १०१ पृष्ठों मे विद्वत्तापूर्ण ज्ञानवर्द्धकप्रस्तावना है। इसमें मक्खलि गोशाल, पूरण काश्यप, प्रकुधकात्यायन, संजयबेलट्ठिपुत्त और बौद्धमतो के अभिमत तत्त्वज्ञान की समालोचना करते हुए जैन तत्त्वज्ञान की विशेषता दिखलायी है। न्यायाचार्यजी ने सप्त तत्त्वों का हिन्दी में आधुनिक ढग से सुन्दर विवेचन किया है। ज उनके पाण्डित्य का द्योतक है। आपने ग्रन्थ में आये हुए प्रमेयों का स्पष्टीकरण तो किया ही है, किन्तु स्याद्वाद का प्रतिपादन करते हुए प्रो० बलदेव उपाध्याय, डा० देवराज, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, श्री सम्पूर्णानन्द एव डा० राधाकृष्णन प्रभृति दार्शनिकों की एतत्सम्बन्धी भ्रान्त धारणा का सुन्दर ढग से उन्मूलन किया है। यह प्रस्तावना निस्संदेह सर्वाङ्गपूर्ण है, तत्त्वज्ञान के इच्छुक केवल इस प्रस्तावना से ही बहुत कुछ सीख सकते है।

आचार्य श्रुतसागर ने तत्त्वार्थ सूत्र की इस टीका मे जैनदर्शन की सारभूत प्रायः समस्त बातों को रख दिया है। गोम्मटसार, राजवार्त्तिक, श्लोकवार्त्तिक प्रभृति उच्चकोटि के जैन ग्रन्थों का सारांश इस वृत्ति में आ गया है। इस टीका का हिन्दीसार भी ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध मे दिया है, जिससे यह ग्रन्थ प्रत्येक हिन्दी भाषा जाननेवाले पाठक के लिये भी सुलभ हो गया है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी जैनदर्शन की ऊंची-से-ऊंची बातों को अवगत कर सकता है। वृत्ति की हिन्दी टीका बहुत सुन्दर हुई है, मूलभाव प्रायः स्पष्ट हो गया है। दो चार स्थलों को और स्पष्ट करने की आवश्यकता थी। सम्पादन बहुत सुन्दर हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रचार की नितान्त आवश्यकता है, अतः प्रत्येक मन्दिर और शास्त्र भाण्डार मे इसका रहना परमावश्यक है। जो व्यक्ति स्वाध्याय से अभिरुचि रखते है, उन्हें भी इसे मँगाकर लाभ उठाना चाहिये। सरस्वती के उद्धार के लिये प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह नवीन

प्रकाशित ग्रन्थों के विनिमय में अधिक-से-अधिक योगदान दे। ग्रन्थ की छपाई-सफाई सुन्दरतम है, गेटप भी उत्तम है। पाठकों को इस ग्रन्थ से अवश्य लाभान्वित होना चाहिये।

– नेमिचन्द्र शास्त्री
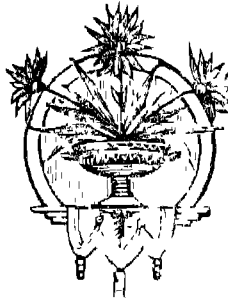
जैन-सिद्धान्त-भवन आरा का वार्षिक विवरण

[१२-६-४८—३१-५-४९]

वीर संवत् २४७४ ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी से वीर संवत् २४७५ ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी तक भवन के सामान्य दर्शक रजिस्टर में ७७२७ व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये हैं। इधर जबसे भारत स्वतन्त्र हुआ है समाचार-पत्र पढने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है नगर के मध्य में 'भवन' के रहने से पाठकों को भवन में समाचार-पत्र पढने का अधिक अवसर मिलता है। समयानुसार 'भवन' से दैनिक पत्र अधिकाधिक संख्या में मगाँये जा रहे है। कुछ महानुभाव पत्र पढकर बिना हस्ताक्षर किये ही चल देते है, उनकी संख्या भी हस्ताक्षर करने वालों से कहीं अधिक है।

विशिष्ट दर्शकों मे श्रीमान पं० श्री निवास शास्त्री कलकत्ता; श्रीमान् डी० जी० महाजन एम० आर० ए० एस० सभापति रिसर्च इन्स्टीच्यूट यवतमाल, श्रीमान् सी०-बूलच्के रिसर्च स्कालर इलाहाबाद यूनीवर्सिटी, श्रीमान् पं० लज्जाराम शास्त्री राजा खेड़ा, श्रीमान पं० रजनीकान्त शास्त्री बी० ए०, बी० एल० बक्सर, श्रीमान पं० गणेश दत्त ज्योतिपाचार्य सम्पादक गणेशपञ्चांग पियरीकला बनारस, सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीमान् मुनिराज कान्तिसागर जी महाराज एवं चारित्र चक्रवर्ती आचार्यों श्री १०८ देशभूषण जी महाराज आदि गण्यमान विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। विद्वानों ने अपनी शुभ-सम्मतियों द्वारा भवन की सुव्यवस्था और उसके संग्रह की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। मुनिराज कान्तिसागर जी ने लिखा है कि "भवन में जैन संस्कृति और सभ्यता के सर्वांगीण अध्ययन के मौलिक साधन संग्रहीत है। साहित्य का इतना अच्छा संग्रह इस प्रान्त में अन्यत्र नहीं मिलेगा और जैन दृष्टि से इसका महत्व तो बहुत ही बड़ा है, मेरा तो दृढ विश्वास है कि यदि सारा जैन समाज एक बार इस भवन के शुभ उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिये धन प्रवाह बहा दे तो निस्सन्देह जैन संस्कृति का सर्वाङ्गीण इतिहास शीघ्र भवन ही तैयार करवा-सकता है।"

प्रकाशन—"भवन" के इस विभाग में जैन-सिद्धान्त-भास्कर तथा जैन एण्टी-क्वेरी का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा। भास्कर उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता चला जा रहा है। इसकी मूल्यवान ठोस सामग्री की अनेक अन्वेषक विद्वानों ने प्रशंसा की है

तथा भास्कर के कई महत्वपूर्ण निबन्ध गुजराती, कन्नड़ भाषाओं में अनुवादित हो प्रकाशित किये गये हैं।

परिवर्तन—इस वर्ष भी प्रतिवर्ष के समान 'भास्कर' के परिवर्तन में निम्न पत्र-पत्रिकाएँ आती रही हैं:—

हिन्दी—(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (२) साहित्य सन्देश (३) अनेकान्त (४) जन वाणी (५) आजकल (६) किशोर (७) वैद्य (८) जैन महिलादर्श (९) आत्मधर्म (१०) गाँधी (११) कल्याण (१२) विकास (१३) धर्मदूत (१४) जैनजीवन (१५) जैसवाल जैन बन्धु (१६) जिन वाणी (१७) संगम (१८) दिगम्बर जैन (१९) जैन जगत् (२०) जैन बोधक (२१) वीर-वाणी (२२) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु (२३) वीर (२४) भारतीय समाचार (२५) वीर लौकाशाह (२६) जैन मित्र (२७) जैन सन्देश (२८) जैन गजट (२९) जैन दर्शन (३०) भविष्यफल (३१) जयहिन्द दैनिक का साप्ताहिक विशेषाङ्क।

गुजराती—(१) जैन सत्यप्रकाश (२) जैन सिद्धान्त।

कन्नड़—(१) जय कर्नाटक (२) शरण साहित्य (३) विवेकाभ्युदय।

तेलगु—(१) आन्ध्र साहित्य परिषद् पत्रिका।

अंग्रेजी—(1) Annalas of the Bhandarkar Oriental Research Institute Poona (2) The Journal of the University Bombay (3) Karnatak Historical Review (4) The Adhyar library bulletin (5) The Journal of the United Provinces Historical Society (6) The Journal of Annamalia University (7) The Poona Orientalist (8) The quarterly of Mythic Society (9) The Journal of Royal Asiatic Society of Bengal (10 The Journal of Royal Asiatic Society of Bombay (11) The Fergusson College magazine (12) The Journal of the Bihar and Orissa Research Society (13) The Journal of the Benares Hindu University (14) The Andhra University College Magazine and Chronical (15) The Journal of the Sindh Historical Society (16) The Journal of Tanjore Sarswati Library (17) The Bombay Theosophical Bulletin (18) The Jain Gazzette (19) The Indian Litrary Review (20) The Journal of the Gaganath Jha Research Institute Allahabad (21) The Brahim Bidya (22) Himlayan times (23) H D Jain College Magazine (24) The College Student

संस्कृत—(१) महाराज संस्कृत पाठशाला पत्रिका।

इस प्रकार कुल ६२ पत्र-पत्रिकाएँ भास्कर के परिवर्तन आती रहती हैं जबकि गत वर्ष कुछ ५७ पत्र ही परिवर्तन में आते थे, इनके अतिरिक्त (१) The Indian historical quarterly. (२) विशाल भारत (३) सरस्वती (४) साप्ताहिक संसार (५) दैनिक संसार (६) आज (७) विश्वमित्र (८) नवीन भारत (९) नव राष्ट्र (१०) आर्य्यावर्त (११) प्रदीप (१२) The Indian-Nation (१३) अमृत बाजार पत्रिका भवन से मूल्य देकर मगाये जाते हैं।

पाठक—भवन के सामान्य पाठक वे हैं जो भवन में ही बैठकर अभीष्ट ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं, क्योंकि सर्वसाधारण जनता को ग्रन्थ घर ले जाने के लिये नहीं मिलते। इन पाठकों के अतिरिक्त विशेष नियम से कुछ लोगों को घर ले जाने के लिये भी ग्रन्थ दिये गये हैं। इन ग्रन्थों की इस वर्ष की सख्या ४३० है। इनमें स्थानीय व्यक्तियों के अतिरिक्त श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री, प्रिंसिपल स्याद्वाद महाविद्यालय काशी, श्रीमान प्रो० गो० खुशालजैन एम० ए०, साहित्याचार्य काशी विद्यापीठ बनारस, श्रीमान प० पन्नालालजी साहित्याचार्य, सयुक्त मंत्री दि० जैन विद्वत्परिषद् सागर, श्रीमान पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त-शास्त्री वर्णीग्रन्थमाला काशी, श्रीमान बा० कामताप्रसाद जैन एम० आर० ए० एस, श्रीमान डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए०, डी, लिट् कोल्हापुर; श्रीमान अगरचन्द नाहटा बीकानेर; श्रीमान् प्रो० शेषय्यंगार एम० ए० मद्रास यूनीवर्सिटी, श्रीमान कविवर रामाधारी सिंह 'दिनकर' पटना; श्रीमान बा० रामबालक प्रसाद साहित्यरत्न पुलिस विभाग सेक्रेटेरियट पटना; श्रीमान् रजनीकान्त शास्त्री, बी० ए०, बी० एल० बक्सर, श्रीमान उमाकान्त प्रेमचन्द शाह घड़ियालीपोल बड़ौदा, श्रीमान् प्रो० राजकुमारजी साहित्याचार्य बड़ौत, श्रीमान् पं० परमानन्दजी शास्त्री वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा, श्रीमान् सी० बूलच्छे जर्मन स्कालर इलाहाबाद यूनीवर्सिटी।

संग्रह—पूर्ववत इस वर्ष भी मुद्रित, संस्कृत, प्राकृत, मराठी, गुजराती एवं हिन्दी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं के ७० और अँग्रेजी के ५ इस प्रकार कुल ७५ ग्रन्थ संग्रहीत हुए हैं।

भवन को इस वर्ष ग्रन्थ प्रदान करनेवालों मे दि० जैन स्त्री समाज आरा एवं व्यवस्थापक आर्चेलोजिकल मैसूरु आदि के नाम उल्लेख योग्य हैं।

समालोचनार्थ प्राप्त ग्रन्थ—(१) श्री स्वर्णाचल माहात्म्यम् (नंगअनंग कुमारों का पुण्य चरित) (२) आत्मावलोकन (३) स्तोत्रत्रयी सार्थ (४) युगप्रधान श्री जिनदत्त

सूरि (४) श्री भावारिवारणपादपूर्त्यादिस्तोत्रसंग्रह (५) चतुर्विंशति-जिनेन्द्र-स्तवनानि (६) श्री चतुर्विंशति जिनस्तुति (७) बाहुबली (८) न्यायविनिश्चय (९) श्रुतसागरी तत्त्वार्थ-वृत्ति (१०) न्यायवार्त्तिकवृत्ति (११) ज्ञानपञ्चमी कथा (१२) पउमसिरीचारिउ (पद्म श्री चरित्र) (१३) अप्रस्तुत योजना।

इस वर्ष 'भवन' ने सांस्कृतिक-जागरण समिति को अपने अन्तर्गत कर लिया है। इस जागरूक संस्था की ओर से महावीर जयन्ती जैसे धार्मिक समारोहों के साथ १५ दिन पर एक सांस्कृतिक बैठक की जा रही है जिसमे संस्कृति—धर्म, साहित्य, पुरातत्त्व, इतिहास, दर्शन, विज्ञान प्रभृति विषयों पर भाषण, चिन्तन, मनन किया जाता है। नगर के साहित्यिकों में इससे काफी जागृति आ गयी है।

भवन का जैसा विशाल और सुरम्य प्रागण आरा नगर में अन्यत्र नहीं है, अतः शाहाबाद जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन, शाहाबाद जिला भोजपुरी साहित्य सम्मेलन एव शाहाबाद जिला पुस्तकालय सघ के कार्यालय एव प्रबन्ध समितियों की बैठके यहीं पर होती रही है। आचार्य श्री १०८ देशभूषणजी महाराज का धर्मोपदेश, सार्वजनिक सभा मे इसी भवन के प्रागण मे होता रहा है।

इस तरह भवन इस वर्ष भी अपनी सेवाएँ साहित्यिक-जगत के लिये प्रदान करता रहा है।

देवाश्रम, आरा
२०-५-४८

चक्रेश्वरकुमार जैन
बी० एस-सी०, बी० एल०
मंत्री, श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन, आरा

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XV JUNE, 1949. No. 1

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof G. Khushal Jain, M A, Sahityacharya.
B Kamata Prasad Jain, M R. A. S., D. L
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH BIHAR, INDIA

Annual Subscription

Inland Rs. 3 Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1/8

CONTENTS.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"
[अकलंकदेव]

Vol XV
No 1

ARRAH (INDIA)

June
1949

SYMBOLISM AND IMAGE-WORSHIP IN JAINISM.

By

Prof Asoke Kumar Bhattacharya M A, B L, Kavya Purānatirtha
Professor of Sanskrit and Vice-Principal,
Ram Saday College, Amta, Howrah

In Jainism, as in Buddhism and Brāhmanism, an iconic symbol is never allowed to function purely biologically as the likeness of the person or thing symbolised. Human mind learnt to conceive of the Highest Divinity not in absolute likeness of Him but rather in aniconic representations from very early times These aniconic representations had, however, such meanings and implications as were to differentiate them from purely decorative or artistic forms. They are appeals more to the intellect than to the physical operation of the eye. The history of this symbolic worship in Indian religions or more properly theological speculation is a history that is as ancient as the very religious tradition itself The "*rūpa-bheda*" or iconography which has the study of icons represented anthropomorphically in view, is a later development altogether For Jainism this is established from the discoveries in the Kankali Tilla at Mathura of the *āyāgapaṭa* containing the symbols of the *Aṣṭamān* ,

galika assigned to a period not very far from the period for which the earliest image of a Jaina Tirthankara has been discovered yet.[1]

In the early Buddhist literature[2] we meet with statements made through the mouth of the Buddha himself wherein a peculiar dislike for anthropomorphic images is given expression to Th· kind of "*chetiya*" approved in the same context is the one conveniently called "associated" symbols. These are to be used as substitutes in the event of the lord being absent from sight. These associated symbols are, however, a peculiarity in Buddhist art to which we have no exact parallel in Jainism. The symbolic representations by the Jains in their mss. and religious sculpture is more or less of the character of sacred objects of worship sometimes singly so and sometimes taken in groups A clear iconoclastic attitude which the Buddha is understood to have taken, on the strength of the above statement, is however, only used as justification for the dearth of the iconic representations in early Buddhist art and its abundance in later ages. The position of a Buddhist worshipper of the images is, however, clearly stated in the *Divyāvadāna* that he worships not the icon or the image as such but the principles it embodies The Jains like the Hindus and the Buddhists had their own way of thinking in regard to the significance of image-worship. Idols, they held, were to be installed not so such because of their representing the actual *avatāras* the *Tīrthankaras*, and othe deities of the pantheon but primarily because in them the truest essence of the divine quali ties is sought to be concentrated To these material objects the divine qualities are sought to be made manifest so that meditating on these forms may make the influence of the divine presence felt in the minds of the devotees. Worship of these idols

---

1 V A. Smith-The Jaina Stupa and other Antiquities of Mathurā, pl VII and IX

2 Mahābodhivamśa (P T S Ed) p 59-"Kati nu kho bhante cetiyānēti ?" "Tēṇi Ānandati". "Katamāni bhante tēnēti ?" "Sārērikam pāribhogikam uddesikanti". "Sakkā pana bhante tumhesu dharantesu yeva cetiyain kātunti ?" "Ānanda Sāririkam na sukkā kātum, tam hi Buddhānam paribbuta kāla yeva hoti, uddesikam avatthukam tam pana manamattakena hoti, Buddheki parib hutto bodhi tesu dharantesu pi parinibbutesu pi cetiyam evāti."

means nothing other than an extolling of the excellence of the divine attributes they represent. It is also following this idea that we get into the real significance of the conception of a presiding diety over a tank or a residential quarter. Thus it is that an image of a *Tīrthankara* is to be concieved as the object which represents or reflects a collection of all the qualities we may most naturally conceive of in a Giver of the Law or the Maker of Religion or Piety,- a *Tīrthankara,* so that it helps to inspire that feeling of reverence for the person it represents It is said that *pratiṣṭhā* is nothing other than the ceremony (of consecration) implying a recognition of the excellence and influence of the person or the object installsd (*pratiṣṭhā nāma dehinām vastunaśca prādhānya-mānya-vastu-hetukam karma*).[4] A *yati* is said to be initiated when he enters into the status of an *ācārya,* a *Brāhmaṇa* so called when initiated into the study of the vedic lore, a *Kṣatriya* by his anmission into the royal dignity, a *Vaiśya* being ushered into merchanthood, a *Sūdra* being made the recipient of royal favour and an artist being recognised a chief among them, and are on the occasion of this recognition worshipped by means of *tilaka* etc put on their forehead without implying that these marks them-selves are of any material consequence to the person or object concerned but that they are symbolic of this recognition and have to be philosophically construed Pratiṣṭhā in other words is *nyāra* or a conferment of the collection of qualities of the Jina in an image or meditation of it without any form. In such matter either the person of the Jina is merged in the sum total of the qualities or the qualities surpass the personality of the diety.[5] In like manner images carved out of stones etc., with or without any shape (*ghaṭitasyāghaṭitasya*) and given the names of Jina, Viṣṇu Buddha, Chaṇḍi, Kṣetrapāla etc, receive worship only because of the infusion of godhead into them by its presence therein, which is assumed. The deities of the Bhuvanapati. Vyantara, Jyotiṣka and Vaimānika groups have thus been conceived as having their divine

4. Vardhamāna Suri: Ācāradinakara, p. 141.

5. Cf. "Sākāre vā .nirākāre vidhinā yo vidhīyate nyāsatadidamity uktwā pratiṣṭhā sthāpanā ca Sā" gloo, "Sthāpyam dharmāna vandhāngam guṇī gaunagunothevā guno gaunaguni tatra Jinādyanyatamo guni"—Ibid.

—Pratiṣṭha Saroddhāra of Āsādhara, p 10.

immanence made mainfest in these images. And similarly, in regard to the installation of the images of Siddhas, Arhats, etc., or even the consecration of the household ponds and wells, it is the manifestation of the divine qualities or *vibhūti* of the deities concerned and not their actual descent in and through these images, that is sought to be emphasised This theory is in perfect accord with the principle of Man-gods in Jainism. For, the Highest Divinities, the Jinas, are emancipated human beings and cannot come down in the inanimate pieces of stones or woods, like the absolutely divine personages endowed with superhuman powers conceived, for example, in Visnu, Śiva etc of orthodox Hinduism This is a fundamental difference between the two systems which it is necessary to recognise in any study of the iconography of Jain images [6]

It is however definitely established by the 1st or 2nd cent A. D that images were to be worshipped by the Jainas in fully developed form Apart, pherhaps, from the reference to the Jina image obscurely mentioned and doubtfully interpreted in the Khāravela inscription and a few rock cut images in the caves of Khandagiri which may belong to the same age as the inscription, we have the earliest fully developed and dated image in the iron figure of Saraswati unearthed in the Kankali Tilla at Mathurā This image belonging to the Kushāna age offers materials for iconographic study to the student of Jaina image-worship In the Khandagiri caves rock-cut reliefs of standing nude Tirthankaras attended by seated miniature Jinas on two sides numbering four on each face have been discovered These figures show two groups naturally belonging to two different ages altogether. the earlier group showing no emblems distinguishing them and the later with definite lanchanas or distinctive marks put under-neath the pedestals. Iconographic texts exclusively dealing with the forms of images which treating with the subject of *pratisthā* or installation ceremony and texts containing casual references to icanographic matter are abundantly

6. Cf "Bhuvanapati-Vyantara Jyotiska-Vaimanikamām tattadhistānād prabhara siddhirmirttisu, grhavapīkūpanam tathaiva siddhānām cārhadādīnām pratisthavidhan krte that pratimayam piabhavayy atirekah samghatate tara na tesam muktipadacinām avatarah, minitu pratisthā devatā praneśādeva samyagdrsti suradhisthanacca prabhavah"—*Ibid*, p. 141.

available not before the 9th or the 10th Cent A. D. This shows at least that not withstanding the general acceptance of the practice of selling up of images, the Jaina in early paid but very little attention in the matter of the elaboration of the pantheon or the consecration and worship of the different deities included within it This we may tentatively suggest was due to the influence of Tantricism on Jainism in later ages round about the 10th or the 11th Cent. A D.

It is however definitely established by about the 14th Cent. A. D. that Jaina images in fully developed forms with definite measurement and accompanied by many of the minor deities like the Śāsanadevatās aud other were in existence and that traditions recording the canonical rules for their erection and characteristics were current from long before them The Vatthu-sāra-payaraṇam of Thakkura Feru recording a tradition in V S. 1372 (A. D. 1315) in Prākrit says that an image of the Jina should have a triple Chhatra above head so protraberant as to caver the point of the nose and that it should be attended by Yaksas and Yaksinis, with figures of Navagrahas at the foot in the pedestal The image should further be of an odd number of angulas not exceeding eleven, in height and should, if its a plastic one, be made out of a spotless piece of stone or wood The Ācāradinakara, a Swetāmbara text of the 15th Cent. A D by Vardhamāna Sūri corroborates the above statement when it says that an image fit for being set up in the house (gṛha-bimba) should be not more than of eleven angulas' height.[7] With regard to the testing of pieces of slab or wood for the purpose we have the procedure laid down in Viveka-vilāsā that gruel of fermented boiled rice (āranāla) when mixed with the scale of *Srīphala* and applied to a piece of slab or wood would make any scratches on them manifest itself. If, for example, we have manifestation of lines of the colour of honey, ashes, molasses, sky and of pigeon, and red as madder, ruddy, yellow, tawny and variegated then it is to be understood that the pieces of stone or wood possesses glow-worms. Sand-Grains, red frogs, water, a lizard, a frog, a chameleon, on alligator, a mouse, a

7. Cf, 'Ekādaśāugulam bimbam sarva Kāmārthakārakam I
Etatpramāṇam ākhyātam fata ūrdhvam na Kāraget II 4 II
—*Ibid*, p. 143

snake and a scorpion in it and has, therefore, to be abandoned.[1] A Digambara tradition preserved in the *Pratiṣṭhāsāroddharā* of Āśādhara mentions that a Slab with good colour and brilliance and free from spot and lives and giving out good sound on being struck is fit for being made into an image of a Jina[2] An image thus made should not be of more than the span of a '*vitasti*' or 12 angulas if it be, meant for household worship. A movable image may be set up in a group in some temple but one not meant for movement at household worship. An image, however, to be fit for worship must be free from any defect rendering it inauspicious being not mutilated, not deformed, not installed before, not doubtful about its shape of a Jaina deity or be not in a dilapidated condition The image is further said to be decorated in its chest by 'Srī-Vṛksa' mark It should be devoid of, all marks of hair, such as, the beard etc. The image of an 'Arhat' is further said to be attended with eight 'Prātihāryas.' It is interesting to note that an image according to the tradition should not be devoid of eyes but that it should have neither wide gazes nor narrowed looks. It should also not have looks askence upwards or downwards but rather fixed on the tip of the nose, expressive of tranquility and detachment[3]

1. Cf. Vivekavilāsa, quoted at p 63 of Vartha sārapayaranam by Thakkura Feru

2. Cf Sadvarnātyantatejaskā Vindurekhādyadūṣitā suswāda suswarā Cārhadvimbāya pravarā Śila—Pratisthāsārodohāra of Āśādhara, p 6

3 Vasunandi's Pratistha sāra sangraha (in ms) Ch IV.

JAINA CRITIQUE OF THE BUDDHIST THEORIES OF PRAMĀNA.

By

Prof Hari Mohan Bhattacharyya, M A.,
Prof. of Philosophy, Asutosh College and Lecturer, Calcutta University

Of the four well-known schools of Buddhism the *Vaibhāṣika*, the *Sautrāntika* and the *Yogācāra* writers have contributed considerably to the epistemic thoughts of India. In this paper we propose to state the views of *pramāna* as but forth by these three schools of Buddhism and estimate their value from the Jaina standpoint.

The common contentions of the Buddhists of all schools are that everything is impermanent lasting for a moment only and disappearing in the next moment to make room for another, that there is no permanent subject, the soul or psyche but only a series of phychoses, each of which is functionally determined by the other by the law of causation which the Buddhist called *pratītya-samutpāda* or what is generally called depended origination, that in the occurrence of knowledge there is no instrumentality of the senses, that there are only images and that there is no distinction between consciousness and its content. If one remembers these common contentions of the Buddhists, one finds it easier to follow their epistemological problems

(A) *The Vaibhāṣika Theory of Pramāna and its Criticism.*

Now the *Vaibhāṣika* is a realist and believes that reality is known by perception and his *pramāna* is constituted by formless cognition (*nirākārabodhasvarūpa*). But we all know that *pramāna* has its own differentia of validity which distinguishes it from cognition in general. The *Vaibhāṣika's* definition of *pramāna* as amorphous cognition cannot, therefore, apply to what he wants to define We all know that to define a thing is to set forth its differentia distinguishing it from its genus and other co-ordinate species But by indentifying *pramāṇa* with mere undifferentiable *bodha* the *Vaibhāṣika* gives us only the genus without the differentia and thus makes his definition of *pramāna* too wide (*ativyāpta*)[1]. And the cōnsequence is that we may also include under it the different *pramāṇābhāṣas* or semblances of valid knowledge such as *samśaya* or doubt, *viparyaya*

---

1. "Vodhapramāṇam iti vadanto vaibhaṣikāh paryanuyojyāḥ" T.B.V. p. 458.

or error and *anadhyavasāya* or inarticulate cognition thus entailing a complete breakdown of the distinction between *pramāṇa* and *pramāṇābhāṣa*, between valid and invalid cogniton. And the further consequence of this theory of *pramāṇa* will be that one will take to ordinary way of thinking the senses and the other means of cognition as *pramāṇa* just as one is accustomed to say in common parlance that one perceives a thing by the lamp, discerns another by the eye, ascertain the fire by smoke, to all of which we allow the status of *pramāṇa* only as a matter of convention,[2] though in reality *pramāṇa* in each one of these cases depends on deeper phychological and metaphysical conditions Hence the Jaina insists that *pramāṇa* in the strict sense of the term applies only to the self-and-other-revealing cagnition i.e., cognition which shines by its own light carrying with itself the validity of its own and which in so doing is instinct with the form and the character of the object it illumines and which is thus sharply to be distinguished from *pramāṇābhāṣa*. All self-revealing and other revealing valid cognition does not stand in need of instrumentality of anything extraneous to itself. If, on the other hand, any conception of special instrumentality is introduced into the constitution of the *pramāṇa* or valid knowledge with a view to establishing its *avyabhicāri* or uncontradictable character then such a conception of special instrumentality is not only a gratuitous assumption but also involves the theory of *pramāṇa* into the fallacy of the mutuality of cause and effect (*anyonyāśraya*). The special instrumentality in valid knowledge will apparently be the right cognition of object and if by this special instrumentality *pramāṇa* is established as *avyabhicāri* then we are really to regard *pramāṇa* as *pramiti* i e, the result of *pramāṇa*, but this result cannot stand as *effect* of the object (*artha*) for the cognition of the object and the appearance of *pramiti* are simultaneous and event which are simultaneous cannot be related to each other by way of cause and effect and therefore cannot have the necessity and order whereby you can distinguish them. And the result will be that there being no distinguishing factor in the relation between the *artha* or the object and its *bodha* or cognition we would fail to

2. *Vide* T.B.V. Page 459 and P K.M. Page 26.

distinghish whether cognition gives us the object or the object cognition. The *Vaibhāṣika* position that *nirākārabodha* or amorphous cognition is *pramāṇa* is thus an impossible one

Further the supposition of the *nirākārabodha* contradicts the very *Vaibhāṣika* position and involves an infinite regress. As a realist the *Vaibhāṣika* is bound to admit the external object and its perceptual cognition Now to say that in perception the external object is cognised is to say that the object as cognised merges its own form into the cognition as its *grāhaka* with the result that the so-called *nirākāra-jñāna* now becomes instinct with the *ākāra* or the form of that object and thus turns into being *sākāra*. Besides in the case of continued cognition (*dhārāvāhika jñāna*) if the object has already disappeared as object after surrendering its own form in the first moment of its cognition then for the next moment of its continuance we have got to assume another object which will similarly be absorbed in it beyond recognition, yielding its own form to the cognition of the second moment And in continued cognition we cannot stop here but must suppose an infinite series of objects for its continuity. Thns the *Vaibhāṣika* shall be compelled at every moment of continued cognition to transform his *nirākāra jñāna* into *sākāra jñāna* and to abandon his own position that *jñāna* is *nirākāra bodha* and to involve himself in an infinite regress (*anavasthā*). But the Jaina solves these difficulties by repeating his fundamental position that cognition in its valid form is *svaparābhāsi* and therefore as illumining both itself and its object takes on the form of the external object. To the Jaina then cognition is always *sākāra*, but when he says this he warns us against concluding that the external object determines the origin and validity of cognition And so far as continued knowledge is concerned the dificulty of infinite regress does not vitiate the Jaina theory. For according to the Jaina there is no necessity of imagining an infinite number of objects as in the *Vaibhāṣika* theory according to which an infinite series of momentry objects is supposed to surrender or hand over its forms (*ākāra-samarpaṇam*) in the infinite series of cognitions. The object has a continuity of its own and continues to give form to cognition. But still it is objected that if an object, say, *ghaṭa*, is permanent and constant then the continued cognition of the same *ghaṭa* may involve

what is called the difficulty of *gṛhīta grahītā* or apprehension of what is already apprehended and the first moment of apprehension having finished the business of *pramāṇa*, the subsequent apprehension will become useless, so that continued cognition will cease to have any validity of its own. The Jaina meets this objection by pointing out that his very conception of reality is a sufficient explanation of the validity of continued cognition. Every object of this universe is *dravyaparyāyātmaka* i.e., has the aspects of permanence and change, or is maintaining itself as a permanent object in the midst of constant changes. Hence from the very character of an object it follows that no one object at a particular moment is exactly the same as what it becomes at the next moment of its apprehension. In our continued cognition of an object say *ghaṭa*, we thus never have exactly the same *ghaṭa* before us for any two moments of apprehension, but each moment of apprehension ushers in a *ghaṭa* which is at once the same with as well as different from the *ghaṭa* of the previous moment of apprehension. It follows then that in our continued cognition our apprehension is not really cognising what it has already cognised and so the charge of *gṛhīta-grahītā* against continued cognition is beside the point and does not impair the validity of continued cognition.

The *Naiyāyika* too is of opinion that *gṛhīta-grahītā* or apprehension of what is already apprehended is no bar to the validity of cognition. *Jayanta-bhaṭṭa*[1] in his *Nyāya-mañjarī* has furnished us with a discussion on the question of *gṛhīta-grahītā* and has concluded that *gṛhīta-grahītā* or the apprehension of the apprehended is common to many forms of perception and is a characteristic feature of *smṛti* or memory. But according to him in none of these cases *gṛhīta-grahītā* impairs the validity of cognition. Of course, the *Naiyāyika* rejects *smṛti* or memory as a form of valid cognition not on the ground of its being a case of *gṛhīta-grahītā* but rather *on the ground* that *smṛti* or memory does not originate immediately from *artha* or *viṣaya* i.e., Reality. *Jayantabhaṭṭa* argues that in case of perceptual cognition such as when we perceive before us any dangerous objects like the poisonous snake or the tiger or the shark, we see such

1. *Nyāyamañjarī Vidhi* ch. on *Pramāṇa lakṣaṇam*.

objects repeatedly, and believing that our cognition of them is correct, we think them undesirable (*heya*) and leave the places where they exist for safety. Similarly in the case of enjoyable objects like a garland, sandal, camphor we perceive them repeatedly and it is the sense of validity of our cognition of them that leads us to handle them as desirable (*upādeya*) It will not do to say, *Jayanta* argues, that in our continued perception of them there is *agṛhīta-grahīta* owing to the fact that newer and newer peculiarties turn up continuously, for in that case we would be led to an endlessness of the peculiarities. In fact, however, *agṛhīta-grahīta* or apprehension of the already unapprehended is not the *sine qua non* of valid cognition. Here an interesting psychological question seems to be involved. Ordinarily it is believed that attention to an object depends upon the development of newer and newer interesting features of the object attended to But close examination more often reveals than not that such a development is unnecessary for continuity of attention and therefore perception As *Jayanta-bhaṭṭa* very ably puts it · "One's own hand looked at a hundred times never develops new features for one" Further the psychological fact of recognition which is admitted by the Jaina as a form of valid cognition becomes an impossibility. The Jaina ground of holding recognition as a form of valid cognition is that it is a case of presentation of the object that is recognised though there is the element of representation of the old percept which merges itself into presentation and reinforces it. The Jaina thus establishes his point that apprehension of the apprehended which is involved in repeated perception of the same thing, in continued perception, in recognition and memory, should not vitiate the validity of our cognition.

(B) *The Sautrantika Theory of Pramaṇa and its Criticism* :

The Sautrāntika like the Vaibhāsika is also a realist and believes that the object of our knowledge enjoys existence outside and independent of our jñāna or cognition though such object is revealed to us not through pratyaksa or perception as the Vaibhāṣika maintains, but through anumāna or inference. His point is, as against the Vaibhāṣika that our perceptual knowledge is not without but always with form (ākāra) and as the object is momentary it disappears out of existence at every moment after surrendering its form

to perceptual knowledge (ākārasamarpaṇa kṣaṇam eva); and from this ākāra or form as datum we must infer the existence of the object as the ground or cause of such form (anumeyavāhyavastu). To the Sautrāntika then jñāna or cognition is sākāra and sākārajñāna or formal cognition is also pramāṇas or valid knowledge. The originating cause of this form, namely, the outside object, does not come within the purview of perception but is only a matter of representation or inference

Now the Jaina agrees with the Sautrāntika in this that jñāna is always sākāra or with form and also with the general Buddhist standpoint and jñāna is *svasamvidita* or self-revealed. But he parts company with the Sautrāntika where the latter denies that perceptual cognition reveals the object while it reveals itself. His main contention against the Santrāntika view of knowledge is that if jñāna is sākāra or with form then this form which enters into a relation of identity with knowledge cannot but reveal the object of which it is the form[1], and to deny the revelation of the object is to deny the self-revealing character of knowledge itself which is contrary to the fundamental postulate of the Buddhist To waive this inconsistency when the Sautrāntika assumes a division in knowledge into grāhya and grāhaka, that is equally unwarrantable. Because, what is grāhya is the object of *pramiti* and what is grāhaka is the subject of it. But no such distinction within jñāna is acceptable to the Buddhist according to whom pramātā or the subject of cognition, *pramiti* or the object of cognition and pramāṇa or the act of cognition are one and the same jñāna, precluding any such bifurcation of cognition into subject and object, grāhya and grāhaka, as the Sautrāntika suggests.[2] But a stronger and more fundamental objection of the Jaina against the Sautrāntika is that the very inference of the external object is logically unsound. To the Sautrāntika as to all other schools of Buddhist thought all objects of the universe are

1. T B V on Sammatitarka Page 459

2. *Jayantabhaṭṭa* stresses the same objection against the *Sautrāntika* on the ground that *grāhaka jñāna* is always functionally dissimilar to the *grāhya jñāna* so that these two dissimilar elements cannot be made to make up the homogeneity of *jñāna* as such which, however, is the contention of the Buddhist *vide Nyāyamañjari*, p 15 (Benares Ed)

momentary and are unique and particular. Nothing endures for more than a moment. Nor is there the possibility of bringing in the concept of universal to connect them together, for to the Buddhist the universe is a fiction of imagination. so that at the moment next to its avabhāsana or flashing forth the object dies away beyond recovery, leaving behind only an ākāra. Now this ākāra is the subject-matter of perception and is supposed to supply us with the premise for inferring the object as the cause of such ākāra. But inference involves over and above the discrete cognitions of the uniqueness (svalakṣaṇatā) of the *hetu* or middle term (hetu-svalakṣaṇa) and of the sādhya or major term (sādhyasvalakṣana), certain conceptual element or sāmānyalakṣaṇa in the shape of vyāptijñāna or the knowledge of universal concomitance. Here the Jaina reminds us of Kumārila's polemic against the Sautrāntika standpoint. Kumārila argues[1] that the sāmānyalakṣanas or the universals are the mind's own contructs, and are thus ontologically unrelated to the particulars of svalaksana; and when they are superposed upon the particulars which alone are real, will modify the character of the real. Thus inference involving svalakṣaṇa modifies the character of the real and fails as a source of knowledge of the objective world 'perse'. Thus the Jaina like Kumārila concludes against the Sautrāntika that his theory of pramāṇa as sākārajñāna cannot inform us of the objective world as it is and fails of its purpose of rightly ascertaining its contents (arthanirnaya or arthasaṃsiddhi) Further vyāptijñāna or vyāptiniścaya, i e, the ascertainment of the universal concomitance is the very lever on which the process of inference hinges. Now the knowledge of the universal concomitance presupposes an illustration (dṛṣṭānta) and an illustration must be an object of perception. But the Sautrāntika postulates that we can never have perceptual knowledge of an external object. It comes to this then that inference which is based on our knowledge of vyāpti which again depends upon an object of perception for illustration breaks down and with that, the very position of the Sautrāntika that the world of objects is never known by perception but only by inference, also breaks down[2]

(To be continued)

1. S. V. Sl. 52, *Śūnyavāda* PP. 283-284.
2. T. B. V, on Sammatitika, Page 459.

HEROES OF THE JAINA LEGENDS.

By

Sjt. Hansatya Bhattacharyya, M.A., B.L., Ph. D.

KULAKĀRAS.

According to the Jaina sacred books Jainism is *Anadi* i. e., beginningless and Mahāvira who is mistaken by the present day scholars for its so-called founder, was but the last of the twenty-four *Arhats* or omniscient teachers who upheld the Jaina faith from time to time in the misty past. Besides the twenty-four *Tirthamkaras* or omniscient prophets, numerous high-souled beings are glorified in the Jaina Purāṇas. We pass by their accounts of *Indras* and other superhuman beings It should only be noted here that gods in Jainism are not the lord of the universe, as they are conceived in the Vedic literature, they are like men, only a little more developed and better placed; they have births and deaths; they are particularly respectful to the *Tirthamkaras*; and they must encarnate themselves as human beings in order to attain final liberation Gods in Jainism are thus smilar to the gods of Buddhism in more than one respect

Parallel to the Vedic conception of the fourteen *Manu's* we have the discription of the fourteen *Kulakara's* in the Jaina legends These *Kulakaras* are said to have been the most enlightened men of their times and great friends of the human society

Time is infinite, but for the purposes of human history, the Jainas call a definite section of it a *Kalpa* (extending over billions of billions of years). This *Kalpa* is primarily divided into *Avasarpini*, discending or unhappy and *Utsarpini*, ascending or happy In the former, man's life, body, enjoyment etc are progressively lessened in duration and extent while in the latter, those are progressively lengthened. The *Avasarpini* has six subdivisions. The first is called *Sushama-sushama* or happy-happy i.e , boundlessly happy. The next is *Sushama* i.e., happy,—a period of time which is less happy than the first. The third period of time is *Sushama-dushama* i.e., happy-unhappy. The fourth age is called the *Dushama-sushama* i.e., unhappy-happy. The fifth is *Dushama* i. e., unhappy. The sixth or the last

section in the Avasarpini period is called the *Dushama-dushama*, unhappy, unhappy,—an age in which man's unhappiness reaches its extreme point. With the termination of the Dushama-dushama period in the Avasarpini, the Usarpini begins and its six subdivisions in the ascending order are Dushama-dushama, Dushama, Dushama-sushama, Sushama-dushama, Sushama and Sushama-sushama.

The Jainas conceive that at the beginning of the Avasarpini, there is the *Bhōga-bhūmi*, that is to say, the life in the world is an uninterrupted series of enjoyment; men have not to work for their breads, everything they want viz, light, food, articles of pleasure etc., are all supplied by the *Kalpa-briksha*, the wish-fulfilling tree. Towards the end of the third period, the Kalpa-briksha for the first time shows signs of progressive self concealment. The sun and the moon are observed in the sky for the first time These had been existing no doubt from before but the all-absorbing radiance of the Kalpa-briksha prevented their manifestation so long. It can easily be imagined that the sudden appearance af these two luminaries in the sky struck horror in the hearts of the people of that age It was one *Pratiśruta* who knew the reason and explained the new phenomena to the terrified people Their fears were gone at his explanation and Pratisruta became known as the first *Kulakara*. With the advance of time, the Kalpa-briksha was progressively self-concealing,—with the result that stars were visible in the sky. It was *Sammati*, the second Kulakara who explained the astral phenomena to the bewildered humanity of that age and who was thus the father of the astronomical science. *Kshimāmkara* was the third Kulakara who advised the people, who had so long been living with the beasts and ferocious animals, to avoid them and cease to trust them. With the progressive disappearance of the Kalpa-briksha, the ferocity of wild animals was becoming more and more pronounced and the fourth Kulakara (*Kshimandhara*) was consequently under the necessity of advising the human beings to arm themselves with sticks and other weapons in order to save themselves from their depredations. Kalpa-briksha was fast disappearing and yielding less and less fruits, so that quarrels necessarily arose among the needy people as regards the appropriation of these fruits; accordingly, *Simamkara*, the fifth Kulakara determined variously bounded areas

within the limits af which each man was to receive his share of the necessaries of life. The next Kulakara, *Simandhara* further limited and more definitely determined the boundaries of the Kalpa-briksha,—in order to stop the internecine quarrels among people for the appropriation of its fruits which were considerably lessened by this time. It was *Bimala-bahana*, the seventh Kulakara who instructed humanity to train elephants, horses camels for its own use. It is said that parents in those days used to die as soon as their children were born. It was at the time of the eighth Kulakara, *Chakshushaman* that for the first time parents began to die a little while after the children were born. People were dismayed at this new phenomena and the eighth Kulakara removed their fears by explaining how and why the children were born. The ninth Kulakara, *Yaśasvan* taught the people to bless their children. *Abhichandra*, the next Kulakara taught humanity how to take care of and properly bring up the children. *Chandrabha*, the eleventh Kulakara, was under the necessity of further advancing the art of rearing children. *Marudēva*, the twelfth Kulakara taught the art of making boats for crossing rivers, seas and oceans and constructing steps and other means for ascending on high hills. The thirteenth Kulakara, *Prasēnajita* introduced among other things, the custom of marriage *Nābhi-rāi* was the fourteenth and the last of the Kulakaras It was at his time that the Kalpa-briksha made its complete disappearance and the world which had so long been the Bhōga-bhūmi or a place of enjoyment without labour became the *Karma-bhūmi*, a place where 'man must earn his bread by the sweat of his brow." No doubt, by the operation of the eternal laws of nature, paddy-plants and other fruit-bearing trees had already been there, but people did not know their use, as they were accustomed to have their needs satisfied from the Kalpa-briksha. With the disappearance of the Kalpa-briksha, human beings felt a difficulty unknown before. It was Nābhi-rāi who explained the use of the paddy plants and of the other fruit bearing trees; he taught them how to make paddy and other fruits fit for human consumption; he also described which plants were injurious and which were useless. He introduced the art of making earthen pots and making them strong by burning. He for the first time is said to have taught people to have the umbilical cord at their

infants' navel cut. Meru-devī was Nābhi-rājā's queen and Rishabha-deva, the first Tīrthamkara was the son of Nābhi by his wife, Meru-devī.

Are there any matters of philosophical interest in the above Jaina account of the Kulakaras ? The first thing that attracts our attention is that a primaeval state of bliss is supposed to exist before the emergence of the present world with all its cares and troubles This state of bliss as described by the Jainas is some what similar to the happy existence of the human race in the Krita or Satya Yuga at the outset of the present temporal series, as conceived by the Vedic people. The Jaina account is strikingly similar to the Judaic account of the blissful state in the Garden of Eden It should be noted that while the Jaina account and the account of the Vedic school speak of the then whole human race as enjoying the state of bliss, the Jewish account reserves it for one solitary pair of individuals who are the original parents of the human race If however we are to read any esoteric matter in the glowing accounts of the original state of bliss,—it matters little whether the state of bliss is stated to be for the individuals or for the whole human race

It has been pointed out that the state of bliss in the Garden of Eden, as described in the Jewish mythology, represents a state of absolute and complete ignorance, a stage characterised by an utter want of discrimination, analysis and synthesis Sociologically. it represents that primaeval state of the human society when it is scarcely distinguishable from a herd of beasts and psychologically, the state of mind in a new born babe. The tasting of the forbidden fruit of the tree of knowledge really means the rise and operation of the discriminating faculty in man,—the birth of real man-hood,—allegorically described as the Fall of man, which is justifiable only in the sense that "when ignorance is bliss, it is folly to be wise."

It is doubtful, however, if this form of interpretation would apply to the Indian account of the primaeval state of bliss and fall there from. The Indian Kalpa Briksha cannot be identified with the Jewish Tree of knowledge for the simple reason that while the tasting of the fruit of the tree of knowledge brings about the down fall of man, it is the very appropriation of the fruits of the Kalpa

Briksha that constitutes the state of bliss. What, then, is the Kalpa Briksha and what can be its esoteric significance? Literally, Kalpa Briksha means a tree which yields fruits in accordance with the wishes of a man. The Jainas, as we have seen, have such a tree in the Bhōga bhūmi i e, in the primaeval period of enjoyment. According to the Vedic legends, the blissful heaven (Svarga) has a Kalpa Briksha where from people who have led a meritorious life in this world, get enjoyment in the form of fruits in their life hereafter. Thus we understand that Kalpa Briksha yields enjoyments in accordance with a man's good acts, done in his previous life. In Mundaka-Upanishad, we meet with the following curious passages in connection with an imaginary tree :—"Two birds, closely united and friends to each other are perched on the self-same tree. One of them eats the sweet fruits and the other, without eating them, simply sees them" The sweet fruits are explained as the fruits of good acts and the eater thereof, the enjoying human soul The highly enjoyable fruits of the Kalpa Briksha may thus be suspected to mean the good effects of a man's good acts The disappearance of the Kalpa Briksha may similarly mean the exhaustion of the good effects of good acts and fresh entrance into the life of toil and moil. This is made clear in the following utterances of the Revealer of the Gitā, "They (i.e., those who did good acts) enjoy the extensive heavenly region and when their merit thus comes to an end, they re-enter this world of death" The succession of Bhōga-bhūmi by Karma-bhūmi, as described by the Jainas, must mean the same thing viz.,—that man enjoys the good fruits of his good acts and that when there remain no more good fruits to enjoy, he comes back to his life of labour.

Thus the state of bliss in the Jewish legend is different from that in Indian mythology. In the former, it is the bliss of ignorance, in the latter, it is the bliss as the result of good acts,—a real bliss, crowning the sustained restraint of a moral life. As regards the fall from the primaeval state of bliss, the significance of the two accounts is also different. The Jewish account says the fall is due to knowledge. But it has always been rightly questioned whether ignorance is real bliss and whether wisdom is folly and as such, brings about the fall of man. On the other hand, it has been rightly

maintained that knowledge constitutes the true nature of man and far from causing his down fall, leads him to his true goal The Indian account of the fall indicates only the scientific fact that when there is no more good fruit to be enjoyed, man is compelled to come to "the world of labour", by the force of the Karmas which up till then remained dorment in him It seems that at the back of the Indian account, there is the Law of Karma, with its corollary, the Law of Re-incarnation, both of which are foreign to the Jewish legend.

It would appear from what we have stated above that the interpretation put on the Jewish account of the state of bliss and the fall of man lacks scientific support. Cannot a better interpretation be put on the allegorical story? We are not sure,—but we feel that the following interpretation would not only make the Jewish account more consistent with the true principles of moral philosophy but would do a great deal in unifying the two accounts, Indian and Jewish. The state of bliss indicates the state of the true self,—that blissful state in which the self realises itself i e, views itself in all things and all things in itself In this state the self enjoys itself and can never be in want of true enjoyment This happy state terminates and the man experiences fall when he tastes the fruit of the Tree of lower or false knowledge, estranges himself from his true self i.e., when on account of *Rāga* and *Dvēsha*, attachment and envy, he is tempted to discriminate between his true self and false or lower self and identify himself with the latter. When this happens, true enjoyment which consists in the pure self-enjoyment of the self by the self, vanishes,—Kalpa Briksha conceals itself,—man is driven from the Garden of Eden,—He comes to the world of pain and death,—He finds himself in the Karma Bhūmi, God's curse on him, a poor creature that he is then, is subjected to endless troubles, diseases and death,—lo! verily, man has then his fall!

The only other point to which one's attention is bound to be attracted in connection with the Jains account of the Kulakāras is the recognition of the principle of continuous development, aperating in the process of social evolution. In the literature of all the ancient nations, we meet with the descriptions of an ideal state of affairs at the primaeval period and very seldom come across any recognition

of the fact of gradual evolution of the various arts of civilisation. In fact, it is in the Jaina account that we see the first attempt to conceive the human society as a living organism which has its history apart from the history of its individuals and its own peculiar struggles and adaptations Even so modern a thinker as Comte contended that "the anatomical and the physiological study of individual man, ought to precede the study of human society". While admitting the great service which Comte did to the science of Sociology by applying the biological method to the study of the social progress, the later evolutionary school of sociologists have thought it right to take a position almost reverse to that of Comte viz., that the development of the individual must to a large extent be regarded as the correlative of the social process in evolution. The application of the law of Natural Selection to the science of Sociology implies that the development of Society need not be exactly in the line in which an individual develops. An individual grows by doing acts which give him "increased satisfactions". The first rudiments of social organisation, on the contrary, arose from the fitness in the struggle for existence, under the sternest conditions of natural selection and adaptation,—and not from conscious regard to "increased satisfactions." A curious corroboration of this doctrine of social evolution by natural selection and adoptation is afforded by the Jaina account of the Kulakāras It is not stated that the human society developed the various arts and sciences, from a desire to *increase* the existing amount of their pleasures and enjoyments, we are told, on the contrary, that with the progressive disappearance of the Kulpa-Briksha (whatever the story may mean), Nature presented shocks and frowns before the awe-struck human society and that the society through its Kulakāras met them with efficient measures,—thus adapting itself fully to the changed circumstances and making itself fit for survival.

According to the Jaina account of the Kulakāras, —roughly speaking,—man's attention was first attracted towards the heavenly luminaries. Astronomy was thus the first science developed among men. After that, man turned round his surroundings, differentiated himself from the beasts with the gradually evolving consciousness of his own nobler nature and finally made successful provisions for

his own protection from the fury of his quadruped neighbours. After settling accounts with his ferocious enemies of the sub human species, man turned to his surroundings nearer home and made arrangements for the peaceful supply of the necessaries of life to all the individuals of his own species. Thus putting his own house in order, he made his former sub-human enemies serviceable to him as far as possible Well-provisioned in his own home and master over the sub human species,—man directed his attention to the eradication of troubles, relating to body. The very first thing he did, was to see that every human child was safely born, that no calamities occurred to the parents due to the child-birth and that the children were strong, hale and hearty After this, man took to adventure,—crossed seas and ascended the high hills As a result of all this the society became highly complex,—and the need for the establishment of law and order became insistent Marriage was the first institution introduced Pastoral or nomadic life or other modes of uncertain living gave way to agriculture Manufacturing also came into vogue and earthen pots began to be made and used

The above is the order in which the archaic human society is said to have evolved in pre-historic days,—an age long before the establishment of any firm Government or even the tribal rule Whether this was exactly the order is more than what we can definitely say. This much, however, is certain that the phenomena of the heavenly luminaries, the sun, the moon, the stars attracted the earliest attention of man. Without entering into the vexed question as to who were the first people to cultivate the science of astronomy, we may say that all the ancient peoples viz, the Chuldeans, the Egyptians, the Greeks, the Chinese, the Indians, the Poruvians took to the study of the heavenly phenomena from the remotest ages. Accordingly the assertion that "Astronomy may probably be regarded as the most ancient of the sciences (Encyclopaedia Brittanica, 9th. Edition, Volume II, P. 744)" is not without reason. The Judaeans have the story that the antediluvian sages learning from Adam that the earth was doomed to universal destruction by fire and water erected two columns of brick and marble, on which they engraved the elements of their astronomy in order to preserve them.

If the theory of evolution is true, it may be admitted that in some remotest past, human species lived in the forests with beasts. The fact cannot be assailed on the ground that the difference between man and beast is so great that they cannot be supposed to have possibly lived together at any time As a matter of fact, modern observers have been convinced that the difference between a man at the lowest stage of civilisation and a beast is not so great as that between that man and an enlightened Europeon This shows that the present day difference between man and beast is the effect of long and continuous evolution. "The lord of the earth", says Dr. Prichurd, "who contemplates the eternal order of the universe and aspires to communion with its invisible Maker, is a being composed of the same materials and framed on the same principles as the creatures which he has tamed to be the servile instruments of his will or slays for his daily food." With respect to the mental characteristics Mr C. Wright in his remarkable essay, *The Evolution Of Self-Consciousness* clearly points out how man's highest mental operations evolved out of simple processes common to man and the lower animals Man's power of observation and learning by experience gradually grew and this was probably what estranged man and beast from one another The two species, hitherto living as friendly neighbours, became disgusted with one another; man was becoming milder and milder and consequently felt the necessity of living separately from the herd of beasts. in order to save himself from their ferocity, later on man invented weapons of defence and offence and finally, made the beasts subordinate to him and actually domesticated some of them. We can not say whether this account is correct in all its details, but it has the merit of presenting at least an intelligible description of an undoubted age in the pre-historic evolution of man as a social creature

It can well be understood that when the human species was put on the path to further development, the very first thing that it would do, was to avoid quarrels regarding the necessaries of life generally and food, particularly. For this purpose a delimitation of "the spheres of influence", so to say, was effected. The establishment of separate zones again would inevitably lead to the formation of groups and tribes. The strength of a tribe lies in the number and

quality of its individuals and it is no wonder that child-welfare would receive the early attention of man, however crude. Growing strength of a man would make him take a fearless,—may, aggressive—attitude towards nature, which would lead him to cross seas and ascend high hills. Complexity of society, consequent on the adventurous habits of man, required organisation of society. Marriage is admitted by one of the earliest institutions. With the introduction of agriculture and manufacture, the primaeval state of human society may be said to have ended and civilisation in the full sense of the term, ushered into progressive advance.

In recent times, attempts have been made to determine the various stages of the progress of the early human race towards civilisation. The classification of these stages made by Nilson and Thomson is generally accepted and these are respectively termed the Stone, the Bronze and the Iron Ages But while this classification has proved a guide of extraordinary value in arranging in their proper order the stages of man's advance in Asia and Europe, it is worth noting that in Polynesia, Central and South Africa and America (except Peru and Mexico) the early natives had no Bronze Age at all but moved directly from the Stone to the Iron Age. So, this classification cannot be said to be capable of universal application The other classification viz, that into Savage (e g. the stage in which the Australians and forest Indians of Brazil are found), the Barbaric (the stage in which the Germanic people were, as described in the Roman literature) and the Civilised (the stage in which the Greeks and the Romans were, even in the Pre-Christian period) is certainly more precise,—as also the theory of the line of progress alleged to have been followed by people passing from the primitive state of the wild hunter, fisher and fruit-gatherer to that of the settled tiller of the soil. One thing that can be said about all these modern modes of classification is that most of them seem to begin at the tribal stage of the human society and do not push the enquiry further back. The Jaina account, on the contrary, presents the human society in its most primitive state conceivable viz., in the stage when it is scarcely distinguishable from a herd of beasts It should accordingly receive the due notice of the sociologists before it is flung aside as worthless fables.

JAINISM IN THE DECCAN UNDER THE RASHTRAKUTAS.

By

Dr. R. S. Alteker.

[Deccan and Karnatak constitute one of the strongholds of Jainism today. How this happened can be understood by a survey of the Rashtrakuta history and thus has been remarkably done here—Editor]

Our period was probably the most flourishing period in the history of Jainism in the Deccan. Soon after it Jainism received a set-back owing to rapid spread of the new Lingayat sect. In our period, however, the sect had no serious militant rival and was basking in the sunshine of popular and royal favour. The literary activity of the Jains was also remarkable in this age, and they seem to have taken an active part in the education of the masses That, before the beginning of the alphabet proper the children should be required to pay homage to Ganeś by reciting the formula Ś'rī Ganes'āya namah is natural in Hindu society, but that in the Deccan even to-day it should be followed by the Jain formula Om namas-siddhebhyah shows, as Mr. C V Vaidya has pointed out, that the Jain teachers of our age had so completely controlled the mass education that the Hindus continued to teach their children this originally Jain formula even after the decline of Jainism. The formula can of course be interpreted in a non-Jain sense as well, but it cannot be denied that originally it had a Jain significance.

The way to the prosperity of Jainism in our period was already paved in the earlier age Many of the Kadamba kings of the 5th and the 6th centuries were patrons of Jainism[1]. There are several spurious records at Lakshmesvar[2] really belonging to the 10th or 11th century, purporting to record grants in favour of Jain establishments made by early Chālukya kings Vinayaditya. Vijayaditya, and Vikramāditya II. These kings must have been known to the tradition, at least as occasional patrons of Jainism; otherwise it is hardly possible to explain why these, and no other kings, should

1. I. A. VI. pp 22 ff. VII. pp. 34 ff.
2. Ibid. VII, pp 111 ff.

have heen selected as donors, when the later records were written. It is possible that they are mere late copies of earlier records that had peeled off and that were sought to be renovated for future historians, who however now dub them as forgeries Most of the kings of Talwad were either Jains or patrons of Jainism. Grants to Jain establishments made by Rāchamalla have been found in Coorg[3], and when this king captured Valhmalai hill, he commemorated its conquest by erecting a Jain temple upon it[4]. At Lakshmesvar there existed in our period buildings known as Rāya-Rāchamalla vasati, Ganga-Permadi-chaityālaya, and Ganga-kandarapa-chaityamandira[5]. The names of these edifices bear testimony to the patronage of Jainism by the various members of the Ganga ruling family, after whom the buildings were named. Mārasimha II was a staunch Jain; he was a disciple of Ajitasena and his firm faith in his religion sustained him through the terrible ordeal of the Sallekhanā vow whereby he terminated his life after his abdication in c 974 A. D. Mārasimha's minister Chāmundaraya is the author of the Chāmunda-purāna; it was he who set up the colossal image of Gommates'vara at Śrāvana Belgoḷa, and his reputation as a patron and devotee of Jainism was so great, that he was regarded as one of the three special promoters of Jainism, the other two being Gangaraja and Hulla who were the ministers of the Hoysala kings Vishnuvardhana and Mārasimha I In Nolambawadi the religion was prospering, we have a record from that province mentioning the gift of a village by a merchant who had purchased it from the ruling king in order to bestow it upon the Jain monastery at Dharmapuri in Salem district[6] Among the Rāshtrakūṭa emperors Amoghavarsha I was more a Jain that a Hindu. In his Pārśvābhyudaya Jinasena calls himself as the chief preceptor (paramaguru) of that king who used to regard himself as purified by the mere remembrance of that holy saint[7]. Sārasangraha, a Jain mathematical work, also mentions that Amoghavarsha was a follower of the syādvāda[8]. Amoghavarsha's

3, Ibid. VI, p 103
4 *E I.*, IV, p 140.
5 I A, VII, pp 105-6
6. E I.,X, p. 57
7. I A, XII, pp 216-8
8 Winternitz, Geschichte, III, p. 575

offering one of his fingers to the Goddess Mahālakshmī, in order to extricate his kingdom from an epedemic[9], only shows that he worshipped some Hindu deities along with Mahavira. He seems to have taken an active interest in Jainism, some of the Jain monasteries in Banavasi attribute, as the late Prof R D. Banerji informed me, the authorship of some of their religious ritual to Amoghavarsha. We have seen how Amoghavarsha I had abdicated his throne more than once; that was probably due to his being a sincere Jain, anxious to observe the vow of *akinchanata* (possessionlessness) at least for some time This emperor had appointed Gunabhadra, the author of the last five chapters of Adipurana, as the preceptor of his son Krshna II[10]; the latter is known to have given a donation to a Jain temple at Mulgund[11], So, if not a fullfledged Jain, he was at least a patron of Jainism. The same observation may hold good of the next ruler Indra III, for the Danavulapadu inscription[12] records that the prosperous Nityavarsha i e Indra III caused to be made a stone pedestal for the glorious bathing ceremony of Arhat S'anti, in order that his own desires may be fulfilled The last of the Rashtrakutas, Indra IV, was a staunch Jain; when his efforts to regain his kingdom from Taila II failed, he committed suicide by the *sallekhanā* vow[13].

Many of the feudatories and officers of the Rashtrakutas were also Jains. Most of the Ratta rulers of Saundatti were followers of Jainism, as pointed out already[14]. Bankeya, the Banavasi governor of Amoghavarsha I, was a Jain; he got the imperial sanction for the alienation of a village to a Jain establishment at his capital[15] Bankeya's son Lokāditya is described by his preceptor Gunachandra as the propagator of the religion founded by Jina; and S'rivijaya, a general of Indra III, was a Jain and a patron of Jain literature[16].

---

9. E I, XVIII, p 248
10. J B. B R. A S, XXII, p 85
11. Ibid, X, p 192.
12. A. S R., 1905-6, pp. 121-2.
13. A. I., XXIII, p. 124.
14. Ante, pp. 272-3.
15. E I, VI, p 29,
16. E. I X, p 149.

These are the kings, feudatories and officers of our period who are so far known to have been followers or patrons of Jainism. There may have been many more; for, as will be soon our period produced a galaxy of Jain authors and preachors whose literary and missionary activities must have produced a considerable effect, helped as they were by royal patronage. It is very probable that at least one third of the total population of the Deccan of our period was following the gospel of Mahavira. Rashid-ud-din states on the authority of Alberuni[17] that the people of Konkan and Thana were Samanis or Buddhists at the beginning of the 11th century Al Idrisi calls the king of Naharvala i e Anahilapatana as a Buddhist, whereas we know definitely that the king he had in view was a Jain, not a Buddhist. It is thus clear that the Muslims very often mistook Jainism for Buddhism and the above referred to statement of Rashid-ud-din may be taken to prove the prevalence of Jainism rather than Buddhism in parts of the Deccan referred to by them during the 10th and the 11th centuries Subsequent to our period Jainism lost much of its ground by the rise of the Lingayat sect which grew partly at its cost.

We can get a glimpse into the life of the Jain Mathas of our period from our records From the records of the early Kadambas[18] we learn that the Jain monks used to stay in one place during the rainy season, at the end of which they used to celebrate the well known Pajjushana ceremony laid down in their scriptures. Another festival, lasting for a week, was celebrated from the 8th day of the bright half of Chaitra. This festival is still celebrated with great eclat on mount S'atrunjaya[19], because Pundarika Gandhara, the chief disciple of Rishabhadeva, is stated to have obtained salvation with his 50 million followers on this day[20]. Both these festivals, which were common in the 6th century Deccan, must have been popular in our period too, since they are prescribed in the Jain scriptures and celebrated to this day.

---

17 Elliot, I. p 68

18 I. A., VII. pp. 34 ff

19. Nahar and Ghosh, An Epitome of Jainism, pp. 676-7

20. Encyclopaedia of Religion and Ethics, V p. 878.

The Jain temples of our period had become replicas of the Hindu temples. The worship of Mahavira was just as sumptuous and luxurious as that of Vishnu or S'iva. Epigraphical records are seen making provision for his *angabhoga* and *rangabhoga* just as they do in the case of the Hindu deities. What a commentary on the doctrine of absolute akinchanata preached and practised by him.

Food and medicine were provided for in the Jain Mathas and provision was also made for the teaching of the Jain scriptures[21].

The Konnur insciption of Amoghavarsha I and the Surat plates of Karkka record grants made for Jain establishments Both epigraphs, however, say that the grants were made, inter alia, for the purpose of *balicharudāna, vais'vadeva,* and *agnihotra* These are essentially Hindu rituals and one is surprised to find grants made to Jain temples and monasteries for the purpose of performing them It may be that during our period Hinduism and Jainism resembled each other more closely than is the case now, or the above expressions may have been introduced in these records by the oversight of the imperial secretariat In the Konnur record, the expression is actually misplaced and therefore, the latter alternative seems to me more probable.

JAIN LITERATURE OF THE PERIOD

As observed already Many Rashtrakuta emperors like Amoghavarsha I, Krshna and Indra III were either themselves Jains or patrons of that religion, the same was the case with many of their feudatories and officers[22]. It is, therefore, no wonder that the contribution of Jainism to literature should have been considerable. Haribhadra flourished by the middle of the 8th century A. D, but his works cannot be considered here as his province is not known. Sāmantabhadra, the author of the Āptamimānsā, which contains a most interesting exposition of the Syadvada and a brilliant review of contemporary systems of philosophy flourished before our period, but several commentaries were written on his work in the Deccan from the middle of the 8th century A. D. onwards. Aklankadeva's

21 J. B. B. R. A. S. X, p. 237.

22. Ante. pp. 310-4.

commentary Ashtas'ati was written early in the Rashtrakuta period. S'ravana-Belgola inscription No. 67 refers to Akalankadeva as describing his own greatness to Sāhasatunga who, it is conjectured, may have been Dantidurga. He is described there as the vanquisher of Buddhism. There is a tradition to the effect that Akalankadeva himself was son of the Rashtrakuta emperor Krshna I[23], but more evidence would be required to accept it as historical. Vidyananda, the author of Ashtasahasri, which is a more exhaustive commentary on the Aptamimansa, flourished a little later. He is mentioned in S'ravana Belgola inscriptions[24]

The Jain contribution to logic in our period is not inconsiderable Mānikyanandin, who flourished in the latter half of the 8th century is the author of a work on logic called Parikshamukhasutra[25], which was commented upon by Prabhāchandra in the first half of the 9th century Besides writing this commentary which is named as Prameyakamala-lamartanda this writer has also written Nyayakumudachandrodaya Another Jain writer on logic of this period is Mallavadin, who was probably the founder of a Jain Digambara monastery at Naosari which is no longer in existence. The Surat plates of Karkka Suvarnavarsha (E I, XXI) record a grant to his desciple's desciple given in 821 A. D. This author wrote a commentary called Dharmottaratippanaka on the Nyayabindutika of Dharmottaracharya[26] That a book on logic written by a Buddhist should have been commented upon by a Jain is quite in consonence with the spirit of harmony that prevailed in our period.

Quite a galaxy of Jain writers flourished in the court of the Jain emperor Amoghavarsha I, who was well known for several centuries as a great patron of literature[27]. Jinasena his spiritual preceptor, is the author of Harivans'a which was finished in 783 A. D. He has placed the workers in the field of Ancient Indian history under great obligation by mentioning the contemporary kings that flourished

23 Paterson's Report, No 2/79 J.B.B R. XVIII p 213 Pathak Quoted, by Flut 407.

24 E C., II, No 254.

25 Vidyabushna, A History of Indian Logic, p. 179.

26. Ibid, pp. 194-5.

27. I. A., 2904, p. 197

in that year in the colophon of this work. He did not live to finish his Adipurana, which had to be completed in 897 A. D. by his desciple Gunachandra, who was thespiritual preceptor of Lokaditya, the governor of Banavasi 12000[28]. The Adipurana is a Jain work dealing with the lives of Jain Tirthankaras and saints. In his Pars'vabhyudaya Jinasena has performed the wonderful feat of utilising each line of the love-poem Meghaduta for narrating the life of the Jain saint Pars'va. The concluding line of such verse in Jinasena's poem has been borrowed from the successive stanzas of the Meghaduta[A]. The Amoghavrtti of S'akatayana[29], a work on grammer, and the Ganitasarasangraha of Viracharya[30], a work on mathematics, were also composed in the reign of Amoghavarsha I The Kavirajamarga, the first work in the Canarese on poetics has been attributed to this emperor, but whether he was himself its author or merely its inspirer, is still a matter of controversy[31] The authorship of the Pras'nottaramālā is also in dispute, as it has been variously attributed to S'ankaracharya, Vimala, and Amoghavarsha I. The colophon of the Tibetan translation of this booklet shown as Dr. F W. Thomas has pointed out, that Amoghavarsha was believed to be its author at the time it was rendered into the Tibetan[32]. It is, therefore, very likely that he was its real author

Gangadhara, the capital of a feudatory Chalukya house in southern Karnatak, was a centre of considerable literary activity by the middle of the 10th century It was there that Somadeva flourished and wrote his works Yasastilaka and Nitivākyāmrta[33]. The first of these works, though sectarian in purpose is of no inconsiderable literary merit, it belong to the variety of the Champu and its author shows considerable skill in the treatment of his theme The second work is on the science of politics, it has, however, hardly

28. I. A., XII p. 216.

A. In this poem, the author describes himself as 'Paramaguru' of Amoghavarsha.

29. I A, 1914, pp. 205 ff

30. Winternitz, Geschichte, III, p 57

31 I A., 1904, pp. 199.

32. J. B. B. R A. S., XXII, pp 80 ff.

33. Yas'astilakachampu, p. 419.

much independent value as it is largely based on the Arthas'atra of Kautalya. The work is, however, almost entirely free from any sectarian tinge and is written from a much higher moral point than the Arthas'astra of Kautlya

Karnatak was a great stronghold of Jainism in our period and the Jain authors had not forgotten that the founder of their religion had preached in the vernacular. We, therefore, find a number of Canarese authors in the 10th century, most of whom were Jains. The earliest and foremost among these is Pumpa, who was born in 902 A D Though a native of Andhrades'a he became the adikavi of the Canarese literature His Adipurana which was finished in 941 A D, is a Jain work, but his Vikramarjunavijaya is a more or less historical work, where he glorifies his patron Arikesarin II as Arjuna[34]. It is from this work that we get valuable information about the northern campaigns of Indra III in which his feudatory, Arikesarin II, had participated. Asanga and Jinachandra are other Canarese writers of this period, who are referred to by Poona, but whose works are not yet forthcoming Poona himself flourished in the third quarter of the 10th century and is said to have been given the title of 'Ubhavakavichatavartin' 'Supreme among the poets of both (i. e. Sanskrit and Canarese) the languages' by Krshna III, on account of his proficiency as a poet both in Sanskrit and Canarese. S'antipurana is his principal work[35] Chamundaraya, a Jain genera and minister of the Jain ruler Marasimha II, was the author of the Chamundapuran which was composed in the 3rd quarter of the 10th century[36] Ranna, another Canarese writer of the 10th century, was born in 949 A D. His Ajitatirthankarapurana was finished in 993 A D[37]. That Jain religious works of our period should have been mostly composed in the form of Puranas shows the immense influence and popularity of these works in the Deccan of our period.

34. Karnatakabhashabhushan, Introduction, pp XIII-XIV.
35. Ibid, p. XV.
36. E. I., V. P 175.
37 E. I, VI p., 72.

POSITIVE INTEGRAL KINDS OF NUMBERS ACCORDING TO THE JAIN CONCEPT.

By

Sri R D. Misra M A Shastri

The language of numbers is very very old Men of all ages and countries have been using it in every walk of life and they have employed it successfully But many of us, do not know its origin and development into so grand a science as mathematics Not only this, in certain communities, its development went on without due regard being paid to giving numbers a logical and scientific definition. It was on this account that certain ancient school of mathematics failed to do much in developing a theory of number.

But this is not true of the Jain school of mathematics, though, no doubt, they have taken an altogether different path in developing the theory of numbers. This might be looked upon as on approach parallel to the modern one It is very surprising indeed to find that even the Jain mathematicians like Mahāvirāchārya did not develop their theories from purely mathematical point of view. All the references are to be found in books of the Jain theology—the theory has grown as a handmaid of theological discussions

Now we come to discuss the number itself. The Sanskrit equivalent is संख्या, According to the derivation, the word means a particular way to say thing. Another Sanskrit word for number is अंक This word also stands for the word digit. However the word basically means marks. Thus the concept of number arose in connection with identification of objects.

In the Jain works, the concept of number arose in connection with मान ie measurement. One of the Subdivisions of मान is गणितमान ie counting

The counting began from 1. But the Jains do not regard 1 as संख्या । I quote below authority on this :—

"एकादीयागणणा बीयादीया हवंति संखेज्जा" त्रिलोकसार गाथा १६

They have divided गणितमान in three classes viz

(१) संख्यात, Samkyāta Countable or numerable

(२) असंख्यात Asaṃkhyāta Cauntless or innumerable

(३) अनन्त Infinity.

Samkhyata has been again divided into three classes namely

(i) जघन्य संख्यात = Minimum Countable (Jaghanya Samkhyāta)

(ii) मध्यम संख्यात = Medium Countable (Madhyama Smkhyāta)

*(iii) उत्कृष्ट संख्यात = Maximum Countable (Utkṛista Samkhyāta)

(2) Asamkhyata is of three types each type being itself sub-divided into three classes thus main types of A mkhyata are:

(i) परीतासंख्यात = Preliminary Countless (Paritāsṃkhyāta)

(ii) युक्तासंख्यात = Advanced Countless (Yuktāsṃkhyata)

(iii) असंख्यातासंख्यात = Infinite Countless (Asṃkhyātāsaṃkhyāta.)

Each of these Countlesses are of three types, according to Jaghanya, Madhyama and Utkṛṣta

Next we come to Ananta. This again is first subdivided in three classes of Parita, Yukta and Ananta; each class being again sub-divided into three classes of Jaghanya, Madhama and Utkṛṣta.

From sthānga we learn about five varieties of infinity :—

Geometrically, (i) एकतोऽनन्त (Infinite in one direction) (ii) द्विधाऽनन्त (Infinite in two directions) (iii) देशविस्तारानन्त (Infinite in partial expanse) (iv) सर्वविस्तारानन्त (Infinite in entire space) (v) शाश्वतानन्त (Infinite in eternity).

---

*Compare with Alef-zero Hobson in his Function of real variables : —

"The Cardinal number of the aggregates of all the finite integers 1, 2, 3 . . n is called Alef-zero and is denoted by $\aleph_0$, thus $\aleph_0$=(=..) The number $\aleph_0$ is identical with the number which has been previously denoted by a' "A cardinal number is the charactristic of a class of equivalent aggregates"

The cardinal number $\aleph_0$ is greater than all the finite cardinal numbers and is less than any other transfinite cardinal number

An attempt to define numbers beyond उत्कृष्ट संख्यात as early as the first century B C is a unique achievement of the Jainas in particulars

Thus the final position of the 21 kinds of the **numbers is shown below :—**

It will be seen later on that Jaghanya and Utkṛiṣṭa everywhere represent only one number. We shall constantly refer to the following symbols.

A = Jaghanya Saṃkhyāta
B = Madhyama ,,
C = Utkṛiṣta ,,
D = Jaghanya Parita asamkhyata
E = Madhyama ,,
F = Utkṛista ,,
G = Jaghanya Yukta asamkhyata
H = Madhyama ,, ,,
I = Utkṛista ,, ,,
J = Jaghanya Asamkhyata Asaṃkhyata
K = Maphyama ,, ,,
L = Utkṛista ,, ,,
M = Jaghanya Parita Ananta
N = Madhyama ,, ,,
O = Utkṛista ,, ,,
P = Jaghanva Yukta Ananta
Q = Madhyama ,, ,
R = Utkriṣṭa ,, ,,
S = Jaghanya Ananta Ananta
T = Madhyama ,, ,,
U = Utkṛiṣta ,, ,,

Now I take up discussing in detail each of these numbers The starting point is Jaghanya Parita Asṃkhyata=(D say) To find D, the process is described below .

Suppose there is an interminable series of oceans and continents surrounding each other on the flat earth in the form of concentric rings with a minimum diameter of 100,000 Yojans (one Yojan=4,000 miles). The diameter goes on doubling itself in the case of each succeeding continent and sea. Let there be four pits α, β, γ, δ each 1000 Yojan deep and of the diameter of the smallest continent viz one lac Yojan.

If we fill the pit with mustard seeds up to the top and above in the conical form. 197, 711, 293, 845, 131, 636, 363 636, 363, 636, 363, 636, 363, 636, 363, $6\frac{4}{11}$ seeds will be required.

For filling α, put a seed in β. Now empty α by dropping one seed in each of the continents and oceans which as we have supposed form a interminable chain. At the place where the last seed is dropped, we dig another pit 1 000 yojan deep and of the diameter equal to the continent or ocean where it be. Fill this pit to the top as before For this filling put a seed in β Then empty the pit as before, repeat the process till β is not filled Remember that the diameter is doubling as we go to the succeeding ocean or continent, when β is filled, put a seed in γ Repeat the process with (α, β) (β, γ) and so on till δ is filled up. Thus we arrive at following result :—

(i) Pits of α series till β is filled
(ii) ,, β ... ... γ ..
(iii) .. γ ... . δ . .

The process is traversing the continents or oceans with ever increasing diameter

Let the number of seeds in the last pit of γ series when δ is full be x This will be known as Jaghanya Parita Asmkhyata x=D

To find Jaghanya Yukta Asṃkhyata G take D and spread it into its units. This process is known as Viralana. Thus we write down as many ones as there are units in D. on the top of each place a D (called Deya) Multiply Deyas together, the product is D^D Thus

D D D ... ... D times
1 1 1 ... ... D times

This D^D=G=Jaghanya Yukta asmkhyata

$G^2=(D^D)^2$ is known as Jughanya Asmkhyata asṃkhyata

Put $(D^D)^2$=J=G^2

Before we proceed next, we must make it clear that the Jains had made distinction between countless and infinity: The former has a limit though it is beyond the power of even an omniscient being to count it, the latter is without limit' In तत्त्वार्थ राजवार्तिक 5/8/1/3 we read the following :—

"संख्याविशेषातीतत्वादसंख्येयाः"
तदनुपलब्धेरसर्वज्ञत्व प्रसंग इति चेन्न तेनात्मनावसितत्वात्"

Now apply to J a third degree Śalaka-Virlana-Deya process as explained below

The number in question plays three distinct rolls simultaneously. As salaka the number is reduced by one at each completion of the next two processes. The next roll is Viralana. The word means speading, we write down as many ones as there are units in the number itself Finally the number in question is regarded as Deya. Now obtain the products of as many deyas as there are ones obtained from Viralana. At this point Śalaka is reduced hy one. Thus for the next step, the new Śalaka is one lsse than the original salaka and the new Viralana and deya are the product obtained above Continue this process till by subtractions, the original Śalaka vanishes The resulting number is subjected to the above process afresh and the Śalaka, proces applied to the third time means a third degree Śalaka Viralana Deya process technically know as a Śalaka Tryanisthapana

To illustrate this let us work upon 2 1st. Śalaka :—

	Salaka	Deya	Viralon
	2	2	1 1
Subtract	1		2 2
	—	4	4
Subtract	1	4	1 1 1 1
	—		4 4 4 4
	0	256	256—1st Śalaka is complete

2nd Śalaka

Śalaka	Deya	Viralana
256	256	256

Evidently the result is etc. etc.

$$* \quad \left(256^{256}\right) \qquad \left(256^{256}\right)$$

$$0, \left\{(256)^{256}\right\} \qquad \left(256^{256}\right) \qquad \text{2nd Śalaka is complete.}$$

For 3rd Śalaka etc

$$\left(256^{256}\right)$$

$$\left(256^{256}\right) \quad " \quad " \quad "$$

*There will be in all 2^{256} 256's as arranged above, for the salaka completes after 256 successive viralanas.

Apply the above process

The result thus obtained from J is a kind of K, (Madhyama Asaṃkhyata asaṃkhyata)

'**To K add the following six quantities :**

1. The innumerable spatial units of the substance of motion (Dharma Dravya)

2. The innumerable spatial units of the substance of Rest (Adharma Dravya)

3. The innumerable spatial units of one soul (e k Jiva Dravya)

4. The innumerable spatial units of the Universe—Space (Lokakaśa)

5. Innumerable × Innumerable spatial units, i e the number of non-host individual souls (Apratisthita Prateyaka)

6 Innumerable × Innumerable spatial units i e the number of host individual souls (Sapratisthita Prtyeka)

The total is subjected to Śalaka trya Nisthapana as above The result is again a kind of K To this we add the following four quantities

1. Instances of the cycle of Avasarpini and Utsarpuni (the instant, of 20 Crore × Crore sagaras years).

2 Innumerable × Innumerable i e the number of the thought activities of the soul which determine the duration of the bondage of Karmas

3 Innumerable × Innumerable i e the number of degrees of passion which determine the intensity or mild or the strong fruition of the bondage of Karma

4. Innumerable × Innumerable i e the number of units of soul's vibrating activities.

The summation is again treated with Śataka-trya-Niṣthapana Method. The result is M. (=Jaghanya Parita ananta).

By definition P=Jaghanya Yukta ananta=M^M.

and $(M^M)^2$=S=Jaghanya Ananta Ananta To obtain Utkṛiṣta Ananta Ananta, Apply S. T. N. Method to S. the result is a kind of T (Madhyama Ananta Ananta)

To T add the following quantities

1 The number of Souls which has attained Nirvāna; this number although infinite is infinitely smaller than the total number of souls in the universe

2 The number of undeveloped souls which is infinitely greater than the number in (1)

3 The number of vegetable souls again infinitely greater than the number in (1)

4. The Number of atoms of matter which is infinitely greater than the total number of souls.

5. The number representing the moments of time, infinitely greater than the number of atoms of matter.

6 The number of points of space, again infinitely infinite

The sum treated to S T.N. Method gives a kind of T. Add to the T

(i) The infinitely infinite Shades of qualities of Dharma Dravya', i e Motion.

(ii) Ditto for the Adharma Dravya' ie Rest

The sum is again treated to S. T N Method and the result is again a kind of T.*

Subtract this from the number of units (अविभागी प्रतिच्छेद) of Perfect knowledge (केवल ज्ञान) and then add it to remainder

Thus the Number of units in Perfect knowledge is U.

The addition and subtraction of the same shows the only fact that however T is made great, it is nothing compared with U.

"Thus it is shown that the infinity of Jinas comprises the infinite existing substances and their compounds as well as their infinite states and modifications and is therefore true infinity"

*The Synopsis of the above discussion is given below.—

A=2	H=G+1, G+2,......I−1
B=3, 4 ......to C−1	I=J−1 By definition
C=D−1 By definition	$J=G^2$
D=Explained above	K=J+1, J+2, ...L−1
E=D+1, D+2, ... to F−1	L=M−1 By definition
F=G−1 By definition	M=as given above
$G=D^D$	N=M+1, M+2,......to 0−1

*Mathematically we arrive at the symbol ∝ here.

*Karma Gathas agree only to the definition of G Dr B Dutta has interpreted the things differently

O=P–1 By definition
P=M^M
Q=P+1, P+2, ...to R–1
R=S–1 By definition
S=P^2
T=S+1, S+2......to U–1
U=Number of units of Perfect knowledge.

Before concluding the essay, I draw the attention of the reader to the following points

1. One is not included as a number
2. Countless and infinity are different things.
3. 'Cuts' are D, G, J, M, P, S,

The reference to the bearing of this above discussion to the modern analysis of Numbers will be made in a later essay.

References

1. Trilokasar
2 The Jain Jem Dictionary
3. Cosmology old and New
4. गणिततिलकम्

The Jaina Chronology.

By
Sjt Kamta Prasad Jain, D. L, M. R A. S

(*Continued from Vol. XIII, pp. 30-36*)

No.	Period & Date.	Events.
249	788—812 A. D.	Shivamāra II, the Ganga king flourished. He was a staunch supporter of Jainism His brother Saigoṭṭa and Prince Duggamāra were equally ardent lover of Jainism Śivamāra built a temple on the smaller hill at Śravaṇa-belagola, which is called "Śiva-mārana-basadi" after his name Prince Duggamāra gave specified lands to the Jaina temple at Hebbalaguppe Rāśṭrakutas invaded the Ganga territory and imprisoned the Ganga king three times. Pressed by circumstances Śivamāra II accepted their suzernaity and ruled as their feudatory. —Ref. MJ. pp. 24-25
250	812 A. D.	Śaka 735, Monday; 24th May Kadaka (now Bangalore Museum) plates record a grant which at the request of the Ganga chief Chākirāja was made to the Jaina muni Arkakirti, the disciple of Vijaykirti, who was the disciple of Kaliānā-cārya, for he warded off the evil influence of Saturn from Chākirāja's sister's son Vimalā-ditya (the son of Yaśovarmana and grand son of Balavarmana of the Chālukya family, and governor of the Kunugal district) issued

No.	Period & Date.	Events.
		Mayūrkhandi by the Rāstrakuta Rājā-dhirāja Prabhātavarsha (Govind Rāja III). Ref IA., Vol XII, p. 13 & Ep. Ind
251	853—869 A. D	Nītimārga I, Ereyanga Raṇavikramaya flourished among the Gangas of Talkāda and ascended the throne after Rājamalla. He was a patron of Jainism and was styled as "a bee at the Pair of the lotus feet of the adorable Arhat-Bhattaraka " His son Bhūtugendra was also a "parama (devout) Jaina" —Ref. MJ. 26
252	837 & 900 A. D	Śaka era 759 (799) Fālguna Śukla 10: Śri Jinasenāchārya finishes his "Gayadhavala tikā" at Vatagrāma which was left incomplete by his preceptor Śri Virasenāchārya Ref. DM, p 14
253	854 A D	Kāngrabazar Jaina (Pārśvanātha) image inscription dated year 30 in the ancient Sārdā characters of Abhayachandra Sūri —Ep Ind, Vol I p 120
254	860 A D.	Saka 782 Konnur spurious inscription of the Rāṣṭrakuta Mahārājādhirāja Amoghavarsa I, Vīranārāyana, successor of Jagatunga I (Govindrāja III) recording a grant to the Jaina muni Devendra, made by the king, while residing at the capital of Māmgakhaṭa. The inscription professes to be a copy (prepared by the agency of Vīranandin, the son

No.	Period & Date	Events.
		of Meghachandra Traividya) of a copper plate character 3rd. Oct. A C, 860. Ref Ep Ind, VI 29.
255	862 A. D.	Vik · Saṃ · 919. Deogadha Jaina pillar inscription of the time of the Mahārājadhirāja Bhojadeva of Kanauj and of his feudatory Maha Sāmanta Viṣṇu-rāma, governor of Luachechha-gira (Deogaḍha) Ref. Ep. Ind. IV 310
256	814—900 A. D.	The prominent Rāṣṭrakūṭa ruler Amoghavarṣā I flourished Gunabhadra's *Uttarapurāṇa* (898 A D) we know that that king Amogaversa I was disciple of Jinasena, the author of the "*Ādipurāṇa*" (A. D. 783) The Jaina learning of this king is further corroborated by Mahāvīrāchārya, who relates that the monarch was a follower of the "Syādavāda" doctrine Jaina Achārya Ugrāditya records in his work "Kalyāṇakāraka" a discourse on the uselessness of flesh diet, which the author is said to have delivered in the court of Amoghavarṣa I Undoubtedly Amoghavarsa played a great part in making the Jaina religion to progress. Some of the Jaina monastries in Banavasi attribute the authorship of some of their religious rituals to Amoghavarsa In his after-life, it is said that Amoghavasa I, adopted the vows of a Jaina ascetic an decomposed "Ratnamālikā", which was translated into Tibetan language also. —Refs MJ, p. 38. & Altekar, pp 312-313.

No.	Period & Date.	Events.
257	900 A. D.	Krishnarāja II succeeded Amoghavarṣa I in the main line of the Rāṣṭrakûṭas. Amoghavarṣa himself appointed Jaina Guṇabhadra Sûri as his preceptor, who finished his famous work "*Uttarapurāna*" during his reign. It is evident from an inscription at Śravaṇabelagola (1129 A. D) that Jain Scholars were honoured by the king and they always visited his court. Paravādimalladeva was a great Jain disputant at his court. Krishnarāja was also a devout Jain and he gave a grant to a *Basadi* at Mûlgund —Refs. MJ pp. 38-39, Altekar 312' and SJI., III, 3, p. 87
258	915 A D	Indrarāja III ascended the Rāstrakūta throne at Mānyakheta, who was the grand son and heir of Krishṇarāja II He was also a devout Jain like his grand father. —Ref SJI, III, 3, p 88
259	931—932 A. D.	Harisenāchārya of the Punnāta Saṃgha composes the "Brahada-Kathakośa" at Wardhawānapura (Wadhawān). Ref BK., Intro=pp-117-124.
260	938 A. D.	Śaka 860. Sadi plates of the Western Ganga king Buṭuga II recording a grant to a Jaina temple founded by his mistress Devalambā issued from the town of Purikara. Ref. Ep. Ind., III. 176.

No.	Period & Date	Events.
	939—968 A. D.	Krishnarāja III ruled over Rāṣṭrakūṭa empire, who had a great regard to the learned Jain Scholar Vādighangala Bhaṭṭa On his advice king conquered all regions. He patronised the Kannada poet Pouna or Ponnamayya, the author of the famous *Śāntināthāpurāṇa* and *Jinākṣaramāle* in Kannaḍa and gave him the Birud of 'Ubhaya-Kavi-Chakravarti." His younger brother Khoṭṭiga Nityavasa was also a Jain. Ref MJ. 39-40

—To be continued.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देश के लिये ३) और विदेश के लिये ३।।) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं, मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देना चाहिये।

५ प्रकाशन होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देना चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिलालेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबन्ध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहियें। परिवर्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहियें।

लेख टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजना चाहिये।

१ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैनधर्म की उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य करते हैं —

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.
प्रो० जी० खुशाल जैन एम० ए०, साहित्याचार्य
बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.
पं. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न

PRINTED BY [illegible] K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS LTD
[illegible]

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १६ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol XV No. II

Edited by

Prof A. N. Upadhye, M. A, D Litt
Prof G. Khushal Jain, M A. Sahityacharya.
B Kamata Prasad Jain, M.R A S, D.L.
Pt Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAIN SIDDHANTA BHAVANA)

Inland Rs. 3. Foreign 4s 8d Single Copy Rs. 1/8
DECEMBER, 1949.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १६ दिसम्बर १९४९ किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

प्रोफेसर गो० खुशाल जैन एम. ए., साहित्याचार्य

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३।) एक प्रति का १।।)

विषय-सूची

श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १६ } दिसम्बर, १९४९ । पौष, वीर नि० सं० २४७६ { किरण २

सार्वजनीन भाषा की जैन मान्यता

[ले०—श्रीयुत प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला एम० ए०, साहित्याचार्य]

वर्तमान स्थिति—यद्यपि भारतीय विधान परिषद् ने देशकी भाषा तथा लिपि के रूप निश्चित कर दिये है तथापि इतना निश्चित है कि इन निर्णयों ने बहुत कम लोगों को सतुष्ट किया है। यदि हिन्दुस्तानी और रोमन लिपि के समर्थक अपनी पराजय का अनुभव कर रहे हैं तो हिन्दी और नागरी लिपि के पुजारी भी सशक तथा असंतुष्ट हैं। रोमन अंक उन्हे खीर मे ककड़ी के समान लग रहे है। भाषा के प्रश्न को लेकर उठी जटिल समस्याएँ तथा पारस्परिक कटुता आज भी तदवस्थ है। यदि हिन्दुस्तानी के समर्थक हिन्दी के व्यापक रूप के निर्माण की आड में कुछ प्रयत्न कर रहे हैं तो हिन्दी-वाले भी हिन्दी को केवल सस्कृतनिष्ठ बनाने के लिए बद्धपरिकर हैं। स्थिति यह है कि भारत विभाजन जिस प्रकार साम्प्रदायिकता को मिटाने में असमर्थ रहा, ठीक उसी तरह भाषा–लिपि विषयक निर्णय भी अपने साध्य तक नहीं पहुचे है और एक नये भेद के कारण को सभवतः जन्म दे चुके है। यह स्थिति इसलिए आयी कि देश नायकों ने अपनी चिन्ता तथा दृष्टि को राष्ट्र के अतीत तथा अन्तस्तल मे नहीं बैठने दिया। यद्यपि देश को 'असाम्प्रदायिक राष्ट्र' माना गया है तथापि अंग्रेजों द्वारा परिपुष्ट साम्प्रदायिकता आज भी हमारे रोम-रोम में समायी है। हम भारत को सामने रखकर न सोचते हैं, न बोलते हैं और न आचरण ही करते हैं। हमारी चिन्ता, भाषण तथा कार्य के प्रेरक या मूलाधार हिन्दुत्व, इस्लाम, आदि ही बने हुए हैं। यही कारण है कि भाषा के निर्णय के समय भी ये दोनों बातें टकरा गयीं और एक नये प्रच्छन्न प्रकार की साम्प्रदायिकता की प्रेत-छाया में यह सीधा प्रश्न भी जटिलतम बन गया। यदि धर्मनीति

को राजनीति से सर्वथा पृथक् न माना गया होता तो विपुल भारतीय धार्मिक साहित्य उपेक्षा की वस्तु न होकर हमारे विचार, वचन तथा आचरण का मूल स्रोत होता। और उधर दृष्टि जाते ही राष्ट्र मुद्रा के लिए 'अशोक कैपिटल' के समान हमें राष्ट्र भाषा निर्माण का प्रकार तथा रूप भी मिल जाता, क्योंकि भारत में सदैव से विविध जनपदीय भाषाओं के होने पर भी एक सार्वजनीन भाषा चली आयी है।

सार्वजनीन भाषा की आवश्यकता

समय समय पर जब धर्म का उच्छेद होने लगता है तब तब कुछ आत्मा अपना विकास करते हुए तीर्थंकर रूप से जन्म पाते हैं; ऐसी जैन धर्म की मान्यता है। ये तीर्थंकर अपने विवेक और संयत जीवन को बिताते हैं तथा अन्त में दीक्षा लेकर तपस्या करते हैं, और अपने पूर्ण (केवल) ज्ञानी रूप को पाते हैं[1]। यतः लोक सेवा की उत्कट भावना युक्त आत्मा ही तीर्थंकर होते हैं अतः इनके केवली होते ही गुण-ग्राही लोग (देव तथा संसारी) उनके पास पहुँचते हैं। और ऐसी बाह्य व्यवस्था भी करते हैं कि जन साधारण तीर्थंकरों के ज्ञान से लाभ उठा लें। वे एक विशाल सभा (समवशरण) तैयार करते हैं जिसमें आगन्तुकों को सब प्रकार की धर्मलाभ की सुविधाएँ रहती हैं। इतना ही नहीं इस सभा में मुनि आर्यिका, श्रावक-श्राविकाओं के अतिरिक्त पशु पक्षियों के भी बैठने की समुचित व्यवस्था रहती है। पुराणों में प्राप्त समवशरण के वर्णन को देखकर आज की सर्वथा सुसज्जित सभाएँ भी अपूर्ण मालूम देती हैं[2]। लिखा है कि उस समय तीर्थंकरों की साधना के अतिशय[3] के कारण लोक की स्थिति ही बदल जाती है और

---

१ श्री जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टि लक्षण महापुराण पर्व २०, २१।

२ ,, ,, ,, पर्व २२।

३ पुराणों में लिखा है कि प्रत्येक तीर्थंकर की कैवल्य प्राप्ति पर देव लोग निम्न अतिशय करते हैं—

प्रातिहार्याष्टकोपेत मिद्धकल्याणपञ्चकम् ।
चतुस्त्रिंशदतीशेषैरिद्धर्द्धिं त्रिजगत्प्रभुम् ॥ ७ ॥
अर्धमागधिकाकारभाषा परिणताखिल. ।
त्रिजगज्जनता मैत्री संपादनगुणाद्भुत. ॥२५०॥
स्वसिन्नधानसफुल्ल फलितांकुरितद्रुमः ।
आदर्शमंडलाकार परिवर्तित भूतलः ॥२५१॥
सुगंधिशिशिरनुश्चैनुरयायी समीरण ।
अकस्माजगतानंद सपादि परमोदय ॥२५२॥
मरुत्कुमार सम्मृष्ट योजनातर रम्यभू. ।
स्तनिताभर संमिक्त गधाम्बुविरजोऽवनिः ॥२५३॥

लोग सहज ही लौकिक चिन्ताओं से मुक्ति पाकर उपदेश सुन
समवशरण देश-देशान्तरों के विविध वेश-भूषाधारी, अनेक
रहता है। आपाततः उपदेश की भाषा की समस्या सामने खड़ी होती ...
धर्म सभा थी, श्रोताओं के लौकिक स्वार्थों के टकराने की कम से कम संभावना थी, सबको सद्धर्म श्रवण का अनुराग था फलतः उपस्थित भाषा के प्रश्न को हल करते समय अहंकार और आवेश का शान्त रहना स्वाभाविक था।

उपदेश की भाषा—इस शान्त तथा परस्पर के सौहार्द मय वातावरण में जब प्रधान श्रोता (गणधर) आ जाते है तो भगवान तीर्थंकर का भाषण एक ऐसी भाषा में प्रारम्भ हुआ जो एक होकर भी समस्त मनुष्यों की भाषा थी, जिसमे अनेक साधारण भाषाओं (बोलियों) का भी समावेश था और शंका तथा विरोध को समाप्त करती हुई[१] वह सत्य ज्ञान को कराती थी, यह सब तीर्थंकर की महिमा थी। तीर्थंकर की स्तुति करते हुए आगे इन्द्र कहता है—"हे देव आपकी मनोहर भाषा सांगोपांग तत्वज्ञान से पूर्ण है, वह समस्त भाषाओं और बोलियों का दर्पण है, विवेकी लोगों को अविलम्ब तत्त्व ज्ञान कराती है और अपनी स्याद्वाद नीति के द्वारा अन्य मतों का अन्धकार दूर कर देती है[२]। इस प्रकार यह बताया गया है कि तीर्थंकर के उपदेश की भाषा बोलने समझने तथा लालित्य मे सब को इष्ट थी किसी भी श्रोता को समझने मे कोई कठिनाई नही हुई थी[३]। इस भाषा का नाम क्या था इसका उत्तर (अर्ध-मागधिका) भी इसी ग्रन्थ के २५ वें[४] पर्व के २५० वे श्लोक में दिया है।

मृदुस्पर्श सुखाम्भोज विन्यस्तपदपंकज ।
शालिव्रीह्यादिमपक्ष वसुधामूचितागम. ॥२५४॥
शरत्सरोवरस्पर्द्धि शयामोदाहृतसन्निधिः ।
ककुबन्तरवैमल्य सदर्शित समागमः ॥२५५॥
सुसत्परस्पराह्वान ध्वनिरुद्ध हरिन्मुख ।
सहस्रार स्फुरद्धर्म-चक्ररत्न पुरःसर. ॥२५६॥ पर्व २५।

१—"एकतयोऽपि च सर्वनृभाषा.
सोन्तरनेष्ट बहुश्च कुभाषा. ।
अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्वं
बोधयतिस्म जिनस्य महिम्न। ।७८।" पर्व, २३।

२—"त्वद्दिव्य वागियमशेषपदार्थगर्भा
भाषान्तराणि सकलानि निदर्शयन्ती ।
तत्त्वावबोधमविरात्कुरुते बुधाना
स्याद्वादनीति निहतान्यमतान्धकारा ।१५४।", पर्व, २३।

३—श्लोक ६९—७४, पर्व २३। ४—श्लोक २५०, पर्व २५।

अर्धमागधीका स्वरूप—बहु प्रचलित मान्यता यही है कि समवशरण में 'मागध जाति के देव होते थे जो कि भाषान्तरकार (Interpreter) तथा ध्वनि विस्तारक (Loud speaker) का काम करते थे। जिससे तीर्थ कर का उपदेश उनके द्वारा श्रोताओं तक पहुंचता था। अतः भाषा का नाम अर्द्धमागधी पड़ गया था। किन्तु भगवज्जिनसेनाचार्य ऐसे प्रचीनतम प्रामाणिक आप्तने उसको नहीं माना है। उनके मत से "दिव्य ध्वनि (अर्धमागधी) को देवताओं द्वारा बोली गयी मानना असत् है (क्योंकि ऐसा मानने पर) अर्हत्प्रभु के गुण का लोप हो जायगा"। इतना ही नहीं वे तो स्पष्ट कहते हैं कि "वह भाषा अक्षरमयी ही होती है [क्योंकि] वर्ण समूह के बिना ससार में अर्थ का ज्ञान नहीं होता है" [१]।

भगवज्जिनसेन का यह कथन अनायास ही हमें भगवान कुन्द-कुन्द के दर्शन प्राभृत' में आये जिन प्रतिमा के वर्णन की ओर ले जाता है। इसमें स्पष्ट कहा है "एक हजार आठ शुभलक्षण युक्त, चौंतीस अतिशयों से विभूषित जिनेन्द्रदेव जब तक बिहार करते रहते हैं तब तक की उसी मूर्ति को 'स्थावर-प्रतिमा' कहा है [२]। इन चौंतीस अतिशयों में से देव कृत चौदह अतिशय का व्याख्यान करते हुए टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि ने लिखा है" अब देवों द्वारा किये गये चौदह अतिशय कहता हूं। यथा 'सर्वार्धमागधिका' भाषा। यह कौनसी भाषा है ? तीर्थंकर की आधी भाषा मगध देश की भाषा होती है और आधी में सब भाषायें होती है। आश्चर्य की बात तो यह है कि टीकाकार ने अपने समय में प्रचलित व्याख्या देखकर भी भाषा के देवकृतत्व को निभाने के लिए दूसरी मान्यता पर प्रकाश डालते हुए उस समय संस्कृत को प्राप्त पूज्यता प्रधानता का संकेत करते हुए लिखा है—"तो इसे देवकृत क्यों कहते है ? क्योंकि मगध देवों के होने पर वह होती है और यह भाषा संस्कृत भाषा' होती है [३]।

[१]—' देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद्देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात् ।
साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात् । ७३ ।''
(आदिपुराण पर्व २३)

[२]—' विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठ सुलक्खणेहिं संजुत्तो ।
चउतीस अइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया ।३५। '
(दर्शनप्राभृत, पृ० २७)

[३]—"देवोपनीतश्चतुर्दशातिशयाः । तथा हि । सर्वार्धमागधिका भाषा । कोऽयमर्थः । अर्द्ध भगवद्भाषया मगधदेशभाषात्मकम् । अर्धं च सर्व भाषात्मकम् । कथमेव देवोपनीतत्वमिति चेत् । मगधदेवसन्निधाने तथा परिणामतया भाषया—संस्कृतभाषया प्रवर्तते ।''
(दर्शनप्राभृत, पृ० १८)

इस वर्णन से स्पष्ट है कि भगवज्जिनसेन का मत सबको इष्ट था। भगवान् की भाषा का रूप ही ऐसा होता था जिसमें आधे (अधिक) शब्द तथा अलंकार मागधी भाषा के होते थे और शेष अन्य जनपदीय भाषाओं के होते थे। यही कारण है कि उसे स्पष्ट रूप से अर्द्धमागधी [1] अथवा अर्धमागधिका [2] अथवा सर्वार्धमागधी [3] भाषा कहा है। जहां तक इस युग के अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी का सम्बन्ध है उन्हें वर्तमान बिहार में विपुलाचल (राजगृह) पर्वत पर कैवल्य प्राप्त हुआ था। और उनका पहिला प्रवचन श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को वहीं हुआ था। फलतः क्षेत्र काल तथा अन्य परिस्थितियों पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि सभा के श्रोताओं में यद्यपि विविध जन पदों तथा दर्शनों [4] के लोग उपस्थित थे, तथापि मगध के भी लोगोंका बाहुल्य था। श्रोताओं के बहुमत के साथ साथ व्यवस्था भी सम्भवतः मागधों के हाथ में रही होगी। इतना ही नहीं उस समय का मगध संस्कृति और समृद्धि की दृष्टियों से अन्य जनपदों का अगुआ माना जाता था फलतः श्री श्रुतसागर सूरि की व्याख्या की 'अर्धमागधी' भाषा भगवान महावीर के प्रवचन की भाषा बन सकी इसमें विशेष आश्चर्य नहीं, अपितु ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

छद्मस्थ विवेचन——शास्त्रों के उक्त विवेचन पर से निम्न निष्कर्ष निकालते हैं:— १——भगवान महावीर ने अपने समय में सुप्रचलित विविध भाषाओं में से किसी एक भाषा को पूर्ण रूप से नहीं अपनाया था। २——उनकी भाषा में मागधी के शब्द, व्याकरण तथा अलंकारों की बहुलता थी। ३——तथापि वह सर्वभाषा स्वभावकम् [5] थी। अर्थात अन्य जनपदीय भाषाओं का उसमें सन्तुलित रूप से समावेश था यही कारण है कि वह 'निःशंक रूप से सबको तत्त्वज्ञान देती थी। ४——विविध भाषाओं के शब्द का समावेश करने में उच्चारण, अर्थबोधकता तथा सुकरता पर ही दृष्टि रखी गयी थी अन्यथा वह 'विविध भाषाओं का निदर्शन' नहीं ही होता। ५——उसका रूप निश्चित करते समय उपस्थित सभ्यों की मान्यता, जनसंख्या, आदिका विचार नहीं किया गया था। किसी सम्प्रदायको प्रसन्न करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। ६——बहुमत ने अपनी भाषा को दूसरों पर लादने का प्रयत्न नहीं किया था अन्यथा भाषा विशुद्ध

१——भाषा (हिन्दी) के विद्वानों द्वारा।

२——भगवज्जिनसेन। ३——श्रीश्रुतसागरसूरि।

४——भ० महावीर के प्रधान श्रोता गौतम गणधर भी जैन न थे।

५——"तवचागमृतं श्रीमत्सर्व भाषास्वभावकम्।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत् प्राणिनो व्यापि संसदि।" बृहत्स्वयंभूस्तोत्र।
यह प्राचीनतम दिव्यध्वनि का वर्णन है।

'मागधी' होती। ७—नूतन युग के प्रारम्भ के साथ-साथ लोगों ने नयी तथा व्यापक दृष्टि को अपनाया था बद्धमूल भ्रान्त संकीर्णताओं को छोड़ दिया था यही कारण है कि श्री जिनसेनाचार्य ने उसे 'भारती' ¹ नाम से कहा है।

वर्तमान राष्ट्र भाषा की समस्या—विगत पचास वर्षों मे जिस प्रकार सार्वजनीन (राष्ट्र) भाषा का प्रश्न उठा तथा उसका जो समाधान किया गया उसे देखने से ही साफ हो जाता है कि ढाई हजार वर्ष पहिले वर्ते गये प्रकारों का हमे पता भी नहीं है², फलतः उनपर दृष्टि रखकर निर्णय करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यही कारण है कि समस्या गहनतर होती गयी और निर्णय सर्वसम्मत न हो सका। एक पक्ष स्व० राष्ट्रपिता द्वारा कहे गये हिन्दुस्तानी—पक्ष का ही समर्थक रहा। उसने क्षण भरके लिये भी यह न सोचा कि पू० गाँधीजी ने किन परिस्थितियों मे हिन्दुस्तानी की सलाह दी थी। यदि इतना सोचा गया होता तो समझ में आता कि यतः राष्ट्रपिता भारत की स्वतन्त्रता के लिये हिन्दू (वैदिक)—मुस्लिम ऐक्य को अपरिहार्य मानते थे। फलतः वे इसके लिये सादे कागज पर दस्तखत करके मुसलिम नेताओं को देने के लिये भी तैयार थे। जबकि संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का—मुसलिम बहुमत शासक अंग्रेजों के संकेत पर कल्पित कारणों से भी देशके टुकड़े करने पर आमादा था। यही कारण है कि पू० गाँधीजी ने केवल मुसलमानों को न बिचकने देने के लिये 'हिन्दुस्तानी' का सुझाव दिया था। निश्चित ही यह सुझाव देते समय भारत की विविध समुन्नत प्रान्तीय भाषाओं का ख्याल तक नहीं किया गया था। किन्तु जब हिन्दी—उर्दू के निश्चितरूप हिन्दुस्तानी में कुछ किताबें छपीं तब उसकी अस्वाभाविकता 'हाथ का कंगन' हो गयी। उसमे उच्चारण, अर्थ-संगति, सुकरता, आदि का तनिक भी ध्यान न करके साम्प्रदायिकता को अमर कर दिया गया था।

ऐसे एकांगी तथा उत्तेजना के वातावरण में साम्प्रदायिकताश्रय प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। दूसरे वर्गने स्वाभाविकरूप से विकसित (विविध भाषाओं के शब्दयुक्त) 'हिन्दी' को संस्कृत निष्ठ बनाकर राष्ट्रभाषा के पद पर बैठाने की ठानी। हिन्दी तथा हिन्दी को संस्कृतनिष्ठ बनाने मे 'हिन्दू' तथा हिन्दुत्व का मोह भी कम जोर नहीं मार रहा है। आजके वैदिक तथा अमुसलिम भारती क्षण भरको भी यह नहीं सोचते कि हमारा आदि नाम भारती था और हमारे धर्म वैदिक, जैन, बौद्धादि

१—महापुराण श्लो०, पर्व २५। 'भारतीगीः सरस्वती।' धनञ्जय, अमरकोषादि।

२—लेखक ने अपने विचार मा० अध्यक्ष भा० विधानपरिषद् तथा मा० प्रधान मन्त्रीको भेजे थे जिनकी केवल प्राप्ति स्वीकार की गयी थी।

थे तथा हमारी राष्ट्रियता 'भारतीय' या भारती थी तथा होनी चाहिये। हमें अज्ञ मुसलिम विजेताओं ने हिन्दू, हमारे देशको हिन्द तथा हमारी भाषा को हिन्दी कहा था।[1] यह शब्द व्यावर्तक (Negative) था जिसका तात्पर्य था गैर मुसलिम (वैदिक-जैन-बौद्धादि)। इसी प्रकार हिन्द (सिन्ध) हमारे प्रान्त का नाम था पूर्ण देशका नहीं और भाषा 'भारती' थी। इतना ही नहीं फूटको चिरस्थायी बनाकर अनन्त काल तक भारतको दास बनाये रखने के इच्छुक अंग्रेजों ने इस हिन्दू-मुसलिम भेदको इतना परिपुष्ट किया है कि हम क्षणभरके लिये नहीं सोचते कि ये मान्यताएँ भ्रान्त एवं निराधार है। फलतः हिन्दी के समर्थकों मे भी आग्रह ने घर किया।

यद्यपि आज अंग्रेज हमारे शासक नहीं है वे चले गये है तथापि उनके द्वारा स्थापित हिन्दू-मुसलिम माया हमारे रोम, रोम मे समायी है। इसके मोह में जन-साधारण को आ जाना तो स्वाभाविक है किन्तु जब दिग्गज विद्वानों को इसमें व्यामोहित देखते है तो आश्चर्य होता है। पाश्चात्य विद्वानों की देखादेखी हमारे दिग्गजों ने भी 'हिन्दू दर्शन', 'हिन्दू संस्कृति', आदि मान्यताओं को स्वीकार कर लिया है। वे बानरों के मृत बच्चे के समान इसे चिपटाये फिरते हैं और इसे ही अपने देश, संस्कृति और धर्मका नामरूप माने बैठे है। किस प्रकार इस मान्यता में निहित विषने हमारे राष्ट्रिय जीवनको दूषित कर दिया है तथा इसने कितना बडा अपमान किया है इसपर उनकी भी दृष्टि नहीं जाती। हम एक राष्ट्र तथा राष्ट्रियता विषबीज के विनाश से दुखी है, किन्तु उसकी भूत मान्यता को नही छोडना चाहते। हमारी चिन्ता का आधार जबतक हिन्दुत्व और इस्लाम है, भारत-भारतीयता नही तबतक हमारी राष्ट्रिय जीवन विषाक्त ही रहेगा और हम विभक्त रहते हुए बारबार विनष्ट ही होगे। फलत; जितनी हानि हिन्दुस्तानी के समर्थकों ने की है हिन्दी के पुजारी भी उससे कम करने नहीं जा रहे हैं, क्योंकि हिन्द-हिन्दू-हिन्दी ऐतिहासिक दृष्टि से अज्ञताजन्य है तथा इनका कोई शास्त्रीय आधार तो है ही नहीं।

उभय भ्रान्ति—मेरी दृष्टि से भाषा का प्रश्न निष्ठा (लोयलिटी) की समस्या है। यह सुविदित तथ्य है कि शब्दों को संगति और व्यञ्जना मानव की चिन्ता को गति देती है। वर्तमान विश्व के सभी समुन्नत राष्ट्रों का नाम, राष्ट्रियता तथा भाषा में एकता है। यही कारण है कि तत्तत् देशों के निवासी देशके सामने धर्म प्रान्तादि को भूल जाते हैं और देशके लिये सर्वस्व निछावर कर देते हैं। दूसरी ओर हमारा लगभग सौ वर्ष का इतिहास है। न हमारी कोई एक राष्ट्रियता थी और न था एक

1—'हिन्द-हिन्दू-हिन्दी का अतीत' नामक लेख।

राष्ट्र जिसके प्रति हमारी प्रथम आस्था होती, हमें हिन्दुत्व और इस्लाम के नाम तथा भाषा द्वारा सदैव ध्यान दिलाया गया फलतः तथोक्त धार्मिक स्वतन्त्रता आदि में ही हम सतुष्ट रहे और अंग्रेजी राज को रामराज मानते रहे। अन्त में धर्मभेद को राष्ट्रिय तथा सांस्कृतिक भेद मानकर देशके टुकड़े टुकड़े करके भी होश मे नहीं आये हैं। यदि हिन्दी तथा हिन्दुस्तानीवाले वर्ग भारत-निष्ठ है तो कोई कारण नहीं कि वे एक ऐसी भाषा पर जोर दें जिसकी सर्वोपरि निष्ठा किसी एक धर्म के प्रति रही है। धर्म 'जीव उद्धार' का मार्ग है उसे अभ्युदय में बाधक नहीं होना चाहिये। इससे भी बड़े महत्व की बात यह है कि भारत की जनपदीय बंगाली-बंगला, गुजराती, तामिल, आदि भाषाओं ने मानव के ज्ञान को ही नहीं बढ़ाया है अपितु हिन्दी हिन्दुस्तानी से काफी पहिले राष्ट्रियता का उद्बोधन किया है फलतः उनके सुपुष्ट शब्दभंडार और अर्थव्यञ्जकता उपेक्षणीय नहीं है। भूल केवल हिन्दू-मुसलमानों को मानकर किये गये देशके बंटवारे की भाँति दो भाषाओं के आधार पर देशकी भाषा को निश्चित करना उस भ्रान्ति को दुहराना है जिसके परिणाम विभाजन से भी अधिक घातक हो सकते है।

जैन मान्यता का उपयोग—यह देशका सौभाग्य था कि पंडित नेहरू, आदि की दृष्टि राष्ट्रमुद्रा को खोजते समय ब्रिटिश तथा मुसलिम कालों में न उलझी अन्यथा वह भी मतभेदका अखाड़ा बन जाती। उनकी दृष्टि उस कालतक गयी जब भ्रान्त हिन्दू-मुसलिम समस्या थी ही नहीं। यह भी संतोष की बात है कि देशको मुसलिम विजय के पहिले का नाम भारत प्राप्त हो सका है। इसी प्रकार राष्ट्रभाषा के नाम तथा रूपकी खोज के लिये यदि उसी लिखित अर्द्धमागधी की परम्परा पर दृष्टि डाली जाय तो सतरसौ वर्ष की भ्रान्ति से छुट्टी मिलने मे विलम्ब न लगेगा। सहज ही हम अर्द्धमागधी के निर्मापक सात प्रकारों द्वारा अपनी 'भारती' भाषा को साकार कर सकेंगे। इस प्रकार से एक व्यापक भाषा बनाने का प्रयोग इस युगको, क्या हमारे देश के लिये भी नया नहीं है। पू० राष्ट्रपिता ने आदर्श (एक) गुजराती का आविर्भाव भी इसी प्रकार किया था और 'कच्छी, सौराष्ट्री, भारुची, आदि भाषाओं की सत्ता को रखते हुए भी अखण्ड गुजराती को भारत की समुन्नत भाषा बनने का अवसर दिया था। उक्त सात बातों पर दृष्टि रखते हुए भारत की समस्त भाषाओं के शब्द भंडार तथा अलंकार, व्याकरण नियमों में से चयन किया जाय और इस प्रकार प्राप्त शब्दों तथा नियमो को 'भारती' का मूलाधार मान लिया जाय। भाषाको भारती मानते ही हिन्दू-मुसलिम भेदका अन्तिम किला ढह जायगा। जर्मन—जर्मनी, फ्रेन्च—फ्रान्स, इंगलिका—इंगलैण्ड, आदि के समान भारती और भारत इस देशके

नागरिकों की सतत चिन्ता के विषय बन सकेंगे। उनकी दृष्टि हिन्दुत्व और इस्लाम पर ही न रुककर भारत के रूप में चलेगी। एक राष्ट्रियता अपने आप सजीव हो उठेगी और संकीर्ण धार्मिकता के विषबीज से उत्पन्न भाषा तथा संस्कृति का भेद पुनः देशको खतरे में न डाल सकेगा।

एक बाधा—अधिकांश विद्वानों का मत है कि भाषाएँ न बनाये बनती हैं और न चलाये चलती है। मेरे ख्याल से यह निष्कर्ष आंशिक सत्य है। जहाँतक बोली का सम्बन्ध है यह किसी हदतक सत्य है किन्तु विश्व की सभी भाषाएँ और विशेषकर उनके व्याकरण, कोश, तथा अलंकार तो बुद्धिपूर्वक ही बनाये तथा चलाये गये हैं। भारत में अंग्रेजी का प्रचलन तो एक ऐसा दृष्टान्त है जो उस भाषा का चलना भी सुशक्य सिद्ध करता है जिसका भूमि में कोई आधार ही नहीं था। फलतः भारत की विविध भाषाओं के आधार से बनी भारती के निर्माण और व्यवहार में कठिनाई की कल्पना कल्पनामात्र है।

हिन्दी को ही अर्धमागधी के तरह की राष्ट्रभाषा क्यों न बनाया जाय ? इसके विरुद्ध पहिली बात तो यह है कि यह विद्वेष भी जुड़ा हुआ है। इसे लेकर इतनी खींचा तानी हुई है कि इसके रखने पर अन्य भाषा भाषियों के मनमें पराजय तथा बलात्कार का भाव उठना ही है। फलतः इसे त्यागकर बहुमत को अपनी उदारता का ही परिचय नहीं देना चाहिये अपितु बारह सौ वर्ष बाद अपना नाम तथा रूप भी प्राप्त करना चाहिये।

प्रान्तीय भाषाओं की उपेक्षा की संभावना भी निराधार है क्योंकि प्राचीन युग में भी विविध प्राकृतों तथा संस्कृत का परिपूर्ण विकास हुआ था। हाँ, इतना निश्चित है कि अपनी सरलता एवं सुकरता के कारण आजकी हिन्दी के शब्दादि की भारती में बाहुलता हो सकती है पर इतना भी निश्चित है कि उक्त व्यापक दृष्टियों के कारण किसी भी भाषा के एक शब्द के भी साथ अन्याय न होगा। अपनी विशुद्ध योग्यताओं (उच्चारण, अर्थाभिव्यक्ति तथा सगति) के आधार पर ही वह 'भारती' मे स्थान पा सकेगा।

फलतः भारत के प्रत्येक नागरिक को अपनी भूमि (देश) के प्रति एकनिष्ठ तथा उद्बुद्ध बनाने के लिये आवश्यक है कि राष्ट्रनायक अर्द्धमागधी के समान 'भारती' का निर्माण तथा प्रचलन करें। ऐसा होने पर ही प्रत्येक भारतीय आजतक प्रचलित संकीर्ण साम्प्रदायिक विचारधारा से मुक्त होकर भारती के रूप में विश्व के सामने

खड़ा हो सकेगा। उसका धर्म या जाति उस भूमि के प्रति विश्वासघात न करने देगे जिसकी मिट्टी से उसका तन, मन, धन बना है। वह स्वयं कह उठेगा 'यदि मैं भारती भाषाओं, वेशभूषाओं रस्मरिवाजों मे घृणा करना या बचना हू तो मेरी भारत-निष्ठा की घोषणा खोखली है। मुझे धर्म, जाति का विचार किये बिना प्रत्येक भारती भावको अपनाना चाहिये।

जैन साहित्य में लंका, रत्नद्वीप और सिंहल ।

[ले० श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, D. L., M. R. A. S.]

जैन ग्रंथों में अनेक ऐसे देशों और नगरों का वर्णन मिलता है, जिनका पता आधुनिक जगत में लगाना साहित्य के लिये महत्वपूर्ण है। लंका, रत्नद्वीप और सिंहल ऐसे क्षेत्र हैं जिन पर विद्वानों ने अधिक लिखा है, परन्तु जैन साहित्य में उनकी स्थिति क्या है ? इसको शायद ही किसी विद्वान् ने टटोला है। अतः प्रस्तुत लेख में इस विषय पर प्रकाश डालना अभीष्ट है।

लंका

आजकल अधिकाश लोग भारत से दक्षिण की ओर समुद्र में स्थित सीलोन (Ceylon) को ही लका मानते हैं[1]। किंतु कुछ विद्वज्जन इससे सहमत नहीं हैं। वह सीलोन को रावण की लका नहीं मानते, प्रत्युत सीलोन को सिंहल अथवा रत्नद्वीप समझते हैं। रावण की लका के विषय में विद्वानों में मतभेद है। डॉ० किबे उसे मध्य भारत में अमरकण्टक पर्वत की शिखिर पर अवस्थित बताते हैं और स्व० डॉ० जैकोबी उसे आसाम में ख्याल करते थे। एक अन्य विद्वान रावण की लका को मलयद्वीप (Maldiva Islands) में घोषित करते हैं[2]। किन्तु जैन साहित्य में लका का जो वर्णन मिलता है उससे यह सिद्ध नहीं होता कि लका अमरकण्टक के शिखिर पर या आसाम में अथवा मालद्वीप में कहीं पर अवस्थित थी।

लका का प्राचीन उल्लेख 'पउमचरिय' और 'पद्मपुराण' में मिलता है। श्वेताम्बरीय 'निशिथ-चूर्णि' में भी लका का उल्लेख है। 'वसुदेवहिण्डि' ग्रन्थ में लिखा है कि जटायु को मारकर रावण किष्किन्धा गिरि को पार करके लका पहुँचा था। 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र' में बताया है कि लवण समुद्र के मध्य राक्षसद्वीप नामक एक द्वीप था, जिसके मध्यभाग में त्रिकूट पर्वत स्थित था। इस पर्वत की शिखिर पर लंका नगरी अवस्थित थी[3]। 'पउमचरिय' और 'पद्मपुराण' में भी यही बात कही गई है। वहा लिखा है कि द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ जी के समवशरण में विजयार्द्ध की दक्षिण श्रेणी से राजभ्रष्ट होकर मेघवाहन नामक राजा पहुँचा था। समवशरण में उसकी भेंट राक्षस देवों के इन्द्र भीम और सुभीम से हुई, जिन्होंने प्रसन्न होकर उसे लवण समुद्र के अनेक अन्तरद्वीपों में से एकद्वीप दिया; जो राक्षसद्वीप कहलाता था। इस द्वीप के मध्य में त्रिकूटा-चल पर्वत था, जिसकी तलहटी में लंका नगर बसा हुआ था। लका दक्षिण दिशा का तिलकरूप नगर था। मेघवाहन वहा राज्याधिकारी हुआ था और पाताल लंका पर भी शासन करता था।

१—नंदूलाल डे जागरीफिकल डिक्शनरी ऑव एंशियेंट इंडिया, पृ० ११३

२—इंडियन हिस्टारीकल-क्वारटर्ली, भा० २ पृ० ३५५।

३—श्रीजगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशियेन्ट इंडिया, पृ० ३०६

यह धरनी के बीच में थी और अलकारोदयपुर उसकी राजधानी थी, लंका पहुँचने के लिये मेघवाहन को श्याम वर्ण का लवण समुद्र पार करना पड़ा था'। इस कथन से स्पष्ट है कि लका भारत से दक्षिण दिशा में लवण समुद्र के दूसरे ओर पर अवस्थित थी और उसतक पहुँचने के लिये पाताल लंका को पार करना होता था। अमरकण्टक पर्वत पर अथवा आसाम में लका मानने से लवण समुद्र नहीं मिल सकता और वह भारत से दक्षिण में एक स्वतन्त्र द्वीप हो सकता है। मलयद्वीप (Malaliv) इस समय एक द्वीप अवश्य है; परंतु एक समय वह दक्षिणभारत के मलय पर्वत से सम्बद्ध था। अब यह पृथ्वी जो मलयद्वीप से अबीसिनिया तक विस्तृत थी, भारतीय महासागर के गर्भ में विलीन हो गई है। इस कारण मलयद्वीप को राक्षस द्वीप और लका नहीं माना जा सकता। भारतीय साहित्य में उसका पृथक् नाम मलयद्वीप मिलता है। अत हमें राक्षस-द्वीप का पता कहीं अन्यत्र लगाना उचित है।

'भ० पार्श्वनाथ' का जीवन चरित्र लिखते हुए हमने इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला था और उपरान्त जो भौगोलिक वर्णन जैन पुराणों में मिलता है, उससे भी उसका समर्थन होता है। यूनान देश के विद्वानों ने मिश्र देश के सिकन्दरिया (Alexandria) नगर के आसपास के प्रदेश का उल्लेख रॉकोटिस (Rhacotis) नाम से किया था। यूनानी भूगोलवेत्ता केड्रेनस (Cedrenus) उसी स्थान को 'रॉखास्तेन' (Rhakhasten) बतलाता है। युरपीय विद्वानों ने इस 'राखास्तेन' प्रदेश को ही राक्षस स्थान माना है[2]। भूगोलवेत्ता प्लिनी (Pliny) ने लिखा है कि मेसफीस (Mesphees) नामक मिश्र के एक प्राचीन राजा ने वहां दो चोकोन स्तंभ (Obeliks) बनवाये थे। वहां का त्रिशृङ्ग पर्वत जैन शास्त्रों का त्रिकूटाचल पर्वत हो सकता है। मिश्र का यह भाग अपने वनों के कारण अटवी या अरण्य कहलाता था। लका में भी वनों का उल्लेख है। लका के नीचे पाताल लका थी, जिसमें पुष्पकवन, महाकमलवन तथा मणिकान्त पर्वत अवस्थित थे। मिश्र के नीचे अबीसीनिया और इथ्यूपिया नामक प्रदेश पाताल लका हो सकती है, जिसके पश्चात समुद्र आता है। इथ्यूपिया कमलों के वन द्युतिमान पर्वत भी सारे और नील नदी के सगम के पास मिलते हैं। इथ्यूपिया में एक समय 'जिम्नोसूफिस्ट, (Gymnosophists=जैन श्रमण) विचरा करते थे, यह भी यूनानी लेखक बताते हैं[3]। राम-रावण युद्ध में जिन स्थानों का उल्लेख है[4], वे भी मिश्र में लका की स्थिति मानने से मार्ग में मिल जाते हैं। मिश्र आज भी अपने सोने के लिए प्रसिद्ध है। अब देखने की आवश्यकता है कि राक्षस वंश के राजाओं की वंशावली

१—पद्मपुराण, पृ० ५२—५६०

2—Asiatick Researches Vol III. pp 100—189.

3—Asiatick Res. III, 106

४—विशेष के लिये हमारी पुस्तक "भ० पार्श्वनाथ पृ० १५०—२०२ देखें।

में जिन राजाओं के नाम हैं उनमें कोई नाम राक्षसवंश के राजाओं के अनुसार है या नहीं ? मिश्र के प्राचीन राजाओं में रेमसेस (Ramses) नामके राजा का उल्लेख है और कोई विद्वान् उनको रामचन्द्र जी से अभिन्न बताते हैं। किन्तु मिश्र का इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि रेमसेस प्रथम ने ईस्वी सन् से १४६२ वर्षों पहले राज्याधिकार प्राप्त किया। अतः मिश्रदेशीय रामसेस अयोध्या नरेश रामचन्द्र नहीं हो सकते। उनके नाम की स्मृति में मिश्र के १६ वें राजवंश के आदि राजा का नाम रामसेस रक्खा गया होना सभव है। मिश्र में मानवों के शासनाधिकारी होने के पहले अर्थात् ५७०४ वर्ष ई० पूर्व के पहले देव-वंश को राज्याधिकारी लिखा है। हो सकता है कि विद्याधर-देवों को लक्ष्य कर यह वंश 'देव' कहलाया हो। राक्षस-देवों इन्द्रों ने ही मेघवाहन को राक्षस द्वीप का शासक बनाया था। इस वंश में सूर्य, शनि, मनेस आदि नामके राजा हुए थे। उनके नाम प्रायः सूर्य के पर्यायवाची होते थे। 'पद्मपुराण' वर्णित विद्याधर राजा मेघवाहन रामायण काल से भी पहले के है। उनके वंशजों में भानुरक्ष, सुदेव, मनोह्लाद आदि नामके राजाओं का उल्लेख है। हो सकता है कि सूर्य (=भानुरक्ष), शनि (सुदेव), मनेस (मनोह्लाद) एक व्यक्ति हों। किन्तु इस विषय में कुछ भी निश्चयात्मक तबतक नहीं कहा जा सकता, जबतक कि मिश्र के प्राचीन देववंश का पूरा विवरण ज्ञात न हो। इतना स्पष्ट है कि मानवों से पहले मिश्र में 'देवों' का शासन माना जाता था[1]।

पहले मिश्र देश का नाम भी ईजिप्ट (Egypt) था। एक पुराने जमाने मे मिश्र देश में फिनिक, सिरीय, असिरीय, बाबिलनीय, कालडीय, मिदीय, पार्थीय और भारतीय वणिकों का मिलन और मिश्रण हुआ था, इस मिश्रण के कारण ही इस देश के लोगों को मिश्र कहने लगे थे। इससे पहले यह देश "आगुप्त" अर्थात् "सुरक्षित" रूप में प्रख्यात था। आगुप्त का ही अपभ्रंश रूप ईजिप्त है। इसदेश मे मानवों के आदि राजा मेना (मनु) ने राज्य स्थापित करके किले बनवाये थे, जिससे यह देश सुरक्षित हो गया और आगुप्त कहलाया[2]। जब इस पर देव लोगों का शासन था, तब यह क्या कहलाता था, इसका कुछ पता नहीं। हो सकता है, तब यह राक्ष्यस्तेन (राक्षस स्थान) कहलाता होगा, जैसे कि यूनानी बताते है, साराशतः लंका और राक्षस स्थान की स्थिति का ठीक पता लगाने के लिये गहन अध्ययन की आवश्यकता है।

जहा भी लंका रही हो, वह थी एक महान नगरी। जैन शास्त्र उसे उत्तुंग राजमहलों और नयनाभिराम जिन मदिरों से अलंकृत बताते है। लका के जिनालय में श्री शान्तिनाथ तीर्थंकर

१—मिश्र के राजवंशों के परिचय के लिये 'हिन्दी विश्वकोष" भा० १७ पृ० ६०१ पर मिस्र शब्द देखो।

२—हिन्दी विश्वकोष, भा० १७ पृ० ६०१

की मनोज्ञ प्रतिमा थी—रावण उस प्रतिमा के समक्ष बैठकर मंत्र साधना करता था[1]। इससे स्पष्ट है कि राक्षसद्वीप और लंका में जैनधर्म का प्रचार प्राचीन काल से था। विद्याधरवंश के राक्षस राजाओं ने आदि में वहाँ शासन किया था। उनमें मेघवाहन, महारक्ष, अमररक्ष, भानुरक्ष, आदित्यगत आदि अनेक राजाओं ने अपने अन्तिम जीवन में जैन मुनिपद धारण किया था। अतः स्पष्ट है कि जैनधर्म का प्राबल्य इस देश में दीर्घकाल तक रहा था। जैन कथा ग्रन्थों के वर्णन से उसका आभास मिलता है।

लंका के प्रसिद्ध नरेश रावण भी जिनेन्द्रभक्त थे। वह विद्याधरवंश का नर-रत्न था। कैलाश, पर्वत पर उसने विद्यासिद्धि के लिये मंत्रसाधना की थी जिस पर धरणेन्द्र ने आकर उनको बहुरूपिणी आदि विद्याएँ दी थीं[2]। उस विद्या के बल से वह दशग्रीव दिखता था। रावण सीताजी के रूप पर मुग्ध होकर उनका अपहरण कर ले गया, परन्तु फिर भी वह धर्म से सर्वथा च्युत नहीं हुआ। उसने कोई बलात्कार नहीं किया। रावण निरन्तर धर्माराधना किया करता था। अपनी पट्टरानी मंदोदरी की धर्मेच्छा की पूर्ति करने के लिये उन्होंने इन्द्र की आराधना करके एक रत्न-प्रतिमा प्राप्त की थी। मन्दोदरी उस प्रतिमा की त्रिकाल पूजा किया करती थी। जब रावण की पराजय पर लंका का राजभंग हुआ तो उस समय उस रत्न-प्रतिमा का प्रवाह सागर में कर दिया गया था। उपरान्त काल में कन्नड देश के कल्याण नगर के नरेश शंकर को इस मूर्ति का पता चला। उन्होंने पद्मावती देवी की आराधना करके उस मूर्ति का समुद्र की गर्त से प्राप्त किया और अपने नगर में लाकर स्थापित किया। यह प्रतिमा माणिक्य देव के नाम से प्रसिद्ध हुई थी[3]।

श्रीपुर अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिमा के विषय में कथानक है कि मालि-सुमालि नामक विद्याधर रावण दशग्रीव की लंका को गये तो वहां उन्होंने विद्याबल से वह प्रतिमा बालु से तैयार की थी। वहां से जाते हुये वह प्रतिमा सिरिपुर में अन्तरीक्ष में ठहर गई। तबसे वह वहां अतिशय संयुक्त पूजी जा रही है[4]।

सिरिपुर के पास तेरपुर की गुफाओं में भ० पार्श्वनाथ की प्रतिमा भी लंका से लाकर विराजमान की गई थी। तेरपुर-नरेश नील महानील के मित्र अमितवेग ने वह प्रतिमा लंका से लाकर वहां स्थापित की थी[5]। 'करकंडु चरित्र' में लिखा है कि अमितवेग और सुवेग को लंका पहुँचने

१—पद्मपुराण देखो—इन स्थानों की शान्तिनाथ प्रतिमा प्रसिद्ध थी "किष्किन्धायां लंकायां पाताललंकायां त्रिकूटगिरौ श्रीशान्तिनाथ."—विविधतीर्थकल्प

२—अष्टापदगिरिकल्प—विविधतीर्थकल्प, पृ० ९३

३—कोल्लपाकमाणिक्यदेवतीर्थकल्प—वि० ती०, पृ० १०१

४—श्रीपुरअन्तरिक्ष पार्श्वनाथकल्प-वि० ती०, पृ० १०२

५—हरिषेण बृहत्कथाकोष, पृ० २००

के लिये मलयदेश को पार करना पड़ा था। उस समय लंका मे रावण का एक वंशज शासनाधिकारी था। उसने मलयदेश के अन्तर्गत पूति नामक स्थान पर एक जिनमंदिर बनवाया था[1]। सारांशतः लंका में जैनधर्म का प्राबल्य इन कथाओं में स्पष्ट है। मालूम होता है कि जब वहा पर जैनों का प्रभाव क्षीण होने लगा तब वहा की प्रसिद्ध २ जिन प्रतिमाएं भारत ले आई गयी।

भ० पार्श्वनाथ के समय में पुण्ड्र देश के ताम्रलिप्ति नगर में सागरदत्त नामका सेठ रहता था। वह सात बार समुद्र यात्रा में असफल हुआ था। आठवीं बार वह लंका के लिये रवाना हुआ परंतु तूफान ने उसे लंका न पहुंचने दिया। वह रत्नद्वीप पहुँच गया और रत्नकोष लेकर घर लौटते समय मार्ग में मल्लाहों ने उसे समुद्र में फेंक दिया। वह तैरकर पाटलापथ नगर पहुंचा। वहा उसके श्वसुर जी मिल गये, जिनके साथ वह घर लौट आया[2]। उसी समय नागपुरी के बन्धुदत्त सेठ भी लंका के लिए व्यापार हेतु रवाना हुये थे। समुद्र में उनका जहाज फट गया। वह एक तख्ता का सहारा लेकर रत्नद्वीप पहुँचा। वहा उसने एक रत्नमयी चैत्यालय देखा जिसमें अर्हत् नेमि की रत्न-प्रतिमा विराजमान थी। वहा के जैन साधुओं ने बन्धुदत्त को जैनधर्म का श्रद्धालु बनाया था। विद्याधर चित्रांगद् ने बंधुदत्त को उसके घर पहुँचा दिया था[3]। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि भारत के व्यापारीजन लंका से व्यापार करने जहाज लेकर जाया करते थे—उनको समुद्र पार करना पड़ता था। लंका जाते हुए मार्ग में रत्नद्वीप पड़ता था। यह बात विद्वानों से छिपी नहीं है कि मिश्रदेश से भारत का व्यापार एक अति प्राचीन काल से चालू था।

रत्नद्वीप

लंका के पास ही रत्नद्वीप अवस्थित था। 'पद्मपुराण' में लिखा है कि राक्षस वंश के राजा अमररक्ष के दसपुत्र थे, जिन्होंने अपने-अपने नामके नगर और देश बसाये थे। उनमें रत्नद्वीप भी था[4]। इस रत्नद्वीप में मनुजोदय पर्वत था[5] और वह क्षार समुद्र के अन्त में अवस्थित था[6]। जैनी व्यापारी गण वहा अपने जहाज ले जाया करते थे और व्यापार करते थे। पद्मखण्डपुर के सेठ सुमित्र जब व्यापार के लिए रत्नद्वीप जाने लगे थे, तब अपने बहुमूल्य रत्न सिंहपुर के राज पुरोहित श्रीभूति के पास रख गये थे। श्रीभूति अपने सत्यव्रत के कारण 'सत्यघोष' नाम से प्रसिद्ध था, किन्तु इन रत्नों के कारण वह अपने सत्यधर्म से च्युत हुआ था[7]। रत्नद्वीप का 'सहस्रकूट'

१—करकंडुचरिउ, ५ (पृ० ४६–४७)

२—लाइफ ऐंड स्टोरीज ऑव पार्श्वनाथ, पृ० १६९

३—लाइफ ऐंड स्टोरीज ऑव पार्श्वनाथ, पृ० १७१

४—पद्मपुराण, पृ० ५५३—५६०

५—उत्तरपुराण, ७३। १०१

६—'क्षारसमुद्रान्ते रत्नद्वीपे—मनोहरे।'—बृहत्कथाकोष, पृ० ७४

७—बृहत्कथाकोष, पृ० १४०

चैत्यालय प्रसिद्ध था। भारत से जैनी उसकी वन्दना करने जाया करते थे। 'करण जगावन चरित्र' में उल्लेख है कि कुडलपुर के सेठ लोभदत्त की दो पत्नियां थीं, जो निरन्तर विमान मे बैठकर रत्नद्वीप के सहस्रकूट जिनालय की वन्दना करने जाया करती थी[1]। इस प्रकार इन कथाओं से स्पष्ट है कि एक समय रत्नद्वीप में जैनधर्म का प्राबल्य था —उसकी गणना अतिशय पूर्ण क्षेत्र के रूप मे की जाती थी।

सिंहलद्वीप

सिंहलद्वीप आजकल की लंका (Ceylon) है। जैन शास्त्रों में सिंहलद्वीप की गणना अनार्य देशों मे की गई है[2]। भरत चक्रवर्ती ने सिंहल विजय किया था[3] और सम्भवतः उन्होंने ही यहाँ आर्य संस्कृति का बीज बोया था। प्राचीनकाल से भारत के व्यापारी जलयानों द्वारा स्वर्ण-द्वीप आदि देशों के साथ व्यापार करने समुद्र मार्ग से जाया करते थे, तब वे मध्य मार्ग मे विश्राम लेने के लिये सिंहलद्वीप में लाकर ठहरते थे[4]। सिंहल के प्राचीन इतिहास से भी पता चलता है कि आर्यों के पहुँचने के पहले वहाँ अनार्य लोग रहते थे। उपरान्त काल मे जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) से अनेक जातियों के आर्य वहां आकर बसे थे। कहते हैं कि सबसे पहले भारत के बंग प्रदेश से असुर जाति के वर राज नामक सरदार असुर, यक्ष, नाग और नर जातियों के मानवों को लेकर सिंहल पहुंचे थे और वहां आबाद हुए थे। रावण उनके पश्चात् सिंहल मे राज्याधिकारी हुआ था। इसके दीर्घकाल पश्चात् भ० महावीर के समय के लगभग उड़ीसा के सिंहपुर से राजकुमार विजय सिंहल पहुंचे थे और वहां के शासनाधिकारी हुए थे। सन् २३६ ई० पूर्व से वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार हो गया था। जैन शास्त्रों मे भी सिंहल में सुर, किन्नर, खेचर लोगों का आवास लिखा मिलता है। यह सब विद्याधर मानव थे। भारतीय आर्य सिंहल मे जाकर जब बसे तो इनसे घुलमिल गये।

जैन शास्त्रों मे सिंहलद्वीप का वर्णन अनेक प्रकार से मिलता है। 'करकंडु चरित्र' में लिखा है कि करकंडु नरेश सिंहलद्वीप गये थे और वहां की राजकुमारी के साथ उनका विवाह हुआ था। वहां सुर-खेचर-किन्नर विचरते थे और स्त्रियां मानो रतिरूप थी। सिंहल मे जलयानों मे बैठकर

१—'गगनगामिनी विद्याजोर, कमलाजचक्षी चली पुनि भोर।
रत्नद्वीप जिनमंदिर ओर, रत्नराशि देखी तिहिं ठौर ॥१३०॥'

२—'ये सिंहलाबर्बर काः किराता ·· · · · अनार्यवर्गेनिपतन्ति सर्वे ।'
—वराङ्गचरिते, पृ० ६६

३—आवश्यकचूर्णि, पृ० १९१ एवं आदिपुराण

४—लाइफ इन ऐंशियेन्ट इंडिया, पृ० ३२४

करकण्डु वापस भारत आये थे[1]। 'श्री दशभक्त्यादि महाशास्त्र' मे भी सिंहलद्वीप की स्त्रियों के सौन्दर्य का वर्णन मिलता है। उन्हें पद्मिनी लिखा है[2]। भारतीय राजा लोग सिंहल की राजकुमारियों से विवाह करने को लालायित रहते थे। नारायण कृष्ण के समय मे सिंहलद्वीप के राजा श्लक्ष्ण रोम की कन्या लक्ष्मणा रूपवती थी। कृष्ण जी लक्ष्मणा को हर लाये थे और अपनी रानी बनाया था[3]। जैन व्यापारी सिंहलद्वीप से बराबर व्यापार करते थे। मालवा के जैन सेठ सूरचन्द ने वहां जाकर रत्नों का व्यापार किया था और लक्षाधिप होकर लौटे थे[4]। उज्जैन के राजा गगनचन्द्र की मित्रता सिंहलनरेश गगनादित्य से थी। सिंहलनरेश लंकाधिप के समान थे और उज्जैन भी आये थे। सिंहलनरेश के पुत्र विजय ने राज्य करके जैनमुनि के व्रत ग्रहण किये थे[5]।

इस प्रकार हम देखते है कि सिंहलद्वीप अथवा लंका (Ceylon) मे जैनधर्म का प्रभाव एक अतीव प्राचीन काल से चला आ रहा था। स्वयं बौद्धों के प्राचीन ग्रन्थ 'महावंश' से स्पष्ट है कि ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दि मे सिंहलनरेश पाण्डुकाभय ने वहां के राजनगर अनुराधापुर में एक जैनमंदिर और जैनमठ बनवाया था, जिसमें गिरि नामक जैन मुनि का संघ रहा करता था। ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दि म सिंहलनरेश का ध्यान जैनधर्म की ओर गया और उन्होंने जिन मंदिर बनवाया, इसका अर्थ यही है कि जैनधर्म ईस्वी सन् से पहले ४०० वर्षों से भी अधिक काल पूर्व समय मे सिंहल पहुँच चुका था, जैसा कि जैनशास्त्र बताते हैं। पाण्डुकाभय नरेश का बनवाया हुआ यह मंदिर उनके पश्चात् इक्कीस (२१) राजाओं के शासनकाल तक विद्यमान रहा था, किन्तु ई० पूर्व ३८ मे सिंहलनरेश वट्टगामिनी ने उनको नष्ट कराकर उनके स्थान पर बौद्ध विहार बनवाया था[6]। फिर भी जैनधर्म का प्रभाव वहां मध्यकाल तक बना रहा था। मध्यकाल मे मुनि यशःकीर्ति इतने प्रभावशाली हुये थे कि तत्कालीन सिंहलनरेश ने उनके पाद-पद्मों की अर्चा की थी। मुनि यशःकीर्ति सिंहल गये प्रतीत होते है। उन्होंने वहाँ लुप्त होते हुए जैनधर्म को कुछ

१—गउसिंहलदीवहोखिवसमाणु, करकंडुणराहिउणरपहाणु।
जहि पाडलपिल्लहमणु हरंति, सुरखेयरकिरभर जहिं रमंति।
णयर्णीसहे महिल ऽ जहिं चजति णियरूवे रइहउर विखजति।" ७।४—इत्यादि

२—"द्वीपेसिंहलनाम्नि सागरतटा. सद्वृत्तमुक्ताफला.
शैला निर्मलपद्मरागमणयोऽरययानि सेमा न च (?)।
तद्देशोद्भवविश्ववामनयना: श्रीपद्मिनी जाति जा.
राजन्ते महिपाः सदागतमतावारास्तदुत्पत्तिकाः।" —प्रशस्तिसंग्रह, पृ० १३४

३—उत्तरपुराण, ७१। ३८०—३४

४—बृहत्कथाकोष, पृ० ४६

५—बृहत्कथाकोष, पृ० ८

६—बुल्हर, ऐन इंडियन सेक्ट ऑफदी जैनाज, पृ० ६८

काश के लिये चमका दिया था[१]। किन्तु आज सिंहल में जैनधर्म का कोई चिन्ह शेष नहीं है। हमारे आचार्यों में संघ-विस्तार की भावना ही विलुप्त हो गई और फिर आचार्य परम्परा का ही अभाव हो गया।

इस प्रकार जैन साहित्य मे लंका, रत्नद्वीप और सिंहल की स्थिति है। वे स्वतंत्र द्वीप होते हुए भी एक दूसरे से सम्बद्ध थे और एक ही राष्ट्र के आधीन थे। जैनधर्म उनमें फैला हुआ था, बल्कि जैनों ने ही उनका अनार्यत्व दूर किया था और उन्हें सुसंस्कृत बनाया था।

१—[illegible] लेख संग्रह (मा० ग्र०) पृ० ११३

महोपाध्याय सहजकीर्त्ति और उनके ग्रन्थ

[ले०—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, बीकानेर]

सत्रहवीं शताब्दी भारत का स्वर्ण युग कहलाता है। मुसलमानी साम्राज्य से त्रसित जनता ने सम्राट् अकबर के समय पुन. एकबार शाति का अनुभव किया। अतः साहित्य की भी इस समय बहुत अभिवृद्धि हुई। जैन मुनियो में पचासों विद्वानो एव कवियों ने साहित्य के भडार को भरा, जिनमें महोपाध्याय सहजकीर्ति का परिचय प्रस्तुत लेख मे करवाया जा रहा है। प्रस्तुत कवि की विद्वत्ता का सर्व प्रथम परिचय बीस वर्ष हुए स्व० कलाप्रेमी एवं अप्रतिम संग्राहक पूर्णचंद्र जी नाहर का जैसलमेर जैन लेख सग्रह के प्रकाशन से हुआ था। उक्त ग्रन्थ के पृ० १६०-६६ में कविवर सहजकीर्त्ति की एक महत्वपूर्ण रचना शतदल पद्म यत्र प्रकाशित करते हुए नाहर जी ने लिखा था –

"यह शतदल पद्म य त्र की प्रशस्ति अपूर्व है। अद्यावधि मेरे देखने में जितने प्रशस्ति शिला-लेखादि आये हैं उनमे अलकार शास्त्र का ऐसा नमूना नहीं मिला है। पाठकों को चित्र से अच्छी तरह ज्ञात हो जायगा कि यह शतदल पद्म यत्र जो बीच में खुदा हुआ है उसकी सौ पखुरियों में पच्चीस श्लोकों के सौ चरण हैं और केन्द्र मे "मं" जो अक्षर है, वही इन सब चरणों के अंत का अक्षर है। शब्दों के आदि अक्षर लेकर पद बनाना उतना कठिन नहीं है जितना अंत का अक्षर मिलाना कष्ट साध्य है।

तदन्तर युगप्रधान जिनचद्रसूरि के पृ० २०६-७ में हमने आपका यथा ज्ञात परिचय प्रकाशित किया था। इधर में आपकी अन्य रचनाये भी प्राप्त हुई हैं अतः यहाँ स्वतत्र रूप से प्रकाश डाला जा रहा है।

कवि का जन्म एवं दीक्षा

कवि के जन्मस्थान, संवत् एव वश आदि के सम्बन्ध में कोई साधन उपलब्ध नहीं है, अतः प्राप्त साधनों से ही अनुमानित करना पड़ेगा। कवि की प्राप्त रचनाओ मे सुदर्शन चौपई स० १६६१ (६४) में रचित सर्व प्रथम है एव यु० जिनचंद्र सूरि के प्रदत्त दीक्षा की नामान्त पद सूची पर विचार करने से कवि का जन्म स० १६४० से ४५ के लगभग व दीक्षा सं० १६५६-६० में हुई ज्ञात होती है। आपने बाल्यावस्था मे दीक्षा ग्रहण कर गुरुश्री के पास विद्याध्ययन किया व थोड़े समय मे ही विद्वत्ता प्राप्त कर ली।

गणि, वाचक व उपाध्याय पद

आपकी विद्वत्ता एवं कवि प्रतिभा से योग्यता ज्ञातकर संभवतः स० १६७१ मे जिनसिंहसूरिजी ने गणि पद दिया था क्योंकि स० १६७१ में रचित गौतम कुलक वृत्ति में गणि पद का उल्लेख पाया

जाता है। तदनन्तर जिनराजसूरिजी ने सं० १६७४ से ७६ के मध्य में वाचक पद एवं १६६० के करीब उपाध्याय पद प्रदान किया प्रतीत होता है।

महोपाध्याय पद के लिये खरतरगच्छ में यह नियम है कि उपाध्यायों में जो सबसे वृद्ध (उपाध्याय पद की पर्याय की अपेक्षा) होता है उसे महोपाध्याय पद से सम्मोनित किया जाता है।

तदनुसार आप कब महोपाध्याय से सुशोभित हुए, पता नहीं पर परवर्ती वंश वृक्षों में आपको महोपाध्याय पद लिखा होने से आपको शेष समय में यह पद मिला अवश्य था।

गुरु परम्परा

अपनी कृतियों में आपने गुरु परम्परा विस्तार से दी है तदनुसार वंशवृक्ष इस प्रकार बनता है—

१ श्री जिनकुशलसूरि (देखें हमारा "जिनकुशलसूरि" ग्रन्थ)

२ उपा० विनयप्रभ ,, ,,

३ उ० विजयतिलक

४ वा० क्षेमकीर्त्ति (गौड़ पार्श्वनाथ के सानिध्य से आपने गच्छ की वृद्धि की आपके शिष्यों में १२ उपाध्याय व ३६ वाचक पदारूढ़ हुए)

५ वा० क्षेमहंस

६ वा० होमध्वज

७ उ० क्षेमराज[1], शिवसुंदर[2], कनकतिलक[3], दयातिलक

८ वा० लक्ष्मी[4]विनय

९ वा० महिमरंग, वा० रत्नसार

१—आप बहुत अच्छे विद्वान कवि थे। संस्कृत एवं लोकभाषा में रचित आपकी बीस रचनायें हमे प्राप्त हुई हैं। आपका उपदेश सप्ततिका नामक प्राकृत ग्रन्थ वृत्ति के साथ (सं० १५४७ हिसार) जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर से प्रकाशित हो चुका है। उक्त मूल ग्रन्थ का गुजराती विवेचन भी उक्त सभा से प्रकाशित है। लोकभाषा की रचनाओं में मंडपाचल चैत्य परिपाटी जैनयुग वर्ष ४ पृ० १३२ में प्रकाशित हो चुकी है।

२—आपके रचित (१) लुंपकमतनिर्लोठन रास (सं० १५६५ गा० ३८) व (२) गौतमपृच्छा-बालावबोध (सं० १५९६ खीमसर) हमारे संग्रह में है।

३—आपने सं० १५०६ दीवाली को बीकानेर में क्रिया उद्धार किया, जिसका नियमपत्र हमारे संग्रह में है।

४—इन्होंने पूर्व देश में विहार कर जनता को प्रतिबोध दिया था। सहजकीर्त्ति की प्रथम रचना सुदर्शन श्रेष्ठि रास की प्रशस्ति में लिखा है—

"पूरब देश विहार करी जिणि; निज बलइ रे, प्रतिबोध्या जनवृंदा ४२७

१० वा० रत्नहर्ष, वा० हेमनन्दन[५]

११ उ० श्रीसार[६] महो० सहजकीर्त्ति[७]

कलकत्ते के बद्रीदास जी के संग्रहालय में जयसार रचित श्रेणिक चौपई पत्र बत्तीस उपलब्ध है जिसकी प्रशस्ति के अनुसार सहजकीर्त्ति शि० पुण्यसार शि० कनकमाणिक्य, शि० रत्नशेखर, शि० दीप कुंजर, शि० हरखराज शि० युक्तिसेन के शिष्य थे। स० १६८२ फा० सु० ७ जैसलमेर में उक्त चौपई रचित है। परवर्ती फुटकर पत्रों मे आपका विस्तृत वंश वृक्ष उपलब्ध है—यहाँ लेख विस्तार भय से केवल सहजकीर्त्ति जी के साथ ४ शिष्यों का ही नाम निर्देश कर दिया जाता है।

(१) वा० आणद हर्ष (२) वा० देवराज

(३) वा० सहजहर्ष (४) वा० श्रीधर

इनकी परम्परा २० वीं शती के प्रारंभ तक चली प्रतीत होती है।

स्वर्गवास

आपकी अन्तिम रचना स० १७०४ जैसलमेर मे रचित प्रतिक्रमण बालावबोध है अतः उसके पश्चात् शीघ्र ही स्वर्गवास हो जाना संभव है।

साहित्य

स० १६६१ से स० १७०४ तक लगभग ४०-४५ वर्ष आपकी साहित्योपासना का समय है। आपकी संस्कृत एव लोकभाषा दोनों में गद्य-पद्यात्मक २५ रचनाएँ प्राप्त हैं जिनका परिचय यहाँ करवाया जा रहा है।

संस्कृत टीकाएँ

१ **गौतमकुलक वृत्ति**—२० गाथा वाले प्राकृत प्राचीन भाषा के प्राचीन कुलक पर आपने यह विशिष्ट टीका की है। इसमे प्रसगानुसार ५१ कथाये सस्कृत पद्य मे दी हैं। इस वृत्ति का परिमाण प्रशस्ति के अनुसार ५४०१, पर लेखन प्रशस्ति के अनुसार ६००० श्लोकों का है। इसका संशोधन उपाध्याय जयसोम व धर्मनिधान जैसे विद्वानों ने किया है। स० १६७१ मे इसकी रचना हुई है। सचमुच प्रस्तुत ग्रन्थ आपकी विद्वत्ता का सफल परिचायक है। इसकी प्रति पूर्णचंद्रजी नाहर के संग्रह में पूर्ण व हमारे संग्रह में अपूर्ण है।

५—इनका सं० १६४५ में रचित सुभद्रा चौपई जयपुर के खरतर भंडार मे है।

६—श्री सारजी अच्छे विद्वान् एव कवि हो गये हैं जिनकी रचनाओं के सम्बन्ध में हमारा युग प्रधान जिनचन्द्रसूरि पृ० २०७ देखना चाहिये। आपकी विचार भिन्नता से खरतर गच्छ में श्री सार शाखा भेद हुआ। सहजकीर्त्तिजी ने कल्पसूत्र की कल्प मंजरी टीका में श्रीसार का उल्लेख किया है।

७—जैसलमेर भंडार सूची पृ० ६४ में लालचंद्र भगवानदास गाँधी ने सहजकीर्त्ति को रत्नसार का शिष्य बतलाया है पर वास्तव में आप उनके प्रशिष्य थे।

२ सारस्वत व्याकरण वृत्ति—सं० १६८१ मा० सु० १५ को लक्ष्मीकीर्त्ति की अभ्यर्थना से प्रस्तुत वृत्ति की रचना की। इसकी प्रति स्थानीय अनूप संस्कृत लाइब्रेरी व श्री पूज्यजी के संग्रह में है।

३ कल्पसूत्र की कल्पमंजरी टीका—अपने प्रगुरु रत्नसार के नाम से इसकी रचना सं० १६८१ में की है। स्थानीय अभयसिंह भंडार में इसकी प्रति है।

४ महावीर स्तुति वृत्ति—इसका उल्लेख जैसल० भं० सू० पृ० ६४ के अनुसार जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास के पृ० ६०० पर है। जिनरत्न कोश पृ० ३०७ के अनुसार मूल स्तुति के कर्ता उ० जयसागर हैं। इसकी प्रति कान्तिविजय भंडार बड़ोदा में है। प्रस्तुत ग्रन्थ में रचनाकाल सं० १६६८ छपा है, देशाई ने पृ० १६०६ लिखा है। पता नहीं देशाई की भूल है या मेलणकर की।

भाषा टीका

१ प्रवचनसारोद्धार बालावबोध सं० १६६१ तेरापन्थी सभा, सरदारशहर पत्र १७१

२ प्रतिक्रमण बालावबोध सं० १७०४ फा० जैसलमेर (१) जयकरण जी संग्रह (२) हरिसागर जी भं० लोहावट।

संस्कृत के मौलिक ग्रन्थ

१ समद्दीपिशब्दार्णव व्याकरण—ऋजु प्राज्ञ व्याकरण प्रक्रिया–जेसलमेर भंडार सूची पृ० ६४ के अनुसार ऋजु प्राज्ञ व्याकरण एवं सिद्ध (?) शब्दार्णव दोनों भिन्न भिन्न ग्रन्थ हैं। धातुपाठ के नाम से विजय धर्मसूरि ज्ञान मंदिर में हैं।

२ अनेक शास्त्रसार समुच्चय } जैसलमेर भंडार सूची पृ० ६४
३ एकादिशत पर्यन्त शब्दसाधनिका }

४ नामकोश (६ कांड) प्रति जैसलमेर भंडार

५ शतदलकमल यंत्र (स्तव) सं० १६८३ का० १५ लोद्रवपुर में रचित।

६ विशोधर सम्बन्ध (जीवदयापर रचित) पत्र दो हमारे संग्रह में, पत्र तीन यति विष्णुदयालजी

रास चौपई आदि लोकभाषा में रचित काव्य ग्रन्थ

१ सुदर्शन चौपई (गा० ४३१) सं० १६६१ बगड़ीपुर, अहमदाबाद भंडार में प्राप्त।

२ कलावती चौपई (गा० १६२) सं० १६६७ श्रा० सु० १५ किसनगढ़, श्रीपूज्यजी संग्रह।

३ विसनसतरी गा० ७१ सं० १६६८ नागौर भुवनभक्ति भंडार।

४ देवराज बच्छराज चौपई सं० १६७२ खीमसर हमारे संग्रह में।

५ सागर सेठ चौपई १३ गा० २३२ (गं० ३१२) सं० १६७५ बीकानेर ,,

६ राय पसेणी उद्धार चौपई (खंड ३ गा० १४०६) सं० १६७६ श्री करणू स्थाने, बनारस भंडार।

७ शान्तिनाथ विवाह लो स १६७८ विजयदशमी, बालसीसर, तेरापन्थी सभा सरदार शहर।

८ जैसलमेर चौपई परिपाटी (७ गीत) स० १६७८ लिखित श्रा० मानादे पठनार्थ।

९ लोदवा पार्श्वस्तवन गा० ९ स० १६८३ पापदशमी यात्र, थाहरू भ०, जेसलमेर।

१० थिरावली (१०८ नाम) गा० ३३ स० १६८३ मा० व० ७ जैसलमेर। जै० भ०

११ शत्रुंजयमाहात्म्यरास (६ खंड) गा० ८५ स० १५८४ आसणीकोट, हमारे संग्रह में।

१२ शीलरास गा० ८१ स० १६८६ श्रा० सु० १४ कृष्णकोट, हमारे संग्रह में।

१३ प्रीति छतीसी स० १६८८ विजयदशमी, सागानेर।

१४ हरिश्चन्द्र रास स० १६९७ हमारे संग्रह मे।

प्रस्तुत रास में अपने ६ रासो का उल्लेख कवि ने इस प्रकार किया है—

दान वखाण्या बहु परइ, सायर नइ अधिकार।
वच्छराज नरदेव तिन, चरित अधिक विस्तार।
सेठ सुदरसण चरित कही, अधिक वखाण्या शील।
कलावती अधिकतिम, लाधी शिवपुर लील।
जिणवर पूजा फला कह्या, राइप सेणी उभार।
महातम शत्रुंजनणा भाख्यां विविध प्रकार।४।
उत्तम नर ना चरित कही, सफल कीध अवतार।
सफली कीधी जीभए, सफल कीध अवतार।५।

१९ अल्पा बहुत्व स्तवन गा० १३ स० १७०४

१६ वैराग्य शतक १७ उपदेश छतीसी हमारे संग्रह में।

१८ एकसो आठ स्थान गर्भित पार्श्व स्तवन।

१९ उपधान विधि स्तवन २० शत्रुंजय स्तवन गा० १७

२१ उपगार छतीसी २२ जिनराजसूरि गीतानि।

२३ चार कषाय सज्झाय २४ साधुसगति गीत।

इनमें शत्रुंजय महात्म्य रास सबसे बड़ा भाषा काव्य है।

जैन साहित्य के निर्माता सैकड़ो विद्वान् अभी साहित्य संसार मे अज्ञात है उन सबको प्रकाश में लाना हमारा परम कर्त्तव्य है। मेरे लेख परिचयात्मक ही होते है, वास्तव मे ग्रन्थो का आज की तरह अध्ययन कर समालोचनात्मक पद्धति से हमारे विद्वानो का परिचय प्रकाशित होना चाहिये। यदि कोई अधिकारी विद्वान् ऐसा करने के लिये तैयार हो तो सामग्री जुटाने व उपयोगी सूचनाएँ देने का सहयोग देते रहने के लिये मैं तैयार हूँ। कोई संस्था मेरे लेखो में उद्धृत ग्रन्थों को प्रकाशित करना चाहे तो उनको प्रति आदि भेजने का प्रयत्न भी किया जा सकेगा।

निर्वाण

[ले०—प्रो० विमलदास कौन्देय, M. A. LL. B. Nyayatirth, Shastri]

साहित्य में जितने शब्दों का प्रयोग किया जाता है उन सबके पीछे कुछ न कुछ इतिहास छिपा रहता है। निर्वाण शब्द का भी इतिहास है। इसका सर्व प्रथम किसने प्रयोग किया और क्यों किया—ये प्रश्न शब्द-शास्त्र (Philology) से सम्बन्ध रखते हैं। शब्द-शास्त्र उनकी उत्पत्ति, प्रयोग, प्रचार और वर्तमान अवस्थिति पर विचार करता है। हमारे विचार से निर्वाण शब्द बौद्ध दार्शनिकों की देन है। इसका प्रयोग बौद्ध साहित्य मे अधिक पाया जाता है उससे कम जैन वाङ्मय मे इसका प्रयोग है। जहा तक इसकी व्युत्पत्ति का सम्बन्ध है इसका अर्थ निम्न लिखित है:—'निः'उपसर्ग पूर्वक 'वा' धातु से निर्वाण शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है 'बुझा देना', यहा पर प्रश्न होता है क्या बुझा देना?

बौद्ध साहित्य मे वर्णन आता है कि महात्मा बुद्ध ने परिनिर्वाण प्राप्त किया। इसका अर्थ है कि भगवान बुद्ध की आत्मा शान्त हो गई। बौद्ध पिटकों में एक वाक्य और आता है—'शान्तं निव्वान'—अर्थात् निर्वाण शान्त होना है, वहा आत्मा की शान्ति हो जाती है। इसीके अभिप्राय को स्पष्ट करने वाला एक और वाक्य है—'सब्ब अनन्त' विश्व मे आत्मा नामका कोई पदार्थ नहीं। जिसको हम आत्मा कहते हैं वह स्कन्ध प्रचय है। स्कन्धों के नष्ट होने से या नाशमान होने से आत्मा भी नष्ट हो जाती है और पश्चात् कुछ अवशेष नहीं रहता। इसी तत्व का सर्व सुन्दर वर्णन अश्वघोष ने सौन्दरनन्द में किया है।

> 'दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
> दिशं न काचित् विदिशं न काचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
> जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
> दिशं न काचित् विदिशं न काचित् क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥

जिस प्रकार दीपक नष्ट होने के समय न तो पृथ्वी की ओर जाता है, न आकाश की ओर जाता है, न किसी दिशा की ओर जाता है, न विदिशा की ओर जाता है, केवल तैल के क्षय होने से बुझ जाता है। उसीप्रकार यह संसारी जीव भी जब निर्वाण को प्राप्त होता है तब न तो पृथ्वी की ओर जाता है, न आकाश की ओर जाता है, न किसी दिशा की ओर जाता है और न विदिशा की ओर जाता है, वह केवल क्लेश, दुःखादि के क्षय होने से नष्ट हो जाता है। यह है निर्वाण की अश्वघोष की व्याख्या जिससे सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि निर्वाण एक प्रकार की बुझने की सी प्रक्रिया है जो निवर्तन करता है। इस प्रकार का परिनिर्वाण बुद्ध ने प्राप्त किया था। इसलिये जगत में बुद्ध निर्वाण प्रसिद्ध है। कोई शब्द जब इस प्रकार प्रयुक्त हो कर प्रसिद्ध हो जाता है तब वह

आमलोगों की शब्दावली का शब्द बन जाता है; और जनता उस शब्द को उस अर्थ मे बिना परिश्रम के प्रयुक्त करती है और इससे उसको सरलतापूर्वक अर्थगति होती रहती है।

जैन धर्मावलम्बियों को भाषा विशेष का कभी आग्रह नहीं रहा है। उन्होंने सर्वदा जिस भाषा का प्रचार देखा उसीमे अपने भावों को प्रकट करने का साहस और प्रयत्न किया है। यही कारण है कि जैन वाङ्मय भिन्न २ भाषाओं मे अनुबद्ध आज हमारे सामने विद्यमान है। जैन विद्वानो और आचार्यों ने इसीलिये संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश कन्नड़ आदि सभी भाषाओं मे साहित्य लिखा है और तत्तत् समय की शब्दावली का खूब उपयोग किया है।

निर्वाण शब्द का भी प्रयोग इसी मनोवृत्ति का परिणाम प्रतीत होता है। जैन श्वेताम्बर आगम और दिगम्बर साहित्य मे तो इस शब्द का प्रयोग अत्यधिक किया गया है। यद्यपि भगवान् तीर्थङ्कर परमदेव का मोक्ष कल्याणक होता है और वही वास्तविक रूप से जैन सिद्धान्त के अनुकूल आता है, क्योंकि जैनियों का मोक्ष का लक्षण है 'कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' अर्थात् मोक्ष वह अवस्था है जिसमें सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। मोक्ष मे कर्मों का अभाव होता है। जीव अपने अनन्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुणों को प्राप्त हो जाता है। जो जीव की स्वभाविक अवस्था थी वह प्रकट हो जाती है। यहां न तो गुणों का उच्छेद है, न आत्मा की शान्ति, और न ब्रह्म समाविशन, —यह तो कर्माभाव से जन्य आत्मस्वरूप की पूर्ण शुद्ध अनुभूति है जिसे जीव अपने चरमलक्ष्य के रूपमे प्राप्त करता है। इसलिये इस अवस्था को जैन दृष्टि से मोक्षावस्था ही कहा जा सकता है और कुछ नहीं।

किन्तु जैनधर्मावलम्बियों को उन शब्दों के व्यवहार और प्रयोग में कोई आपत्ति नहीं, जिनमें जैनत्व नष्ट न हो और जनता अपने शब्दों मे जैनत्व को समझ ले। यही कारण है कि जब इन्द्र ने भगवान् वीतराग जिनेन्द्र की स्तुति की तो १००८ शब्दों में उनका स्तवन किया। वह सहस्र नाम उन सब नामों का संग्रह है जिसमें महान् पुरुषों के लिये प्रयुक्त प्रायः सभी शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसीलिये भगवान् वीतराग जिनेन्द्र को, महेश्वर, शम्भु, शंकर, बुद्ध, जिन प्रत्येक बुद्ध, अर्हन्, पुरुषोत्तम आदि सभी शब्दों द्वारा सम्बोधित किया गया है। कहीं २ तो ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है जिनका अर्थ बदलकर जैनधर्म सम्मत अर्थ बतलाना पड़ता है जिससे कि जैनत्व का घात न हो।

निर्वाण शब्द का भी कुछ ऐसा ही इतिहास है। जैन आचार्यों ने इसका प्रयोग कई अर्थों मे किया है। यहां कुछ अर्थ दिये जाते हैं जो निर्वाण के लिये जैनाचार्यों ने प्रयुक्त किये हैं।

(१) निर्वाण का अर्थ है आत्मस्वरूप की प्राप्ति इस अर्थ में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने किया है।

(२) निर्वाण का अर्थ है 'कर्मकृत विकारों का नष्ट होना'। यह कर्मों के निर्दहन की की अपेक्षा है; क्योंकि कर्मों का क्षय होना ही मुक्ति है।

(३) निर्वाण का अर्थ है 'जन्म, मरण, जरा आदि के दुखों से निवृत्ति होना। यह मनुष्य के संसार की प्रक्रिया के नष्ट होने से अर्थ किया गया है।

(४) निर्वाण का अर्थ यह भी है कि सब प्रकार के दुखों से निवृत्ति होकर आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति करना। इसको निश्रेयस प्राप्ति भी कहते हैं। इस अर्थ में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

(५) कहीं २ इसका अर्थ अष्ट कर्म के नाश से समुत्पन्न कैवल्य आदि गुणों की प्राप्ति भी किया गया है, जो सिद्धत्व के प्राप्त होने पर होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनाचार्यों ने इतने जो अर्थ किये हैं वे सब जैनत्व की रक्षा का लिये हुए, किये गये हैं। वास्तव में देखा जाय तो जितना शब्द व्यवहार है वह सब नयाश्रित है। कहा भी है "जावइया वयणवहा तावइया नय वाहा" अर्थात जितने वचन हैं वे सब नयवाद हैं। और जितना नयवाद है वह सब व्यवहार है। इसलिये व्यवहार का उपयोग जैनियों को करने में कभी आपत्ति नहीं रही है, किन्तु इतना लक्ष्य अवश्य रक्खा गया है कि कहीं व्यवहार से निश्चय का घात तो नहीं हो जाता, यही जैन दृष्टि सम्यक्दृष्टि कहलाती है।

इस प्रकार निर्वाण शब्द के उद्गम, प्रयोग और व्यवहार को जानकर अब हम इसपर विचार करेंगे कि इस शब्द का प्रयोग महावीर भगवान् के साथ आत्यंतिक क्यों किया गया है।

विश्व विभूति, निगयनाथपुत्त, श्रमण भगवान् महावीर का व्यक्तित्व तात्कालिक बौद्ध साहित्य से प्रतीत होता है। जैन वाङ्मय में तो उनके व्यक्तित्व के विषय में कल्पनातीत वर्णन मिलता है। जैन मान्यता के अनुसार तीर्थंकरों के ५ कल्याणक माने गये हैं। इन पांच कल्याणकों की घटनाएँ सब तीर्थंकरों में समान होती है। विदेह क्षेत्रगत तीर्थंकरों में कल्याणक २, ३ भी होते हैं। पूर्व दो कल्याणकों के विषय में विवाद हो सकता है किन्तु अन्तिम तीन कल्याणक अत्यन्त आवश्यक हैं और उनके बिना तो तीर्थंकरत्व का अर्थ ठीक ही नहीं बैठता। निवृत्ति, ज्ञान और मोक्ष ये तीन घटनाएँ तीर्थंकरों के जीवन की विशेष हैं। संसार को परित्याग कर साधु मार्ग का ग्रहण करना—दिव्य ज्ञान का उद्गम होना और जगत् का कल्याण करने के बाद निवृत्ति प्राप्त करना ये जैनत्व की विशेष प्रक्रियाएँ हैं। तीर्थंकर इन्हीं के कारण पूज्य माने जाते हैं।

मैं गर्भ और जन्म को इसलिये विशेष महत्व नहीं देता क्योंकि दोनों प्रक्रियाएँ साधारण हैं। रही उत्सव मनाने की बात या राज घराने में उत्पन्न होने की बात—वह तो जीव पूर्वजन्म में जैसा करेगा उसके अनुसार वह उसको प्राप्त कर लेगा। जैन धर्म अवतार वाद में विश्वास नहीं करता और न उसको कोई विशेष महत्व ही देता है। एक बार निवृत्ति को प्राप्त हुए जीव फिर कभी संसार में नहीं लौटते। अन्यथा मोक्ष का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। मोक्ष प्राप्ति

केवल अस्थकालिक सुख प्राप्ति के समान हो जायगी और पश्चात् फिर वही जन्म, मरण की परम्परा चलती रहेगी। जीवको आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती और न जीव का स्वस्वरूप में अवस्थान ही हो सकता है। मोक्ष वह छुटकारा है जिसके प्राप्त होनेपर पुनः बन्धन नहीं होता है—बन्धन से मुक्ति का नाम स्वराज्य है। आत्मराज्य प्राप्त होनेपर फिर बन्धन कैसा ? इसलिये जैन धर्मावलम्बियों ने मोक्षको सर्वोपरि स्थान दिया है। यह जीवन का लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति बिना जीवको शान्ति और सुख प्राप्त नहीं हो सकता। 'मुक्त्वापुनरावर्तन्ते भवं तीर्थ-निकारत.' मोक्ष प्राप्त करके तीर्थ की अवनति देखकर पुनः विश्व में मुक्त आत्माएँ अवतरित होती हैं—इस सिद्धान्त में जैन धर्मका विश्वास नहीं। तथा तर्कदृष्टि से भी यह सिद्धान्त गलत है। हमारी बुद्धि की यह माँग है कि यह अपनी सीमित अवस्था से ऊपर जाना चाहती है। यदि इसे सीमित अवस्था में रहना पड़े तो यह बुद्धि का व्याघात होगा। पूर्णत्व की भावना इसे पूर्णत्व की ही ओर प्रेरित करती है और पूर्णत्व प्राप्त होनेपर पुनः अपूर्णत्व कैसा ? यह तो तर्क की और ज्ञान की विडम्बना होगी। श्रमण महावीर भगवान् ने इस पूर्णत्व को प्राप्त किया था इसलिये ही जनता ने उन्हें सर्वदर्शी, सर्वज्ञानी, सर्वसुखी आदि विशेषणों से उद्घोषित किया। उनके इस चरम विकास का वर्णन जैन शास्त्रों में दर्शनीय है।

जब भगवान् महावीर की मोक्ष हुई तब उन्होंने कर्मनिर्दहन प्रक्रिया की। उस प्रक्रिया में उन्होंने शेष अघातिया कर्मो का नाश किया। घातिया चार कर्मों का नाश केवलज्ञान की प्राप्ति के पूर्व हो चुका था। श्रमण भगवान् महावीर ने केवलज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर ३० वर्ष तक समग्र भारतवर्ष मे विहार कर जीवों को जैनत्व का उपदेश किया। उन्होंने तीन कालका उपदेश किया, छः द्रव्यों का उपदेश किया, नव पदार्थों की व्याख्या की, षट्काय जीव का स्वरूप, लेश्यादि का उपदेश दिया, पाँच अस्तिकाय बतलाये, व्रत, समिति, ज्ञान, चारित्र आदि भेद बतलाकर उनके महत्व को बतलाया। नय, प्रमाण, निक्षेप, स्याद्वाद, सप्तभंगी वाद, अनेकान्तवाद वगैरह का निस्संकोच व्याख्यान किया। इस प्रकार भगवान् ने लोगों को दिये हुए अखण्ड ज्ञान का स्रोत बहाया जिसका वर्णन कविवर भागचन्द जी के शब्दों में इस प्रकार है—

> यदीया वाग्गंगा विविधनयकल्लोलविमला।
> बृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति।
> इदानीमप्येषाबुधजनमरालैः परिचिता।
> महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु नः।

जिसकी वचनरूपी गंगा अनेक नेत्रों की कल्लोलों से व्याप्त होकर बहती थी। और जो उसके महान् ज्ञानरूपी जल से जनता को स्नान कराती थी। जिसके वाणीरूपी प्रभाव को आज भी विद्वज्जनरूपी हंस अच्छी तरह जानते हैं। इस प्रकार परोपकारी वीतराग महावीर स्वामी हमलोगों के नेत्रों में सदा निवास करते रहें।

भगवान् की वाणी सर्वभाषामयी होती है। कहते हैं भगवान् के समवशरण में उपस्थित जन १८ महाभाषा (Langvajl) और ७०० लघुभाषा (Dialcts) बोलते थे। यह भगवान् की दिव्य ध्वनि का ही असर था कि प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी भाषा मे भगवान् के उपदेश को समझता था। भक्तामर स्तुति स्तोत्र मे कहा भी है "दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्वभाषास्वभाव परिणामगुणप्रयोज्यः"। भगवान् आपकी दिव्यध्वनि समग्र अर्थको विशद करनेवाली और तत् तत् भाषाओं मे परिणत होने के गुण से युक्त होकर विश्व के जीवों के कल्याणार्थ बिखेरती है। इस वाणी से ही भव्यजीव सबोधि प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार निर्ग्रंथनाथ पुत्त श्रमण भगवान् महावीर अनन्त ज्ञानका सूर्य था और वह अपने प्रकाश से जगत् को प्रकाशित करता रहता था, यह दिव्य कार्य उन्होंने ३० वर्ष तक किया। अन्ततोगत्वा जब आयुकर्म क्षीण हो गया, तब ७२ वर्ष की अवस्था मे कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन प्रातः काल जब भास्कर अपने प्रकाश मे जगत् के साथ अट्टहास करने को उद्यत हो रहा था उस समय वह तेजोनिधि विश्व का दीपक बुझ गया। इसके बुझने से जगत अन्धकारमय हो गया। उस समय अनेक राजा, महाराजा, श्रीमन्त, सेठ, साहूकार, इन्द्रादि देवों ने मिलकर परिनिर्वाण महोत्सव मनाया। निर्वाण होनेपर भी ज्ञान के प्रतीक दीपको को जलाकर उस समय देव और मनुष्यों ने मिलकर निर्वाण कल्याणक का उद्योत किया। दीपावली इस लक्ष्य की द्योतक है कि छद्मस्थ जीवों का ज्ञान दीपकों के हिमालय के समान है। ज्ञान का उद्योत दीपकों से नहीं होता और न दीपावलियों से ही होता है। यह तो आत्मा की प्रभा है जिसके समक्ष अनन्त सूर्यों का प्रकाश है। अतः निर्वाण शब्द का इतिहास उपर्युक्त रहस्य को प्रकट करता है।

सारङ्गसार वृत्ति का विशेष परिचय

[ले०—श्रीयुत भंवरलाल नाहटा]

अनेकार्थ साहित्य जैन साहित्य का एक महत्त्व पूर्ण अङ्ग है। यह साहित्य जैन विद्वानों द्वारा रचित जितने परिमाण में प्राप्त है संभवत: अन्य कृत नहीं मिलेगा। इसके सम्बन्ध में जैन सिद्धान्त भास्कर वर्ष ८ अ० १ मे "जैन अनेकार्थ साहित्य" शीर्षक लेख पूर्व प्रकाशित हो चुका है, उसके पश्चात् कतिपय अन्य रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनका परिचय नीचे दिया जा रहा है—

(१) पाणिनी द्वयाश्रय—मेघविजय रचित (विजय-प्रभु-सूरि के विज्ञप्ति पत्र रूप में) ४-४ विश्राम के २ काव्य प्रति भाडारकर रि० इ० पूना

(द्वयाश्रय काव्य अनेकार्थ साहित्य की कोटि मे संभवत नहीं आते, पर पूर्व लेख में उनका निर्देश होने से दिया गया है)

(२) पञ्चसधान काव्य—शान्तिराज (दि०) टीका सहित, प्रति जैनमठ कारकल में (इसका विशेष परिचय प्रकाश मे आना आवश्यक है)

(३) "चसिमा" शब्द के १०१ अर्थ को सन्दाय—सोमविमलसूरि (स० १६३२ आ० व० ७ अहमदाबाद जैन गु० क० भा० ३ पृ० ६५१

(४) "अप्रगल्य" आघ पर वाले श्लोक के १६ अर्थ र० मुनिमेरु उपाध्याय, तैरमुक्तिकदेश-भट्ट विवाह समय रचित (प्रतिलिपि हमारे सग्रह मे)

(५) ब्रह्मालूकशिरादि श्लोक द्वय के १२ अर्थ (हमारे संग्रह मे)

(६) करवादि ३२ वर्णाक्षर श्लोक वृत्ति (अष्टार्थी श्लोक वृत्ति) सूरचद (हमारे सग्रह में)

(७) अष्टोत्तर शत "कमल" शब्द गर्भित नेमिनाथ स्तोत्रम् स्वपोज्ञ वृत्ति र० हेमविजय

(८)	"णमोलोएसव्वसाहूणं" के १०८ अर्थ	विनयहस	(हमारे सग्रह में)
(९)	एकआर्यागाथा के ३६ अर्थ	विवेकसागर	(अतपत्र संग्रह में)
(१०)	पंचतीर्थी श्लोक के ७ अर्थ	हर्षकुल	,, ,,
(११)	पुडरीक शब्दशतार्थ स्तव गा० २७	सर्वविजय	,, ,,
(१२)	सारंग शब्दार्थ मय पार्श्व स्तोत्र गा० ७	रामविजय	,, ,,
(१३)	समस्यापूर्त्ति स्तोत्र		,, ,,

अन्य अनेक टीकादि ग्रन्थों में अनेकार्थ साहित्य की उपलब्धि होती है। भास्कर में प्रकाशित उपर्युक्त लेख में रतनगढ़ पुस्तकालय की शतार्थीक कर्त्ता का नाम नहीं दिया था पीछे से प्रति को मगाकर देखने पर वह कवि चक्रवर्ती श्रीपाल रचित प्रमाणित हुई है। स्व० विजयानन्दसूरि के स्तुतिमय १ श्लोक के ७२ अर्थ पं० बैजनाथ शर्मा नामक जैनेतर विद्वान ने किये हैं। हमारे

उपर्युक्त लेख में उल्लिखित खरतर गच्छीय हंसप्रमोद विरचित सारंग सार वृत्ति का आदि अन्त श्लोकों के साथ संक्षिप्त परिचय जैसलमेर भाण्डागारीय ग्रन्थाना सूची पृ० ६७-७३ में प्रकाशित है और इनका उल्लेख अनेकार्थ रत्न मञ्जूषा में हीरालाल रसिक दास कापड़िया ने भी किया है। इस ग्रन्थ की अद्यावधि केवल एक ही प्रति तपागच्छ उपाश्रय भंडार जैसलमेर में उपलब्ध थी। वह प्रति आचार्य श्री विजयसूरि जी के पास कलकत्ते में हमारे अवलोकन में आई उसीके आधार से विशेष परिचय इस लेख मे दे रहे हैं।

इस ग्रन्थ मे सारगसार वाक्य के प्रारम्भवृत्त के २६६ अर्थ किये गये हैं, जिनमें पिछले कई अर्थों मे कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी उल्लेख पाया जाता है। अर्थों की नामावली एवं ऐतिहासिक तथ्यों का सार अद्यावधि अप्रकाशित होने से यहाँ दिया जा रहा है। हमारे अनेकार्थ साहित्य का अन्वेषण अभीतक बहुत कम हुआ है, खोज करने पर छोटी बड़ी अनेक कृतियाँ मिलने की सभावना है। साहित्य प्रेमी विद्वानों से अनुरोध है कि वे जैन धर्म के इस विशिष्ट अनेकार्थ साहित्य को शीघ्र प्रकाश में लावें।

आदिः—

॥ श्री भारतीचरणारविन्दाय नमः ॥

नमस्कृत्य कृतानन्दं कन्दं सौभाग्यसाखिनः

वीरं बह्वर्थवृत्तस्य वृत्तिं कुर्वे यथामतिः ॥१॥

तत्रेद वृत्त—सारगसारकमलाद्रसोमकान्ताः, देवागमामृतविभाजय धीरभूते।

वामोपकारभरताभिपराजमान वर्णाप्त, बन्धुरशिवाङ्गजहृद्भावः ॥१॥

अत्र वर्णापदार्थाः—

चतुर्विंशतिर्जिनाः ॥२४॥ पुण्डरीकगणधरः ॥२५॥ गौतमगणधरः ॥२६॥ नव चक्रवर्तिनः ॥३५॥ नव वासुदेवाः ॥४४॥ बलभद्रः ॥४५॥ नवग्रहाः ॥५४॥ गिरिः ॥५५॥ मेघः ॥५६॥ ब्रह्मा ॥५७॥ शम्भुः ॥५८॥ इन्द्रः ॥५९॥ कन्दर्पः ॥६०॥ स्कन्दः ॥६१॥ गणेशः ॥६२॥ राजा ॥६३॥ समुद्रः ॥६४॥ मेरुः ॥६५॥ कैलाशः ॥६६॥ दिनं ॥६७॥ ऐरावतः ॥६८॥ स्वर्गः ॥६९॥ शेषनागः ॥७०॥ भटः ॥७१॥ विप्रः ॥७२॥ प्रसादः ॥७३॥ दम्भोलिः ॥७४॥ वृक्षः ॥७५॥ रावणः ॥७६॥ हंसः ॥७७॥ हरिणः ॥७८॥ चातकः ॥७९॥ मयूरः ॥८०॥ धनदः ॥८१॥ उच्चैः श्रवाहयः ॥८२॥ जयन्तः ॥८३॥ वायुः ॥८४॥ अग्निः ॥८५॥ हनुमान् ॥८६॥ भीमः ॥८७॥ अर्जुनः ॥८८॥ द्रव्य ॥८९॥ गरुणः ॥९०॥ भृङ्गः ॥९१॥ नारदः ॥९२॥ अरुणः ॥९३॥ पांचजन्यः ॥९४॥ सिद्धान्तः ॥९५॥ देववैद्यः ॥९६॥ सिंहः ॥९७॥ असिः ॥९८॥ पण्डितः ॥९९॥ प्रदीपः ॥१००॥ जलं ॥१०१॥ स्वर्णः ॥२॥ रजतं ॥३॥ दुर्गः ॥४॥ मार्गः ॥५॥ नृपमन्दिरं ॥६॥ भूः ॥७॥ पारदः ॥८॥ मुक्ताफलं

॥६॥ चन्द्रकान्तः ॥१०॥ सूर्यकान्तः ॥११॥ नदी ॥१२॥ वृषभः ॥१३॥ सर्प्पः ॥१४॥ छागः ॥१५॥ यमः ॥१६॥ मेरुः ॥१७॥ शुकः ॥१८॥ वानरः ॥१९॥ अश्वः ॥२०॥ वरुणः ॥२१॥ देवः ॥२२॥ बालः ॥२३॥ कर्प्पूरः ॥२४॥ इन्द्रिय ॥२५॥ रावणसुनः ॥२६॥ जम्बोलः ॥२७॥ रथः ॥२८॥ पाशकः ॥२९॥ विभीतकः ॥३०॥ आत्मा ॥३१॥ मोक्षः ॥३२॥ गोरसः ॥३३॥ अमृत ॥३४॥ केसरः ॥३५॥ गगा ॥३६॥ धनी ॥३७॥ यशः ॥३८॥ वेद ॥३९॥ ताम्रचूडः ॥४०॥ दानवः ॥४१॥ अगस्तिः ॥४२॥ मन्त्रिः ॥४३॥ वराहः ॥४४॥ कमल ॥४५॥ नागी ॥४६॥ नरः ॥४७॥ नटः ॥४८॥ युद्धभूः ॥४९॥ धनुः ॥५०॥ प्रवाल ॥५१॥ लवः ॥५२॥ चन्दन ॥५३॥ आसनः ॥५४॥ द्रुमः ॥५५ लक्ष्मीः ॥५६॥ भारती ॥५७॥ शची ॥५८॥ गौरी ॥५९॥ वीणा ॥६०॥ मलयाचलः ॥६१॥ चौरः ॥६२॥ युद्ध ॥६३॥ चक्र ॥६४॥ घृत ॥६५॥ मेघज ॥६६॥ मेघागमः ॥६७॥ रतं ॥६८॥ पित्तल ॥६९॥ ताम्र ॥७०॥ वगः ॥७१॥ यशः ॥७२॥ बिल्वः ॥७३॥ कज्जल ॥७४॥ रात्रिः ॥७५॥ अगराग ॥७६॥ नकुलः ॥७७॥ अत्तर ॥७८॥ जलकेलि ॥७९॥ अन्नं ॥८०॥ सेत्रः ॥८१॥ आश्विनमासः ॥८२॥ बालकः ॥८३॥ चैत्रमास ॥८४॥ बन्धुजीवः ॥८५॥ मार्गशीर्षः ॥८६॥ माघमासः ॥८७॥ आपाढ ॥८८॥ मुद्ग ॥८९॥ लाप ॥९०॥ पूर्णकलशः ॥९१॥ दर्पणः ॥९२॥ रसायन ॥९३॥ शरः ॥९४॥ पाषाण ॥९५॥ आमः ॥९६॥ रोगः ॥९७॥ दुर्जनः ॥९८॥ देवी ॥९९॥ श्रीरामः ॥२००॥ सीता ॥१॥ कर्णपूर ॥२॥ श्याम लता ॥ ॥ शिलाजतु ॥४॥ शीत ॥५॥ धूमः ॥६॥ विद्युत् ॥७॥ इन्द्रधनु ॥८॥ मनोहरं ॥९॥ विष ॥१०॥ मानससरः ॥११॥ यानपात्र ॥१२॥ भीरुः ॥१३॥ वीर्य ॥१४॥ सल्लकी ॥१५॥ कगुः ॥१६॥ जिह्वा ॥१ ॥ भय ॥१८॥ गर्त्त ॥१९॥ हरीतकी ॥२०॥ आमलुकी ॥२१॥ शृगाली ॥२२॥ शृगालः ॥२३॥ तुच्छा ॥२४॥ वाराटकः ॥२५॥ व्यवहारः ॥२६॥ भूतः ॥२७॥ गुग्गुलुः ॥२८॥ श्वा ॥२९॥ बुद्धि ॥३०॥ भियगः ॥३१॥ स्तुतिः ॥३२॥ गुण ॥३३॥ प्रथमाश्रमस्थानरः ॥३४॥ किंशुकतरुः ॥३५॥ पिप्पलतरुः ॥३६॥ वटतरुः ॥३७॥ धत्तूरतरुः ॥३८॥ निंबतरुः ॥३९॥ कामशास्त्रम् ॥४०॥ सुंदरागमः ॥४१॥ सन्ध्या ॥४२॥ जयः ॥४३॥ अजयः ॥४४॥ वामा राज्ञी ॥४५॥ रतिः ॥४६॥ विडंगः ॥४७॥ नृत्यभू ॥४८॥ धनोपलः ॥४९॥ याचाचिका ॥५०॥ लवण ॥५१॥ मूर्खः ॥५२॥ स्वापः ॥५३॥ गीत ॥५४॥ उद्योत ॥५५॥ अजनूपः ॥५६॥ भरतः ॥५७॥ बाहुबली ॥५८॥ चामर ॥५९॥ छत्र ॥६०॥ कल्प वृक्षः ॥६१॥ श्री अकबरः ॥६२॥ युगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरिः ॥६३॥ श्री जिनसिंह सूरिः ॥६४॥ श्री हर्षचन्द्र मुनि ॥६५॥ हसप्रमोद गणिः ॥२६६॥

इस ग्रन्थ में निम्नोक्त ऐतिहासिक बातें वर्णित हैं:—

१ अकबर ने श्री जिनसिंहसूरि जी के उपदेश से शिकार खेलना बन्द किया।

२ अकबर ने सूर्य्य का आराधन किया था।

३ आषाढ़ीपर्व में चौमासा करके श्री जिनचन्द्रसूरिजी के अभयदेवसूरि विषयक चर्चा में

चौरासी गच्छाचार्यों के समक्ष खरतर गच्छीय प्रमाणित करके धर्मसागर की प्ररूपणा मिथ्या प्रमाणित की।

४ अकबर की अभ्यर्थना से श्री जिनसिंह सूरि जी ने उनके साथ काश्मीर विहार किया और एक मास तक वितस्ता नदी की मछलियों की रक्षा की (मारना बन्द हुआ)।

५ काश्मीर से लाहौर आकर श्रीजिनचन्द्र सूरि को विनति कर अकबर ने मानसिंह जी को आचार्य पद दिलाया (स० १६४९ फा० सु० २ भृगु)—कर्मचन्द्र ने सवाकरोड़ द्रव्य व्यय किया[1]।

६ शिष्य के अनुरोध से कर्त्ता ने शेष मे अपने नाम के अर्थ वाली टीका भी रची।

७ हंसप्रमोद का जन्म सौराष्ट्र देश में हुआ था।

८ हंसप्रमोद जी ने मंत्रीश्वर कर्मचन्द्र के पुत्र भाग्यचन्द्र लक्ष्मीचन्द्र के बन्धन मोक्ष का निर्णीत दिवस आम्नाय से बतला दिया।

९ हंसप्रमोद जी ने सैकड़ो विद्यार्थियों को पढ़ाया था।

१० कालाऊना ग्राम मे राम के पुत्र भगवानदास ने चतुर्दशी के दिन चोरों को पकड़ा। श्रद्धालु श्रावकों के निवेदन करने पर आम्नाय के बल से उन्हे (हंसप्रमोद जी ने मारे जाते हुए चोरों को) अभयदान दिलाया।

अन्त्य प्रशस्ति—

युगप्रधान सश्रीका जिनचन्द्रगणाधिपः।
राजन्तेऽकबरोर्व्वीश प्रतिबोधविधायकाः ॥१॥
युगाचार्य इवाचार्य श्रीजिनसिंहसूरिराट्
विभातिविबुध श्रेणिसमाश्रितपदाम्बुजः ॥२॥
सुरतरुसम शोभाधर आसीज्जिनकुशलसूरिगुरुराजः।
तच्छाम्नायां जज्ञे वाचक वरमोदराजगणिः ॥३॥
वाचक वृषभा आसन् तच्छिष्या भावमन्दिरास्तदनु
श्रीपाठक नन्दिजया लब्धजया प्राज्ञपर्षदसु ॥४॥
जीवितव्यमभूत्तेषां शरदा षोडशं शत।
तत्सतीर्थ्या वभूवुर्न्ते साधुवर्द्धनवाचकाः ॥५॥
तेषां शिष्यागुणैर्मुख्या विख्यातागमपारगाः।
महिममेरुगणयो जज्ञिरे वरवाचकाः ॥६॥

---

[1]—राय बद्रीदास म्युजियम कलकत्ते में इसकी एक प्रति उपलब्ध हुई है वह ७२ पत्रों की है। पत्रांक २-३-४ कम हैं व नये पत्र थोड़े थोड़े में स्थित हैं। प्रति १७ वीं शती की ही लिखित है।

वाचनाचार्यधुर्याय्याः तत्प्रतीय्यांशुर्भयत्र:
तेजःसार गणि श्रेष्ठी उत्कृष्ट यतिमार्गगाः ॥७॥
हर्षचन्द्रमुनिर्हर्ष समुत्कर्षप्रदायकः
चिरंजीव्याज्जगज्जन्तु प्राणत्राणपरायणः ॥८॥
तच्छिष्येण सदभ्यस्ति कुर्वता भवमेधसा
हंसप्रमोदगणिना ग्रन्थ एष समर्थितः ॥९॥
यदत्र वितथ किंचित् तन्मंशोध्यं विचक्षणः
चेतसीति समाधाय को भ्रान्त. कोविदं बिना ॥१०॥
दोर्गुहास्य गुहास्यैकमितेवर्षे कृता अमी ।
अर्थास्सहादिसमन्या पार्श्वनाथप्रसादतः ॥११॥

॥ इति प्रशस्ति ॥

॥ ग्रं० १९५५ ॥

जैनधर्म का महान् प्रचारक — सम्राट् सम्प्रति

[ले०—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य]

मौर्य राजाओं में सम्राट् चन्द्रगुप्त और सम्प्रति दोनों ही जैनधर्म के महान् प्रचारक हुए हैं। बौद्ध धर्म के प्रचार में जो स्थान अशोक को प्राप्त है, जैनधर्म के प्रचार और प्रसार में वही स्थान सम्प्रति का है। सम्प्रति की जीवन गाथा के सम्बन्ध मे हेमचन्द्र ने अपने परिशिष्ट पर्व मे लिखा है कि बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् अशोक राज्यासीन हुआ। अशोक के लाड़िले पुत्र का नाम कुणाल था। सम्राट् अशोक को सर्वदा यह चिन्ता बनी रहती थी कि कहीं ऐसा न हो कि विमाता तिष्यरक्षिता कुमार कुणाल के जीवन को खतरे में डाल दे तथा वह अपने षड्यन्त्र द्वारा अपने पुत्र को राज्याधिकारी न बना दे। अतः अशोक ने कुणाल को उज्जयिनी में अपने भाई के संरक्षण में रखा। जब कुणाल आठ वर्ष का हो गया तो रक्षक पुरुषों ने राजा अशोक को सूचना दी कि कुमार अब विद्याध्ययन करने के योग्य हो गया है। सम्राट् अशोक इस समाचार को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और अपने हाथ से कुमार को विद्याध्ययन कराने का आदेश सूचक पत्र लिखा। पत्र समाप्त करने के पश्चात् साल-मुहर करने से पहले ही अशोक किसी आवश्यक कार्य से बाहर चला गया। इधर रानी तिष्यरक्षिता वहाँ आ पहुँची और उसने उस पत्र को पढ़ा। पढ़कर अपने मनोवाञ्छित कार्य को पूरा करने के लिये "कुमारो अधीयउ" के स्थान पर अपनी आँख के काजल से एक अनुस्वार बढ़ाकर 'कुमारो अंधीयउ' बना दिया। आवश्यक कार्य से लौटकर अशोक ने पत्र बिना ही पढ़े बन्द कर दूत (पत्रवाहक) को दे दिया।

उज्जयिनी में पत्रवाहक ने जब पत्र दिया और उसे खोलकर पढ़ा गया तो वहाँ शोक छा गया। कुमार कुणाल के अभिभावक महाराज अशोक के भाई ने तत्काल समझ लिया कि यह राजकीय विवाद का परिणाम है। परन्तु पितृ-भक्त कुणाल ने विचार किया कि पिता ने मुझे अन्धा होने के लिये लिखा है, यदि मैं पिता की आज्ञा का पालन नहीं करता हूं तो मुझ से बड़ा मौर्यवंश में पातकी कौन होगा। अतः उसने आग में गर्मकर लोहे की सलाइयों से अपनी दोनों आँखें फोड़ डालीं और वह स्वयं सदा के लिये अन्धा बन गया। पत्रवाहक के वापस आने पर इस दुःखद समाचार ने पाटलीपुत्र में तहलका मचा दिया। सम्राट् अशोक भी प्रिय पुत्र के अन्धे हो जाने से बहुत दुखी हुआ तथा अपने प्रमाद पर उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ।

अन्धा हो जाने से कुणाल का राज्य-गद्दी पर अधिकार न रहा। अशोक ने उसे जीविका सम्पन्न करने के लिये उज्जयिनी के आस-पास के कुछ गाँव दे दिये। कुणाल

को कुछ दिन के पश्चात् सर्वलक्षण सम्पन्न एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्रोत्पत्ति का समाचार सुनकर कुणाल को बहुत प्रसन्नता हुई और उसने अपनी सौतेली माता से बदला लेने का विचार किया। कुणाल संगीत विद्या में बहुत निपुण था, उसके संगीत की मधुर लहर जड़-चेतन सभी को आनन्दविभोर करती थी। अतएव वह पाटलीपुत्र में गया और वहाँ संगीत द्वारा सारे नगर को अपने आधीन कर लिया। अन्धे गायक की प्रशंसा राजमहलों तक पहुँची, राजा अशोक ने भी पर्दे की ओट से गाना सुना। कुणाल ने मधुर कंठ से अमृत उड़ेलते हुए कहा—

प्रपौत्रश्चन्द्रगुप्तस्य बिन्दुसारस्य नप्तृकः।
एषोऽशोकश्रियः सूनुरन्धो याचति काकणिम्॥

इस श्लोक को सुनकर अशोक को बड़ा आश्चर्य हुआ और पर्दे की ओट से निकल कर अन्धे गायक का पूरा परिचय पूछा। जब राजा को कुणाल का पूरा वृत्तान्त अवगत हो गया तो उसने कहा—पुत्र! क्या चाहता है? जो माँगेगा, दूँगा।

कुणाल—पिताजी! मैं एक काकिनी चाहता हूँ। मंत्री ने राजाको समझाया कि राजपुत्र काकिनी से राज्य की याचना करते हैं। अशोक ने पुनः कुणाल से कहा कि अन्धे होकर तुम राज्य से क्या करोगे? अन्धे को राज-गद्दी कैसे दी जा सकती है?

कुणाल—पिताजी! आपकी कृपा से मेरे पुत्र उत्पन्न हुआ है, आप उसीका राज्याभिषेक कीजिये।

अशोक—तुम्हारे पुत्र कब उत्पन्न हुआ है? कुणाल हाथ जोड़कर कहने लगा—सम्प्रति अर्थात्—अभी। यह सुनकर अशोक ने बालक को धूमधाम के साथ पाटलीपुत्र में बुलवाया और उसका जन्मोत्सव मनाया। बालक का नाम कुणाल के उच्चारण पर सम्प्रति ही रख दिया। सम्प्रति का जन्म ई० पू० ३०४ पौषमास—जनवरी में हुआ था। मगध में लाये जाने पर इसकी अवस्था १० दिन की थी। सम्प्रति का राज्याभिषेक ई० पू० २८९ में १५ वर्ष की अवस्था में अक्षयतृतीया के दिन हुआ था।

ऐतिहासिक मतभेद—

विष्णुपुराण में अशोक का उत्तराधिकारी सुयश को[1] बताया है। राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर प्रान्त पर अशोक का पुत्र वीरसेन गान्धार का शासक था। विष्णुपुराण और मत्स्यपुराण में अशोक का पोता दशरथ बताया[2] गया है। दशरथ

१—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ६१५

२—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया पृ० १९२

का नागार्जुन पहाड़ी (गया के पास) की गुफा में एक दानसूचक अभिलेख मिला है, जिसकी लिपि के[1] आधार पर विन्सेएटस्मिथ का अनुमान है कि यही अशोक के राज्य का उत्तराधिकारी था। जैकोबी ने सम्प्रति को कल्पित बताया है अथवा इनका अनुमान है कि पूर्वीय राज्य का दशरथ उत्तराधिकारी था और पश्चिमीय राज्य का सम्प्रति रहा होगा।

वायुपुराण में कुणाल का पुत्र बन्धुपालित और उसका उत्तराधिकारी इन्द्रपालित बताया गया है। जायसवाल यह निष्कर्ष निकालते हैं कि बन्धुपालित और इन्द्रपालित क्रमशः दशरथ और सम्प्रति के उपनाम थे तथा सम्प्रति दशरथ का छोटा भाई और उत्तराधिकारी था[2]। तारानाथ कुणाल के पुत्र का नाम विगताशोक बतलाते हैं, संभवतः यह सम्प्रति का उपनाम हो। अशोक के शिलालेखों के आधार पर सम्प्रति का उपनाम प्रियदर्शिन् भी बताया जाता है। श्री गिरनारजी की तलहटी में सुदर्शन नामका तालाब है, उसके पुनरुद्धार सम्बन्धी शिलालेख का पीटर्सन साहब ने अनुवाद करते हुए कहा है कि इस तालाब को प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में विष्णुगुप्त ने बनवाया[3] था। इसके पश्चात् इसके चारों ओर की दीवालें सम्राट् अशोक के समय में तुषस् नामक सत्ताधारी ने पहली बार सुधरवायी थीं। तत्पश्चात् दूसरी बार पुनरुद्धार प्रियदर्शिन् के समय में हुआ। इस कथन में चन्द्रगुप्त, अशोक और प्रियदर्शिन् इन तीन शासकों के नाम आये हैं। पीटर्सन साहब ने प्रियदर्शिन् उर्फ सम्प्रति के सम्बन्ध में शिलालेख से निष्कर्ष निकाला है कि "उस राजवंशी पुरुष की जन्मकाल से लेकर उत्तरोत्तर अप्रतिहत समृद्धि निरन्तर बढ़ती ही चली गयी"

ऐतिहासिक प्रमाण

(१) प्रो० रा० गो० भाण्डारकर[4] का कथन है कि राजा सम्प्रति को केवल १० दिन की अवस्था में गद्दी पर बैठाया गया था।

(२) मगध के सिंहासन पर श्रेणिक के पश्चात् सत्रहवाँ राजा सम्प्रति[5] हुआ। उसका शासन काल वी० नि० सं० २३८ (ई० पू० २८९) से आरम्भ हुआ, जब सम्राट् अशोक के शासन का अन्त हो रहा था।

१—प्राचीन भारत पृ० २१८ तथा प्राचीन राजवंश द्वितीय भाग पृ० १३४

२—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ६१६

३—भावनगर के शिलालेख संस्कृत और प्राकृत पृ० २०

४—भाण्डारकर साहब की रिपोर्ट IV, सन् १८८३-८४ पृ० १३५

५—इंडियन ऐंटिक्वेरी पु० ११ पृ० २४६

(३) कर्नल टॉड साहब सम्प्रति [1] का शासन काल ई० पू० ३०३–३०४ में आरम्भ हुआ बताते हैं तथा उनका कहना है कि दस महीने की अवस्था में यह गद्दी पर बैठाया गया था और १५ वर्ष की अवस्था में ई० पू० २९०-२८९ में इसका राज्याभिषेक हुआ था।

(४) तिब्बत देश के ग्रन्थों में लिखा गया है कि सम्प्रति [2] बादशाह म० सं० २३५ में सिंहासनासीन हुआ था।

(५) प्रो० पिशल साहब [3] की दृढ़ सम्मति है कि रूपनाथ, सासाराम और वैराट के शिलालेख भी सम्प्रति के ही खुदवाये हैं। इस अभिप्राय से प्रो० रोजडेविस साहब भी सहमत हैं।

(६) दिव्यदान [4] के पृष्ठ ४३० में स्पष्ट लिखा हुआ है कि सम्प्रति कुणाल का पुत्र था। इस लेख में यह भी बताया गया है कि अशोक के बाद राजगद्दी पर आसीन होनेवाला प्रियदर्शिन् ही सम्प्रति है। यह जैनधर्मानुयायी था। इसके अनुसार सम्प्रति का पुत्र बृहस्पति, बृहस्पति का पुत्र वृषसेन तथा वृषसेन का पुण्यधर्मा था।

(७) सम्प्रति [5] के समय मे जैनधर्म की बुनियाद तमिल भारत के नये राज्यों मे भी जा जमी, इसमे सन्देह नहीं। उत्तर पश्चिम के अनार्य देशों में भी सम्प्रति के समय जैन प्रचारक भेजे गये और वहाँ जैन साधुओं के लिये अनेक विहार स्थापित किये गये।

(८) बौद्ध [6] साहित्य और जैन साहित्य की कथाओं से सिद्ध होता है कि सम्प्रति जैनधर्म का अनुयायी प्रभावक शासक था। इसने अपने राज्य का खूब विस्तार किया था।

(९) कल्पसूत्र [7] की टीका में बताया गया है कि सम्प्रति को रथयात्रा के समय आर्य सुहस्ति के दर्शन से जाति स्मरण हो गया था; जिससे उसने जैन धर्म के प्रसार के लिये सवा करोड़ जिनालय बनवाये।

१—टॉड राजस्थान, द्वितीय आवृत्ति

२—इण्डियन ऐंटिक्वेरी पु० ३२ पृ० २३०

३—इण्डियन ऐंटिक्वेरी पु० ६ पृ० १४९

४—राधा कुमुदमुकर्जी, अशोक पृ० ८, इण्डियन एण्टी० १९१४ पृ० १९८ फुट नो० ६७

५—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ६१६

6—Both the Buddhist and the Jain traditions about Samprati have been referred to us. .. . Cf Ray Chaudhuri, op. cip. p. 220,

७—सम्प्रति ""पितामहदत्तराज्यो रथयात्राप्रवृत्त श्रीआर्यसुहस्तिदर्शनाजात जातिस्मृतिः"" ""जिनायतनपादकोटि""मकरोत्—कल्पसूत्र सुखबोध टीका सूत्र ६ पृ० १६१

(१०) स्मिथ[1] साहब ने बताया है कि सम्प्रति प्राचीन भारत में बड़ा प्रभावक शासक हुआ है। इसने अशोक ने जिस प्रकार बौद्धधर्म का प्रचार किया था, उसी प्रकार जैनधर्म का प्रचार किया। धर्म प्रचार के कार्यों की दृष्टि से चन्द्रगुप्त से भी बढ़कर इसका स्थान है।

(११) तीन[2] खण्डों का स्वामी परम प्रतापी कुणाल का पुत्र महाराज सम्प्रति हुआ। यह अर्हन्त भगवान् का भक्त था, इसने अनार्य देशों में भी जैनधर्म के प्रचारकों को भेजा था तथा जैन मुनियों के लिये विहार बनवाये थे। आर्य सुहस्ति से इसने जिनदीक्षा ली थी।

जीवन गाथा

सम्प्रति[3] ने अपने बाहुबल से अनेक देश-देशान्तरों को जीतकर आधीन कर लिया था। दिग्विजय के पश्चात् यह एक दिन अपने उज्जयिनी के महल के वातायन में बैठा हुआ था। इतने में अर्हन्त भगवान की रथयात्रा का जुलूस निकला, रथ के ऊपरी भाग पर आर्यमहागिरि[4] और आर्यसुहस्ति[5] थे, इन आचार्यों को देखते ही राजा के मन मे विचार आया कि इन्हें मैंने कभी देखा है, इस प्रकार ऊहा-पोह करने पर उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया और पूर्वजन्म की बाते याद आ गयी। विचारो में तल्लीन होने से राजा को मूर्च्छा आ गयी। मन्त्रियों ने वायु-प्रक्षेप और शीतोपचारो से राजा को सचेत किया।

सावधान होकर महाराज सम्प्रति महल से नीचे आया और अपने गुरु आर्य-सुहस्ति की तीन प्रदक्षिणा दीं तथा नमोऽस्तु कर कहने लगा—"प्रभो! क्या आप मुझे पहचानते हैं? आर्य सुहस्ति ने अपने ज्ञानबल से तत्काल ही उसके पूर्वजन्म की

1—Almost all ancient Jain temples or monuments of unknown origin are ascribed by the popular voice to Samprati, who is in fact regarded as a Jaina Asoka" —Smith Early history of India p 202.

२—तद्वंशे तु बिन्दुसारोऽशोकश्रीकुणालसूनुस्त्रिखण्डभरताधिप परमार्हतो अनार्यदेशेष्वपि प्रवर्तितश्रमणविहारः सम्प्रतिमहाराजश्चाभवत् —विविधतीर्थकल्पे पाटलीपुत्रनगरकल्पः पृ० ६९

३—परिशिष्ट पर्व दूसरा भाग पृ० १३५– २४

४—श्वेताम्बर आगम में आर्य महागिरि को दिगम्बर बताया है तथा इन्हें आर्य सुहस्ति का भाई भी माना है। आर्य सुहस्ति आर्य महागिरि को वन्दना करते थे तथा सब प्रकार से उनका सम्मान करते थे।

५—आर्य सुहस्ति अर्द्धफालक सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे, क्योंकि श्वेताम्बर और दिगम्बरों का संघ भेद विक्रम संवत् १३९ में हुआ है। यह अर्द्धफालक सम्प्रदाय दिगम्बर और श्वेताम्बरों की मध्य की चीज था, इसीसे आगे श्वेताम्बर सम्प्रदाय निकला है। आर्य सुहस्ति ने उज्जयिनी में उस वर्ष चातुर्मास किया था और चातुर्मास की समाप्ति के हर्षोपलक्ष में ही रथयात्रा वहाँ की गयी थी।

घटना अवगत कर ली। उन्होंने कहा सामायिक व्रत के प्रभाव से तुम राजघराने में उत्पन्न हुए हो। यद्यपि तुमने क्षुल्लक के ही व्रतों का पालन किया था, पर अहिंसक जैनधर्म के पालन करने से ऐसे तुच्छ फलों का कोई महत्व नहीं। यह कल्याणकारी धर्म मोक्ष देनेवाला है, इससे जीव अपना सब तरह से उद्धार कर सकता है।

सम्प्रति को गुरुवचनों पर बड़ीभारी श्रद्धा हुई और उसने तत्काल जैनधर्म स्वीकार कर लिया। इसके दो वर्ष बाद उसने कलिंग देश जीता और व्रत ग्रहण किये। सम्राट् सम्प्रति ने युवावस्था मे भारत के समस्त राजाओं को करदाता बना दिया था। अटक के निकट आकर सिन्धु नदी पार करने के उपरान्त अफगानिस्तान के मार्ग से ईरान, अरब और मिस्र आदि देशों पर अपना अधिकार किया और कर लिया।

इसके सम्बन्ध में बताया गया है कि इसने सिन्धु नदी के पार के उन सरदारों को जीतकर—जिन्हें सम्राट् अशोक भी अपने आधीन नहीं कर सका था—कर वसूल किया[1]। जिस प्रकार अजातशत्रु के आधीन १६००० करद राज्य थे, उसी प्रकार इसके आधीन राज्यों की संख्या भी उतनी ही थी। इस तरह सम्राट् सम्प्रति जब दिग्विजय कर वापस लौटा तो अशोक के मुँह से ये उद्गार निकले कि 'मेरे पितामह चन्द्रगुप्त तो केवल भारत के ही सम्राट् थे, किन्तु मेरा पौत्र सम्प्रति तो संसार भर का सम्राट् है",

मौर्य राजाओं के[2] राज्यविस्तार की यव से उपमा देते हुए बताया है कि जिस प्रकार यव (जौ) प्रारम्भ में कुछ मोटा, उसके बाद अधिक मोटा और मध्य में सबसे अधिक मोटा होता है, पश्चात् धीरे-धीरे घटते-घटते सूक्ष्म हो जाता है; इसी प्रकार चन्द्रगुप्त की विभूति से अधिक बिन्दुसार की विभूति, उससे अधिक अशोक की और अशोक से भी ज्यादा सम्प्रति की विभूति थी। इसके पश्चात् इस वंश की विभूति उत्तरोत्तर कम होती चली गयी। इसने अपने राज्य में सब प्रकार से अहिंसा धर्म का प्रचार करने का यत्न किया।

१—नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १६ अंक १ पृ० ४१

२—जवमज्झमुरियवंसे, दाणावणिविवणिदारसलोए।
तसजीवपडिक्कमओ पभावओ समणसंघस्स ॥

यथा यवो मध्यभागे पृथुल. आदावन्ते च हीनः एवं मौर्यवंशोऽपि। तथाहि—चन्द्रगुप्तस्तावद् बहुजवाहनादिविभूत्या विभूषित आसीत्। ततो बिन्दुसारो बृहत्तरस्ततोऽप्यशोकश्रीर्बृहत्तमस्ततः सम्प्रतिः सर्वोत्कृष्टः। ततो भूयोऽपि तथैव हानिरवसातव्या। एवं यवमध्यकल्पः सम्प्रतिनृपतिरासीत्।

—अभिधानराजेन्द्र सप्तम भाग पृ० ११६

सम्राट् सम्प्रति ने राज्य की सुव्यवस्था करने के लिये अपनी राजधानी अवन्ती[1] (उज्जयिनी) में बनायी थी। राजनैतिक दृष्टिकोण से पाटलीपुत्र में इतने बड़े साम्राज्य की राजधानी रखने से शासनसूत्र चलाने में अनेक कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ता। एक बात यह भी थी कि प्रारम्भ से उज्जयिनी में ही सम्प्रति की शिक्षा-दीक्षा भी हुई थी, इसलिये इस स्थान से विशेष प्रेम भी इसका था; अतः उज्जयिनी में राजधानी स्थापित कर आनन्दपूर्वक शासन करता था। पाँच अणुव्रतों का यथार्थ रीति से पालन करते हुए इसने अनेक धर्म कार्य किये थे।

दिग्विजय के दो वर्ष पश्चात् सम्राट् सम्प्रति सम्यग्दृष्टि श्रावक बनकर संघ सहित तीर्थयात्रा के लिये रवाना हुआ। इसने मार्ग मे कुँए, धर्मशालाएँ, जिनमन्दिर और अनेक दानशालाएँ स्थापित की थीं। यह संघसहित यात्रा करता हुआ उर्जयन्त गिरि (गिरनारजी) पर पहुचा तथा वहाँ के सुदर्शन नामके तालाब का पुनरुद्धार कराया और शत्रुञ्जय पर जिनमन्दिरों का निर्माण कराया। इसने अपने राज्य मे शिकार खेलने का पूर्ण निषेध करवा दिया था। इसका जीवन पूर्णतया श्रावक का था। इसकी आयु सौ वर्ष की बतायी गयी है।

शिलालेख

यद्यपि वर्तमान में एक भी शिलालेख सम्प्रति के नाम का नहीं माना जाता है, प्रायः उपलब्ध मौर्यवश के अधिकांश शिलालेख अशोक के नाम से प्रचलित है। पर ईमानदारी के साथ इन शिलालेखों का परीक्षण किया जाय तो दो-चार अभिलेखों को छोड़ शेष सभी अभिलेख सम्प्रति के ही प्रतीत होंगे। यहाँ पर कुछ विचार-विनिमय किया जायगा, जिससे पाठक उक्त कथन की यथार्थता को सहज हृदयंगम कर सकेंगे।

१—पुरातत्त्व विभाग के असि० डायरेक्टर[2]—जनरल स्व० पी० सी० बनर्जी लिखते है कि ये सब शिलालेख, जिनमें यवन राजाओं के नामों का अंगुलि-निर्देश

१—प्राचीन भारत पृ० २१८—२१९ और कॅम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया प्रथम पुस्तक पृ० ५६—१७१ तथा आलेश्वरबाहुबल्ल वृत्ति।

२—इण्डियन ऐंटि० ३२ पर तर्क उपस्थित करते हुए इन्होंने लिखा है कि यदि ये सभी शिलालेख अशोक के होते तो उनमें से किसी में भी उन्होंने अपना नाम क्यों नहीं लिखा? प्रियदर्शिन् ने राज्याभिषेक के नौ वर्ष बाद ग्रन लिये थे, ऐसी दशा में उक्त वर्णन अशोक से सम्बन्ध

किया गया है, किसी भी तरह सम्राट् अशोक[1] (द्वितीय) के बनाये हुए नहीं हो सकते। अधिक संभव तो उसके पौत्र राजा सम्प्रति द्वारा बनाये जाने का है, जिसने जैनधर्म स्वीकार कर अपने पितामह का पदानुकरण करते हुए शिलालेख खुदवाये होंगे।

२—प्रो० पिशल साहब[2] रूपनाथ, सासाराम और वैराट के शिलालेखों को अशोक के नहीं मानते, वे उन्हें सम्प्रति द्वारा खुदवाये बतलाते है।

३—पालीभाषा के अधिकारी विद्वान् प्रो० विल्सन[3] साहब लिखते हैं कि प्राणियों का बध रोकने विषयक उसके आर्डीनेंस बौद्धधर्म की अपेक्षा उसके प्रतिस्पर्धी जैनधर्म के सिद्धान्तों से अधिक मेल खाते हैं।

४—भाण्डारकर महोदय लिखते हैं कि स्तम्भ लेख नं० ३ में पाँच आस्रव बताये गये हैं। बौद्धधर्म में तीन ही आस्रव होते हैं। हाँ जैनधर्म में पाँच आस्रव[4] माने गये है।

५—राधाकुमुद मुकुर्जी[5] ने निष्कर्ष निकाला है कि फाहियान और युआनच्वांग नाम के दो चीनी यात्री भारतवर्ष मे आये थे, उनके किये हुए वर्णनों में इन शिलालेखो की चर्चा अवश्य है, किन्तु यह कहीं भी नही लिखा है कि ये शिलालेख अशोक के खुदवाये हुए है। केवल इतनी बात लिखी है कि ये लेख प्राचीन हैं, इनमें लिखी बात इनसे भी पहले की हैं।

रखना हो तो उसने राज्याभिषेक से छ: मास पूर्व और गद्दी पर बैठने के चौथे वर्ष बौद्धधर्म मे प्रवेश किया होगा। यदि दूसरा धर्म परिवर्तन कहा जा सकता हो तो राजा प्रियदर्शिन् ने मगधसंघ यात्रा अपने राज्य के दसवें वर्ष में की थी, जबकि मोग्गल पुत्र के नेतृत्व में तीसरी बौद्ध कौंसिल अशोक राज्य के सत्रहवें वर्ष में हुई थी। इन सब कारणों से अशोक के शिलालेख नही हो सकते।

१—शिशुनागवंशी कालाशोक उपनाम महापद्म को प्रायः अशोक कहा जाता है। समय ई० पू० ४५४–४२६

२—इण्डियन एण्टीक्वेरी पु० ७ पृ० ९४२

3—His ordinances concerning sparing of animal life agree much more closely with the Ideas of the heretical Jains than those of the Buddhists —ज० रा० ए० सो० १८८७ पृ० २७५

४—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पॉच आस्रव के कारण हैं।

5—Radha Kumood Mookerjee p 14 f. N 3, It should be noted that neither of these Chinese pilgrims (Fa-hian, Youan chwang) has described the inscriptions they had noticed as the inscriptions of Asoka They generally describe them d recording events of earlier times

६—प्रो० हुल्ट्श साहब[1] का मत है कि बौद्धमत की तत्त्वविद्या में आत्मविद्या विषयक जो विकासक्रम बतलाया गया है, उसमें और शिलालेखों की लिपि में धम्मपद विषयक जो विकासक्रम लिखा गया है, अत्यधिक अन्तर है। यह समग्र रचना ही जैनधर्म के अनुसार खोदी गयी है।

७—अशोक के सभी शिलालेख[2] सिकन्दरशाह के समय से लगभग ८० वर्ष बाद के सिद्ध होते हैं और इस गणना से उनका समय ई० पू० ३२३—८० = ई० पू० २४३ वर्ष आता है। पर अशोक की मृत्यु ई० पू० २२० में हो चुकी थी, अतः ये शिलालेख अशोक के कभी नहीं हो सकते। इनका निर्माता जैनधर्मानुयायी सम्प्रति अपर नाम प्रियदर्शिन् ही है।

आन्तरिक परीक्षण

अशोक के शिलालेखों का आभ्यन्तरिक परीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि अधिकांश शिलालेख जैन सम्राट् प्रियदर्शिन उपनाम सम्प्रति के हैं। विचार करने के लिये निम्न प्रमाण उपस्थित किये जा रहे हैं, जिनसे पाठक यथार्थता अवगत कर सकेंगे।

(१) अधिकांश शिलालेखों में 'देवाना[3] प्रिय प्रियदर्शी' आता है। यह प्रियदर्शी न तो अशोक का उपनाम है और न विशेषण ही था। अतः प्रियदर्शी के नाम के सभी शिलालेख सम्प्रति के हैं।

(२) जिन लेखों में अशोक का नाम स्पष्टतः आया है, उनमें बौद्ध धर्म के सिद्धान्त पाये जाते हैं, किन्तु जिनमें प्रियदर्शी का नाम आया है, उनमें जैनधर्म के सिद्धान्त ही वर्तमान हैं। इसी कारण कई ऐतिहासिक विद्वान् अशोक के जैनधर्मानुयायी होने की आशंका करते हैं। वास्तव में बात यह है कि मौर्यवंश में अकेला अशोक ही बौद्धधर्मानुयायी हुआ, शेष सभी पूर्व और परवर्ती सम्राट् जैनधर्मानुयायी ही थे।

(३) पाँचवें शिलालेख में बताया गया है कि "इह ब्राह्मणेषु च नगरेषु सर्वेषु अवरोधनेषु भ्रातृणां च अन्ये भगिनीनां एवं अपि अन्ये ज्ञातिषु सर्वत्र व्यापृताः[4]" अर्थात् राजा प्रियदर्शिन ने पाटलीपुत्र नगर एवं अन्यान्य स्थानों में अपने भाई, बहिनों को

१—कोर० इन्स्क्रिप्शन् इण्डि के० पु० १ पृ० XLVII

२—सर कनिंगहम् "बुक ऑफ एंसियंट इराज पृ० २

३—'देवानांप्रिय' विशेषण का उपयोग प्रायः साधु, महाराज, भक्तजन या किसी सेठ के लिये होता था। कभी-कभी पति-पत्नी भी एक दूसरे के सम्बोधन के लिये इसका व्यवहार करते थे।

—कल्पसूत्र की सुखबोधिनी टीका पृ० ४७

४—अशोक-धर्म लेख पृ० १६२

नियुक्त किया था। यदि इस कथन को अशोक के लिये माना जाय तो अनेक दोष आवेंगे। क्योंकि अशोक के सम्बन्ध में प्रसिद्धि है कि उसने अपने एक भाई को छोड़ शेष सभी कुटुम्बियों को निष्कण्टक राज्य करने लिये राज्याभिषेक से पूर्व ही मारवा डाला था; अतएव शिलालेख में उल्लिखित उसके भाई बहन कैसे हो सकते हैं? प्रियदर्शिन् के भाई, पुत्र और कुटुम्बियों के सम्बन्ध में उल्लेख दिल्ली टोपरा के स्तम्भ लेख नं० ७ में पाया जाता है। अतः प्रियदर्शिन् का ही यह लेख होगा।

(४) चौथे और ग्यारहवें शिलालेख में अहिंसा तत्त्व का वर्णन जैनधर्म की अपेक्षा ही किया गया है। बौद्ध मत में स्थावर जीव—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय की हिंसा का त्याग कहीं नहीं बताया गया है। यदि ये शिलालेख अशोक के होते तो सजीवतुष को जलाने का निषेध तथा वन में आग लगाने का निषेध कभी नहीं किया जाता। शिलालेखों मे अहिंसा का सूक्ष्म वर्णन जैन-धर्म के सिद्धान्तों के साथ ही समत्व रखता है, बौद्धधर्म के सिद्धान्तों के साथ नहीं।

(५) परभव के सुख के लिये लेखों में सर्व प्राणियों की रक्षा, संयम, समाचरण और मार्दव धर्म की शिक्षा दी गयी[1] है। समाचरण और संयम जैनधर्म[2] के आचार के प्रमुख अंग हैं, बौद्धधर्म में इन्हें महत्व पूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है।

(६) स्तम्भ लेख नं० ५ में पक्षियों के वध, जलचर प्राणियों के शिकार तथा अन्य प्राणियों के वध करने का अष्टमी, चतुर्दशी और कार्त्तिक, फाल्गुन, एवं आषाढ़ की अष्टान्हिका तथा पर्यूषण पर्व की पुण्यतिथियों में निषेध किया गया है। इस निषेध से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन तिथियों का महत्व जैनों के लिये जितना है, उतना अन्य धर्मावलम्बियों के लिये नहीं। अतः इस आज्ञा का प्रचारक जैन ही हो सकता है। अष्टमी और चतुर्दशी को पर्व तिथियाँ जैनों ने ही माना है बौद्ध और वैदिकों ने नहीं।

(७) जैनधर्म के पारिभाषिक शब्द शिलालेखों में इतने अधिक हैं, जिससे उनके निर्माता को बौद्ध कभी नहीं माना जा सकता। स्तम्भ लेख नं० ६ में पचूपगमन (प्रायु-पगमन), शिलालेख नं० ३ में प्राणारम्भ (प्राण अनारम्भ), शिलालेख नं० ५ में कल्प शिलालेख नं० १२ गुति (गुप्ति) और समवाय (समवायाङ्ग), स्तम्भ लेख नं० २ में संयम, भाव शुद्धि और आस्रव, शिलालेख नं० १३ में वेदनीय तथा पञ्चम स्तम्भ लेख

१—सव भूतानं अछति, संयम, समचरियं मादवं च—अशोक शिला-लेख ११, पृ० १५०

२—समदा समाचारो सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिंहि सम्माणं समाचारो हु आचारो ॥—मूलाचार १२३॥४॥

में जीवनिकाय और प्रोषध (प्रोषधोपवास) आदि शब्द आये हैं। इन शिलालेखों का निर्माता सम्प्रति उपनाम प्रियदर्शिन्' होना चाहिये।

(८) गिरनार के लेख नं० ३ मे 'स्वामिवात्सल्यता' का प्रयोग आया है बौद्ध धर्म की दृष्टि से यह बन नहीं सकता, क्योंकि बौद्धधर्म में भिक्षु और भिक्षुणी इन दोनों को मिलाकर ही द्विविध संघ होता है, पर जैनधर्म में मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इन चारों को मिलाने से चतुर्विध संघ होता है। अतः स्वामिवात्सल्यता जैनधर्म की दृष्टि से ही बन सकती है, बौद्धधर्म की दृष्टि से नहीं।

(६) शिलालेख नं० ८ में संबोधिमयाय एक शब्द आया है, जिसके अर्थ में आजतक विशेषज्ञों को सन्देह है। जैन मान्यता में यह साधारण शब्द है इसका अर्थ सम्यक्त्व प्राप्ति है। कुछ लोगों ने खींच-तान कर इसका अर्थ जिस वृक्ष के नीचे महात्मा बुद्ध को सर्वोत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति हुई थी, उस बोधि वृक्ष के नीचे छाया में जाकर किया है, जो असंगत प्रतीत होता है

(१०) सम्प्रति ने स्तम्भ बनवाये उनपर सिंह की मूर्त्तियाँ इसलिये अंकित करायीं कि यह उनके आराध्य भगवान् महावीर का चिन्ह है तथा सम्यग्दृष्टि के निर्भयपने का सूचक भी है। सिंह की मूर्त्तियाँ और चक्र सम्प्रति उर्फ प्रियदर्शिन् के ही हैं, क्योंकि इनका निकट सम्बन्ध जैन संस्कृति से है।

शंकाएँ

यदि अशोक का उपनाम या विशेषण प्रियदर्शिन् न माना जाय तो मस्की के शिलालेख में अशोक शब्द स्पष्ट क्यों लिखा गया है ? प्रियदर्शी बौद्धधर्म के यात्रास्थान

१—शिलालेख नं० २ और १३ में ऐसे उल्लेख हैं, जिनमें बताया गया है कि सम्राट् प्रियदर्शिन् के शासन काल मे ग्रीक साम्राज्य के पाँच हिस्से हो गये थे। उनमें जो नाम बताये गये हैं उन पाँचों के आधार पर यूरोपीय विद्वानों ने उनका शासनकाल इस प्रकार निश्चित किया है —(१) ई० पू० २६१—२४६ (२) ई० पू० २८५—२४७ (३) ई० पू० २७४—२४२ (४) ई० पू० २५६ और (५) ई० पू० २७२—२५४ शिलालेखों की खुदाई का समय भले ही बाद का हो पर उपर्युक्त घटना प्रियदर्शिन् राजा द्वारा राज्याभिषेक होने के आठ वर्ष बाद कलिंग जीत लेने से पहले हुई है। ऐसी दशा में यदि अशोक और प्रियदर्शी एक ही हों तो ई० पू० ३२५—८ में अशोक का राज्याभिषेक होने के हिसाब से वह समय ई० पू० ३१७ होता है और इस दृष्टि से विचार करने पर उपर्युक्त पाँच वर्षों में से किसी के साथ भी (राज्य शासन के आरम्भ या अन्त से) उसका क्रम नहीं जुड़ता है; बल्कि उसके विपरीत वह और ५०-६० वर्ष पहले चला जाता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रियदर्शिन् और अशोक ये दोनों एक नहीं, भिन्न व्यक्ति हैं।

—ना० प्र० प० भाग १६ अंक १ पृ० २२—२३

लुँबिनी और निग्लिवि में क्यों गया था ? यदि बौद्धधर्मी न होता तो वह वहाँ क्यों जाता ? अतः प्रियदर्शिन् अशोक का विशेषण या उपनाम है।

समाधान

मस्की के शिलालेख में 'देवानां प्रिय असोकस्स' आया है, प्रियदर्शिन् का नाम नहीं आया है, अतः यह शिलालेख अशोक का ही है। देवानां प्रिय उपाधि राजाओं के लिये उस काल में व्यवहृत होती थी। इसलिये इस शिलालेख से अशोक और प्रियदर्शी एक सिद्ध नहीं होते हैं। यदि इसमें देवाणां प्रिय प्रियदर्शिन् अशोक, ऐसा पाठ होता तो अवश्य अशोक का दूसरा नाम प्रियदर्शिन् माना जा सकता था।

दूसरी शंका का समाधान यह है कि अशोक की मृत्यु सम्प्रति के राज्याभिषेक के १९ वर्ष बाद ई० पू० २७० में हुई थी, अतः वह एक वर्ष बाद अपने पूज्य पितामह की सांवत्सरिक क्रिया करने के लिये गया होगा। दूसरी बात यह भी है कि राजा सभी धर्मों का संरक्षक तथा धर्म सहिष्णु होता है, अतः सम्प्रति ने अन्य स्थानों के निरीक्षण के समान उक्त धर्म स्थानों का भी निरीक्षण और दर्शन किया होगा। अतः शिलालेखों द्वारा सम्प्रति के कार्यों का अनुमान कर उसे यश मिलाना चाहिये। वर्तमान में राष्ट्रध्वज और राष्ट्रमुद्रा के लाञ्छन सम्प्रति के ही हैं। भ्रमवश लोग अशोक के समझे हुए हैं।

धर्म प्रचार

सम्प्रति ने जैनधर्म के प्रचार के लिये सवालाख नवीन जैन मन्दिर, दो हजार धर्मशालाएँ, ग्यारह हजार वापिकाएँ और कुँए खुदवा कर पक्के घाट बनवाये। सवा करोड़ जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा करायी तथा छत्तीस हजार मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया। एपीटॅम[1] ऑफ जैनिज्म में बताया गया है कि सम्प्रति महान् वीर जैनधर्मानुयायी था। इसने धर्म की वृद्धि के लिये सुदूर देशों में धर्म का प्रचार कराया अनार्य देशों में संघ का विहार कराया तथा अपने आधीन सभी राजाओं को जैनी बनाकर जैनधर्म के प्रचारकों को सब प्रकार से सहयोग दिया।

1—Samprati was a great Jain monarch and a staunch supporter of the faith. He erected thousands of temples throughour the length and breadth of is vast empire and consecreted large number of images, He is stated further to have sent Jain missionaries and ascetics abroad to preach Jainism in the distant countries and spread the faith amongst the people there.

—An Epitome of Jainism, Appendix A. p v

खरतरगच्छावली में भी सम्प्रति के कार्यों का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि जैन साधुओं को धर्म प्रचार के लिये राजदूत बनाकर विदेशों में भेजा गया था। मालगुजारी वसूल करने का कार्य भी प्रायः जैन साधु करते थे, ये साधु सातवीं प्रतिमा के धारी होते थे।

सम्प्रति के धर्म प्रभावना के कार्यों का निरूपण करते हुए कहा गया है कि यह सम्राट् रथयात्रा मे साथ रहता था तथा नाना प्रकार के पुष्पहार, तोरण, मालाओं आदि से रथ को सज्जित कर भगवान जिनेन्द्र को सवारी गाजे-बाजे के साथ निकालता था। इसने अपने आधीनस्थ राजाओं को आदेश दिया[२] था कि यदि आप लोग मुझे अपना स्वामी मानते है तो जैन साधुओं का सम्मान करें, चतुर्विध संघ का आदर करें। मुझे दण्ड द्वारा द्रव्य की आवश्यकता नहीं है। अपने-अपने राज्य में अभयदान करे, अहिंसा धर्म का प्रचार एवं पालन कर अपना कल्याण करे। चतुर्विध संघ को तथा विशेषतः जैन साधुओं को शुद्ध आहार, पात्र तथा अन्य आवश्यकता की वस्तुएँ दान में दें।

सम्राट् सम्प्रति ने अरब, ईरान, सिंहलद्वीप, रत्नद्वीप, महाराष्ट्र, आन्ध्र, कुडुकु आदि देशों में जैनधर्म का प्रचार कराया था। इसके द्वारा निर्मित मन्दिरों मे गुजरात और राजपूताने में कुछ मन्दिरों के ध्वंश अब भी वर्तमान हैं। कर्नल टॉड[३] ने लिखा है कि "कमलमेर का शेष शिखर समुद्रतल से ३३५३ फीट ऊँचा है। यहाँ से मैने मरुक्षेत्र के बहुदूरवर्ती स्थानों का प्रान्त निश्चय कर लिया। यहाँ ऐसे कितने ही

१—येन सम्प्रतिना साधुवेषधारी-निज-किङ्करजनप्रेषणेन अनार्यदेशेऽपि साधुविहारं कारितवान्। —खरतरगच्छावलि संग्रह पृ० ७

२—जति म जाणह सामिं, समणाणं पणमहा सुविहियाणं।
दव्वेण मे न कज्ज, एयं खु पियं कुणह मज्झ॥
यदि मां स्वामिन यूय जानीथ मन्यध्वे ततः श्रमणप्रणामनादिकं मम प्रियं तदेव यूयं कुरुत।
वीसज्जिया य तेणं, समणा घोसावणं सरज्जेसु।
साहूणं सुहविहारा, जाता पच्चंतिया देसा।
समणभडभाविएसु, तेसु रज्जेसु एसणादीसु।
साहू सुहं विहरिया तेणं चि य भद्दगा तेन॥
उदियाजोहाउलसिद्धसेणापविट्ठितो णिज्जियसत्तुसेणो।
समंततो साहुसुहप्पयारे अकासि अंधे दविडे य घोरे॥
—अभिधान राजेन्द्र भाग ७ पृ० १९९-२००

३—हिस्ट्री ऑव् राजस्थान पहला भाग द्वि० खं० अ० २६ पृ० ७२१-२२

दृश्य विद्यमान हैं, जिनका समय अंकित करने में लगभग एक मास का समय लगने की संभावना है। किन्तु हमने केवल उक्त दुर्ग और एक बहुत पुराने जैन मन्दिर का चित्रांक समाप्त करने का समय पाया था। इस मन्दिर की गठन प्रणाली बहुत प्राचीन काल के समान है। मन्दिर के बीच में केवल खिलान युक्त ऊँची चोटी का विग्रह कक्ष (कमरा) है और उसके चारों ओर स्तम्भावलि शोभित गोल बरामदा है यह निश्चय ही जैन मन्दिर है"। कथन से स्पष्ट है कि यह मन्दिर ई० पू० २०० से भी पहले का है, टॉड साहब ने आगे भी इस बात को स्वीकार किया है। अतः यह सम्प्रति का बनाया हुआ बताया जाता है।

सम्प्रति ने कई पिंजरापोल पशुरक्षण के लिये खुलवाये थे। गुजरात में इस प्रथा का शेष चिन्ह आज भी वर्तमान है। इसके धर्म प्रचार का उल्लेख श्वेताम्बर साहित्य मे ही पाया जाता है, दिगम्बर साहित्य में नहीं। सम्प्रति ने जैन साधुओं की धर्म प्रचार में सब प्रकार से सहायता की थी[1]। इसलिये राजकीय आश्रय को पाकर जैनधर्म खूब उस काल में फैला। लोकोपकारी कार्य भी इसने अनेक किये। आहारदान, ज्ञानदान, औषधदान और अभयदान भी इसने अपने जीवन में खूब दिये। राजनीति में अहिंसा का प्रयोग भी खूब किया। इसने अनार्य देशों में जैनधर्म के प्रचार के लिये सेना के योद्धाओं को साधुओं का भेष बनाकर भेजा था। अपने प्रिय जैनधर्म के प्रसार मे इसने सभी संभव उपायों से काम लिया था[2]।

१—जैनिज्म इन नार्थ इण्डिया पृ० १४४-१४५

२—इत्यधिकार्य्य धर्मविचारं संप्रतिभूपतिवृत्तमुदारम्।
सद्गुरुप्रहताखिलबहुमानं भव्यजना दधतां बहुमानम्॥ —दर्शनशुद्धि गा० ६१

दक्षिण भारतीय इतिहास का एक क्रान्तिपूर्ण अध्याय

[ले०—श्रीयुत् ज्योतिप्रसाद जैन एम० ए०, एल०-एल० बी०]

गतांक से आगे

उत्तर दिशा में तैलप का द्वन्द परमार नरेश मुंज वाक्पति द्वितीय से हुआ। मुंज का राज्यारोहण सन् ९७४ (वि० सं० १०३१) में हुआ था, अर्थात् तैल की उत्कर्ष प्राप्ति के एक वर्ष के भीतर ही; और उसका अधिकांश जीवन युद्ध क्षेत्र में ही व्यतीत हुआ। तैलप पर किये गये उसके आक्रमणों के वृत्तान्त भिन्न भिन्न मिलते हैं। श्वेताम्बराचार्य मेरुतुंगकृत प्रबंध चिन्तामणि में तैलप द्वारा मुंज के भाग्यान्त का बड़ा ही रोमांचक वर्णन दिया हुआ है कहा जाता है कि मुंज ने तैलप को ६ बार युद्ध में पराजित किया, और किसी किसी के मतानुसार १६ बार। किन्तु अन्तिम बार जब वह दुर्भाग्यवश, अपने परम बुद्धिमान मन्त्री रुद्रादित्य के समझाने और प्रेरणाओं के बावजूद भी गोदावरी को पार करके कर्णाटक में आ घुसा तो पराजित हुआ और तैल के हाथों बन्दी हो गया। उसे सुदृढ़ पहरे में रक्खा गया। मेरुतुंग का कथन है कि उस अवस्था में तैलप की बहिन मृणालवती से उसका प्रेम हो गया और मृणाल को उसके बन्दीखाने से निकल भागने का इरादा तथा योजनाएँ मालुम हो गईं, जिन्हें वह अपने भाई तैलप से न छिपा सकी। फलस्वरूप तैलप ने उसे निर्दयता पूर्वक मरवा डाला[1]।

इसमें सन्देह नहीं कि मुंज का अन्त तैलप के साथ हुए दक्षिणी युद्धों में ही हुआ। तैलप के सन् ९८२ के नीलगुंड शिलालेख के अनुसार तैलप ने उत्पल को बन्दी किया था[2]। तैलप के वंशज अपने अभिलेखों में इसी लेख के तत्सबंधी श्लोक को दुहराते मात्र हैं, इस सबंध की कोई अन्य विशेष सूचना नहीं प्रदान करते, इस अभिलेख में मुंज का उल्लेख उत्पल नाम से किया है। डा० गांगुली महाशय ने मुंज और उत्पल का अभिन्नत्व स्पष्टतया स्थापित कर दिया है[3]। किन्तु तत्कालीन लेखों में तैलप के हाथों मुंज के मारे जाने का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। मृणालवती की कहानी भी मनगढ़न्त ही मालुम होती है, चालुक्य लेखों से उसका समर्थन नहीं होता। किसी लेख में भी तैलप की किसी बहिन का उल्लेख नहीं है, चालुक्यों की वंशावलियों में भी उसका कहीं नाम नहीं मिलता, तैलप अपने माता पिता की इकलौती सन्तान ही प्रतीत होता है। मेरुतुंग (सन् १३०४ ई०) लगभग ३०० वर्ष पीछे का लेखक है, अतः यह मृणालवती की कहानी या तो उसकी स्वयं की कल्पना है अथवा उसने तैल और मुंज उन दो प्रख्यात वीरों के सम्बन्ध में बाद को प्रचलित हो जाने वाली दन्त कथाओं का आश्रय लिया। सगमनगर दानपत्र के

1—मेरुतुंग-प्रबंध-चिन्तामणि।

2—E I.—IV p. 206, ll-7, 8, 9.

3- A History of the Parmavas-p. 47.

अनुसार तैलप के साथ युद्ध में मुंज, तैलके सामन्त सुयेनदेश के यादवाधिपति भिल्लम द्वितीय द्वारा मारा गया था[1]। इस लेख से मुंज का तैल के ऊपर बारबार आक्रमण करने का तो समर्थन होता है किन्तु साथ ही इस बात का विरोध भी होता है कि वह तैल द्वारा बन्दीखाने में निर्दयता पूर्वक मारा गया। तैल से आदर प्राप्त तथा सत्याश्रय के प्रिय निजी कवि रन्न ने मुंज सम्बंधी घटनाओं का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, हाँ तैल की गुर्जर विजय का वर्णन विस्तार पूर्वक किया है, उसका कथन है कि युवराज सत्याश्रय ने गुर्जरों विशाल हस्ति समूह को अपने एकही हाथी की सहायता से जीत लिया था[2]। कहा जाता है कि महामन्त्री मल्ल की पुत्रवधु और वीर सेनानी नागदेव की विधवा आदर्श धर्मात्मा देवी अत्तिमब्बे ने तैल की 'सकल गुर्जर दिग्विजयानन्तर' अनेक जिनमन्दिर निर्माण कराये थे[3]। परमार भी गुर्जरवंश के ही थे और चोल अभिलेखों में तैलप के साथ युद्ध में मारे जाने वाले उत्पल, अर्थात् मुंज, को गुर्जर ही लिखा है[4]। डा० व्हूलर के अनुसार इन घटनाओं की सम्भव तिथि सन् ६६६–६६७ के बीच होनी चाहिये[5]। धारापीश मुंज की अन्तिम ज्ञात तिथि सन् ६६३–६६४ है जबकि धारा में दिगम्बराचार्य अमितगति ने अपना 'सुभाषितरत्न संदोह' समाप्त किया था और तैल की अन्तिम ज्ञात तिथि सन् ६६७–६६८ (शक ६१६) है। महाकवि रन्न का अजितपुराण जो सन् ६६२ में समाप्त हुआ इन घटनाओं का उल्लेख नहीं करता। उसमें सत्याश्रय की कोंकण और अपरादित्य सम्बधी विजयों का भी उल्लेख नहीं है। धल्लपुत्र नागदेव ने भी इनमें कोई भाग नहीं लिया, इन घटनाओं का मुख्य नायक युवराज सत्याश्रय ही रहा। सन् ६६२ में रोड्डग स्थान पर चोलों को पराजित करने के पश्चात् ही तैल ने उत्तर दिशा की ओर रुख किया प्रतीत होता है।

प्रस्तुत प्रसंग के सम्बन्ध में श्रीयुत वेंकटाचार्य, व्हूलर आदि विद्वानों का मत कुछ भ्रमपूर्ण मालुम होता है। विविच्छिन्न प्रमाणों और घटनावली से तो यही विदित होता है कि सन् ६८२ के लगभग तैल ने अवश्य मुंज को करारी हार दी थी, उसे अपना बन्दी भी बना लिया था और यह उसकी प्रथम गुर्जर विजय थी। मृणालवती सम्बधी घटना में भी कुछ तथ्य होना सम्भव है। यह भी निश्चित मालुम होता है कि किसी प्रकार हो मुंज उस समय बन्दीखाने से छुटकारा भी अवश्य पा गया था। उस युद्ध के समय नागदेव भी अवश्य जीवित था। रन्न के उल्लेख उसी विजय की ओर संकेत करते हैं। किन्तु उस घटना के पश्चात् तैल या मुंज दोनों में से कोई भी भी चुप बैठने वाला नहीं था, इस बीच में भी छुटपुट आक्रमण और युद्ध होते रहे, अन्त में सन्

1—E. I. vol II p. 218.
२—गदायुद्ध—I 16, II-47.
3—B. k I—1-52
4—E. C-IX Dg 76; S. I I-VII. 1046
5—E. I—Ip. 228.

६६४–६६७ के बीच किसी समय अन्तिम निर्णायक युद्ध हुआ, जिसमें मुंज मारा गया।

इसमे सन्देह है कि तैल ने गुजरात खास, विशेष कर उसका दक्षिणी प्रदेश लाट विजय किया या नहीं। अन्हिलवाड़ के सोलंकी उस समय उस प्रदेश पर राज्य कर रहे थे। मूलराज प्रथम (६४८–६६७ ई०) उसका स्वामी था। 'रासमाला का कथन है कि गुजरात पर तैलप के सेनानी तैलङ्गाने के अधिपति बरप्प ने आक्रमण किया था। किन्तु यह बरप्प वास्तव मे कौन था इस विषय मे बहुत गड़बड़ है, 'कीर्त्ति कौमुदी' के अनुसार वह लाटदेश का सेनानी था और 'सुकृत सकीर्तन' के मतानुसार कन्नौज नरेश का। कीर्त्तिराज के सन् १०१८ के सूरत से प्राप्त दान-पत्र मे तथा त्रिलोचनपाल के सन १०१५ के दान-पत्र में उसे कीर्तिराज का पितामह बताया है। उपर्युक्त सोगल अभिलेख के अतिरिक्त तैलप की लाट विजय के भी अन्य उल्लेख नहो मिलते।

रन्न के अनुसार नागदेव ने करहाट देश पर भी आक्रमण किये थे और युद्धभूमि मे प्रतिपक्षीदल के किसी मल्ल नामक बली व्यक्ति का पीछा करके रणभूमि से खदेड़कर महाराज तैलप को प्रसन्न किया था[1]। रन्न ने तैलप देव के पांचिकाटा, भद्रक, करकालिका आदि और भी कितने ही प्रदेशा का विजय करने का उल्लेख किया है। वास्तव मे ये स्थान अभी तक चीन्हे नहीं जा सके और निश्चय पूर्वक यह भी नहीं कहा जा सकता कि व स्थान नाम है या व्यक्ति विशेषों के नाम। किन्तु उसके अभिलेख आदिकों से यह स्पष्ट है कि उसने राष्ट्रकूटा द्वारा अधिकृत सर्वदेश अपने आधीन कर लिया था। वह कुन्तल और नरपति का भी अधीश्वर था, ऐसा कथन है। गादावरी उसके राज्य की उत्तरी सीमा थी, उसके तटपर उसके सैनिकों के युद्ध करते रहने का उल्लेख है[2]। यह नहीं कहा जा सकता कि वह मुलवाड़ उसके साम्राज्यान्तर्गत था या नहीं, किन्तु यह स्पष्ट है कि अरिकेसरी वश समाप्त हो चुका था, धर्मसेवक मेरुतुङ्ग ने प्रबन्धचिन्तामणि, मे उसे तैलङ्गाने का अधीश्वर लिखा है।

यद्यपि कालान्तर मे इस उत्तरकालीन चालुक्य वश की राजधानी के कल्याणी मे होने के प्रमाण मिलते हैं, तथापि इस समय उसकी राजधानी मलखेड ही रही प्रतीत होती है। मारसिंह की मृत्यु के पश्चात् ही किसी समय तैलप ने उसपर पुनः अधिकार कर लिया जान पड़ता है, कमसे कम सन् ६६१ में वह उसके वस्तुतः अधिकार मे थी[3]। तैलप जैसा महान् शक्तिशाली सम्राट् अपने साम्राज्य के हृद्स्थान म स्थित उस महानगरी को शत्रुओं के हाथो में नहीं रहने दे सकता था। महाप्रतापी तैलपदेव ने जिसका कि विशेष विशद आहवमल्ल था, लगभग पच्चास वर्ष पर्यन्त राज्य किया और उनके पश्चात्, सन् ६६७ ई० के लगभग उनका सुयोग्य पुत्र युवराज सत्याश्रय इरिव बेडेंग आहवमल्ल सिंहासनारूढ़ हुआ।

1—Ajitapurana-I 45.
2—B. K I.—I 76.
3—B K—170 of 1933-34.

इस प्रकार लगभग २५० वर्ष के पश्चात् फिर से प्राचीन चालुक्य वंश का पुनरुत्थान हुआ और लगभग २०० वर्ष पर्यन्त वह अपनी शक्ति और समृद्धि बनाये रखने में समर्थ रहा। किन्तु डा० सालतोर महोदय के शब्दों में[1], कर्णाटकी राज्यसत्ता की यह एक बड़ी प्रशंसनीय एवं महत्वपूर्ण विशेषता रही कि उसने देश की प्रशस्त परम्परा को पूर्ववत् निर्बाध जारी रक्खा। यही कारण है कि जहाँ तक जैनधर्म का सबंध है, इन पश्चिमी उत्तरकालीन चालुक्य नरेशों ने भी उक्त धर्म के साथ वही श्रद्धा एवं उदारतापूर्ण वर्ताव बनाये रक्खा जो कि गंगों, कदम्बों, राष्ट्रकूटों आदि ने अपने समय में रक्खा था। प्रारंभिक पश्चिमी चालुक्य सम्राट् पुलकेशी महान् प्रथम एवं द्वितीय, (६ठी ७वीं शताब्दी), विनयादित्य (६८०-६९६), विजयादित्य सत्याश्रय (६९६-७३३ ई०) इत्यादि तो जैनधर्मानुयायी थे ही, १० वीं शताब्दी के अन्त में इन नवोत्थित चालुक्य नरेशों का जैनधर्म के प्रति झुकाव और भी विशेषरूप में लक्षित होता है। सम्राट् तैलप देव द्वितीय स्वयं जैनधर्म के बड़े भक्त थे, इस बात का एक भारी प्रमाण शक ९१४ (सन् ९९२-९९३ ई०) का बेलारी जिलान्तर्गत हडगल्ली तल्लुके के कोगली स्थान में स्थित चेन्नपार्श्व बसदि का शिलालेख है जिसमें तैलपदेव के चोल सम्राट् को पराजित करने का भी उल्लेख है[2]। सम्राट् तैलपदेव ने कन्नड जैन महाकवि 'कविराज' रन्न (रत्नाकर) को जिसने कि ९९३ ई० में अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'अजितपुराण' को जो 'पुराण तिलक' भी कहलाता था समाप्त किया था 'कन्नड कवि चक्रवर्ती' की उपाधि देकर सम्मानित किया था और उसे अपने आश्रय में रखा था[3]। इस जैन महाकवि की अन्य रचनायें 'साहसभीमार्जुन', 'रन्न काड', गदायुद्ध आदि हैं। चालुक्यों से आश्रय प्राप्ति के पूर्व कवि वीर चामुण्डराय तथा महाराज मारसिंह का आश्रित था। तैल के सन् ९९३ में अङ्कित मैसूर जिलान्तर्गत सोमसमुद्र ग्राम के शिलालेख में लिखा है कि उक्त स्थान में लोकोपकार हित निर्मित ताल के लिये जो विद्वृत्त भूमि (Tanable land) का दान किया गया है उसका अतिक्रम या भंग करने वाला व्यक्ति वैसा ही पातकी एवं दण्डनीय समझा जायगा जैसे कि एक बसदि (जिनालय), काशी, अन्य देवालय, अथवा उक्त ताल को ही हानि पहुँचानेवाला[4]।

तैलपदेव के उत्तराधिकारी उनके वीरपुत्र सत्याश्रय इरिवबेदंग ने सन् ९९७ से १००९ ई० तक राज्य किया[5]। यह जैनधर्म का अपने पिता से भी अधिक उत्साही भक्त था। इसने अपने एक जैनगुरु की मृत्यु पर उनकी पुण्य स्मृति में एक भव्य निषधा उसी स्थान में निर्माण

1—Saletore—Med Jainism p. 41.

2—36 of 1904.

3—Kavicharite, I-p. 63; also E C. II. Intro. p. 75. but here Taila II is wrongly stated as Taila III

4—M. A. R for 1931 p. 139.

5—Rice—My. & Cg p 73.

कराई बताई जाती है जो कि एक ऐसे महान् राज्यवंश के संस्थापकों की जन्मभूमि थी, जिनकी कि कर्णाटक में चालुक्यों के पश्चात् स्थापना हुई। संभवतया यह स्थान भावी होयसल साम्राज्य के आदि प्रवर्तकों की जन्म भूमि अगादि थी जो इस समय चालुक्यों के अधिकार में थी। इरिव के गुरु कुन्द कुन्दान्वय, पुस्तकगच्छके द्रमिलसंघी भट्टारक (त्रैकाल मुनि) के शिष्य निर्ग्रन्थाचार्य विमल चन्द्र पंडित देव थे। उनकी मृत्यु सन् ९९८-१००० के लगभग हुई थी[1]। इरिव के पश्चात् में जयसिंह तृतीय (१०१८-१०४२ ई०) चालुक्य वंश में जैनधर्म का विशेष उत्साही भक्त हुआ, उसने अनेक जैन विद्वानों और आचार्यों को आश्रय एवं प्रोत्साहन प्रदान किया। 'मल्लिकामोद' उसका विशेष विरुद था और बलिपुर को प्रसिद्ध 'मल्लिकामोद शान्तीश' बसदि का वह निर्माण कर्त्ता था[2]। इस वंश के सोमेश्वर प्रथम तथा द्वितीय आदि प्रायः सभी नरेश परम निष्ठावान भव्य जैनी थे और बिल्हण के विक्रमांक चरित्र का नायक विक्रमादित्य VI त्रैलोक्यमल्ल तो था ही कट्टर जैन था। किन्तु तैलप देव के वंशजों के कार्यकलापों का विवरण इस लेख में असंगत होगा, वह स्वतंत्र लेख का विषय है।

हां तैलप के ही समकालीन और उसके परिवार के ही एक सदस्य सरीखी धर्म और साहित्य की उत्कृष्ट सेविका आदर्श जैन महिला अतिमब्बे देवी का उल्लेख इस प्रसंग में आवश्यक है। यह नारीरत्न तैल के महासेनापति मल्लप्प की पुत्री थी, उसके प्रधान सहकारी एवं महामंत्री धल्ल की पुत्र-वधू थी। अनेक युद्धों के विजयी वीर और युवराज सत्याश्रय के परममित्र शूर शिरोमणि नागदेव की धर्मपत्नी तथा प्रतिष्ठित राज्याधिकारी पदुवेल तैल की जननी थी। ऐतिहासिक जैन नारी संसार में वह एक चमकता हुआ सूर्य है। इस विदुषी देवी ने उस १० वीं शताब्दी ईस्वी में 'उभयभाषाकवि चक्रवर्ती' महाकवि पोन्नकृत शान्तिपुराण की १००० प्रतियाँ स्वयं अपने व्यय से तैयार कराकर वितरित कीं, महाकवि रन्न को 'अजितनाथ पुराण' जैसे महान ग्रन्थ रचने की प्रेरणा की; सुवर्ण और बहुमूल्य रत्नों की १५०० जिनप्रतिमायें निर्माण कराईं। अनेक जिनमन्दिर निर्माण कराये, अनेकों मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, आहार, औषध, विद्या, अभय रूप चतुर्विध दान में जी खोलकर प्रवृत्त हुई। उसके सतीत्व के प्रभाव से गोदावरी का जल प्रवाह रुक गया था, यह प्रसिद्ध है। अपने पवित्राचरण, धार्मिक निष्ठा, शीलसंयम, लोकोपकार धर्मप्रभावना, आदि गुणों के कारण आनेवाली पीढ़ियों के लिये यह देवी एक अनुकरणीय आदर्श हो गई थी[3]। श्रवणबेलगोल आदि स्थानों के विविध शिलालेखों से स्पष्ट है कि जब जब जो व्यक्ति, स्त्री ही नहीं पुरुष भी, अपने गुणोत्कर्ष एवं धार्मिकता के लिये आदर्श समझा गया

1—E. C. VI Mg II, p 60 also Intro. p 13, and M. A. R. for 197 p. 7.

2—Saletore--Ibid p 43.

3—Saletore- Ibid p. 156-157, also Rice-Karnataka Sabdanusasanam Intro p 28-29, J R. A. S. for 1883 p 301-302

उसे 'यह अपने इन विशिष्ट गुणों के कारण दूसरी अत्तिमब्बे है' ऐसा कहा गया। सान्तार राजकुमारी पम्पा देवी की कन्या और विक्रमादित्य सान्तार की भानजी चाङ्कलदेवी, प्रसिद्ध उच्च राज्याधिकारी वंश में उत्पन्न महामन्त्री महादेव बडनाथ की धर्मपत्नी लोकल देवी, मरियान दंड नायक की पुत्री, वीर पारिसन्ना की धर्मपत्नी और प्रसिद्ध महासेनापति शान्तियन्न की माता बम्मल देवी इत्यादि विशिष्ट विशिष्ट गुणवान धर्मपरायण देवियों को अतिमब्बे की उपमा दी गई। स्वयं सम्राट् विष्णुवर्धन होयसल के महासेनापति प्रचंड वीर एवं सर्व प्रसिद्ध योद्धा गङ्गराज की तुलना अतिमब्बे से की गई, प्रशस्ति लेखक का कथन है कि वीर शिरोमणिधर्मात्मा गङ्गराज को देवी अतिमब्बे के समान बता कर उसने उनकी प्रशंसा को चरम सीमापर पहुँचा दिया अब और कुछ कहना शेष नहीं'[1] ।

ऐसी अनुपम देवी रत्न को अपनो में गिनने का जिस तैलपदेव को सौभाग्य प्राप्त हुआ, जो उनकी राज्यश्री एवं सौभाग्यश्री की साक्षात् प्रतीक थी, जो नारी जगत का तिलक रूप, देश और युग का सर्व श्रेष्ठ भूषण थी फिर उन महाराज तैलपदेव के चमत्कारिक उत्कर्ष, उनके साम्राज्य की समृद्धि और अभिवृद्धि तथा उनके द्वारा पुनः स्थापित महान चालुक्य वंश के विकास, उन्नति एवं चिर स्थायित्व में क्या सन्देह था।

नोटः—प्रस्तुत लेख में जहाँ दक्षिण भारत के इतिहास की एक महान् राज्यक्रान्ति का उल्लेख तत्सबंधी घटनाओं का विश्लेषण, एक महान् साम्राज्य संस्थापक का शृंखलाबद्ध राजनैतिक इतिवृत्त सम्बद्ध पात्रों का चरित्र चित्रण, ठोस प्रमाणिक ऐतिहासिक आधारों पर हुआ है, वहाँ इससे यह भी स्पष्ट होजाता है कि उस युग में विविक्षित प्रदेश में जैनधर्म की कैसी स्थिति थी, प्राय. सर्व ही घटनोल्लिखित राज्यवंशों, सामन्तवंशों, राज्याधिकारियों आदि का कुलधर्म जैनधर्म ही था ऐसे प्रतीत होता है। सम्राटों से लेकर साधारण व्यक्ति तक इसी धर्म के अनुयायी थे तथा विविध वर्गों की जैन जनता, प्रतिष्ठित जैन व्यक्ति स्त्री पुरुष, जैन विद्वान्, जैन आचार्य, जैन संस्थाएँ लोकहित देशहित के कार्यों में पूर्ण प्रशस्त योगदान करा रहे थे, देश की सर्वतोमुखी सांस्कृतिक अभिवृद्धि कर रहे थे यह सब भली प्रकार विदित हो जाता है। साथ ही जैन साहित्य, अभिलेखादि एवं प्रमाणाधारों का प्रचुर उपयोगी जो स्वतन्त्र प्रमाणों से पूर्णतया समर्थित एवं पुष्ट होता है, यह सिद्ध करता है कि बिना इन जैन आधारों के समुचित उपयोग के भारतीय इतिहास का शृंखलाबद्ध प्रमाणिक निर्माण हो नहीं सकता, अतः इनकी अवहेलना विद्वान् इतिहासज्ञों एवं इतिहासकारों के लिये घातक है।

1—E. C II Cg no. 240 p. 102; & जैन शिलालेख संग्रह, लेख नं० ५६, १२०, १२१

कलिंगाधिपति खारवेल

[श्री० प्रो० गोराबाला खुशालजैन एम० ए०, साहित्याचार्य, आदि]

गताङ्क से आगे

मूल

पंक्ति १२—

……मगधानं च विपुलं[1] भयं जानेतो हा[थि] थ स गांगीय[2] प्रायपति[3] [।] म[ग]धा च राजानं वहपति मित्रं[4] पादे वंदापयति[5] [।] नन्दराज नीतानि[6] अग जिनस[7] नग गह रतन[8] पडिहारेहि[9] अंग मागधे[10] वसवु नेयाति[11] [।]

पंक्ति १३—

……त जाठर लेखिल [ि] न[12] वरानि सिहरानि निवेसयति सत वसु[13]

१—शिला में इसके बाद छिद्र है।

२—व्यू० 'गागायम्' पाठ दिया था जैस० 'गंगा' पढ़ते हैं।

३—जैस० पायपति।

४—जैस० "मागध च राजान वहसति-मित्र", व्यू० बहुपतिमातित, बन० 'वहपतिमित्र

५—रिक्त स्थान है।

६—व्यू० नीतस'।

७—जैस० 'नीत कलिंगजिन सन्निवेश'

८—नवीन पाठ है।

९—व्यूलर ने पढ़ा था।

१०—व्यू० 'पडिहारहिअ'

११—व्यू० "वसिवु नयरि" बन० वासिवुनेयात्", जैस०

१२—व्यू० 'लेखिलं' बन० 'जाठर' व्यू० का 'विजधरु, अशुद्ध पाठ है।

१३—जैस० केवल लेखिल पढ़ते हैं। व्यू० 'वसदान', बन० 'वसुदान।

भाषा

……मगध की जनता में भीषण भयका संचार करता हुआ अपने हाथियोंको गांगेय प्रासाद[1] मे प्रवेश[2] कराता है[3] [।] तथा मगधराज बृहस्पति मित्र[4] द्वारा चरणों में प्रणाम कराता है [।] नन्दराज द्वारा अपहृत अग्रजिन[5] (प्रथम तीर्थंकर) की मूर्ति को विजित सम्पत्तिरूपसे[6] गृहसम्पत्ति[7] तथा अंग और मगध के बहुमूल्य धनको[8] भी घर वापस लाता है (,)

उपायन तथा विजित धन[10] रूप से प्राप्त सैकड़ों[11] बहुमूल्य वस्तुओं के भीतर खुदे

१—तक्षशिला कोशाम्बी-मर्केनवाले मार्ग से आया होगा।

२—मिलाता है अर्थ असम्बद्ध है।

३—नदी पार कराता है अर्थ भी जैस० करते हैं।

४—'वहसति मित्र' ही पढ़ना ठीक है। यह शुंग राजा था यह कहना कठिन है। व्यक्ति वाचक संज्ञा ही अभी कहना उचित होगा।

५—अग्रजिनको लेकर काफी विवाद चला है किन्तु जैस० के मत से कलिंगजिन है। जो कि अधिक उपयुक्त भी प्रतीत होता है।

६—लूटका धन या भेंट से तात्पर्य है।

७—कोई भी बहुमूल्य वस्तु से तात्पर्य है।

८—पडिहारेहि = बारम्बार।

१०—'विजितधन' या = 'विजय चिन्ह'

११—व्यू० या सातवर्ष का उपायन अर्थ भ्रान्ति मूलक।

मूल

[दान][१] [प] रिहारेन [–] [।] अभूतं अच [छ][२] रियं च हाथि नावन[३] परीहार[४] ..... देनं हय हथि रतन[५] [जनान][६] पांडराज[७] च ......मणि रतनानि[८] अहरापयति इध सत [स]

पंक्ति १४—

.. [वा] तिनो वसी करोति [।][९] तेरसमे च वसे सुपवत विजय[१०] चको कुमारीपवते अर्हतोपरि निवासेताहिकापे[११] निसिदियाय या पूजावकोहि[१२] राजभितानि च नवतानि[१३] वसु सतानि[१४] [।] पूजानि [स व त ?] [सथ] रव [निरि का ?] जीव देव[१५]काले रखिता[१६] [।]

१—जैस० सत त्रिसिक

२—व्यू० 'अकरिय' जैस० 'अच्छुरियम्'

३—'परिहरन 'परिहारेन, दोनो पाठ पढ़े गये हैं।

४—व्यू० 'नाद'। ५-वन जैस पाठ

६-७-८—वन० जैस० द्वारा पढ़ा गया।

९—व्यू० जैस० "सिता वसी करोति"।

१०—व्यू० 'विजयि'।

११—व्यू० 'अरहतोप [निवास] वाहिकाय' प्रकृत पाठ वन का है।

१२—व्यू०'निसिदियय यपञके' प्रकृत पाठ वन० के हैं 'पुजवकाहि'

१३—वन० ने पढ़कर बढ़ाया हैं।

१४—जैस० तथा वन० का सम्मत पाठ है।

१५—'देव' के पहिले 'स' और पढ़ा जा सकता है।

१६—जैस० याप निम घ्यसताहि कास्थ निसीदीयाय यापञावकेहि राजभितानि चिनव-वतानि वासासितानि [।] पूजानि कत—उवासा खारवेल-सिरिना जीव देवसिरि कल्पं रखिता'।

भाषा

हुए...... अनेक शिखर बनवाता[१] है। पाण्डराजा के... .. .. अभूतपूर्व[२] एवं आश्चर्यजनक जहाजों भर विजितधन अथवा उपायनों[३] को घोड़ों, हाथियों (रतनों) पुरुषों[४] और सैकड़ों मोतियों तथा रत्नों के साथ यहाँ (राजधानी में) रहता[५]

(कलिंगकी राजधानी के) निवासियों को वश मे करता है[६]। विजयों के[७] द्वारा अपने साम्राज्य का पूर्ण विस्तारकर्त्ता तेरहवें वर्ष मे कुमारी पर्वत[८] परि स्थित अर्हन्मन्दिर के भवन की निषिदिका[९] .. पूजकों के यहाँ से आये तथा राजा द्वारा पोलित नब्बे हजार पवित्र

१—वसुका अर्थ 'समृद्ध विजय चिन्ह' है। 'अलकृत कराता है।' अर्थ नहीं।

२—'अद्भुत' अर्थ जैस० करते है।

३—जैस० 'परिपुर उपदेयहृ' पणनुसारी अर्थ करते हैं।

४—जैस० 'रत्न माणिक्यानि' पढ़ते हैं

५—"पाण्डराजा के यहाँ से अद्भुत आश्चर्यकारी। भेंटे हाथी के आकार के जहाजों, घोड़ा, हाथियो, लाल, विविध रत्नो के रूप मे लाता है।" जैस० अर्थ भी करते हैं।

६—स्थान की अल्पता के कारण विजय प्रसग का अध्याहार नही किया जा सकता अत: स्थानादि देकर 'अनुरक्त करता है' ही अर्थ किया जाना चाहिये।

७—'सुपर्वत जीता' अर्थ उचित नही है क्योंकि यह युद्ध के बादका शान्ति का वर्ष है।

८—'कुमारी पर्वत' के लिये वन० एपी० इण्डि० Vol XIII, 166 द्रष्टव्य है।

९—'टौंक' प्रचलित शब्द है ठेकरी या वेदी।

मूल

पंक्ति १५

"""""सुक्त समण[1] सुविहितानं च सत दिशानं खतिय तपस 'सह[2] यानं[3] अरहत निसीदिया समीप पभरे[4] वर कारु सुमुथ पतिहि[5] अनेक योजनाहि सिल ह स प थ (?)[6]

पंक्ति १६—

" पटालको चतुरे च [7] वेडुरियगभे थभे पटिठापयति [,] पान=अंतरिय[8] सठि बस[9] राजा मुरियकाले वोच्छिने च छेयठि अगसंति कटारियम्[10] उपादियति[11]

भाषा

वृषभोंको[1] ..."जैसे कि जीवदेव[2] के समय में ... [3]।

विविध श्रमणों की सुखचर्या के लिये सैकड़ों दिशाओं से आनेवाले क्षत्रिय यतियों[4] के सम्मेलन के लिये वह अर्हत् निषिदिका के निकटस्थ पर्वत पर श्रेणियों के नामको उत्तम शिल्पियों तथा विविध कर्मकरों को लगाकर" " पाषाण बनवाता है[5] [6]

भीतर से वैडुर्य मणि निर्मित चार खंभों[7] के ऊपर मंडप बनवाता है। राजा मुरिय[8] के समय के छक्कसौ

१—ल्यू० 'मकत समाया' प्रकृत बन० जैस० सुविहितान च सत्र दिसान (वनिन)'।

२ ल्यू० के समय में पाठ्य था।

३—ल्यू० 'सहतान' जैस० 'सतयानु'

४—'प्रभरे' जैस० की दृष्टि से सम्मत है।

५—बन० 'वितिहि'। ल्यू० 'पतिहि'।

६—जैस० जातान तास इसिन सघानु' अनेक यातनाहितादि सिलादि सिंह पथा राशिय घुसिय निसयानि'

७—ल्यू० 'पटाल के चेतके च'। प्रकृत बन० जैस०

८—ल्यू० 'पनतरिय' जैस० 'पानतरिया सतसहसेहि'।

९—दूसरे अक्षरों की अपेक्षा 'ठि' छोटा है। कनि० ने इसे 'त' पढ़ा था। 'च' पर्यन्त कनि० तथा ल्यू० नहीं पढ़ सके थे।

१०—ल्यू० बनने 'वाछिने' पढ़ा था। ल्यू० 'चोयठ अग-संतिकुनतरिय'। बन० संतिकुतुरिय,

११—एक भाग भरा होने से 'ति' 'दि' के समान लगती है। ल्यू० बन० 'उपादयति 'उपादायति' पढ़ा है। जैस० "मुरियकालं वोछिन च चोयठि-अगसतिकन्तरिय उपादायति।' पढ़ते हैं।

१—ऋषभदेव का चिन्ह होने से पिंजरा पोलकी तरह पाले जाते होंगे। या ग्राम, मकान आदिकी तरह भेंट में आये होंगे।

२—अज्ञात राजा।

३—जैस० के पाठानुसार ' पवित्र उदयगिरि पर स्थित निषिदिका के पास पाप तथा क्षेम कार्यों में सक्रिय रूप से व्यस्त यापकाचार्यों को खारवेल द्वारा आश्रम राजकीय भरण व्रत के उद्यापन पर दिया जाता है जहाँ पर जिनका धर्मचक्र पूर्ण प्रतिष्ठित है तथा श्री जविदेव के समान गृहस्थाचार का पालन होता है।"

४—'सुमुथपति' शब्द है।

५—'पतिगपयति' क्रिया आगे है।

६—जैस० के पाठानुसार—'यहाँ पर शास्त्र-चक्षु, विवेकपूर्ण, तपःपूत, कृतकृत्य श्रमणों के लिये सभा भवन बनवाया था। निषिदिका के पास पर्वत पार्श्व पर सिंहप्रस्थकी रानी धृष्टि के लिये योजनों दूरकी खुदानों से निकले पत्थरों की " " धर्मशाला बनी थी

७—ल्यू० ने भ्रान्ति के कारण 'पटालक' चेतक और वैडुर्यगर्भ गुफाएँ अर्थ किया था।

८—मुर या मुराका पुत्र चन्द्रगुप्त मौर्य।

मूल

खेमराजा स वढराजा स भिखुराज धमराजा पसंतो[६] सुणतो अनुभवतो कलाणानि[७]

पंक्ति १७—

.... गुणविसेस कुसलो सवपासंडपूजको ..... तिम सांकारकारको (अ)[८] पतिहत चकिवाहन[९] बलोचकधर[१०] गुतचको पिसंत[११] चको राजसि वस-कुल विनिच्छितो[१२] मह। विजयो राजा खारवेल सिरि (१३)।

पसठव वर्ष में वह खंभोंपर खड़ी इस 'अर्कासन[६] नामकी गुफाको बनवाता है'[५]। (६) वह खेमराजा है, (राज्य) वर्धनराजा है, भिखुराजा है, (तथा) कल्याणो का द्रष्ट, श्रोता अनुभवकर्त्ता धर्मराजा है।

राजर्षियों के वंशमें उत्पन्न महाविजयी राजा श्री खारवेल साम्राज्यों का सतत विजयी साम्राज्य संचालक, साम्राज्य संरक्षक, अप्रतिहत रथ ध्वजा सेनवाला .. का पुनर्निर्माता[१०], समस्त पाखंडों[११] का पुजारी विशेष गुणों के कारण दक्ष ....,

६—व्यू० 'इनाम्राजा', प्रकृत वन० का पाठ है। व्यू० सनना, प्रकृत वन० जैस० का पाठ है।

७—'कलाणान' भी सभव पाठ है।

८—व्यू० के समय में पाठ्य था।

९—'वाहिनो' जैस०

१०—व्यू० 'चकधरी, जैस० सव देवायतन' संकार कारको।

११—व्यू० 'पसत' जैस० पवतचको। प्रकृत वन० जैस० ता है।

१२—व्यू० का 'विनिगतो' जैस० 'विनिश्रितो' प्रकृत वन० जैस० पाठ है।

१३—वृक्षका चिन्ह खुदा है।

६—"पचाधिक षष्ठि वर्षान्तरित पर्व शत

४—मौर्य सवत के चौसठ सहित सौ वर्ष बाद गिने जाने के बाद राजा' जैस० का अर्थ है।

५—यहाँ लेख के प्रधान विषय की समाप्ति सूचक चिन्ह है। जो स्वस्ति वाचकको पृथक् करता है।

६—जैन पुराणों मे 'अर्कों' का वर्णन है।

७—अथवा 'वृद्धो का राजा है'।

८—'राजा तथा भिक्षु है।

९—यद्यपि वाहन का अर्थ सवारी है तथापि रथ आने से ध्वजा या सदेशवाहन किया जा सकता है।

१०—'मुबारक' भी अनुवाद किया जा सकता है।

११—'पाखड' शब्द धर्मपरक है।

१२—जैस० पाठानुसार "प्रत्येक मन्दिर का उद्धारकर्त्ता, जिसके रथ-ध्वजा-सेना की गति को कोई नहीं रोक सकता था, साम्राज्य नायकों द्वारा सरक्षित राजचको, राजसीमा विस्तारका अनुवाद होगा।

खारवेल के कालनिरूपण की वस्तुस्थिति

[लेखक—श्रीयुत् एन० एन० घोष]

ऐतिहासिक दृष्टि से कलिंग—नृपति खारवेल का स्थान महत्वपूर्ण है। पुरी जिलान्तर्गत भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि की पहाड़ियों में प्राप्त हाथीगुम्फा के लेख के आधार पर उनके विषय में बहुत कुछ अन्वेषण किया जा चुका है। इस निबन्ध का उद्देश्य उनके समय-निरूपण की विवाद ग्रस्त समस्या पर प्रकाश डालना है।

डा० भगवान लाल इन्द्राजी ने सन् १८८० में टिप्पणी और अनुवाद के साथ सम्पूर्ण शिलालेख की प्रतिलिपि प्रस्तुत की, जिससे पहले के प्रयत्नों में पर्याप्त उन्नति हुई। शिलालेख की १६ वीं पंक्ति में **मुरियकाल** का उल्लेख पाकर इन्द्राजी ने खारवेल का समय उसीके आधार पर निश्चित किया है। १६ वीं और १७ वीं पंक्तियों को एक ही वाक्य मानकर उन्होंने अपना अर्थ स्पष्ट किया, जो निम्न प्रकार से है:—

खेमराज के पुत्र वृद्धिराज और उनके पुत्र भिक्खुराज के आत्मज, राजमुनियों के वंश उत्पन्न, विजयी और आदर्श राजा खारवेल ने, जो सभी गुणों में दक्ष है इत्यादि "मौर्य्य राजाओं के एक सौ पैंसठवें वर्ष में इसका निर्माण करते हैं (गुफा के वास्तुनिर्माण के विषय में) जब तक एक सौ चौसठ वर्ष बीत चुके थे। भिक्खुराज और वृद्धिराज को संबन्ध कारक में मान कर उन्होंने जो वंशक्रम दिया है उसे मैं ठीक नहीं समझता अतः यहाँ पर मुझे केवल खारवेल के समयानुक्रम से मतलब है। उन्होंने **वोच्छिने** शब्द को, जो उनके पाठ के अनुसार **कोयठि अग सक्तिटारियम्** के पहले आता है, **विच्छिने** मान कर **पानतरिय सठिनससते** का अर्थ लगाया है इसी पाठ के अनुसार वे किसी मौर्य्य संवत् की कल्पना करते है जिसे वे अशोक के राज्यकाल के आठवें वर्ष में अर्थात् २६३ पूर्वेसा में आरम्भ हुआ मानते हैं। इसी आधार पर वे अपना समय इस प्रकार निश्चित करते हैं। मौर्य्य संवत् का प्रारम्भ २६३—८ =२५५ पूर्वेसा गुफा निर्माण–२५५–१६५=९० पूर्वेसा खारवेल के राज्य के तेरहवें वर्ष में होने के कारण उसका राज्यारोहण समय ९०+१३=१०३ पूर्वेसा उसका युवराज्य काल नौ वर्ष पहले ११२ ई० पू० और उसका जन्म २४ वर्ष पूर्व १२७ ई० पू०। मौर्य्य संवत् की वास्तविकता में इन्द्राजी को स्वयं ही सन्देह है और उन्होंने इस समयानुक्रम का अनुमान संदिग्ध आधार पर ही किया है। १६ वीं पंक्ति में किसी समय का होना फ्लीट तथा लुडर्स ने नहीं माना है। डा० जायसवाल ने पहले तो मौर्य्य संवत् को मान लिया था परन्तु बाद में उन्होंने खारवेल को पुष्यमित्र सुंग के समकालीन होने का प्रमाण पाकर उसका समय दूसरी सदी पूर्वेसा प्रथम चतुर्थांश निश्चित किया। **संख्यान मूख सूत्र में बृहस्पति** । उल्लेख पाकर उन्होंने

हाथी गुम्फा में उल्लिखित बृहस्पतिमित्र को खारवेल द्वारा विजित माना है। यह प्रमाण भी सन्देहास्पद ही है; उन्होंने पाभोस के शिलालेख में और कोसम से प्राप्त एक मुद्रा में भी इस नाम के एक राजा का उल्लेख किया है। परन्तु वह संभवत: कौशाम्बी का कोई स्थानीय राजा था जिसके नाना ने पञ्चम शुंग नृपति उदक के राज्यकाल में गुफा खुदवायी थी। अतः यह किसी प्रकार भी प्रथम शुंग नृपति नहीं हो सकता। उन्होंने बहसपति मित्र को पुष्य मित्र मान लिया है क्योंकि मुद्राओं पर बाद के शुंग राजाओं के भिन्न २ नाम मिलते हैं। परन्तु यह विषय विवाद से परे नहीं है। ये लोग संभवतः शुंग साम्राज्य के ध्वंश होने के बाद के स्थानीय मित्र राजा गण थे। इसके अतिरिक्त शिलालेखों में पुष्यमित्र शुंग का पौराणिक नाम ही मिलता है अतः उसने कोसम की मुद्रा के लिये कोई दूसरा नाम चुना होगा; ऐसा नहीं माना जा सकता।

डा० वी० स्मिथ तथा डुनरौल ने भी इन्द्राजी और जायसवाल द्वारा निश्चित समय को मान कर खारवेल को दूसरा सदी पूर्वेसा में रखा है। कुछ हिचकिचाहट के साथ प्रो० रैप्सन ने भी यही किया है। हमलोगों ने देखा है कि बाद में जायसवाल ने भी इन्द्राजी के पाठ को अमान्य समझा। अन्तिम परिष्कृत शुद्ध पाठ निम्न प्रकार है:—

चतुरे च वेडुरिय गभे थंभे पटिठापयति पान अंतरिय सत सहसेही। मु (खि) य क वोच्छिमं च चोय (ठो) अंग संटिक (म) तुरियम् उपादयति। १६ वीं पंक्ति के शेष शब्द **खेमराजा स वधराजा स भिक्खुराजा धमराजा** दूसरी पंक्ति के वाक्य के अंश हैं जिसका अंत **राजा खारवेल सिरि** से होता है। इसका पाठ और पद सस्थान इन्द्राजी से एकदम भिन्न हैं। वाक्यों का भग्नीकरण और **सठि वस सते, मुरिय, काले, अंग सटिकतुरियम्** इत्यादि शब्दों का **सतसाहसेहो, मुखिय, कला, अंग** तथा **संटिकम तुरियम्** मे परिवर्तन ही इस पाठ की विशेषता है। उपर्युक्त पदसंस्थान से विदित होता है कि १६ वीं पंक्ति के प्रथम वाक्य के अन्तिम शब्द **पान अंतरिय सतसहसेही** में उन पाच लाख मुद्राओं के व्यय का उल्लेख हैं; जो उस गुफा को अलंकृत स्तम्भों प्रथित **वेडुरिय गभे थंभे** की सजावट में लगे थे। यह अधिक विचारपूर्ण है। अन्यत्र भी खारवेल को व्यय-मुद्राओं का परिमाण अंकित करने में उत्सुक पाया जाता है जैसे तीसरी पंक्ति में उसने **महा विजय पासाद** के निर्माण में ३८ लाख व्यय होने का उल्लेख किया है बाद के वाक्य में भी किसी **मुरियकाल** का उल्लेख न होकर शान्तिकाल के उपयुक्त मुख्य कलाओं का (मुखिय काला वोच्छिम) संरक्षण अधिक उपयुक्त है। डा० सरकार ने इसे गीत नृत्यादि **समलितम्** से स्पष्ट कर दिया है। अतः खारवेल को दूसरी सदी पूर्वेसा में रखने का कोई प्रमाण नहीं है।

दूसरी ओर शिलालेख में प्राप्त कुछ लिखित स्मारक सम्बन्धी तथा आन्तरिक प्रमाणों से

शिलालेख के संस्थापक का समय पहली पूर्वेसा का अन्तिम चतुर्थांश विदित होता है। हाथी गुफा के शिलालेख में किसी सातकर्णी का नाम मिलता है जिसे खारवेल ने अपने राज्य के दूसरे वर्ष में पराजित किया था। उसकी पत्नी नयनिका के नानाघाटवाले शिलालेख में भी एक सातकर्णी का उल्लेख है। प्रो० रैप्सन ने खारवेल और नयनिका के उपर्युक्त दोनों शिलालेखों को एक ही काल का मानकर उनको दूसरी सदी पूर्वेसा में रखा है। यह सन् १६०४ की बात है जब इन्द्राजी का मत ही सर्वमान्य था क्योंकि इस सम्बन्ध से वे भी मौर्यकाल के सिद्धान्त से प्रभावित पाये जाते हैं। उसके बाद प्रो० चन्द्र इत्यादि अन्य विद्वानों ने नानाघाट के प्रमाणों को बहुत बाद का सिद्ध किया है। डा० डी० सी० सरकार ने भी उसका समय प्रथम शताब्दी पूर्वेसा माना है। शिल्प-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् फर्ग्यूसन और नर्गेस ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "भारत के गुहा मन्दिर" मे नासिक चैत्य भवन को प्रथम सदी पूर्वेसा के उत्तर अर्धांश का निश्चिय किया। आधुनिक कला पारखी भी इस समय से सहमत हैं। अब सर जान मार्शल के कथनानुसार द्वितीय आंध्र राजा कृष्ण के समय मे खोदा गया एक छोटा सा विहार उसी काल का है जिसका नासिक चैत्यभवन। अतः यदि कृष्ण प्रथम सदी के उत्तरार्श में वर्तमान था तो उसके भतीजे और उत्तराधिकारी सातकर्णी तथा नानाघाट के शिलालेख का समय प्रथम सदी पूर्वेसा के अन्तिम चतुर्थांश के पूर्वार्ध से पहले नहीं रखा जा सकता।

साञ्ची तोरण के शिलालेख मे भी दानकर्ता के रूप मे एक सातकर्णी का नाम मिलता है। वह आन्ध्र नृपति सातकर्णी प्रथम रहा होगा। हेलीओडोरस के बेसनगरवाले गरुड़ स्तम्भ के लेख से सिद्ध होता है कि विदिशा का प्रदेश कम से कम नवम् राजा भागभद्र के राज्यकाल तक शुंगवंश के अधिकार में था। पुराणों के अनुसार भागभद्र का राज्यकाल सन ८२ पूर्वेसा में समाप्त हुआ। सम्भवतः विदिशा के साथ मालवा का पूर्वीय भाग भी आन्ध्रों के अधिकार मे लगभग उसी समय आया जब शुंग शक्ति नष्ट हो चुकी थी। पुराणों के अनुसार शुंगशक्ति का अन्त लगभग ७२ पूर्वेसा मे हुआ। डा० राय चोधरी सीमुक को कराव नृपति सुशर्मन का समकालीन मानते हैं। पुराणों मे सीमूक वंशका परिचय सन २७ पूर्वेसा से प्रारम्भ होता है और बीच के ४५ वर्ष कराव वंश के लिये सुरक्षित है। सीमूक के भाई का राज्यकाल १० वर्ष स्थिर किया गया है। यदि २७ या २८ पूर्वेसा को सीमूक के राज्यकाल का अन्तिम वर्ष मान लिया जाय तो सातकर्णी प्रथम सन् १७ पूर्वेसा में गद्दी पर बैठा। यह समय पौराणिक वंशानुक्रम और शिलालेख विज्ञान दोनों के अनुकूल हैं। आ० नी० चन्द्र ने भी नयनिका के शिलालेख को बेसनगर के शिलालेख के बाद का माना है। अतः प्रथम सदी पूर्वेसा के नानाघाट और साँची दोनों के शिलालेखों मे प्राप्त सातकर्णी का विजेता खारवेल के समय द्वितीय शताब्दी पूर्वेसा नहीं हो सकता।

हाथी गुफा के शिलालेख की छठी पंक्ति में खारवेल के वंशानुक्रम का सबसे अस्पष्ट प्रमाण मिलता है। इसमें लिखा है—

'तीन सौ वर्ष पूर्व नन्दराज के द्वारा उद्घाटित नहर को खारवेल ने तानासुलिय के मार्ग से नगर तक बढ़ाया था। तीवससत का अनुवाद इन्द्राजी और जायसवाल ने १०३ वर्ष किया था परन्तु अब इसे 'तीनसौ वर्ष' समझा जाता है। डा० जायसवाल भी इसे मानते हैं परन्तु वे नन्दराज को नन्दिवर्धन समझते हैं। परन्तु नन्दिवर्धन को नन्दराज कैसे समझ लिया जाय? पुराणों में भी उसे नन्दिवर्धन ही कहा गया है, ताकि नन्दवर्धन-जिससे उसे नन्दराज समझने में औचित्य समझा जाय। इसके अतिरिक्त पुराणों के अनुसार वह शिशुनाग वंश का राजा था जबकि नन्दराज महापद्मनन्द था। पुराणों मे नन्द राजाओं के सम्बन्ध में प्रशंसात्मक उल्लेख नहीं मिलते क्योंकि अन्तिम शिशुनाग राजा महानन्दिन ने एक शूद्र स्त्री से विवाह कर इस वंश के महापद्मनन्द को शूद्र गर्भोद्भव कहा गया है परन्तु अनेक क्षत्रिय वंशों का नाशक तथा एकछत्र सम्राट् होने के कारण उसके प्रताप ने असाधारण प्रशंसा प्राप्त की है। अन्तिम शिशुनाग राजा और मगध के प्रथम नन्दराज के व्यवधान काल मे जिन वंशों का समयानुक्रम पुराणों मे दिया गया है उनमें कलिंगराज भी है। पुराणों के अनुसार महापद्म को एकरथ और सर्वक्षत्रान्तक सिद्ध करने के लिये माना जा सकता है कि मध्य और उत्तर भारत के राजाओं के साथ ही उसने दक्षिणपूर्व के कलिंगों को भी जीता हो। अतः शिलालेख के नन्दराज को नन्दिवर्धन की अपेक्षा महापद्मनन्द मानना अधिक तर्कपूर्ण है। खारवेल को पुष्यमित्र शुंगका समकालीन सिद्ध करने के लिये ही संभवतः जायसवाल ने ऐसा कर दिया था। अतः यदि महापद्मनन्द ही वह राजा है जिसका समय खारवेल के राज्यकाल के पाँचवें वर्ष से ३०० वर्ष पूर्व गिना जाय तो हमलोग खारवेल और उसके शिलालेख के समय निरूपण की कुञ्जी पा लेते हैं।

महापद्मनन्द के राज्यकाल की अवधि के विषय मे पुराणों मे मतभेद है, परन्तु उसके बाद उत्तराधिकारियों की राज्यावधि सब मिलाकर बारह वर्ष निर्विवाद मान ली गयी है। बारह वर्ष के इस समय को विचार मे रखकर और चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याभिषेक का समय ३२२ पूर्वेसा मानकर, जो बहुत कुछ सिद्ध-सा है, महापद्मनन्द का अन्तिम समय जानने के लिये गणना की जा सकती है। यह ३२२ + १२ = ३३४ पूर्वेसा होता है। अतः नहर का संवर्धन किसी भी अवस्था मे ३३४ पूर्वेसा के बाद नहीं हो सकता। गोल अंकों में ३०० वर्षों का कथन व्यक्तीकरण का एक रूढ़ स्वरूप है जिसे अक्षरशः मानकर कुछ दूसरे अंक में से रूप जोड़े जा सकते हैं। सातवाहन कुल के तीसरे राजा सातकर्णी प्रथम से कालसाम्य ही खारवेल के समय की पहचान है। अतः यहाँ पर हमलोग सन् ३३४ पूर्वेसा को प्रस्थान बिन्दु मानकर समय निश्चित कर सकते हैं।

मान लीजिये कि यदि ३०० में बीस वर्ष जोड़ दिया जाय तो नहर के सवर्धन या परिवर्धन का समय सन् ३३४—३२०=१४ पूर्वेसा हुआ और उसका राज्याभिषेक पांच वर्ष पहले सन् १६ पूर्वेस. में हुआ शिलालेख की दूसरी पंक्ति में हमें उसके प्रारम्भिक जीवन का विवरण मिलता है जिससे हमें विदित होता है कि १६ वर्ष की अवस्था में वह युवराज बना और २४ वर्ष में राजा, इसलिये सन् १४ पूर्वेसा में नहर के परिवर्धन के समय पांच वर्ष राज्य करने के बाद उसकी अवस्था २६ वर्ष की थी। इस प्रकार हम प्रयोग के रूप में खारवेल के समयानुक्रम की निम्न लिखित तालिका बना सकते हैं:—

जन्म समय	२६ + १४ = ४३	ई० पू०
युवराज्य	४३—१६ = २७	ई० पू०
राज्याभिषेक	४३—२४ = १६	ई० पू०

यह शिलालेख उसके राज्य के तेरहवें वर्ष तक का वार्षिक विवरण प्रदान करता है अतः यह उसके राज्य के तेरहवें या चौदहवें वर्ष में खोदा गया होगा। इस प्रकार शिलालेख का समय सन् १६—१४=५ ई० पू० होता है। यह समयानुक्रम पौराणिक प्रमाणों से भी मेल खाता है। और दूसरी समसामयिक घटनाओं के अनुकूल भी है जिसमें सबसे महत्वपूर्ण खारवेल और सातकर्णी के युद्ध का समय है जो शिलालेख के अनुसार खारवेल के राज्य के दूसरे वर्ष में अर्थात् १७ ई० पू० में हुआ था। पहले दिखलाया जा चुका है कि यह एक ऐसा प्रमाण है जो आन्ध्र राजा के राज्यकाल के तीसरे वर्ष के समकालीन पड़ता है।

अनुवादक—श्री चन्द्रसेन कुमार जैन बी० ए० (आनर्स)

साहित्य-समीक्षा

मेरी जीवन गाथा—लेखक: पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी; प्रकाशक: श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, भदैनीघाट काशी; पृष्ठ संख्या २१ + ७०७; मूल्य: छः रुपये चार आने, साइज: डबलक्राउन सोलहपेजी, सजिल्द।

यह पूज्य वर्णीजी की आत्मकथा है। इसकी प्रस्तावना मध्य प्रदेश सरकार के गृहमन्त्री श्रीमान् प० द्वारिका प्रसाद जी मिश्र ने लिखी है। आपने प्रस्तावना में वर्णीजी के जीवन की विशेषताओं को स्वीकार करते हुए लिखा है कि "वर्णीजी के सम्पर्क में मैं अधिक नहीं आया। परन्तु मिलते ही मेरा हृदय श्रद्धा से भर गया। वर्णीजी ने अपना आत्मचरित लिखकर जहाँ जैन समाज का उपकार किया है, वहाँ हिन्दी के भाण्डार को भी भरा है"। प्रस्तावना की उपर्युक्त पंक्तियाँ ही पाठक को आद्योपान्त पुस्तक पढ़ने की प्रेरणा देती हैं। वास्तव में वर्णीजी ने इसे बड़े ही आकर्षक ढंग से लिखा है। उनके जीवन में जो महत्ता और विशेषताएँ हैं; उनका यत्किञ्चित् आभास मिल जाता है। जो वर्णीजी को निकट से नहीं जानते हैं, वे इस पुस्तक के द्वारा उनके निर्मल हृदय के दर्शन कर सकेंगे। निकट में रहनेवाले व्यक्ति भी इस चरित ग्रन्थ से अपने जीवन में अनेक बातें सीख सकेंगे।

वर्णीजी के जीवन के साथ इसके द्वारा बुन्देलखण्ड का पचास-साठ वर्षों का इतिहास भी ज्ञात हो जाता है। ज्ञान पिपासा कितनी प्रबल होती है, यह वर्णीजी के जीवन से सहज में जाना जा सकता है। एक लगन का व्यक्ति समाज के अज्ञान और कुरीतियों को किस प्रकार दूर कर सकता है तथा वह अपने त्याग और साधुता द्वारा समाज की कितनी सेवा कर सकता है, आदि बातें इस आत्मकथा से सीखी जा सकती हैं। प्रसंगवश श्री वर्णीजी ने अपने सम्पर्क में आये हुए अन्य कई महानुभावों के जीवन की झलक भी दिखलायी है। इन प्रसंग प्राप्त चरित्रों में उनकी धर्ममाता श्री चिरौंजाबाईजी का चरित्र विशेष उल्लेखनीय है। आपकी ही उदारता और मातृस्नेह के कारण वर्णीजी की ज्ञान पिपासा पूर्ण हुई है तथा वर्णीजी वर्णीजी बने हैं।

इस जीवन चरित्र में अनेक ज्ञातव्य बातें हैं। इसके लिखने की शैली औपन्यासिक है। जितना आनन्द किसी उपन्यास के अध्ययन में आता है, उससे भी अधिक आनन्द इस आत्मकथा के पढ़ने में आता है। प्रारम्भ करने पर पाठक अन्त किये बिना नहीं रह सकता। इस आत्मकथा की अनेक विशेषताओं में एक विशेषता जैनधर्म के उच्च सिद्धान्तों के प्रतिपादन की भी है। पाठक चरित्र के साथ जैनधर्म के अनेक सिद्धान्तों को भी ज्ञात कर सकता है। संक्षेप में यह एक सफल आत्मकथा है जिसकी भाषा में प्रवाह, विचारों में शृंखला और घटनाओं को क्रमबद्ध रखने का चातुर्य प्रशंसनीय है। छपाई-सफाई अच्छी है, प्रूफ में कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हैं, जो कहीं कहीं खीर में कंकड़ी के समान खटकती हैं।

वर्णी-वाणी (परिवर्धित एवं संशोधित द्वितीय संस्करण):—सकलयिता और सम्पादक : विद्यार्थी नरेन्द्र जैन, प्रकाशक : गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला भी भदैनी, बनारस; पृष्ठ संख्या ३० + ३२०; मूल्य : चार रुपये, डबलक्राउन सोलहपेजी साइज, सजिल्द।

श्री नरेन्द्रजी ने परिश्रम कर इसमें वर्णीजी के चुने हुए उपदेशों का सकलन किया। आज के उथल-पुथल के युग में यह वर्णीवाणी वस्तुतः मानव को शान्ति दे सकेगी तथा इसमें प्रतिपादित उपदेशों पर चलने से आजका श्रान्त अतृप्त मानव दिशा प्राप्त कर सकेगा।

प्रारम्भ में श्री पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री की प्रस्तावना है। आपने इस प्रस्तावना में सक्षेपतः अध्यात्मवाद की रूपरेखा तथा उसकी आवश्यकता बतलायी है। सुनिश्चित है कि मानव जबतक भौतिकवाद के जाल में जकड़ा रहेगा, तबतक आजकी समस्याएँ नहीं सुलझ सकती है। अध्यात्मवाद में ही शान्ति और सुव्यवस्था हो सकती है।

आगे वर्णीजी की संक्षिप्त जीवन झांकी दी गयी है। पाठक इनके जीवन से बहुत कुछ सुधार सकते हैं। पश्चात् कल्याण का मार्ग, मोक्षमार्ग, सफलता के साधन, मानवधर्म, विद्यार्थियों को शुभ संदेश, ससार के कारण, सुधासीकर, दैनन्दिनी के पृष्ठ, वर्णी लेखाञ्जलि और गागर में सागर इन दस भागों में समस्त उपदेश वाक्यों को विभक्त कर अनेक अध्ययन एव मनन की चीजे दी गयी हैं। इन उपदेशों का प्रत्येक वाक्य जीवन शोधन में विशेष सहायक है। जीवनकी अनेक उलझनें इस पुस्तक के स्वाध्याय से दूर की जा सकती हैं। प्रत्येक सन्त की वाणी में जैसी हृदय की ध्वनि रहती है, इसमें भी वही ध्वनि वर्तमान है। इसके अध्ययन से किसी भी सम्प्रदाय का व्यक्ति अपने जीवन में स्फूर्ति, शान्ति, प्रेरणा, चेतना एव गति प्राप्त कर सकेगा। श्रीनरेन्द्रजी ने इस द्वितीय सस्करण को पर्याप्त सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है। अन्त में दिया गया सिद्धान्त-शास्त्री श्री० प० फूलचन्द्रजी का शब्दकोष पुस्तक के पारिभाषिक शब्दों को हृदयगम करने में सहायक है। इस सर्वाङ्ग सुन्दर प्रकाशन के उपलक्ष में वर्णी ग्रन्थमाला के प्राणप्रतिष्ठापक श्री पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री विशेष धन्यवादाई हैं।

आप्त-परीक्षा (हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावना सहित):—रचयिता : श्रीमद्विद्यानन्द स्वामी; सम्पादक और हिन्दी अनुवादक : न्यायाचार्य श्रीमान् प० दरबारीलालजी कोठिया; प्रकाशक : वीरसेवा मन्दिर सरसावा (सहारनपुर) पृष्ठ सख्या : ८ + ८ + ३० + २६६ + ७, मूल्य : आठ रुपये।

इस पुस्तक का प्राक्कथन दि० जैन समाज के ख्याति प्राप्त विद्वान् श्रीमान प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारस ने लिखा है। आपने इसमें जैनदर्शन की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हुए अनेक ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला है। प्राक्कथन के अन्त में समन्तभद्र स्वामी और पात्र-केसरी का सक्षिप्त विवेचन भी किया गया है। आपके इस पुस्तक के सम्पादक विद्वान् श्री

कोठियाजीको इस प्रकार के सुन्दर अनुवाद और सम्पादन के लिये आशीर्वाद दिया है। वास्तव में कोठियाजी ने दि० जैन न्याय ग्रन्थों का अनुवाद कार्य कर समाज का बड़ा उपकार किया है। वर्तमान मे दि० जैन न्याय के पठनपाठन की धारा क्षीण हो रही है, आपके द्वारा अनूदित ये दार्शनिक ग्रन्थ इस धारा को तीव्रता प्रदान करेंगे।

कुछ दिन पूर्व आपके द्वारा सुसम्पादित न्यायदीपिका देखने को मिली थी। अब इस गहन कृतिका हिन्दी अनुवाद प्राप्त कर महती प्रसन्नता हो रही है। श्री कोठियाजी ने मूलानुगामी अनुवाद कर न्याय के विद्यार्थियों का बड़ा उपकार किया है। अनेक स्थानों पर तुलनात्मक टिप्पणियाँ दी गयी हैं, जिनसे यह ग्रन्थ सर्वाङ्ग सुन्दर बन गया है। अनुवादक की विशद विवेचनात्मक शैली, प्रौढ़भाषा, एवं अक्षुण्ण भावों की रक्षा आदि बातें उनकी दार्शनिक प्रतिभा की परिचायक हैं। सम्पादक द्वारा दी गयी विस्तृत प्रस्तावना, जिसमे विशेषत. जैन न्याय का इतिहास है, विद्वत्तापूर्ण है। इस प्रस्तावना से जैन दार्शनिकों के सम्बन्ध मे पर्याप्त जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

प्रस्तुत सम्पादन सर्वाङ्गपूर्ण हुआ है। न्यायाचार्य दरबारीलालजी की सूक्ष्म दार्शनिक प्रतिभा प्रशस्य है। यद्यपि पाद टिप्पणियों मे दो एक स्थल मे व्याकरण सम्बन्धी कुछ भूलें रह गयी प्रतीत होती है, फिर भी सम्पादन सुरुचिपूर्ण है। छपाई-सफाई उत्तम हैं। इस उत्तम प्रकाशन के लिये वीरसेवा मन्दिर एवं विद्वान् सम्पादक धन्यवादार्ह हैं।

राजगृह:—लेखक : श्री भँवरलाल नाहटा, प्रकाशक . श्रीजैन सभा ७ शम्भू मल्लिकलेन, कलकत्ता, पृष्ठ संख्या १०१, मूल्य . दो रुपये।

इसमे लेखक ने अनेक श्वेताम्बर जैन ग्रन्थो एवं अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों के प्रमाणों के आधार पर राजगृह तीर्थक्षेत्र की महत्ता बतायी है। भगवान् महावीर के समय मे राजगृह अत्यन्त समृद्धशाली नगर था। चीनी यात्री फाहियान ने राजगृह की वन्दना की थी और बौद्ध मूर्त्तियों के दर्शन कर कृतकृत्य हुआ था। लेखक ने जैन दृष्टिकोण से राजगृह क्षेत्र की पवित्रता और ऐतिहासिकता का वर्णन किया है। विपुलगिरि, रत्नगिरि, उदयगिरि, स्वर्णगिरि और वैभारगिरि इन पञ्च पहाड़ियों का ऐतिहासिक वर्णन श्वेताम्बर दृष्टिकोण से अच्छा किया है तथा बीचमे एकाध स्थल पर श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यताओं की भिन्नता का भी प्रतिपादन किया है। जानकारी के लिये पुस्तक अच्छी है, इतिहास प्रेमियो को मँगाकर पढ़ना चाहिये।

नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य

रत्नाकर शतक:—रचयिता रत्नाकरवर्णी; अनुवादक और सम्पादक : स्वस्तिश्री १०८ देशभूषण महाराज : सहायक सम्पादक : श्री प० नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक : स्याद्वाद प्रकाशन मन्दिर आरा; पृष्ठ संख्या ५ + २३ + २४०; मूल्य : दो रुपये आठ आने।

कन्नड जैन वाङ्मय बहुत विशाल है। इसका हिन्दी मे अनुवाद होकर प्रकाशित होना बहुत आवश्यक है। उक्त प्रकाशन मन्दिर का प्रधान ध्येय कन्नड जैनवाङ्मय को राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनूदित कर प्रकाशित करने का है। यह इस ग्रन्थमाला का प्रथमाङ्क है। आमुख के अनन्तर प्रस्तावना है, जिसमे कविरत्नाकर वर्णी का जीवन चरित्र एव ग्रन्थ की विशेषताएँ बतायी गयी हैं। कन्नड पद्यों को ऊपर नागरी लिपि मे रखा गया है तथा प्रत्येक पद्य के सरलार्थ के साथ विशेष विवेचन भी दिया गया है, जिससे यह ग्रन्थ सर्वसाधारण के लिये स्वाध्याय योग्य बन गया है। विवेचन लिखते हुए कई ग्रन्थो का आधार लिया गया है तथा बीच-बीच में उद्धरण भी दिये गये हैं। स्वाध्याय प्रेमियो को मँगाकर अवश्य लाभ उठाना चाहिये तथा कन्नड कृतियो का रसास्वादन हिन्दी माध्यम द्वारा करना चाहिये। छपाई सफाई अच्छी है।

—माधवराम न्यायतीर्थ

वैराग्यसार-प्राकृतदोहाबन्धः

रचयिता—सुप्रभाचार्यः

श्री जिनपतये नमः

।। वैराग्यसार-प्राकृतदोहाबन्धः ।।

इक्कहिं घरेबधामणा अण्णाहिं घरि धाडहि रोबिज्जई ।।
परमत्थई सुप्पउ भणइं किमवइसग्गभाउ ण किज्जइ ।।१।।

अस्य टीका । सुप्रभाचार्य उवाच अहो भव्य ! अत्र संसारे एकस्मिन् गृहे वृद्धिमंगल भवति तथान्यस्मिन् गृहे धाडहिं—हाहाकार रोदन करोति, इति मत्वा परमार्थेन कृत्वा सुप्रभाचार्यः कथयति त्वया वैराग्यभावः किं न क्रियते ।।

सुप्पउ भणइं रे धम्मियहु मा खसहु धम्मणियाणि ।।
जे सूणामिधवल हरिते अथवण मसाण ।।२।।

पुनः सुप्रभाचार्यः कथयति । हे धर्मिणो लोकाः जिनधर्मात् दशविधिधर्मात् मा खसहु—मा चलन्तु, अपरमिथ्यामार्गे मा पतन्तु, तथा मरणपर्यन्तमपि जिनधर्ममार्गात् मा चलन्तु कुतः अत्र संसारे ये लोकाः सूर्योदये धवलगृहे तिष्टन्ति ते लोकाः, अस्तंगते सूर्ये श्मशाने दृश्यन्ते लोकैरिति शेषः ।।

सुप्पउ भणइं मा परिहरहु परउवयारचरतु ।।
ससिसूरदुहु अंथवणि अणहं कवणथिरत्तु ।।३।।

पुनः सुप्रभाचार्यः कथयति किं सत्पुरुषैः परोपकारः न मुच्यते, परोपकारमुपकरणं चरित्रं न मोक्तव्यं अत्र दृष्टान्तमाह यथा शशिसूर्यावस्तगच्छतः तर्हि अन्येषां लोकानां स्थैर्यं कथं भवति, अपितु न ।।

धणवता सुप्पउ भणिइं धणुदइ विलसिम भूलि ।।
अजजिदीसहि केविणरमुवातिसुं महिकलि ।।४।।

हे धनवान् त्वं सप्तक्षेत्रेषु धनं देहि, पुनः त्वया निजधनं भोक्तव्यं विलसन् मा भ्रम । अत्र दृष्टान्तमाह ये लोकाः मया अद्यदिने अवलोकिताः ते लोकाः अपरस्मिन् दिने मृताः श्रुताः ।।

अहघरकरिदाणेण सहुअहलउ करिणिगंथ ।।
विहचुक्कउ सुप्पउ भणइ रे जीय इत्थणउत्थ ।।५।।

हे जीव यदि चेत्त्वं गृहवासं करिष्यसि तर्हि दानपूजाद्यैः सह गृहवासं कुरु । यदि गृहे धनं नास्ति तर्हि निर्ग्रन्थ-जिनदीक्षा गृहाण । यदि त्वं दानपूजाद्यैर्विना गृहे तिष्ठसि, जिनदीक्षा न पालयसि, निर्ग्रन्थस्य दीक्षां गृहीत्वा पश्चात् परिग्रहमर्गं करोषि, तर्हि इहामुत्र द्वौ हारितौ मूर्खजीवस्य जन्म वृथा गतम् ।।

सुप्पउ भणइ रे धम्मियहु पडहुम इंदियजाल ।।
जसुमंगलसूरगमे तसुकंरवणउवियालि ।।६।।

भो भव्या ! इन्द्रियजालविषये मा पतन्तु यतः अत्र संसारे यस्य सूर्योदये मंगलादिकं भवति तस्य सर्वे अपराह्णे अकस्मात् कंरवणा—शोक उत्पद्यते तत् साम्प्रतं प्रत्यक्षं दृश्यते ।।

सुप्पउ भणइ मामेलिजिय जिणगिरिचरणकराडि ॥
को जाणइ कहिं खणिपडइ तुट्टकयं तहधाडि ॥७॥

हे भव्य! जिनेन्द्र एवं गिरेः पर्वतस्तस्य चरणावेव कराडिरत्या करादूनेः आलयं मा मुञ्च कस्मात् यतः कारणात्, को जानाति कस्मिन् क्षणे कृतान्तस्य धाडिः खड्गः पतति, किं कृत्वा तुट्टयित्वा ॥

रे जीयतुझ सुप्पउ भणइ पावउ धमुममेलि ॥
पेरवंतहं सुहिसज्जणहिं अवसिमरिष तुकलि ॥८॥

रे जीव! त्वं महादुर्लभ जिनधर्मरत्नं प्राप्य मा मुञ्च मिथ्यात्वमध्ये मा पत, कस्मात् यतः तव सुहृत्स्वजनकुटुम्बादिके ऽवलोकिते सति, अवश्यमेव त्वं मृत्युं प्राप्नोषि तस्मात् धर्मोपरि श्रद्धा कुरु ॥

जिमझाइज्जइवल्लहइ उतिमजइ जिय अरहंतु ॥
सुप्पउ भणइ ते माणसहं सुगुघरिंगणिहुंतु ॥९॥

हे जीव! यथा किञ्चित् वल्लभवस्तूनि स्वचित्ते चिन्तयति ध्यायते, तथा तेनैव प्रकारेण अर्हं जिनेन्द्रं ध्यायतु, ध्यायमानस्य जनस्य गृहाङ्गणे स्वर्गः वर्तते पुनरेकभवे द्विभवे वा अमरपदं प्राप्नोति ॥—

मुवउमसाणि ठवेवि लहुवंधवणियघरजंति ॥
घरलकदु सुप्पउ भणइ जे सरिसाहुगमंति ॥१०॥

हे जीव! अत्र लोके ऽस्य जीवस्य कुटुम्बादिभिः किं प्रयोजनं? कस्मात् यतः कारणात् श्मशाने लघु—शीघ्रेण मृतकं स्थापयित्वा तदनन्तरं बन्धुकुटुम्बादयः निजनिजगृह गच्छन्ति ततः कारणात् अहो तत्र श्मशाने काष्ठादिकं वर श्रेष्ठं यत्काष्ठादिक तेन मृतकेन सह स्वय प्रज्वलति ॥

रोवंतहं धाहारवेण परअंसुव गलंति जममिलियउ।
सुप्पउ भणइ एत्थुण कायउमंति ॥११॥ ?

हे जीव! अत्र यः मूढः कुटुम्बादिके मृते सति यदा रोदनं करोति तदा निःकेवलानि अश्रुपातानि परि सन्तात् भवन्ति गलन्ति पुनः निःकेवलं पापकर्म बध्नाति, परन्तु तेन मूढेन स्वात्मस्वरूपं न ज्ञातं, तस्मात् अयं जीवः आयुष्प्राप्ते सति यममंदिरे गच्छतीति तत् आश्चर्यं न किञ्चित्

रे जीयतं तहु किंपि करिजं सुयगह पडिहाइ ॥
मणुविसहयं हविइंधणहं मसणधवणहं जाइ ॥१२॥

हे जीव! त्वया तत् कार्यं करणीय येन कार्येण तव स्वजनमध्ये निर्मलकीर्त्तिः प्रवर्त्तते च पुनः परलोकः साधितव्यः, परन्तु रे जीव विषयसौख्यादिभिः किंचिदात्मकार्यं न भवति। दृष्टान्तमाह यथा हविः अग्निः इंधनोपरिगच्छन् तमिंधनं भस्म करोति यथा तद्वत् पञ्चेन्द्रियाणां विषयोपरि स्वचित्तं यदा गच्छति तदा स्वधर्मं भस्म करोति ॥

हिवडाकोइं वडफडगइं घरु परियणु चितंतु ॥
किं न पेक्खहि सुप्पउ भणइ अणुअणउं कियंतु ॥१३॥

हे चित्त ! त्वं कस्मात् वडप्फडइत्ति कोर्थः त्वं कस्मात् आकुलव्याकुलो भवसि कथं परिजनस्य चिन्तनात् आकुलो भवसि ततः सुप्रभाचार्यः कथयति, यत् रे जीव त्वं किं परिजनस्य अत्र जगति, बद्धोऽसि असौ कृतान्तः सर्वान् जनान् सन्तापयति ॥

हिवडासंवरिधाहडी मुवउकि आवै कोई ॥
अपउ अजरामरु करिवि पछइ अखहुं रोइ ॥१४॥

हे चित्त ! त्व देहादिक-परेषामुपरि धाडही रोदन शोकरोदनादिक मुञ्चय, अहोऽम संसारे कोपि जनः मृत्वा पुनरागतः केन दृष्टः, अत्र संसारे स जीवो नास्ति यस्य परस्परं मातृपितृभ्रातृभगिनी-भार्यास्वजनकुटुम्बादिकं न मृतम् । रे मूर्ख त्वं निजात्मान प्रथमं अजरामरं कुरु, पश्चात् अन्येषां—अपरेषां रोदन कुरु ॥

किम किज्जइ सुप्पउ भणइ पियपरधरणिधणासु ।
आउसिरासि हरंतु खलु किंण पेक्खहि जीवासु ॥१५॥

सुप्रभाचार्यः कथयति किं यत् प्रियवस्तुपरपुद्गलादिकं धरणि–स्त्री–पुत्रधनगृहादीनां आशा किं क्रियते न कर्तव्या, कस्मात् खलु निश्चितमस्य जीवस्यायुरेव प्रतिदिनं प्रतिक्षण स्खलति हरति रे जीव तत् त्वं न पश्यसि, इति मत्वा रे जीव त्वया जीवनस्य आशा न कर्तव्या ॥

सुप्पउपुत्तकलत्त जिम दिठ्वु विहंजे विलंति ।
तिमंजइ अंमुणु जरमरणु हरहित इठएणमंति ॥१६॥

रे जीव ! अयं पुत्रकलत्रगृहधनकुटुम्बादिकः यथा ज्ञातेन द्रव्यादिक वाटयित्वा गृह्णाति तथा तेनैव जन्मजरामरणरोगवियोगघारद्रयादिकं ततः सकाशात् यदि गृह्णाति तदा इद कुटुम्बादिकं परमेष्ट मन्ये ॥

जइसुहुधणु वल्लहउ मिच्च मर्हितु विभूरि ।
लइलाहउ सुप्पउ भणइ जमुखिवडो घर दूरि ॥१७॥

हे जीव ! हे मित्र यदि चेत् इदं धनादिकं तव अतिवल्लभ अस्ति तर्हि तद्धने दानपूजादिषु विषये दत्ते सति त्वं स्वचित्ते मा खेदं कुरु । सुप्रभाचार्यः कथयति ततः कारणात् हे जीव त्वं निज-धनस्य लाभं गृहाण, दृष्टान्तमाह यथा यमः कृतान्तः तव आयुकर्म निकटे समीपे संप्राप्तवान् परं तवगृहं दूरतरं वर्तते ॥

सुप्पउ भणइं रे जीव सुणि बंधव करिहि परत्तु ।
परकिरियिकिवि अप्पसु भवि जिम्मसु विसूरहि मित्त ॥१८॥

सुप्रभाचार्य उवाच रे जीव त्वं शृणु अहं कथयामि इदं कुटुम्बपरिजनादिकं त्वं स्वकीयं मा

जानीहि, अहो यदि धनकुटुम्बादिकं स्वकीयं भवति तर्हि त्वया सह कथं न आयाति। त्वया अनन्तानन्तानि कुटुम्बानि कृतानि, पुनः त्वं श्रियं स्वकीयां मा जानीहि। कस्मात् यतः कारणात् अन्यस्मिन् भवे त्वं न प्रश्नीासि। हे जीव अन्यभवे तव चित्ते खेदं नोत्पद्यते ॥

जेण सहत्थेंणि थयधणु सव्वावत्थ णदिंति।
माइ विहूणउ डिंभु जिमु ते झूरंति मरंति ॥१६॥

हे जीव! येन पुरुषेण स्वकीय धन स्वहस्तेन जिनपूजापात्रदानादिषु धर्मकार्येषु विषये न दत्त तेन पुंसा चित्ते कष्टमनुभूयते यथा डिंभो बालकः स्वमातरं विना झूरयित्वा अति दुःखेन मरण प्राप्नोति तद्वत् ते कृपणजनाः बालकवत् झूरयित्वा मरण प्राप्स्यन्ति ॥

धणुदिंतुहं सुप्पउ भणइ किन्तु मवारि मयत्थि।
जज्जरि भद्गइणीरु जिम आउगलंतो पिच्छि ॥२०॥

हे मृगाक्षि! हे कान्ते! स्वकीयं धनं ददन्त मन्त त्व मा वर्जय क कान्तं, यथा जर्जरे घटे नीरं पानीय गलित्वा गच्छति तथा हे प्रियेऽत्र ससारे अस्य जीवस्य आयुः गलति, त्वं पश्य ॥

सुकिउ सचिम संचिधणु जं परहत्थण होय।
सुप्पय सुरणर विसहरह सुकिउ हरइण कोइ ॥२१॥

हे जीव! त्वं निज सुकृतस्य पुण्यस्य सचय कुरु। दशविधधर्मस्य संचयं कुरु, परन्तु लक्ष्म्याः धनस्योपरि आदरसंचय मा कुरु, कस्मात् यदि स्व धन स्वहस्तेन सप्तक्षेत्रेषु दीयते तर्हि तद्धनं परहस्तेषु न भवति, तद्धन स्वकीय भवति। अस्य जीवस्येद धनं कदाचित् असुरदेवनरमानव विषधरनागकुमारदयः अपहरन्ति परन्तु स्वसुकृत धर्म न कापि अपहरति ॥

दिज्जइ धणु दत्थिय जणहं सुद्धउ करिणिय भाव।
चप जीवतु सुप्पउ भणइ सुणणउं दिवसुम जाउ ॥२२॥

हे भव्य! दुःखिजनेभ्यः धनं दीयते, केन प्रकारेण शुद्धभावेन संवेगेन कृत्वा सुप्रभाचार्यः कथयति अत्र चपल चंचलं जीवित भवति इति मत्वा हे वत्स दानपूजादिकं विना एकं दिनं शून्यं मा गच्छतु ॥

सुप्पउ भणइं रे दविलसिउहिधणु संचिमगाहु।
लग्गइ कालि पले वणइं जं णिग्गइ सं लाहु ॥२३॥

सुप्रभाचार्यः कथयति! किं रे जीव त्वं स्वकीयं धनं सप्तक्षेत्रे जिनमार्गे देहि वप च पुनः भोगं कुरु। रे मूढ लोभिन् त्वया या लक्ष्मी अत्याग्रहात् हठात् पञ्चाणुव्रतरहितात् सञ्चिता ता लक्ष्मी बहुता प्रज्वलिता च, यदि त्वं पुन कुटुम्बार्थं लक्ष्मीं भूमिमध्ये संचयसि तर्हि तत्र स्थाने कालसर्पो भूत्वा पश्चात् नरके गच्छसि, कस्मात् पापमोहवशात् केन दृष्टान्तेन यथा यदा काले दहनके वैश्वानरे—यत्री संति यद्वस्तु निष्काश्यते तस्य लाभो भवति ॥

सुप्पउ वल्लह मरणदिणि जेम विरच्चैवितु ।
सव्वावत्थहं तेमजइ जिम णिव्वाण पहुत्तु ॥२४॥

रे जीव ! अत्र संसारे कोपि पुरुषः स्ववल्लभं वस्तु सचेतनाचेतनादिगते म्रियते सति वैराग्यं विरक्तचित्त करोति, तथा तेनैव प्रकारेण यदि चेत् अहो जीव त्वं सकलपदार्थविषये परस्वरूप-विषये यदा विरक्तो भविष्यसि तदा त्वं निर्वाणे मोक्षे गमिष्यसि ॥

जर जोवण जीविउ मरण धण दालिद कुटुंब ।
रे हियडा सुप्पउ भणइं इहु संसाचिद्दगवु ॥२५॥

हे जीव ! जरायौवनं पुनः जीवितव्य मरण पुनः धनदारिद्रयकुटुम्बादिके रोगशोकादिके च तव चित्तं संलग्न, तत. सुप्रभाचार्यैः कथयति किमित्यादिका. पदार्थाः अस्य जीवस्य चतुर्गति-संसारमध्ये चिद्दगबु कारण दुःखदातारः भवन्ति कस्मात् यतः परेषामय जीव स्वकीयं मन्यते तस्मात् यथा दुग्ध लम्पटो मार्जार. लकुटप्रहार विस्मृतः पिबति तथा तेनैव सर्षपसम विषयसुखेन मेरुसमं दुःखं भुनक्तीति महदाश्चर्यम् ॥

हयगय रहवर पवर भड संपय पुत्तकलत्त ।
जमरूठइ सुप्पउ भणइं कोइ न करइ परत्तु ॥२६॥

हे वत्स ! अत्र संसारे ऽस्य जीवस्य हयः—घोटकः, गयः-हस्ती, रथः-प्रवरः भटः-सुभटः, संपइ-लक्ष्मी पुत्रकलत्रादियश्च, एतेषु सर्वेषु न कोपि परत्र कृतान्तभयात् रक्षति ? अपितु कोपि न रक्षति, केन कथितं केवलिवचनात् सुप्रभाचार्येण कथितम् ॥

जइदिणदह सुप्पउ भणइं घरपरियण थिर होइ ।
तां अवलंबि चित वरण रण्णि किनि वसइ कोइ ॥२७॥

पुनः सुप्रभाचार्यं उवाच किमत्र जगति विषये यदि चेत् दशदिनानि अथवा किञ्चिद्दिनपर्यंतं गृहपरिजनधनकुटुम्बादिक स्थिरं भवति नहिं अत्र संसारे तपश्चरण प्रव्रज्यादिक गृहीत्वा अरण्ये वने का नरः तिष्ठति. अपि तु न कोपि, इति मत्वापि हे जीव ! लक्ष्मीगृहपुत्रकलत्रकुटुम्बादिकस्योपरि राग मा कुरु ।

ते जीवं तह मुत्र विगणि मालेखहि जीवति ।
ते कुप्पाहि सुप्पउ भणइं दाणंहु पंथिण जंति ॥२८॥

हे वत्स ! अत्र संसारे ते पुरुषः जीवन्तोऽपि मृता ज्ञातव्याः ये पुरुषाः जीवनक्रिया न जानन्ति कथं जीवनक्रिया न जानन्ति, सुप्रभाचार्यः कथयति, ये पुरुषा. कुधर्मितमिथ्यामार्गे प्रवर्तन्ते पुनः दान-पूजाव्रतादिसन्मार्गेषु न वर्त्तन्ते । पुनः व्यसनमदकषायान् न मुञ्चन्ति ।

धम्मणिभित्त घर घरणि जसु मणि णिछउ हुंति ।
तसु जय सिर सुप्पउ भणइं इयरहं कह बनछति ॥२९॥

हे वत्स ! अत्र संसारे ये भव्या जिनधर्मे निश्चयचित्त कृत्वा दानपूजाधर्मात् स्वर्गे

अनुतिष्ठन्ति तेषां पुरुषाणां माहात्म्यं सुप्रभाचार्यः कथयति यदिमे इहामुत्र सर्वत्रैव सर्वकार्येषु विजयिनः भवन्ति। परन्तु अन्यस्य विषयासक्तस्य जनस्येहामुत्र विजये जयो न भवति ॥

पर पीडिवि धणुसंचयइ सुप्पउ भणइ कुदोसु।
बंधणमरण विडंबु तह तहु अस्थि विसेसु ॥३०॥

अहो भव्य ! अत्र संसारमध्ये ऽस्य जीवस्य कीदृशाः दोषाः कर्मवशात् कथ्यन्ते। यत् परेषां जनान् वञ्चयित्वा पीडयित्वा मोहवशात् धनं सञ्चयति तथा पुनः परजनं वञ्चयित्वा परद्रव्यं गृहीत्वा च स्वकुटुम्बं पोषयति। ईदृशाः दोषाः कथ्यन्ते तत् पाप स्वयमेव भुनक्ति, कुटुम्बादिक न भुनक्ति तस्यैव बन्ध-बन्धादिक विडम्बादिकञ्च भवति, केन कथित जिनवचनात् सुप्रभाचार्येण कथितम् ॥

परहम्मइं धणु संचयइं थिरकिज्जइघरुवासु।
सकुडुंवउ सुप्पउभणई जइजिउ मरइहयासु ॥३१॥

हे जीव ! यदि पर मारयित्वा वञ्चयित्वा धन सञ्चयसि, तर्हि एव स्वचित्ते कथं न विचारयसि किमहो यदि त्वं सदा सर्वकाले स्थिरत्वं करोषि तर्हि परद्रव्यस्य सञ्चय कुरु ततः कारणात् सुप्रभाचार्यः कथयति किं हे जीव ! इति मत्वा पुत्रकलत्रादिषु परेषु रागः न क्रियते। अहो जीव यदि तव कुटुम्बो म्रियते तर्हि परेषां धन संचय। पुनः यद्यत्र संसारे गृहवासः स्थितो भवेत् तर्हि धन सञ्चय। किमिव यथा कश्चित्पापात्मा मरणं प्राप्य नरकं गच्छति तस्य पापान्मरणसत्त्वात् मृतानन्तर कोऽपि खेदं न करोति, तद्वत् रे जीव तव मरणानन्तर न कोपि खेदं करोति।

रे जिय गुणकरिसज्जणहं परिहरिपावविडंवु।
कइ दिवसइं सुप्पउ भणइ सुयरोविहइकुडंबु ॥३२॥

हे जीव ! त्व सज्जनानां गुणानुकरण कुरु, पुनः अहोरात्र पापविडवादिकं मुञ्च ततः सुप्रभाचार्यः कथयति किं रे जीव ! कतिपयदिवसेषु गतेषु त्वदीय कुटुम्ब रुदनं करिष्यति ॥

जसु कारणि धणु संचइ पावकरेविगहीरु।
तं पि छहु सुप्पउ भणइ दिणि दिणि गलइ सरीरु ॥३३॥

हे जीव ! येन कारणेन धनं संचयति येन कृत्वा—धन सञ्चयति महाद्गुरुतर पाप पश्चात्तदुत्पन्नं पापं कृत्वाऽनर्थं करोषि भयानितिशोच। अतः सुप्रभाचार्यः कथयति हे लोकः अर्थेन रक्षितमिदं शरीरं दिनं दिनं प्रति गलति, इद कथमपि नित्य न भवति, अनेनैव हेतुना धनधान्यादिका अन्यपरिग्रहा कथं नित्या भवेयुः अपितु कथमपि नित्या न भवेयु। महदाश्चर्यं जीवः धनाय कथं पापं करोति।

चंदाणणि सुप्पउ भणइ धणसंचय उत काइं।
अणदिंतहं सुप्पउ भणइ सुपरिसए उद्दियाइं ॥३४॥

हे चन्द्रानने ! सुप्रभाचार्यः कथयति किं यदि त्वं दानपूजार्थे सप्तक्षेत्रे स्वकीयं धनं न वपसि

तर्हि त्वया इदं धनं कथं सञ्चितम्। यदि मत्क्षेत्रे धनं न दीयते तर्हि सत्पुरुषस्येयं वार्ता किं योग्या भवति, अपितु न ॥

सिसु तरुणा उपरिण यवयसु इउ चिंतमाहं न जाइ।
जमरक्खसु सुप्पउ भणइ उप्परिताडि यरखाइ ॥३५॥

हे वत्स! अत्र संसारे यः पुमान् स्वचित्ते एवं चिन्तयति स पुरुषः मूढात्मा कथ्यते, किं चिन्तयति यदहं शिशुः बालकः, तरुणः युवा, वृद्धः, अहं ज्ञानी, अहमज्ञानी, अहं कुलीनः, अहमकुलीनः, अहं सुजातिः, अहं कुजातिः, अहं राजा, अहं भृत्यः, अहं बलवान्, अहं निर्बलः, अहं लक्ष्मीवान्, अहं दरिद्रः, अहं तपस्वी, अहं रोगी, अहं रूपवान्, अहं कुरूपः, अहं पुरुषः, अहं स्त्री, अहं नपुंसकः, इत्यादि कर्मणः प्रक्रिया ज्ञेया। एवं—अमुना प्रकारेण सत्पुरुषाः सद्दृष्टय एवं न चिन्तयन्ति ततः सुप्रभाचार्यः कथयति किमहो अस्य जीवस्योपरि यमः राक्षसः ताडनाय पीडनाय तत्परः तिष्ठतीति मत्वा इन्द्रियपोषणार्थं एवं मूढत्वं न चिन्तनीयम् ॥

ते धणवंत न दिंति धणु अवरुजियहमग्गंति।
ते दुण्णिवि सुप्पउ भणइ मुवलेरिवइं लग्गंति ॥३६॥

अहो वत्स! अत्र जगति विषये धनवन्तः पुरुषाः स्वकीयं धनं न ददति च पुनरन्येऽपरे जनाः परजनेभ्यः धनस्य याञ्चां कुर्वन्ति तान् सुप्रभाचार्यं कथयति किं यथा संसारमध्ये ये पुरुषाः मरणं प्राप्ताः तेषां मृतकानां पुरुषाणां न कोऽपि लेखा करोति तद्वत् ते पुरुषाः ज्ञातव्या ॥

दयाकारी जीवहंपालिवय करिदुत्थियपरत्त।
जिमतिमकरि सुप्पउ भणइ अवसि मरे वो मित्त ॥३७॥

हे जीव! सर्वेषामुपरि दयां कुरु, पुनः निर्मलानि व्रतानि पालय, पुनः करिदुत्थियपरत्त इति कोऽर्थः—दुःखीजनानां दरिद्राणामुपकारं कुरु, कस्मात् ततः सुप्रभाचार्यः कथयति किं यतः कारणात् हे जीव! यथा तथा प्रकारेण अवश्यमेव हे मित्र! मर्तव्य यमगृहे गन्तव्यम् ॥

धणुदीणहं गुणसज्जणहं मणुधम्महं जो देइ।
तहं पुरिसें सुप्पउ भणइ विहदासत्तु करेइ ॥३८॥

हे भव्य! अत्र संसारे यः पुरुषः दुःखिजनेभ्यः स्वधनं ददाति पुनः सज्जनानां गुणं करोति, पुनः स्वमनः जिनधर्मे स्थापयति तं पुरुषं सुप्रभाचार्यः कथयति किं विधिकर्मदासत्वं—किंकरत्वं करोति ॥

संपयविलसहु जिणथुणहु करहु निरंतर धम्मु।
उत्तमकुलि सुप्पउ भणइ दुल्लहु माणसजम्मु ॥३९॥

हे जीव! इयं तव सम्पत् लक्ष्मीः विलसतु, पुनः जिनेन्द्रस्य चैत्यालये सत्क्षेत्रेषु उप्यताम् पुनस्त्वं जिनेन्द्रस्य स्तुतिं कुरु, पुनः जिनधर्मं निरन्तरं पालय ततः सुप्रभाचार्यः कथयति किमत्र संसारेऽस्य जीवस्य उत्तमं कुलं मानुष्यं मुहुः वारं वारं दुर्लभं अस्ति ॥

THE JAINA ANTIQUARY

VOL XV DECEMBER, 1949. No. II

Edited by

Prof A N Upadhya, M. A., D. Litt.
Prof. G. Khushal Jain, M A, Sahityacharya.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S, D. L
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1/8

CONTENTS.

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

[अकलंकदेव]

Vol XV No II | ARRAH (INDIA) | December 1949

HISTORY OF MATHEMATICS IN INDIA FROM JAIN SOURCES

By
Dr. Sri A. N. Singh, M. Sc., D. Sc., Etc.
(Lucknow University)

From Sanskrit works that are available to us at present we can get a good idea of Hindu achievements in Mathematics and Astronomy and trace the development of these sciences after the fifth century A.D., but practically no Sanskrit work on these subjects written before the 5th century is available to us now The mathematical and astronomical works that existed before the 5th century were re-cast and re-written in the 6th and following centuries The Brāhma-sphuṭa-Siddhānta written in 629 A.D., mentions the names of several astronomical works that were re-cast and re-written. Thus there is very little evidence available in Sanskrit literature today which can give us an idea of the state of Mathematics and Astronomy in India before the 5th century, when the place value system of numeration was adopted generally in India, probably under the influence of Āryabhaṭa and his predecessors of the school of Pāṭliputra.

I have recently been able to find some material in Jaina literature which gives valuable information regarding Arithmatic and Geometry in India before the 5th century i e before the place-value notation was generally adopted. The information that I propose to discuss in this article is available in the commentary of the Dhavala which has been recently made available in published form by the well-known Jaina scholar Pt Hira Lal Jain The commentary contains quotations from various works generally in Prakrita. These quotations are from works whose study was given up by the Hindus but which seem to have been used by Jaina Pandits up to the 10th century Prakrita ceased to be a literary language in the 5th century and no important work was written in that language after that date I am therefore certain that the information which is available in the quotations was contained in works written in the earliest centuries of the Christian era.

Since the publication of the Ganita-sāra samgraha by Rangacarya in 1912, scholars have suspected the existence of schools of Mathematics run exclusively by Jaina scholars B Datta has collected references to Jaina Mathematics and Mathematical works in an article entitled the Jaina School of Mathematics published in the Bulletin of the Calcutta Mathematical Society Volume XXI The reader is referred to that article for detailed information on the subject. It is unfortunate that we have not been able to get hold of works on Mathematics and Astronomy written by Jaina scholars with the exception of the Ganita-sāra-samgraha mentioned above. I do not know whether any such works exist now All our information, therefore, regarding Mathematics among the Jainas is derived from their religious and canonical works. The information available has so far been very scanty It is for the first time that we find in the commentary of the Dhavalā a few further details.

The Dhavalā gives us information about (1) the use of the principle of place-value, (2) the Laws of Indices (3) the theory of of Logarithms (4) special methods of dealing with the fractions, (5) methods used in geometry and mensuration.

The Jainas used the principle of the transformation which preserves areas and volumes and they seem to have applied this

principle in their mensuration In the Dhavalā I have come across the value of $\pi = 355/113$ This value of π has been called the Chinese value of π. I am sure that this value was known and used by some at least in India before it was first used in China

ARITHMETIC

Principle of place-value. In Jaina literature and philosophy we find the use of big numbers. These numbers are to be expressed in words. References quoted in the commentary of the Dhavalā illustrate the difficulty of expressing big numbers and some of the devices adopted are the following :—

(i) 79999998 is expressed as a number which has 7 in the beginning, 8 at the end, and 9 repeated six times in between[1].

(ii) 46666664 is expressed as sixty-four, six hundreds, sixty-six thousands sixty-six hundred thou ands, and four kotis [2]

(iii) 22799498 is expressed as two kotis, twenty-seven, ninety-nine thousands four and ninety-eight.[3]

I wish to point out the reader's attention to the first example given above. The original is found on page 98 of volume 3 of the Dhavala.

सत्तादी अट्ठंता छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।
तिगभजिदा विगगुणिदापमत्तरासी पमत्ता दु[1] ॥

It shows that the writer is familiar with the place-value notation and a knowledge of the notation has heen assumed by the readers also. I have not been able to trace the source from which this quotation has been taken but I am sure that it belongs to some Jaina work written in the early centuries of the Christian era and certainly before 500 A D. Quotations like the above found in Jaina works point to the early use of the place value notation in India and afford valuable evidence not obtainable from Hindu works.

Indices. Before the place value of system of numeration came into general use, various devices were used for expressing large numbers. The Jainas used very large numbers and they evolved

---

1. Dhavala III, p. 98, quotes verse 51. of, Gommata-sara, Jiva Kanda, p. 633
2. Dhavala III, p 99, verse 52.
3. Dhavala III, p 100, verse 53.

a system based on the Laws of Indices to express such numbers. The fundamental ideas in this connection seem to be those of (1) the square, (2) the cube, (3) the successive square, (4) the successive cube, and (5) the raising of a number to its own power. They also used roots, specially (1) the square root, (2) the cube root, (3) the successive square root (4) the successive cube root etc. All other powers were expressed by them in terms of the above; for instance :

The successive squares and square roots were expressed as below :—

1st square of a = $(a)^2 = a^2$

2nd square of a = $(a^2)^2 = a^4 = a^{2^2}$

3rd square of a = a^{2^3}

. . . .

nth square of a = a^{2^n}

Similarly,

1st square-root of a = $a^{\frac{1}{2}}$

2nd square-root of a = $a^{\frac{1}{2}^2}$

3rd square-root of a = $a^{\frac{1}{2}^3}$

. . . .

nth square-root of a = $a^{\frac{1}{2}^n}$

The raising of a number to its own power was given the technical name of Vargita-samvargita and the successive Vargita-samvargita of a given number were expressed as below :—

First vargita-samvargita of a = a^a

Second vargita-samvargita of a = $(a^a)^{a^a}$ $\left\{(a^a)^{a^a}\right\}$

Third vargita-samvargita of a = $\left\{(a^a)^{a^a}\right\}$

and so on.

This process of vargita-samvargita yields very big numbers. For example the third vargita-samvargita of 2 is

(259)256,·

a number which is bigger than the number of electrons in the universe

The Jainas were aquainted with and used the following laws of Indeces :—

(i) $a^m \times a^n = a^{m+n}$

(ii) $a^m \div a^n = a^{m-n}$

(iii) $(a^m)^n = a^{mn}$

Instances of the use of the above laws are numerous To quote one interesting case, [3] is stated that the 7th varga of 2 divided by the 6th varga of 2 gives the 6th varga of 2. That is .. ..

$$2^{2^7} \div 2^{2^6} = 2^{2^6}$$

Logarithms. The following terms have been defined in the Dhavalā :

(i) Ardhaccheda of a number is equal to the number of times that it can be halved. Thus the ardhaccheda of $2^m = m$.

Denoting ardhaccheda by the abbreviation Ac, we can write in modern notation :

Ac of x or Ac (x) = log x, where the logarithm is to the base 2.

(ii) Vargaśalākā of a number is the ardhaccheda of the ardhaccheda of that number, i e.

Vargaśalākā of x = Vs (x) = Ac {(Ac (x)} = log log x, where the logarithm is to the base two.

(iii) Tṛkaccheda of a number is equal to the number of times that it can be divided by 3. Thus

Tṛkaccheda of x = Tc (x) = $\log_3 x$, where the logarithm is to the base 3.

(iv) Caturthaccheda of a number is the number of times that it can be divided by 4. Thus

Caturthaccheda of x = $\mathrm{Log}_4 (x)$, where the logarithm is to the base 4

We now use logarithms to the base *e* or to the base 10. It is apparent from the above that the Jainas conceived of Logarithms to the base 2, 3, and 4 but no general use of the idea seems to have been made by them There is definite evidence in the Dhavalā to

show that the Jainas were aquainted with the following rules regarding logarithms :—

(1) $\text{Log}\,(m/n) = \log m - \log n.$

(2) $\text{Log}\,(m.n) = \log m + \log n.$

(3) $\text{Log}\,(2^m) = m$, where the logarithm is to the base 2

(4) $\text{Log}\,(x^x)^2 = 2x \log x.$

(5) $\text{Log} \log (x^x)^2 = \log x + 1 + \log \log x.$

for the left side $= \log\,(2x \log x)$

$= \log x + \log 2 + \log \log x$

$= \log x + 1 + \log \log x.$

(as log 2 to the base 2 is 1)

(6) $\text{Log}\left({}_x x\right) x^x = x^x \log x^x$

(7) Let a be any number, then

1st vargita-samvargita of $a = a^a = B$ (say)

2nd vargita-samvargita of $a = B^B = y$ (say)

3rd vargita-samvargita of $a = y^y = D$ (say)

The Dhavala gives the following results .

(i) $\text{Log}\,B = a \log a$

(ii) $\text{Log} \log B = \log a + \log \log a.$

(iii) $\text{Log}\,y = B \log B$

(iv) $\text{Log} \log y = \log B + \log \log B$

$= \log a + \log \log a + a \log a$

(v) $\text{Log}\,D = y \log y$

(vi) $\text{Log} \log D = \log y + \log \log y,$

and so on

(8) $\text{Log} \log D \angle B^2$

This inequality gives the inequality...

$B \log B + \log B + \log \log B \angle B^2$

In Sanskrit Mathematical work we do not come across this idea of Lagarithms It was, I believed an exclusive invention of the Jainas and was used by them only. No attempt seems to have been made to construct a table and therefore the idea although elegant could not be developed into a theory to help numerical calculations. In fact Mathematics was not advanced enough for the development of Logarithms at such an early date. The wonder is that the idea was at all used at such early date.

Fractions Division was a difficult process when the place value notation was not used Although the fundamental arithmetical operations on fractions were known yet it was a matter of difficulty to use fractions in calculations. The Arithmetians of those days had to use various devices which were given up at a later date. I mention the following as instances of devices which were current in India before the place value of notation came into general use, These instances are taken from the commentary of the Dhavala.

(1) $\dfrac{n^2}{n \pm (n/p)} = n \mp \dfrac{n}{p \pm 1}$

(2) Let a number m be divided by the divisors d and d′, and let q and q′ be the quotients (or the fractions). The following formula gives the result when m is divided by d±d′ ..

$$\frac{m}{d \pm d'} = \frac{q}{(q'/q) \pm 1}$$

$$\text{or} = \frac{q}{1 \pm (q/q')}$$

(3) If $\dfrac{m}{d} = q$ and $\dfrac{m'}{d} = q'$, then...

$d\,(q - q') + m' = m$

(4) If $\dfrac{a}{b} = q$, then ..

$$\frac{a}{b + \dfrac{b}{n}} = q - \frac{q}{n+1};$$

$$\text{and } \frac{a}{b - \dfrac{b}{n}} = q + \frac{q}{n-1}$$

(5) If $\dfrac{a}{b} = q$, then .

$$\frac{a}{b+c} = q - \frac{q}{\dfrac{b}{c} + 1};$$

$$\text{and } \frac{a}{b-c} = q + \frac{q}{\dfrac{b}{c} - 1}$$

(6) If $\dfrac{a}{b} = q$, and $\dfrac{a}{b'} = q + c$, then

$$b' = b - \frac{b}{\frac{q}{c}+1},$$

and if $\frac{a}{b'} = q - c$, then

$$b' = b + \frac{b}{\frac{q}{c}-1}$$

(7) If $\frac{a}{b} = q$, and $\frac{a}{b'}$ is another fraction, then

$$\frac{a}{b} - \frac{a}{b'} = q \; \frac{(b'-b)}{b'}$$

(8) If $\frac{a}{b} = q$, and $\frac{a}{b+x} = q - c$, then

$$x = \frac{bc}{q-c}$$

(9) If $\frac{a}{b} = q$, and $\frac{a}{b-x} = q + c$, then

$$x = \frac{bc}{q+c}$$

(10) If $\frac{a}{b} = q$, and $\frac{a}{b+c} = q'$, then

$$q' = q - \frac{qc}{b+c}$$

(11) If $\frac{a}{b} = q$ and $\frac{a}{b-c} = q'$, then

$$q' = q + \frac{qc}{b-c}$$

—To be continued

JAINA CRITIQUE OF THE BUDDHIST THEORIES OF PRAMĀNA.

Prof Hari Mohan Bhattacharyya M. A.
Prof. of Philosophy, Asutosh College & Lecturer Calcutta University

(*Contd. from Vol XV No I pages 7-13*)

(C) *The Yogācāra Theory of Pramāna and its Criticism :*

The fundamental position of the Yogācāra Buddhist is that all that is and is known must be conceived in terms of cognitions (Pratyayas or Vijñānas), which are mere 'disjecta membra' of psychical phenomena, with nothing like a conscious substrate in which they may be supposed to have their rise and connection, nor with a reference to anything external or extra-psychical (vāhyārtha) which might have determined their form and character. The cognitions have been supposed indeed to have what has been called ālamvanapratyaya or ground cognition where the otherwise discrete cognitions might have their being and connection But such a supposition of a ground-cognition, it has been pointed out, has been made only with a view to making concession to the ordinary mode of thinking which feels it difficult to explain knowledge-function without such a ground [1] The ordinary mode of thinking likes to proceed in the line of least resistance and fights shy of an assumption (abhyapetavādaḥ) although such a procedure is after all hidding the real situation (samvṛttya) for the real situation demands that all cognitions must be without any assumption. [2]

Now in order to establish his thesis the Yogācāra Buddhist is therefore called upon, in the first instance, to demonstrate the non-existence or the unreality of the self as the substratum of cognitions, and secondly, to excogitate the unreality also of the extramental world That the self as the permanent source and the co-ordinating principle of conscious states is a metaphysical fiction according to Yogācāra Buddhist, we have striven to elaborate after him and we need not repeat the arguments here once again. We would present now only those arguments whereby the Yogācāra Buddhist repudiates the objective world (vāhyārtha) The Yogācāra starts his polemic against the realist by assuming, for arguments sake, the existence of the external world. Now, if the external world existed

1. Tattva-Saṁgraha of Śāntarakṣita (Gaekwad's Edn)—sl 2082-4 with Kamalaśīla's Pañjikā thereon.
2. 'Paramārthatastu nirālamvanāḥ Sarvāḥ eva pratyayā iti—T S.P. p 582

it would have existed either as a multiplicity of independent wholes of discrete and formless atoms or as aggregates of formed bodies consisting of such atoms (avayavinah) Of these two alternatives the first does not stand to reason because the condition of perception as pramāna fails here That which does not flash in its own form (svenākāreṇa na pratibhāsate) in an act of perception is never cognisible by it It is no more an object of perception than the sky-lotus (*gagananlinam*) The object of perception must be a formed something and must not be too subtle for the senses. Perceptibility of an object must be pervaded by manifestability in its own form [1] But the discrete atoms are formless and unmanifested and are therefore not amenable to perception *Bhadanta Subhagupta*, representative of one section of Vijñānavādins, though advocating this view also, yet points out that atoms are undoubtedly imperceptible in their discrete and unaggregated states but come within the range of perception when they enter into aggregates.

But Śāntarakṣita contends that even aggregation need not transform the formless atoms into an object of perception, and thus refutes *Subhagupta's* contention. His arguments are that the atoms are in themselves indivisible in character and therefore formless and if they are not to forego their invariable character of indivisibility they cannot acquire, even when aggregated, any appreciable size or dimension (pārimāṇḍalya), and to take the aggregate of atoms as having form and size is to indulge oneself in a delusion as much as when one mistakes the successive similar vijñānas of sound for the vijñāna of eternal sound[2]. Śantarakṣita thus proves that the perception of indivisible atoms even in their aggregate is impossible

Having shown that the atoms either in isolation or, in aggregate are not amenable to perception Śāntarakṣita now undertakes to prove that even by inference the existence of an independent avayavī or a thing having magnitude over and above its constituent atoms cannot be established. The inference which is implemented here for the proof of avayavī is formulated thus: "*Vastu avayavī sthūlatvāt parvatādwat*" Now on examination of the *hetu* or the middle term, sthūlatva, in this piece of inference, we find that the

1. Ātmākārapratibhāsitvana pratyakṣasya vyāptitvāt—T.S.P. p 551
2 S. T sl. 1972

hetu, sthūlatva, is only *assumed* to reside in the sādhya or major term, *avayavi*, as well as in the dṛstānta or illustration, parvatādi. But it does not really belong to either of them, for what else is sthūlatva than a mere aggregate of the imperceptible (sūkṣma-pracayarūpam)? Nor will it do to say that what is visible like the mountain is sthūla or gross and what is invisible like the atoms or binary atoms is sūkṣma or subtle, for this introduces without warrant a duality into the dharmī or the substantive. The distinction is gratuitous. The so-called sthūla inspite of its visibility should hardly be distinguished from an aggregate of the sūkṣma or subtle which is invisible. Therefore, the *hetu*, sthūlatvam does not really belong to the sādhya, *avayavi* and is thus is a case of *asiddhahetu* or unproved middle term Nor does the *hetu* really reside in the dṛstānta or illustration, parvatādi for the same reason Hence the dṛstānta is also defective and is technically called sādhana-vikala. Again, if it be suggested by the realist that the rūpam or formedness is too well-known in our waking life as it is the common feature of all things that appear spread out in space (deśavitānena) and therefore, cannot be ignored owing to the fact that all sthūla objects possess rūpam, the Vijñānavādi replies that that does not ensure the presence of the *hetu* in the sādhya, for in erroneous dream-consciousness also we feel the presence of rūpam or avayavitva though there is no waking consciousness on our part of sthūlatva or paramānu-pracaya. So the Vijñānavādin charges the *hetu* of the realist with the further fallacy of anaikāntikatva or saṁdigdhatva. The *hetu* or the middle term of a valid inference should be connected with one or other of the two ekāntas, whether with the sādhya or the major term which is one ekānta or with the sādhyābhāva, i e, what is other than the sādhya, which is another, but never with both But if it is connected, as it is here, with both the sādhya and the sādhyābhāva it becomes anaikāntika and the result will be that it raises a doubt or suspicion as to the connection between the sādhya and the pakṣa, i. e, the major and the minor terms. Hence the Vijñānavādin concludes that the vāhyārtha as having *avayavitva* is not amenable to inference.

Having thus repudiated the vāhyārtha as an object either of perception or of inference the Vijñānavādin now undertakes to

demolish the distinction of the elements of grāhya and grāhaka, the cognisable and the cognisant, in cognition. This task becomes easy for the Vijñānavādin because the vāhyārtha or the cognisable external world has already been dismissed when he has shown that it is amenable neither to perception, nor to inference. The grāhya or the object of cognition has its meaning only in relation to the grāhaka or the subject and *vice versa* Now the grāhya or vāhyārtha as one of the *releta* having been demolished the other must necessarily go And when this relation of the cognisable and the cognisant breaks down as a result of elimination of both the relation what remains as ineliminable is vijñāna, pure and simple, (Vijñaptimātratā) which shines by its own light. Now Vijñāna by its very nature is an indivisible (Anansa) and unitary and instantaneous and admits of no trifurcation (triputi) into the knower, the known and knowledge as the Mīmāṁsaka supposed in every act of cognition Its essence consists in pure self-cognition or cognition of itself (svasamvedana) as such. It is self-illumined and self-centred psychosis and does not stand in need of its other to illumine [1] Cognition to the Vijñānavādin is not the cognition of an *object* nor is the object, needed for cognition. The real knowledge-situation for the Vijñānavādin is this that both cognition and the object are only two logically distinguishable but really inseparable aspects of one and the same act of awareness. The episteimic process is not from the object to cognition as the realist supposes, but rather from cognition to the object. Nor is the object produced by cognition (*na* jñānam *janakam* tathā). The Yogācāra Buddhist postulates an identity between an object and its cognition as they are always and invariably experienced together. The blue and the cognition of the blue are one and the same, because, as experience tells us, they go together (sahopalaṁbham *Yamat abhedo* nīlataddhiyoḥ)[2] and the apparent distinction that the common mind makes between object and its cognition is due to illusion. To be aware is to be aware of an object, but that does not mean that there is any division or demarcation between awareness and its content In an act of awareness the awareness takes on a specific form, so that, awareness is never without form,

1. T S sl 2001-2008.
2. Dharmakīrti's Pramāṇa vārttika-kārikā also, T S. sl. 2031..

but the form it assumes is not imposed up on it '*ab extra*'—it is to be traced back to some impression (vāsanā) left behind by some past experience, which is traced to a second and this again to a third and so in an infinite regress. But the Yogācāra contends that this infinite regress is no harm because it is his very postulate that vāsanā is anādi or eternal It follows then that cognition in any particular stage of any psychical centre is determined by nothing external, but is always a fruition and functioning of the ideational energy of the vāsanās eternally stored up and continuously reinforced in its career in this and all previous existences. These arguments to establish phenomenalistic idealism that cognition is entirely determined by experience, past and present and that the supposition of any so-called object determining cognition is a delusion of the mind-have been attempted to be further reinforced by the Yogācāra Buddhist when he has urged that the so-called external object, if it had any objectivity of its own and if it controlled our cognition could not have impressed psychical centres in different ways and even the same psychical centre under different circumstances differently.[1] The differences in cognition are all traceable to the Śakti or potency of the Vāsanās but never to the varied characters of the objects of an external world which the Realist hypostatises

Thus the dualism between the object and its cognition is all due to false knowledge, or misunderstanding of the real knowledge-situation. The distinction of grāhya and grāhaka, the cognisable and the cognisant, melts into one identical awareness which admits of no such distinction. It is interesting to note that this view of non-dualism or *abheda* between the object and its cognition is closely connected with the Yogācāra definition of pratyaksa and is traceable to Ācāryya Dignāga, the father of mediaeval Buddhist logic [2] The Yogācāra Buddhist's theory of pramāna therefore reduces cognition and its validity to mere psychical phenomena which are self revealed and self-generated and are independent of any external object which is really a non-entity and the distinction of factors into the known and the knower is wholly inadmissible in any knowledge-situation.[3]

1. Vide S V (Sūnyavāda sl 59), also, Nyāyaratnākara thereon.
2 Cf Dignāga's Pramāṇasamuccaya (I.3) and Nyāyapraveśa.
3. *Vide Dharmottara's* Pramāṇavihiscaya. I

Having presented the Yogācāra theory of pramāna we now propose to estimate its value from the standpoint of Jaina logic. What the Vijñānavādin strives to establish with all his dialectical polemic amounts to nothing more than the setting up of the reality of a never-ending series of vijñānas or psychoses originating inwardly owing to the beginningless series of vāsanās or vestiges of past impressions without being determined '*ab extra*' by anything external to them. The vāhyārtha has been shown by him to be a pure non-entity. The Jaina here points out that the cognition to the Vijñānavādin is thus only svavāsi, i e, a cognition originating from and illumining itself He then joins issue with the Vijñānavādin and charges him with a number of fallacies that vitiate his position. But before entering into the details of his charges against the Vijñānavādin we would do well to point out that the Jaina refutation of the Vijñānavādin has a double aspect It is in the first instance negative and destructive in so far as it shows that the absorption of vāhyārtha into vijñānas proves contradictory from the point of view of both pratyakṣa and anumāna. Secondly, it is positive and constructive in as much as it establishes the reality (paramārtha satta) of the external object by arguing out the absence of proof, both perceptual and inferential, to the contrary (vādhaka-pramāṇābhāvāt).[1]

Siddharṣi Gani in his Vivṛti on *Siddhasena's* Nyāyāvatāra has given us a chain of arguments showing that cognition is an impossibility on the denial of the cognisable. First of all he points out that on the analogy of dream-consciousness for which there seems to be no corresponding perceptible object the Vijñānavādin cannot argue that cognition is possible in the absence of the vāhyārtha. In dream-consciousness one indeed enjoys ideas of various kinds without corresponding percepts such as those of the forest, the gods and similar other things. Siddharsi, however points out quite in keeping with scientific psychology that the dream-images of the various things are not without reference to their corresponding percepts in waking consciousness. They are rather dependent on the effects or vestiges of perceptual activities stored up in the psychical

1 T. B V. Page 480-488.

apparatus and revived by suitable exciting causes both physical and physiological[1] and according to the laws of association. For if the dream images were entirely independent of actual percepts then we could have expected in our dreams, for instance, a vision of the sixth element over and above the five actually perceived by us; but this is never the case He further argues that without the assumption of vāhyārtha as determining our perceptual knowledge it is impossible to account for our cognition of the variety in colour and dimension of objects by mere vijñānas. The Yogācara Buddhist here would of course have recourse to his universal solvent of the beginningless impression resulting from ignorance (anādyavidyā vāsanā) to extricate himself from the impasse. The Jaina, however, is more than a match for the Vijñānavādin and puts him on the horns of the following insoluble dilemma, if vāsanā is responsible for the variedness of perception then this vāsanā must be either (a) different from or (b) identical with knowledge (a) Now, if the vāsanā be different from knowledge then the Vijñānavādin must have to posit some other jñāna which will enable him to cognise this difference. All cognition is a form of vijñāna and no cognition is possible without vijñāna. But in cognition of this difference is necessarily involved a cognition of some form other than vijñāna itself. If however, it is contended by the Vijñānavādin that we infer vāsanā as distinct from, but at the same time originating the vijñānas which are vitiated by the mistaken subject object relation, to this contention also, the Jaina would reply that such an inference really implies, as its precondition, *some connection* between the vāsanā as the pre-existing cause and the relational vijñānas as its effect. Such a connection, however, is impossible from the Yogācāra standpoint, for according to it the duration of a vijñāna beyond the moment of its appearance and the supposition of a soul over and above the momentary vijñānas to connect them, are both rejected as unwarrantable Moreover, such an inference of vāsanā has been the source of the three following inconsequences :—First, it militates against common experience and ordinary practice in so far as we

---

1. Cf. Tippaṇa of *Devabhadra* on Siddharṣi's Vivṛti on *Siddhasena's* Nyāyāvatāra (Kārikā, 1) (P. L. Vaidya's edition) page 11.

all know that in perception at least knowledge arises from nothing other than the relation between the mind, the senses and the object in our daily life; secondly, vāsanā is something of the nature of the unseen and the supernatural which no scientific theory of knowledge will encourage; thirdly and lastly, if through the agency of vāsanā one simple vijñāna could possibly assume infinite variety of forms then through the same agency what is unconscious or jaḍa may be conceived to manifest itself as conscious For nothing is impossible for what is supernatural. In view of these inconsequences the Vijñānavādin ought to have been a convert to the view that it is the *artha* or the external object and not vijñāna even if aided by vāsanā that is responsible for the variedness of perceptual knowledge. (b) Again if vāsanā were identical with jñāna then it must operate as jñāna and not as vāsanā in which case the difficulty of explaining the variedness in the forms and colours of objects remains as unsolved as ever [1]

Prabhāchandra, one of the subtlest of the Jaina dialectians refutes the Yogācāra denial of the extramental reality (vāhyārtha) and establishes the position that pramāna or valid cognition cannot ignore the knowledge of such reality as one of its contributory conditions in a somewhat different way.[2] He exposes all the possible absurdities consequent upon such denial by a dialectic which should astound even the subtlest of the realists, Eastern or Western His argument is as follows. The Yogācāra Buddhist, like the Sautrāntika, admits that knowledge is sākāra, i. e, with form The Yogācāra maintains that the form which knowledge assumes does not proceed from an admitted extramental reality but is generated within knowledge somehow by the beginningless vāsanā due to ignorance, and our knowledge is always an identity of the cognisable and the cognised (viṣayasārūpya) based on the postulate of indissolvable appreception (sahopalambhaniyamaḥ) But Prabhāchandra points out in the first instance, that the very postulate of identity of cognisance and the cognised really yields duality and not unity of cognition and content. For when we are said to have cognition

1 *Ibid*. Page 12

2. *Vide*, P. K M. pp 27 ff, and *Sammatitarka* pp 484 ff

of something blue, it involves a knowledge of the form of the blue (nīlākārajñāna) as also of its jaḍatā or insentience as we have in the case of our perception of a pillar. Now here a two-fold suggestion is possible. It may be suggested that knowledge here has either two distinct aspects or only one. If it has two distinct aspects then one of these two aspects is conscious, comprehending the knowledge of the blueness of the object and the other is unconcious and identical with its jaḍatā. But in that case the one indissoluble character of the apperception has to be abandoned which is contrary to the Yogācāra postulate If, however, a third form of knowledge is assumed which partakes of both these characters, then corresponding to these characters this third form of knowledge will have a two-fold aspect and the original knowledge will cease to function owing to its cognitive incompetency and will be reduced to something jaḍa or unconscious Again, if we accepted the other alternative suggestion that knowledge must have only *one* aspect competent to grasp both the blueness of the thing and its physicality, then it will be both partly conscious and partly unconscious at the same time. It will be conscious in so far as it grasps the blueness which is cognate in character with consciousness (svātmabhūtatayā) and it will also be unconscious in so far as it grasps the physicality of the object which is of a different character from itself (atadākāreṇa); and the result will be what is called the fallacy of arddhajaratīnyāya or the principle of one and the same thing being half young and half old, which is absurd.

Abhayadeva evinces a still higher dialectic acumen when he refutes Yogācāra's difficulty of cognising the Jaḍatā or the anticipated solution of the unconscious element in the cognition of blue. The Yogācāra here might have recourse to an analogical argument to prove his case on the strength of svayaṁ pratipannatā or self-evidence of the knowledge of vyāpti or universal concomitance in the following analogous cases. He might urge with the help of an analogy that just as there is the svapratibhāsa or self-revelation of the awareness of pleasure and pain even so there is self-revelation of vyāpti or universal concomitance[1] between Sukhādi prakāśana or

1. 'Sukhādiprakāśanam jñānavyāptam svayam pratipannatvāt'

revelation of pleasure and pain and revelation of cognition as such. On this analogy he argues that there is a similar self-revelation of universal concomitance between the awareness of the blue object which is jaḍa and self revelation of cognition as such. And the result is that the so-called unconscious element in the cognition of the blue object is now reduced to unity with self-revelation by the help of this analogy and the supposed difficulty of the arddha-jaratīynyāya is proved more apparent than real Now *Abhayadeva* gives the rejoinder by raising the question, if there is really any vyāptiniścaya in this case The possibility of this vyāptiniścaya will be based either on common observation (darśanāt) or on an analogical argument Now it cannot be based on common observation, because when we try to prove the truth of a thing by having recourse to common observation then we must show that its opposite is inconceivable (vipakṣebādhakābhāvah) But in this case of the vyāptiniścaya in question there is no real inconceivability of the opposite. Again, the analogy between the apprehension of pleasure (sukhādiprakāśanam) and the awareness of the blue object (nīlādiprakāśanam) is unsound because the illustration and the illustrated (dṛṣṭānta and dārṣṭāntika) have no strong point of resemblance on which the analogy can be based To argue that the apprehension of nīla is characterised by conscious element is as absurd as to argue that a being is a puruṣa because it is marked by limited knowledge *Abhayadeva* goes deeper into the matter and undermines the very analogy between them He argues that the common element, between the two inferences (1) Sukhādiprakāśanam jñānavyāptam *svayam* pratipannatvāt and (2) nīlādiprakāśanam jñānavyāptam anyapratipannatvāt, is the jñānavyāptatva which is the major term for both of them Now the *hetu* in the case (1) is different from the *hetu* in the case (2) In the former case the *hetu* is *svayampratipannatva* i. e., the quality of self-revelation, that is to say, the apprehension of pleasure carries with it the conviction that it is pervaded by self-revelation without the help of any extraneous proof; in the latter case it is not self-revealed but is only acquired through some other extraneous source of knowledge and is therefore mediate in character (kutaścitpramāṇāt pratīyate) Nor can it be maintained that the awareness of pleasure is linked up with the awareness of the blue

object, so that the self-cognitive character of the cognition of the blue object which is jaḍa, may be established on the basis of its affinity with the self-cognitive character of cognition of sukhādi. For such an affinity of the one with the other is not a proved psychological law with the Buddhists. Thus in the awareness of the blue object the two contradictory elements of self-revelation and unconsciousness (svaprakāśatā and jadatā) stand unreconciled with the result that the contention of the Vijñānavadin that the object of cognition, viz., the blue, and the cognition of the object are identical, is not proved.

The issues raised here by the arguments of the Vijñānavādins as to the relation of cognition to its forms (jñāna and tadākara) have received a different orientation at the hands of Prabhācandra Suri in strict conformity to his realistic position In the origin of knowledge there are three elements involved: cognition, its object and the form that the cognition assumes in the illumination of its object It is not the right view to think that the relation of cognition with its object, is determined by its own inner form which is already there, nor is it true to think that cognition first arises as something amorphous and then comes to be related some how with the object and acquires its form The first alternative is not possible because cognition is never and nowhere been found to be determined by its own inner form, while it always appears related with its object. The relation of cognition with its object is always found to be arising in connection with the ascertainment of a special kind of the object it cognises, but it is never found to be arising as an already established amalgam of cognition and its object. The second alternative that knowledge is originally amorphous and then takes on the form of its object is also untenable on the same ground, namely, that all knowledge is related to its peculiar object. Knowledge is thus neither already endowed with form of its own nor is it altogether formless. For in any case of knowledge there is its peculiar object and cannot do without cognising it and without assuming its form. While Prabhācandra says all this he also reminds us that knowledge is self-sufficient (*svatantra*) and self-originating But while originating by itself it receives co-operation of the senses and of the object to which it is related and whose form it assumes (svākāraṇai stajjna-

nenārthasaṁ vodhamevotpādyate).[1] He agrees with the Buddhist in his repudiation of the idea that the senses are responsible for the form of knowledge on the ground that in the case where the object is not at hand knowledge appears to be without form, the senses operating not withstanding Again, the Vaibhāṣika position that jñāna or cognition is intrinsically amorphous (nirākāra) does not stand to reason because it is suggestive of the anomaly that under any circumstances independent of specific object knowledge of all forms becomes possible But as a matter of fact we do have distinctive forms of knowledge corresponding to and in a way determined by the object. The Jaina includes the senses as well as the object as conditions of cognition yet he never intends to convey thereby the idea that cognition owes its origin to them For to do that is to play into the hands of the Naiyāyika according to whom cognition originates in the contact between the object and the senses (indriyārthasannikarṣa). But the Jaina, be it noted, summarily dismisses this view because it involves us in the absurdity of supposing that the conscious comes out of the unconscious, that knowledge which is in itself svaprakāśa comes out of the senses and the object which are in themselves aprakāśa or jaḍa. The epistemic process with the Jaina is thus not from cognition to object as the Yogācāra maintains nor again from the object to cognition as the Naiyāyika thinks, but rather takes its rise from its own self-functioning and in its own autonomous way takes the object into its confidence as it were and assumes its form as it illumines it

We cannot, however, close our critique of the Yogācāra view of pramāna without considering well-known definition of pramāna which *Dharmottara* offers. The definition is as follows —

"Avisaṁvādakamjñānam samyagjñānam"[2]

Dharmottara means to say that jñāna or cognition is to be called *samyak* or valid when it is avisaṁvādakam. By avisaṁvādakam or saṁvādakam jñānam he understands its capability of leading or fitness to secure for us, the cognised object (pradarśitārthaprāpitvam). To be aware correctly of an object is to act upon it, and there is temporal

1. P K, M Page 28
2. Nyāyavindutīkā—Page 3.

separation between the awareness of the object and conative fulfilment with regard to it *Dharmottara* adds that the result of pramāṇa is the cognition of the object[1], and concludes that that cognition is valid (pramāṇam) whose object is as yet uncognised (*anadhigata*).[2] Now, *Dharmottara's* definition of valid cognition and its implications have been subjected to various objections by the Jaina writers. The first point to which the Jaina takes exception is the epithet *anadhigata*. But we need not repeat the Jaina's arguments against the element of *anadhigata* in valid knowledge for we have had already an elaborate criticism of it when we reproduced Hemcandra's criticisms of the misunderstanding involved in gṛhīta-grahītā and his final inclusion of it in valid cognition. As for the other points of criticism of *Dharmottara's* definition of valid cognition we may note the following. According to *Dharmottara* the validity of cognition is determined by its prāpaṇāśakti which is said by the Vijñānavādin to consist in generating pravṛtti either by way of effortful attainment when the object is upādeya or desirable or by way of effortful eschewing when the object is *heya* or undesirable. Now the Jaina thinks that the Vijñānavādin is evidently guilty of an omission because objects have, besides desirability and undesirability, a third feature, namely, negligibility (upekṣaṇīyatā)[3] The Jaina believes in three different values of things, the good, the bad, and the indifferent, and indifference or negligibility cannot be denied as the third value to be attached to objects on the basis of experience. And in the case of an indifferent object pravṛtti or conscious effort on the part of the cogniser is necessarily absent. Hence the Vijñānavādin is not exhaustive in his account of things and of the pravṛttis arising therefrom Again, if as the Vijñānavādin supposes, all valid cognition issues forth in pravṛtti or conative effort in regard to pradarśitārtha or the *artha* or object as *presented*, it seems anomalous to extend the same criterion or validity to anumāna as a form of valid knowledge For in *anumana* or inference the *artha* or object is not presented to but is always past, distant and future [4]

1 "Arthādhigatireva Pramāṇaphalam"—*Ibid*
2. *Ibid*—Page 4.
3. Nyāyamañjarī—p. 22 (Chowkhamba Series, 1936).
4. *Sammatitarka*—Pages 468-471.

The Vijñānavādin may contend that even in anumāna there can be pradarśitārthaprāpakatva in view of the fact that the agent has recourse to adhyavasāya or discursive ascertainment of the so-called external object by means of super-position of identity between an assumed and a real object. In anumāna though the object of knowledge is no real entity yet inferential knowledge has the capacity to give an air of objectivity to the object of anumāna by what is called superposition of *abheda* or identity of form between the object of inference which is represented and the object of perception which is presented, and this, so thinks the Vijnanavadin, attributes pradarśitārthaprāpakatva to anumāna and makes anumāna a form of valid knowledge *Abhayadeva*, however, points out and rightly, that if it has been proved impossible in the case of perceptual knowledge for the Buddhist to establish pradarśitārtha prāpakatva owing to his own postulation of ksanika vijñāna or momentary psychoses it goes without saying that in anumāna, which involves a series of psychoses, pradarśitārthaprapakatva is a far more impossible fact to achieve. If the Vijñānavādin has in him a grain of logical sense he cannot deny temporal separation between knowing and conation, that is involved in pradarśitārtha prāpakatva (dṛśyaprāpyayoh ksanayo ratyantabhedāt)[1] The only assumption on which the Buddhist may fall back to get over this difficulty is the conception of vijñāna-santāna or continuity of psychoses In fact, he does it in this case of similar difficulty in explaining his position. But if he assumes santāna as something different from the discrete vijñānas as he seems to do here, then he forgets that he thereby abandones his own fundamental theory of Ksanikavijñāna or momentary psychoses Again, if the Vijñānavādin tries to save himself by maintaining that his definition of pramāna is only samvyavahārika applying to the knowledge of objects of our ordinary practical life alone then he will have to admit that he must give another difinition of pramāṇa which may apply to objects both eternal and transient and not simply to the latter But to do so on the part of the Vijñānavādin is to accept the Jaina conception of pramāṇa which consists, we have

---

1 *Ibid*—P. 47

seen, in the cognition of the true character of the object which is neither exclusively eternal nor exclusively non-eternal.[1]

Siddharsi Gani gives us a much fuller criticism of *Dharmottara's* definition of pramāṇa or valid knowledge. He begins by positing that the term avisamvādakam in *Dharmottara's* definition admits of two meanings Its one meaning is pradarśitārthaprāpitva which implies that knowledge becomes valid when it enables us to undertake efforts for the attainment of an object cognised by us. Its other meaning is that it stands for a knowledge which points to an object capable of attainment (prāptiyogyārthopadeśaka)[2]. Now if we take *Dharmottara* at his first meaning then the cognition generated by the perishing objects like the bubbles of water fails to be valid because at the time of our getting at them they are no longer. If we take *Dharmottara's* second meaning then it happens that we cannot have valid cognition of objects that are situated at a region beyond our reach, such as planets and stars. Siddharṣi Gani suggests a third meaning of the expression avisamvādakam and makes it consist in avicalitārthaviṣayatvam.[3] By this he means that knowledge becomes pramāṇa when it points to an object which is fixed and steady in its own position Now Siddharṣi points out that if that be the meaning of avisamvādaka, then certainly the Vijñānavādin betrays his own principle of Ksaṇikavijñāna or momentary psychosis which ushers into existence objects moment after moment. To be steady as an object of knowledge it must persist to be cognised as one and the same object by knowledge which must not be bādhita or sublated moment after moment as is the case with kṣaṇikavijñāna. The Vijñānavādin will be thus forced to have recourse to other than his ksaṇikavijñāna. The Jaina thus establishes, by a series of dialectical polemics that the Vijñānavādin's definition of pramāṇa as avisamvādakajñāna fails of its purpose not only of leading us to a valid cognition of reality as such but also of explaining the accredited Buddhist forms of valid cognition, namely, pratyakṣa and anumāna The central conception at which the Vijñānavādin fumbles through-

1. *Ibid*—Page 471
2. Cf Vivṛti on Nyāyavatāra, p 14.
3. Cf. 'Nyāyārthata' of Nyāyavindutikā—p. 4.

out is that of avisamvādaka on which however the Vijñānavādin, like the members of the other schools of Buddhism, must insist for pragmatic test of truth. For as a pragmatist the Vijñānavādin cannot but depend on conative effort as the criterion for the validity of cognition, but unfortunately he forgets that the *artha* or the object can never be made to satisfy this pragmatic criterion of knowledge unless it must persist at least for a couple of moments while he has not the liberality to grant the object duration beyond a single kṣaṇa.

LIST OF ABBREVIATIONS & REFFRENCES,

T S P — Tattva-Sangraha-Pancikā
T. S — Tattva-Sangraha
S V — Sloka-Vārttika
T. B V — Tattva-bodha-Vidhāyinī
P K M. — Prameya-Kamala-Mārttanda
Dharmakīrtti's Pramāna-Vārttika-Kārikā
Dignāga's Pramāna-Samuccaya
Dharmottara's Pramānaviniścaya
Siddhasena's Nyāyāvatāra
Siddhasena's Sammatitarka Prakaranam (Bhavnagar Edn)
Dharmotarāchāyya's Nyāya vindu t ka
Jayantabhata's Nyāyamañjarī.

SOME JAIN KINGS AND MINISTERS

By

Shri Kalipada Mitra

In this paper I will briefly advert to the contribution made to Jain literature by some kings and ministers of South India by way of their own individual achievement or patronage of literary men

A. KINGS

1 Kings Durvinita

Durvinita was a king of the Ganga dynasty Prof G. Jouveau-Dubreuil[1] and Prāktanavimarśavicakshana MM. Rao Bahadur Narasimhachar[2] hold that Durvinita reigned in the first half of the seventh century A D [3]

I am quoting the opinion of Narasimhachar on this point The Avantisundarīkathāsāra testifies to the contemporaneity of the Pallava King Simhavishnu (C 575-600) the Eastern Chalukya king Vishnuvardhana I and the Ganga king Durvinita

In the introductory chapter of the Avantisundarīkathāsāra it is related that Bharavi, the author of Kirātārjunīya stayed for sometime at the court of Durvinita, and was the contemporary of Vishṇuvardhana, apparently the first king of the Eastern Chalukya dynasty, and of Simhavishnu, the Pallava king of Kanchi. The story related therein is briefly this. Once a stranger recited a Sanskrit verse laudatory of Narasimha avatāra at the court of Simhavishnu, the Pallava king of Kanchi in South India. On the king's enquiry he related that the verse was composed by a great scholar, Damodara, better known as Bharavi. He was the son of Nārāyaṇasvāmi, a Brahman of Kauśikagotra belonging to a family which settled at Achalapura after having migrated from Ānandapura, a town in the northwest of Āryadeśa Once Bharavi, while accompanying his friend king Vishṇuvardhana on a hunting expedition, had eaten

---

1 *Ancient History of the Deccan*, p 107

2 *M A R* 1921, p 28

3. Some scholars say that Durvinita is to be assigned to the last quarter of the 5th century A D See the concluding portion

animal flesh, and in expiation of the sin set out on a pilgrimage and settled at the court of Durvinita

In the Ganga grants Durvinīta is reputed to be the author of a commentary on the 15th sarga of the Kirātārjunīya, which, as it consists of alliterations and other forms of verbal ornaments or śabdālaṅkāra, is difficult of comprehension. The association of the king with the poet suggests that the former wrote the commentary. This shows that Durvinita was a great Sanskrit scholar.

King Nṛpatunga Amoghavarsha, the famous Rāshtrakuta King (815-877), in his work on poetics mentions Durvinīta as one of the best writers of Kannada prose Narasimhachar says: "Durvinīta was a remarkable personage with manysided scholarship. His Nallala plates (M. A. R, 1924, p. 70) tell us that he was the author of many poems, stories and dramas, and that he was equal to Vishṇugupta or Chāṇakya in politics, to Tumburu Narada, Bharata, and Kambalāchāriyya in music and dancing, to Rājaputra and Śālihotra in training elephants and horses, to Paraśurāma in the use of arms, to Samudrasūri in physiognomy, and to Ātreya, Dhanvantari and Charaka in medicine. The plates also explain his ominous name Durvinīta, ill mannered, by stating that he was so to hostile Kings—*ari narapati* Śrī Durvinīta nāmadheyena"

From the Ganga grants we knew that Durvinīta composed a grammatical works, Śabdāvatāra,[1] which is a commentary on Pāṇini's grammar and a Sanskrit translation (the earliest) of the Paiśāchi Vaḍḍakathā or Bṛhad Kathā of Guṇādhya as evidenced in the grants by the epithet Devabhārati-nibaddha-Bṛhatkathak. The epithets however, is misread by scholars (e g Rice) as Bṛhatpathah and misrepresented as meaning that Durvinita was the disciple of Devanandi, a name of Pūjyapāda Narasimhachar also says that the Aihole inscription composed in A D 634 by the Jaina poet Ravikirti who arrogates to himself the fame of Kalidasa and Bharavi confirms the period of Durvinita as about 600.

1 Dr Saletore says that King Durvinīta had not been a great grammarian, but that he might have put into Kannada the original Śabdāvatāra of Pūjyapāda obviously as a mark of respect for his great *guru*—*Medieval Jainism*, p. 23.

Dr Keith (*A History of Sanskrit Literature*, Preface XVI ff) discounts the evidence of the Avantisundarikathā and its Sāra, saying "The Kathā should never have been published from one mutilated manuscript whose readings, even if correctly stated, have already been proved wrong by other manuscript evidence It is very difficult to say whether we can derive from the Kathā any assurance as to Bharavi's connection with Vishnuvardhana or identify the latter with the Prince who became Eastern Chalukya King in A D. 615 and was the brother of that Pulakesin, whose Aihole inscription (A D 634) mentions Bharavi's fame, but at least there is no flagrant anachronism, though we know already of one literary forgery (Ep Carn iii 107) which ascribes to Durvinita of Kongani a commentary on Kiratarjuniya XV."

Dr Keith prefers C A D. 550 to A D. 500, though above he says that there is no flagrant anachronism

Rice assigned A. D 482-517 to King Durvinita (*Mysore and Coorg*, p. 49). He also maintained that the celebrated Jaina grammarian Pūjyapāda was the spiritual precepter of the king on the basis of the copperplate grant (dated *circa* A. D. 700) found at Hobburu in which King Durvinita is described as Śabdāvatāra-Kāra-Deva-BhāratI-nivaddha-Brhat-(K) athā, Rice interpreted this-"restricted to the path of the greatness by the instruction of the divine who was the author of the Śabdāvatāra, *Deva* was a contraction of Devanandi which was the original name of Pūjyapāda (who was so called because his two feet were worshipped by the deities). This date of Rice has been accepted by many scholars e g , Pandit Jugal Kishore Mukhtar (Jaina Siddhānta Bhāskar, vol. V I 8), S Srikanta Sastri (p. 564 of the *Proc of the 8th session of the All-India Oriental Conference*), A. N Upadhye (*Pravacana* sāra, Intro p 22), *J B H.S.* (IV pp 19-26, referred to in *Proc. 7th session, AIOC*). Pandit Nathuram Premi says (*Jaina* shāitya *aur Itihas* p 116) :—"In Mercara, Coorg was found a copperplate grant dated Śaka era 388 (A D 466) when the Ganga King AvinIta was reigning His son DurvinIta succeeded him According to the History of Kannaḍ Literature and Karanatak Kavicarite (by R. Narasiṃhāchāryya) DurvinIta reigned from A. D. 482-512, Durvinita was a poet of the Kannaḍa language. He also

wrote a Kannad commentary on the 15th Sarga of the Kirātārjunīya of Bhāravi. Narasimhāchhrya says that Durvinīta was the disciple of Pūjyapāda It is not impossible for Durvinīta to reign from A.D 482, 16 years after the date of his father given in the grant". Dr. Shamashastry (*M A R* 1924 p.–18) says that Avinīta was anointed in A D. 475 Dr. B A. Saletore (*Mediaeval Jainism* p. 23) says; "we have to assign Pūjyapāda to the same age in which King Durvinīta lived, viz, the latter half of the fifth and the beginning of the sixth century A D and (in the footnote) this was precisely the date arrived at for Pūjyapada by the late Mr Narasimhāchārya in *Kavicarite*, pp. 5-6. He likewise assigned King Durvinīta to the first half of the 6th century A D. *MAR* for 1912 pp 35-36" But we find that Narasimhāchāryya (is he the author of *Kavicarite*?) gives A D. 605-660 as the date of Durvinīta (in *M.A.R.* 1921, p. 28) and also in his presidential address in the eighth session of the A I.O C. He must have changed his opinion and finally assigned Durvinīta to 7th century saying that he has nothing to do with Pūjyapāda

Dr. Venkatramanya says (*Proc of 12th Session of All-India Oriental Conference*, vol II pp 534-41) that from an epigraph at Jaingamira palli in the Pavagada Taluk of the Tumkur district it appears that Vikramaditya I, a son of Pulakesin II, assisted by Konguni Arasa (i e. Durvinita) fell upon Kaduvetti (a Pallava King) and captured Kanehipura. He refers to M.A.R. 1941 and thinks that the inscription really belongs to Vikramāditya I. So Durvinīta was a contemporary of Pulakesin II and his son Vikramāditya I, and was therefore a king in the first half of the 7th century.

Thus we see that there are two classes of evidence, one of which places Durvinita in the 5th century, and the other in the 7th century, and the second seems to be preponderating. The difficulty of the date of Pūjāyapāda may be reconciled, if there be any ground for assuming that there was a second Pūjyapāda.

2 Nrpatunga Amoghavarsha I (Circa 815-877)

Amoghavarsha I was the greatest king of the Rashtrakuṭa dynasty His capital was Mānyakheta, now Malkhed in Nizam's Hyderabad. He is said to have become a Jaina and liberally patronised the Digambara sect. Vīrasenāchāryya completed his

Dhavalā commentary in Śaka year 738 (A D. 816), and his disciple Jinasena in his Pārśvābhyudaya wishes Amoghavarsha a long reign. Jinasena's disciple Gunabhadra says in his Uttarapurāna that Amoghavarsha considered himself purified by worshipping the feet of Jinasena From all this it appears that the king was the disciple of Jinasena, the author of Ādipurāna (written in Sanskrit). Jayadhavalā (completed in A.D. 837) and Pārśvābhyudaya The king was also called Atiśayadhavala

Vīrāchārya, or Mahāvīrāchārya, the Jaina author of the Ganitasārasamgraha, a mathematical work, says that the king was a follower of the syādvāda doctrine The king himself was a great scholar in Kannada and Sanskrit. He wrote a religious work known as Ratnamālikā or Praśnottara-ratnamālā, in the concluding verse of which he says that he willingly give up the throne out of vairāgya (unattachment)

Vivekāttyaktarājyena rājñeyamratnamālikā I
racitāmoghavarsena sudhiyā sadalamkrti II

The work exists in a Tibetan translation.

There is a work on poetics (alamkāra) known as Kavirājamārga regarded to be the oldest in Kannada language. This was written either by himself or by some author (e g his court poet Śri Vijaya) patronised by him. He was the patron of another Jaina saint' Ugrāditya, the author of Kalyānakāraka, a Sanskrit work on medicine, in which he says in the concluding portion that "at the request of the king he delivered at his court, in the presence of many physicians and doctors, a discourse on the evils of flesh diet and on its avoidance in the treatment of disease."

Dr. Altekar says that the king occasionally laid aside the reins of Government and passed some days in devotion and contemplation. The question is whether he took the Muni-dīksā Pandit Nathuram Premi says that had the king adopted Muni-dikṣā then he would not have called himself Amoghavarsha in the Praśnottara-ratnamālā, but given his *muni* name, besides it would have been difficult for him to adopt the dīksā at the age of 80 Dr. Hiralal Jain, however, maintains that the king had taken the muni dikṣā and he quotes

some laudatory verses from the Ganitasāra samgraha of Mahāvīra-charya in support of his contention, especially the verse

> Vidhvastaikāntapaksasya syādvādanyāyavādinah I
> devasya Nṛpatuṅgasya vardhatām tasya śāsanam II

Then again the king is described in one of the verses Yathākhyāta-cāritra a technical term of Jaina-siddhanta which leaves no doubt of Amoghavarshas having been a perfect muni.

Bibliography –

1 M M Bisvesvarnath Reu-Bhāratke Pracina Rājvaṃśa.
2 Dr A S Altekar—Rashṭrakutas and their Times
3 Bhandarkar—Early History of the Deccan
4 R D Banerjee—Prehistoric Ancient and Hindu India
5 Dr Hiralal Jain—Anekānta V 5 pp 183 ff
6 Premi—Vidvatratnamālā

B MINISTERS

1 Bharata and Nanna

Bharata was the minister of the Rāṣtrakuta king Kṛsna III (940-968) and his son Nanna the minister of Krsna III and his brother Khottiga deva (968 972) They were the patrons of the great poet Puspadanta, who was a voluminous writer of Apabhramśa poetry, and was the master of style evincing a rare combination of flow, vigour, beauty and sentiments His chief works were the Mahāpurānu (Tisatthimahāpurisa gunālankāru), Nāyakumāracariu, and *Jasaharacariu* He wrote all of them at Manyakheta, which was the capital of the later Rastrakutas In his Mahāpurānu the poet refers to the victory of Krsna III over the Cholas (943-949), and in *Jasaharacariu* to the sack of Manyakheta by Śrīharsa of Dhara in Saka Samvat 894 or A D 972 He dedicated the Mahāpuranu to Bharata and the Nāyakumāracariu and *Jasaharacariu* to his son Nanna.

The following information about Bharata is gleaned from the works. The office as minister was an ancestral inheritance Bharata's grand-father was Annayya, his father Aiyana, his mother Devi or Deviyavvā. Bharata had seven sons. His third son Nanna succeded

him about 967-68 as the minister of Krisna III, Subhatunga *alias* Tuḍigu, as mentioned in the praśasti of Nāvakumāracariu Bharata was a man of learning and a patron of poets Puspadanta calls him Prakṛtakavikāvyarasāvalubdha He sheltered the poet in his house. He was a man of charitable disposition and was probably the minister of charities. At one time he led the army (śrimadvallabharājaśaktikatake yaścābhavannāyakah). Originally a worshipper of Ambika and Caṇḍiśa he turned a Jaina later The poet having been insulted at the court of Virarāja was wandering about and thoroughly exhausted rested in a grove outside Melpāti He was persuaded by Bharata to come to his house where he was given noble reception, and at his instance wrote the Mahāpurāna, owing to some unhappy incident he discontinued the work, but resumed it at the request of Bharata and finished it in 965 (Śaka Samvat 887) About this time Bharata died and was succeeded by his son Nanna at whose request he wrote the two other works of smaller dimension In 972 King Harsadeva plundered Manyakheta. In the concluding portion of the *Jasoharacariu* the poet has given a vivid description of the devastation caused by the sack-the entire country became desolate, dire distress prevailed, human skulls and skeletons lay scattered here and there, destitutes roamed about etc

The poet has referred to Krsna III as Vallabhanarendra, Vallabhamāya, Subhatungadeva, Kanharāya as well as Tuḍigu which was his Prakrta home name

A few words about the poet. Puspadanta was a Brahman of Kāśyapagotra His father's name was Keśava Bhaṭṭa his mother's Mughadevi. He was originally a Śaiva, like his parents, but subsequently became Jaina Premi thinks that the poet hailed from Berar, and his Apabhramśa is of the type Vrācaṭa, which represented the dialect of Lāṭa (Gujrata) and Vidarbha (Berar) His poetical epithets (aṅka) were-Abhimānameru, Abhimānacihṇa, Kāvyaratnakartā, Kavikulatilaka, Sarasvatinilaya, Kavvapisalla (a strange ephithet!) He calls himself a thin, ugly but smiling, homeless man without wife and children, a wanderer and dweller of *devakulas*, a worshipper of Arhamtadeva etc Though nominally a lay man, he was throughly greetless, and practically a *muni* There is no doubt

that he was a very learned man, throughly acquanted with Sanskrit and conversant with Indian Philosophy, specially the Jaina Siddhānta. He was probably the author of Kathā-makaranda and a Deśi lexicon (Kośa-grantha)

2 Chamunda Raya

He was the minister and commander-in-chief of the Western Ganga Kings Mārasimha II and Rāchamalla or Rāyamalla II From the inscription at Sravana Belgola we learn that Mārasimha II (Dharma-Mahārājādhirāja Satyavākya Kongunivarmā Parmānadi won his great battles against Vijjaladeva through the heroism of Chāmunda Rāya Though a mighty warrior in youth, Chāmund Rāya in his advanced age promoted the cause of the Jaina religion under the guidance of his spiritual preceptor Ajitasena and erected the colossal images of Goemmat-śvara and Neminatha in Vindhyagiri and Chandragiri at Sravana Belgola Another Jaina Saint, Nemichandra Siddhanta-Chakravartī (the author of Trilokasāra, Dravyasamgraha and many other works) accompanied the minister and his mother in their journey to see the image of Gommat-śvara at Pavdanapura, dreamt that there was an image on Vindyagiri, and Chāmundarāya after establishing the image of Gommat-svara offered villages yielding 96,000 coins at the feet of Nemichandra for the daily worship of the image. Nemichandra says that the Chāmundarāya *Constructed* (*Vinimmmiya*) the image of Gommaṭesvara From the commentary on Nemichandra's Gommatasāra by Abhayachandra Traividya-Chakravarti we learn that Chāmuṇḍa Rāya had the following epithets-Ranara-naga-mall, Asahāya parākrama, Gunaratna-bhushana, Samyaktva-ratna-niloya etc

— oOo: —

JAINISM ABROAD.

By

Shri Kamta Prasad Jain, D. L., M.R.A.S

Jainism, no doubt, is a religion of missionaries. Its ăchăryas, ascetics and even nuns are religiously enjoined to remain moving about, promulgating the cultural laws of Ahimsă. They cannot remain stationary at a place more than three or five days. They imitate and follow in the footsteps left by great Lord Jinendra, who delivered religious discourses to congregations of Aryans and non-Aryans alike Jaina Purănas are full of accounts, which prove that Jainism was once prevailing to the remotest corner of the known world Even the Jain householders were so enthusiastic with religious fervor and zeal that they not only studied the religion and observed the vows, but carried the torch of Truth even to foreign countries, where they went in connection with their trade At a very later period we hear that the Jains used to come from Cheena and Mahă Cheena to take part in the religious congregations held on Jain Tirthas But modern scholars doubt that whether Jainism reached beyond the borders of India, since no concrete proof in the form of ancient remains or relics are found any where outside India. Certainly it is true that no traces of Jainism outside India are declared by the investigating Scholars, but there are reasons for it and foremost of them is the wrong belief that Jainism is not a missionary religion and the scholars fail to discriminate between Jaina and Buddhist antiquities. What to say of outer world, even in India such mistakes have been committed and Jaina antiquities are passed for Buddhistic ones Besides this, Jainas lost their suzernaity in India long long ago Consequently they lost their influence in India and in outer world and their ancient buildings and images were either destroyed or turned into Hindu temples and Buddhistic Vihăras Buddhist literature and pilgrims from China clearly vouchsafe that Jainism was once prevailing in Aghănistăna and Ceylon. "Mahăvamsa" clearly points out that the Jaina Vihăras existed at Anurădhăpur in Ceylon upto beginning years of Christian era; but now not a meagre trace of the Jaina

antiquities is available in that beautiful island Similar is the case with Afghānistāna There have been traced out many a Stûpa and other antiquities in Afghānistāna, but they are all passed for Buddhistic relics It is incumbent on Jaina Scholars to go to these and other countries and explore the traces of Jainism, if any, in those antiquities Thus it is clear that why the traces of the prevalence of Jainism in outer world are obscure; but this obscurity cannot establish that Jainism never trespassed the borders of India. Recently Prof G. Tucci of Rome (Italy) have found out a Jaina image of the 12th century in Tibet If a scientific research is made out by Jaina Scholars certainly many new discoveries will be forthcoming, Let us revive the ancient spirit of our āchāryas and forefathers, who went even to foreign countries taking torch of Truth in their hands and making the world know the teaching of the Holy Tîrthankaras. During the last two centuries, as inaugrated by the exhortation of Āchārya Atmanandji, our brethren like late Shrî V R Gāndhî, Pandit Lālan, Shri J L. Jaini, Judge, Brahmachāri Śītalprasādji and Shri C. R Jain, Barrister-at-law went to western countries and diffused the Teachings of Lord Jinendra there But the pity is that these individual efforts were not supported and carried on by any Jaina Institution in India Brother J. L. Jaini and C. R Jain founded their respective Trusts to carry on the work of publication of sacred Jain books and propogation of Jainism in western countries, but pity is that the respectable authorities of these Trusts are not taking so much interest in their work as they ought to do. Hence we doubt if any solid work is being done by them In fact there is a great need of such an Institution, the aim and object of which should only be the propogation of Jainism in the whole world. "The world Jaina Mission" has been brought into existence to fill up this gap Here I intend to give a short account of efforts done by our brethren in the present times to promulgate the Sacred Teachings to the peoples of the world at large.

1. In AMERICA.

It was in the year 1893 that late Shri Virachand R. Gāndhi went to Chicago (U. S A.) session of the world Congress of Religions as a representative of Jaina Religion. He introduced Jainism in a right

way and a good many seekers of Truth were attracted towards Jainism Next time he went there with Pandit Lālan in 1896 He established there "Gāndhi Philosophical Society" to spread Jain Teachings Mrs. Ella Sterling Cummins studied Jainism with him. She once remarked about her Teacher V R. Gāndhi that "There is no comparison : Vivekananda is an adept of vituperation but Mr. Gāndhi is sincere and true. I admire Mr. Gāndhi more than any man I ever heard of." From U. S. A, Bro Gāndhi with Pandit Lālan went to England and remained there upto 1901. He succeeded to convert Mr Herbert Warren to Jainism.

Again in 1933 Bro. C R. Jain was the next missionary of Jainism to U S A He attended the meetings of the "Congress of World Religions" held at Chicago and delivered good many lectures on Jainism and world problems. Americans once again were attracted towards Jaina teachings. Mrs. E. Klein-Schmidt was a keen student of Bro C. R Jain After studying Jain philosophy near him, she established a "School of Jaina Doctrines", which continued to work for some time Since then no efforts have ever been made to propogate Jaina Teachings there.

2 In ENGLAND.

In 1912 late-lamented Brother J L Jaini, Judge went to England and he came into the contact of Bro Herbert Warren Both agreed to establish a Jaina Congregation in London. Accordingly on 24th August 1913, they established "Mahāvira Brotherhood" at London. Its first four European members were Mr. Herbert Warren, Mr. Alexander Gordon, Mrs. Etel Gordon and Mr. Louis D. Sainter. This fact proves the effeciency and utility of the Jaina Teachings, since it is successfull in attracting the Europeans, so writes Dr. Glassenapp in his "Dr. Jainism" (p 80)

Bros. J L. Jaini and Herbert Warren felt the necessity of publishing ancient Jaina scriptures in English and they succeeded in establishing "The Jaina Literature Society" at London Savants like Dr. Hermann Jacobi and Dr. F. W. Thomas were its presidents and good many Indian and European scholars were its members. It began its work in right earnest and published such useful works as "Prava-

chanasāra" and "Outlines of Jainism" But soon the first World War broke and the activities of the Society came to standstill.

After a lull of about a dozen years, Bro Champat Rāi Jain came into the field. In 1926 he saild to England in connection to the hearing of Appeal of Sammed Sikhar case before the Privy Council. He remained in London and revived the activities of the "Mahāvira Brotherhood" There were good many enquirers and seekers of Truth, who attended his lectures and imbibed its value.

On 25th April 1926 Bro. C. R. Jain succeeded in celeberating the anniversary of Lord Mahāvira's birthday at London for the first time This celeberation created a stir among the learned section of the people, so much so that a note about it appeared in the issue of the 26th April 1926 of the "Daily News" of London It was said in it that "Several Englishmen declared that they found Jainism more satisfying than the Christian or any other religion."

On 20th March 1930 Bro C R Jain decided with Bro Herbert Warren to establish a free lending library at London Accordingly The "Rishabha Free Lending Jain Library" came into existence and Bro Alexander Gordon was its first librarian. Barrister Saheb spread Jainism through it and at present it is being looked after by Mrs. Agnes A M Cheyne As a result, good many Englishmen has adopted Jaina ideals in life On 10th August 1938 Bro C. R. Jain openly ordained Mr Atkin of Sheffield in the Jaina Order. After that he came back to India and was not fit to go on the sacred mission again

3. In EUROP.

While on his visits to the countries of Germany, France, Italy and Switzerland during the years 1926, 1928 and 1934 Bro C. R. Jain delivered lectures on Jainism there; but no solid work of propagation was done

4 In CEYLON and BURMA.

Late Rev. Brahmachāri Sitalaprasādaji went to Ceylon and Burma simply to study the religious conditions of these countries. He not only delivered lectures on Jainism, but taught it to many enquirers.

5. In MALAYA.

Shri Yati Rājachandraji of Lonkāgachcha went to Malaya about a couple of years ago to impart the message of Ahimsā there. He intends to visit U. S A via Hongkong in the near future.

Thus individual efforts has always been made to spread Jainism abroad; but never a united front was created in India to foster this laudable enterprise. In the last summer Messrs Mckay and Talbot wrote to me asserting the necessity of sending a Jaina Missionary to England. Accordingly "The World Jaina Mission" has been established to spread Jainism and Ahimsā culture in the Western Countries

In the light of above facts, it is clear that Jainism once had its sway in foreign countries Even today there are thousands of Jaina immigrants in South Africa France and in eastern countries like Burma and Malaya. In Kenaya territory the Jainas have their temples and Youth Leagues with schools and hospitals.

—:o○o:—

BOOKS—REVIEWS.

PACIFISM and JAINISM *by* P Sukhlal Sanghavi, *published by* Jain Cultural Research Society, Banares. *Price* As '8 *Pages* 21 *Size* Demy eight fold.

"World peace can be possible only by the cultivation of the moral values". These are the keywords "which pacifism, in order to be succesful, must recognise the necessity of." Comparing the Christian pasifism, the Jaina *Ahimsa*, and the Gandhian way of non-violence, the author draws a common conclusion that "each of them ask to keep ourselves away from act of violence and to exert, as far as pos sible, for such constructive works as can promote the well-being of others." Christianity has limited it pacifist ideas only among human beings, and that also, to solve the individual and internal disputes But the Indian background of Jaina *Ahimsa* embraced the whole universe of living beings always played a positive part at crucial stages of national problems. Gandhian non-violence is nothing but a "re-inforcement of life in all the types of non-violence, eastern or western.

Jain culture cultivates a sound habit of pacifism among its followers through its previous heritage. But a wrong sense has prevailed among the modern generation that Jainism is concerned only with the negative aspect of ethical doctrine "and along with this negativism, an inclination of indifference even to the basic duties and responsibilities of life grows up in the religious communities." By placing concrete facts the author has wisely proved that "Jainism clearly lays dawn that one should exert oneself, but not out of attachment." By prescribing *Gupti* & *Samiti* as the essential twofold ways of religious life, the positive implication of the Jaina Ahimsa is crystal clear. Even the psychological considerations do not vote for the negative aspect

Historical facts put by the learned author go a long way to prove his assertions Lords Neminath, Parshvanath, and Mahavira have "adopted the positive path of the strong assertion of truth because religious perfection could not be achieved by simple silence or negation." He has also collected several other data from various sources to show that the Jaina doctrine has never been a check to the real

prosperity of human life in every sphere including "literature, art and architecture."

Lastly the author has come to the conclusion that "possession of property lies at the root of the world crisis. Greed is the root of possessive instinct Without voluntary control of this passion of greed there is no hope of freedom, individual, social, or national." Therefore "if there is any practical non-violent way of the solution of the social, political and economic problems, it is the voluntary vow of non-possession or limited possession of property"—as Jaina doctrine of *aparigraha or parigrah-pramana-vrata.* Thus even today the positive implication of Jaina Ahimsa as reinitiated by Gandhiji is the only way which can come to the rescue of the modern distressed world pacing fast into misery and destruction.

CHANDRA SEN KUMAR JAIN,
B A. (Hons)

—:oO:—